आध्यात्मिक ज्योति

चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागरजी महाराज

आध्यात्मिक ज्योति
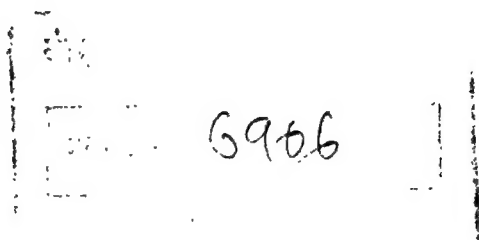
धर्मदिवाकर सुमेरुचन्द्र दिवाकर

बी.ए., एलएल.बी., शास्त्री, न्यायतीर्थ

सिवनी (म.प्र.)

आध्यात्मिक ज्योति

लेखक : सुमेरुचन्द्र दिवाकर, सिवनी
प्रस्तुति : डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर
संस्करण : द्वितीय, ३५०० प्रतियाँ, श्रुतपंचमी, वि.सं.२०५७, ६ जून २०००
संकल्पना : निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर © ४४०५७८
मुद्रक : हिन्दुस्तान प्रिन्टिंग हाउस, जोधपुर © ४३३३४५
अर्थ सौजन्य : १. कान्ति भाई जवेरी
C/o निहालचन्द गिरधारीलाल जवेरी
९८, जवेरी बाजार, मुम्बई - ४०० ००२
२. श्री दिगम्बर जैन समाज
C/o श्री मुनिसुव्रतनाथ दिगम्बर जैन पंचायत
मदनगंज-किशनगढ़ (राज.)
३. घाटलिया ताराचन्द दाड़मचन्द
जैन ब्रदर्स, ग्राम-पारसोला, तहसील-धरियावद
जिला-उदयपुर (राजस्थान)
४. कुन्थीलाल बैद, चिरंजीलाल पाटनी
फर्म - धर्मसागर मार्बल, मदनगंज-किशनगढ़ (राज.)
५. (ब्र.) इन्द्रसेना जैन
आर-२, राज. विश्वविद्यालय परिसर, जयपुर (राज.)
६. मदनलाल डूंगरमल गंगवाल, डेह वाला
बी-३/३८३, पहली मंजिल, पश्चिम विहार, नई दिल्ली
७. ब्र. गोपीचंदजी छाबड़ा (चंदलाई वाले)
फर्म-निर्मलकुमार छाबड़ा, अंकुर इण्डस्ट्रीज, रायपुर (म.प्र.)
८. नन्दलालजी मांगीलालजी छाबड़ा
किराड़ा बड़ा निवासी, डीमापुर (नागालैण्ड)
प्राप्ति स्थान : राजकुमार दोसी
सचिव, आचार्य शान्तिसागर स्मारक ट्रस्ट
'कुन्दनम्', २४/२५ माहेश्वरी कॉलोनी
रवीन्द्र रंगमंच के पास, मदनगंज किशनगढ़ (अजमेर)
© ४५१५१, ४५१४१ (नि.), ४५१२१, ४५१३१ (ऑ.)

आभार

चारित्र चक्रवर्ती परम पूज्य आचार्य शान्तिसागरजी महाराज के दीर्घ सान्निध्य का मुझे इस जीवन में सुअवसर मिला था। आचार्यश्री बस आचार्यश्री ही थे, उनके गुण उन्हीं में थे। उस अद्वितीय विभूति की प्रेरणास्पद जीवनचर्या हम सबके लिए प्रेरक बने, इसी उद्देश्य से मेरी भावना पं. सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर की कृति **'आध्यात्मिक ज्योति'** को पुनर्प्रकाशित कर वितरित करने की हुई, जिसकी पूर्ति वर्तमान संघनायक पू. आचार्य श्री वर्धमानसागरजी के एवं संघ के आशीर्वाद से आज हो रही है। मैं आचार्यश्री एवं समस्त संघ के प्रति अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूँ।

इस कृति की संशोधित पाण्डुलिपि मुझे पं. सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर के अनुज श्री अभिनन्दनकुमार जी दिवाकर के सौजन्य से प्राप्त हुई, एतदर्थ मैं आपका बहुत-बहुत आभारी हूँ।

प्रकाशन में सहयोगी सभी दातार एवं अन्य महानुभाव मेरी बधाई के पात्र हैं।

- कान्तिभाई जवेरी, मुम्बई

卐 卐 卐

अभिनन्दनकुमार दिवाकर
एम.ए., एलएल.बी.
एडवोकेट

☎ २०१०९
दिवाकर सदन
गाँधी चौक,
सिवनी (म.प्र.) ४८०६६१

卐 प्रणति 卐

आर्ष परम्परा के महान् पुनर्स्थापक, श्रमणराज चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की अप्रतिम सल्लेखना के उपरान्त आदरणीय पूज्य बड़े भाईसाहब **श्री सुमेरुचन्द्र दिवाकर** द्वारा लिखित ग्रन्थ **आध्यात्मिक ज्योति** का पुनर्प्रकाशन पूज्य **आचार्यश्री वर्धमानसागरजी महाराज** के आशीर्वाद, अनुकम्पा से हो रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। उन महर्षि साधुराज का पुण्य- जीवन आज धर्म और सामाजिक संस्कृति में व्याप्त विसंगतियों एवं विषमताओं का मेरी दृष्टि में पूर्ण समाधान है।

ग्रन्थप्रकाशन हेतु पूज्य आचार्यश्री के प्रति विनम्रतापूर्वक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

गुरु-चरण-सेवक
अभिनन्दन दिवाकर

चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज

आचार्यश्री वीरसागरजी महाराज

आचार्यश्री शिवसागरजी महाराज

आचार्यश्री धर्मसागरजी महाराज
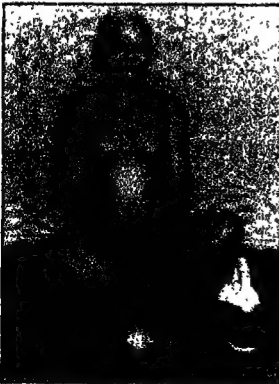
आचार्यश्री अजितसागरजी महाराज

आचार्यश्री वर्धमानसागरजी महाराज

卐 समर्पण 卐

जिन्होंने ब्रह्मत्व की उपलब्धि हेतु राग-द्वेष आदि अन्तरंग
तथा वस्त्रादि बाह्य परिग्रह का परित्याग कर विशुद्ध
दिगम्बरत्व अंगीकार किया,
जो भोगाकांक्षा, यशोलिप्सा आदि प्रिय प्रतीत होने वाली
प्रवृत्तियों से विरत हो आत्मशोधन की
मंगल साधना में संलग्न हैं,
जो काम, क्रोध, मोह, माया आदि दुर्गति के द्वार रूप
अनिष्ट प्रवृत्तियों से अभिभूत नहीं हैं,
जो संसार-परिभ्रमण से मुक्ति-प्राप्ति के लिए विवेकपूर्वक
पुरुषार्थ-निरत हैं,
जो भौतिकता के मोहक जाल से ग्रस्त इस विश्व में
कल्पनातीत से प्रतीत होते हैं,
जो अतीत युग के ऋषिराज कुन्दकुन्द, समंतभद्र,
अकलंक आदि मुनीन्द्रों एवं वर्तमानकालीन
योगिराज शांतिसागर महाराज सदृश रत्नत्रय
ज्योति के पदचिह्नों पर चल रहे हैं और
जिनके ज्योतिर्मय जीवन से ही

'आध्यात्मिक-ज्योति'

दैदीप्यमान हुई,
उन्हीं ज्ञान, ध्यान एवं तप में अनुरक्त तथा
विषयों की आशा से रहित
विद्यमान निर्ग्रन्थों के
पावन कर-कमलों में —

सुमेरुचन्द्र दिवाकर

卐 मंगल-स्मरण 卐

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायाः सर्वसाधवः।
कुर्वन्तु मङ्गलाः सर्वे निर्वाणपरमश्रियम् ॥१॥

मंगलमय सम्पूर्ण अरहन्त भगवान, सिद्ध भगवान, आचार्य उपाध्याय और साधु परमेष्ठी हमें मोक्षरूप श्रेष्ठ लक्ष्मी प्रदान करें।

अनंत-विज्ञान-मनंतवीर्यता-मनंतसौख्यत्व-मनंतदर्शनम्।
विभर्ति योऽनंत-चतुष्टयं विभुः स नोस्तु शांतिः भवदुःख-शांतये ॥२॥

वे भगवान शान्तिनाथ हमारे संसार के दुःखों को शांत करें, जिनके अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख तथा अनन्तदर्शन रूप अनन्त चतुष्टय विद्यमान हैं।

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैर्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेद-पुराण-शास्त्रैः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥३॥

जो सर्व मुनीन्द्र समुदाय द्वारा स्मरण किये जाते हैं, सर्व मनुष्यों और देवताओं के शिरोमणि जिनकी स्तुति करते हैं, जिनका वेद, पुराण तथा शास्त्रों में गुण गाया गया है, वे देवाधिदेव जिनेन्द्र, मेरे हृदय में विराजमान हों।

जनताभिमतार्थकरं सुखदं भवभीति-हरं कृतसिद्धपदम्।
परमं शिव-सौध-निवासकरं चरणं प्रणमामि विशुद्धतरम् ॥४॥

मैं जीवों के मनोरथ को पूर्ण करनेवाले आनन्ददायी, संसार के भय का निवारण करनेवाले, मोक्षपद प्रदान करनेवाले, मुक्ति मंदिर में निवास करने वाले अत्यन्त विशुद्ध चारित्र को प्रणाम करता हूँ।

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥५॥

वह श्रेष्ठ केवलज्ञान ज्योति जयवन्त हो, जिसमें समस्त पदार्थ अपनी अनन्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होते हैं, जिस प्रकार दर्पण में अन्य पदार्थ झलका करते हैं।

●●●

।। आमुख ।।

भौतिक विकास को ध्यान में रखने वाले लोग इस बीसवीं शताब्दी को मानव के बौद्धिक विकास का महान् युग मानते हैं। वे सोचते हैं कि आज स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र तथा कर्ण इन पाँचों इन्द्रियों को परितृप्ति प्रदान करने के साधनों की अद्भुत वृद्धि हुई है। आध्यात्मिक दृष्टि वाला व्यक्ति सोचता है कि वर्तमान युग ने मनुष्य की वासनाओं को जगाकर उसे भयंकर बन्दी बना लिया है। कोई व्यक्ति कैदी बनाया जाता है, उसमें उसकी मजबूरी कारण पड़ती है। कोई जबरदस्त शक्ति सिर पर सवार रहती है, इससे मनुष्य कारावास का कष्ट भोगता है। यदि उसका वश चले, तो उसे उस बन्धन को दूर करते तनिक भी देर न लगेगी। यह वासना की दासता अद्भुत है। इसमें मनुष्य स्वयं अपने को बन्धनबद्ध बनाकर दुःखी होता है।

एक कवि एक भ्रमर के रूप में विषयासक्त जीव का चित्रण करता है।[१]

"सौरभ पान का लोलुपी एक भ्रमर सरोज की सुगन्ध में मस्त होता हुआ सूर्यास्त के समय कमल के बाहर नहीं आता है। सूर्य के अस्तंगत होने पर भ्रमर कमल के भीतर बैठा हुआ आनन्द का अनुभव करता है और मन में सोचता है-'अरे! रात्रि शीघ्र ही व्यतीत होगी। पुनः सुप्रभात आयेगा। प्रिय प्रभाकर का पुनः दर्शन होगा; उस समय इस कमल का मुख खिल जायेगा।' इतने में कोई गजराज उस सरोवर में घुसकर उस कमल को तोड़कर उदरस्थ करता है और स्वर्णिम स्वप्नों के सौन्दर्य में निमग्न भ्रमर की जीवन लीला समाप्त हो जाती है।" उस भ्रमर के समान ही मनुष्य का जीवनप्रदीप अकस्मात् बुझ जाता है और उसका मनुष्यजन्म समाप्त हो जाता है।

मोह के बन्धन से क्रियाविहीन बने भ्रमर के विषय में कवि के ये शब्द अत्यन्त मार्मिक हैं :-

---

१. रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हसिस्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनीं गजमुज्जहार ॥

बन्धनानि किल संति बहूनि,

स्नेह-रज्जुकृत-बंधनमन्यत्।

दारुभेदनिपुणोपि षडंघ्रिः,

निष्क्रियो भवति पंकजबद्ध :॥

– बन्धन तो अनेक प्रकार के होते हैं; किन्तु प्रेम की रज्जु द्वारा निर्मित बन्धन सबसे निराला है। कमल के प्रेमबन्धन में बद्ध भ्रमर, यद्यपि काष्ठ में छेद करने की क्षमता से सम्पन्न रहता है, परन्तु पंकज के मध्य में निष्क्रिय बन जाता है।

पंचाध्यायी में लिखा है- कि "यह प्राणी यथार्थ में विश्व से भिन्न है; किन्तु समस्त विश्व को मोहवश अपनाता हुआ देखा जाता है।" मोह के कारण जब यह विविध पदार्थ-मालिका के साथ ममता के माध्यम से आत्मरूपता स्थापित करता है, तब उन पदार्थों के अनुकूल परिणमन पर यह आनन्द की कल्पना करता है और उनके विपरीत परिणमन पर दुःखी होता है। तत्त्वज्ञान के प्रकाश में ममता के केन्द्र इस जीव के समान उन सचेतन-अचेतन पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व है, अतः उनके अनुकूल-प्रतिकूल परिणमन पर इस ज्ञानी आत्मा को अपना सन्तुलन नहीं खोना था; किन्तु क्या किया जाय, यह मोह की वारुणी पान करने से विवेकरहित स्थिति को प्राप्त करता है। फलतः 'मेरा'-'मेरा', (मे-मे) कहनेवाले अज (बकरे) के समान काल रूप भेड़िया (वृक) इसको मार डालता है। कवि कहता है :-

अशनं मे वसनं मे जाया मे बन्धुवर्गो मे ।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हंति पुरुषाजम्॥

व्यावहारिक दृष्टि से सोचा जाय, तो प्रतीत होगा कि यह मानव संग्रह की दूषित भावना से प्रेरित हो, इतना धन-वैभव एकत्र करने में संलग्न रहता है, जितना यह सैकड़ों भवों में भी नहीं भोग सकेगा। इसे प्रारम्भ में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान रहता है; किन्तु जहाँ आवश्यकता की पूर्तियोग्य परिस्थिति आई, वहाँ तृष्णा की बीमारी उसे घेर लेती है तथा अनिश्चित भविष्य की भीतिवश यह संग्रह-मूर्ति बनता चला जाता है। उस स्वार्थ के नशे में यह दूसरों के कष्टों की ओर तनिक भी दृष्टिपात नहीं करता है। दूसरों को अपने स्वार्थपूति का साधन बनाने में उसे जरा भी संकोच नहीं होता है। यह सब होते हुए भी आकुलताओं की सीमातीत वृद्धि होने से इसका मन अशान्ति का केन्द्र बन जाता है। अविद्या के कारण यह जीव इस सत्य पर दृष्टिपात ही नहीं करता

है कि परिग्रह की वृद्धि में इसकी अशान्ति बढ़ रही है तब फिर यह क्यों परिग्रह पिशाच से अपना पिण्ड छुड़ाने का उद्योग नहीं करता है? पूज्यपादस्वामी ने इष्टोपदेश में लिखा है :-

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्ति-प्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥

— विषयभोग प्रारम्भ में सन्ताप प्रदान करते हैं; क्योंकि उनकी उपलब्धि के लिए परिश्रम किया जाता है। अनुकूल सामग्री प्राप्त होने पर असन्तोष का भाव जागृत होता है; पश्चात् उन विषयों का नशा ऐसा चढ़ता है कि उनका त्याग करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। कौन विवेकी व्यक्ति होगा, जो इन विषयों को अधिक सेवन करेगा?

कभी-कभी सत्पुरुषों का सुयोग प्राप्त होने पर यह मानव अपनी मलिन प्रवृत्तियों के दोषों को जान जाता है; किन्तु वे प्रवृत्तियाँ छूटती नहीं हैं। इस सम्बन्ध में यह शिथिलाचारी व्यक्ति कहता है- " मैं तो इन बुराइयों को छोड़ने को तैयार हूँ : किन्तु क्या करूँ, ये प्रवृत्तियाँ मुझे नहीं छोड़तीं।" ऐसे लोगों की बुद्धि को ठिकाने लगाना अत्यन्त कुशल व्यक्ति का काम है। कहते हैं, गुजरात में एक सहृदय साधु पहुँचे। उन्होंने काठियावाड़ के कुछ ठाकुरों को दारू (मद्य) त्यागने को कहा। एक ने कहा-" मैं तो दारू त्यागने को तैयार हूँ; किन्तु क्या किया जाय, यह दारू मुझे नहीं छोड़ती।" साधु ने ठाकुर से कहा-"कल आकर मिलो, फिर विचार करेंगे।" दूसरे दिन प्रभात में ठाकुर वहाँ पहुँचा। ठाकुर ने आवाज लगाकर महाराज को बुलाया। वे स्वामीजी कहने लगे- "क्या बताऊँ, मैं तो आना चाहता हूँ, किन्तु इस घर के खम्भे ने मुझे पकड़ लिया है।" ऐसा कहते हुए वे दोनों हाथों से एक खम्भे को पकड़े हुए थे। ठाकुर ने कहा-"खम्भे से हाथ हटाइये।" हाथ हटाते ही स्वामीजी खम्भे से छूट गए। उन्होंने ठाकुर से पूछा- "क्यों भाई! खम्भे ने मुझे पकड़ा था, या मैंने उसे पकड़ा था।" ठाकुर महोदय ने तुरन्त कह दिया-"खम्भे ने आपको नहीं पकड़ा था। आपने ही स्वयं उसे पकड़ा था।" इस पर स्वामीजी ने समझाया कि इसी प्रकार दारू ने तुम्हें नहीं पकड़ा है; किन्तु तुमने उसको पकड़ लिया है। ठाकुर को अपनी भूल समझ में आ गई और उसने उस व्यसन को सदा के लिए छोड़ दिया। इसी प्रकार मनुष्य यदि अपनी मानसिक दुर्बलता को दूर कर सत्संकल्प का आश्रय ले, तो सहज ही अनेक हानिप्रद प्रवृत्तियों को छोड़ सकता है। जैनधर्म इसी कारण जीव के सुख-दुःख, उत्थान-पतन का उत्तरदायित्व दूसरे पर न लादकर जीव को ही दोषी कहता है।

वर्तमान युग का मानव लौकिक जगत् में अलौकिक कार्य करता सा दिखाई देता है; किन्तु विषयों की दासता के परित्याग के क्षेत्र में वह आगे बढ़ने के स्थान में पीछे हटता जा रहा है। एक सर्वजनसम्मत रात्रिभोजन की प्रवृत्ति की हानि पर विचार किया जाय, तो शास्त्रों से भी महान्, अनुभव तथा प्रत्यक्ष बोध द्वारा इसकी हानि का सबको पता है, फिर भी साधन सम्पन्न व्यक्ति भी इस आदत से नहीं छूटता। एक बात "बालभारती" में छपी थी-"एक बार एक लड़की उस दूध को पी गई, जिसमें एक मक्खी गिर गई थी।" रात्रि को भोजन करने में ऐसी बातें अनेक बार हो जाती हैं; क्योंकि सूर्यप्रकाश के अभाव से दीपक के उजेले में अनेक कीड़े स्वयं भोजन में आकर आत्मसमर्पण करते हैं। कभी-कभी उनका शरीर स्थूल रहा, तो दृष्टिगोचर हो गए और बहुधा छोटे शरीर वाले हुए, तो पता भी नहीं चलता कि रात्रिभोजन में उनका क्या हो गया। "उस लड़की ने बिना देखे दूध को पी लिया। मरी मक्खी पेट में चली गई। उससे उस लड़की का बुरा हाल हुआ। वह मर गई। डाक्टरों ने उसकी बीमारी समझने का प्रयत्न किया था; किन्तु पता नहीं चल पाया। जब उसके शव की परीक्षा की गई, तब पता चला कि मक्खी जहरीली थी। उसके साथ जहरीले कीटाणुओ ने शरीर में प्रवेश किया था।"

(बालभारती १९५५ पृष्ठ २२)

हिन्दी जगत् के सुपरिचित विद्वान पं० रामनरेश त्रिपाठी ने नवनीत बम्बई में वैदिक मिशनरी "पं० रुचिराम की मक्का यात्रा" एक लेख छपाया था, उसमें उन्होंने लिखा था-"अदन में दो माह रहने के बाद पंडित रुचिराम जी जुकार मुकाम में पहुँचे। वहाँ उन्होंने दो दिन का पानी भर लिया। बद्दुओं ने उनकी केटली में ऊँटनी का दूध भर दिया। कुछ खजूर भी दिए। चलते-चलते वे रास्ता भूल गए और शाम को एक जंगल में जा निकले। उन्होंने लकड़ियाँ जमाकर आग जलायी, खाना पकाया। चाय पी और वहीं सो गए। आधा दूध सोते समय पी लिया और आधा रात्रि में जब प्यास लगी, तब पी लिया। सबेरे उनको जोर का बुखार चढ़ आया। केटली को देखा, तो सारी केटली चींटियों से भरी थी। बुखार का कारण समझ में आ गया। आधी रात के दूध में चींटियाँ भी थीं, जिन्हें वे पी गए थे।"

(नवम्बर १९०८)

इन उदाहरणों के प्रकाश में विवेकी मानव अपना कर्तव्य सोच सकता है। धर्म के नाम पर न सही, अपने हित के नाम पर तो ऐसे बहुत से नियमों को सहज ही अपना

सकता है; किन्तु विषयासक्ति के कारण मनुष्य विकारों से विमुक्त होने का पुरुषार्थ नहीं करता है और दैव की गोद में बच्चे की तरह सोया करता है। आत्मविकास के लिए गीता का यह उपदेश विश्व के लिए हितप्रद है :-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५, अध्याय ६॥

– अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार करे और अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे; क्योंकि जीवात्मा आप ही अपना मित्र है, आप ही अपना शत्रु है। यह जीव आत्मशक्ति तथा कर्तव्य को भूलकर स्वयं का शत्रु बन रहा है। यह अपने अमूल्य नरजन्म को विषयभोग में व्यतीत करता है।

बालस्तावत् क्रीडासक्तः, तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्न परमे ब्रह्मणि कोपि न लग्नः ॥[१]

इसका भाव इस हिन्दी पद्य में दिया गया है :-

खेलकूद में बीता बचपन, रमणी राग रंग-रत यौवन।
शेष समय चिन्ता में डूबा, इससे हो कब ब्रह्माराधन॥

जिस प्रकार कुम्भकार का चक्र पूर्व संस्कार के प्रभाव से पुनः गमन हेतु प्रेरणा न मिलने पर भी भ्रमण करता है, इसी प्रकार जिनके पास आत्मशोधन तथा जीवन को विशुद्ध बनाने योग्य सर्व प्रकार की अनुकूलता रहती है, वे कीर्ति की लालसा से बाहर से आकुलताओं को खरीदने का प्रयत्न करते हैं और दोष कर्मों को देते फिरते हैं। कवि भूधरदास जी ने लिखा है- "सुबुद्धि रानी से उसकी एक सखी कहती है, कि तेरा पति आत्मदेव दुःखी हो रहा है। वह तो बहुत अच्छा है; किन्तु इस पुद्गल (जड़ तत्त्व) ने उसे कष्ट में डाल दिया है।" कवि के शब्दों में :-

कहै एक सखी सुन री सुबुद्धि रानी।
तेरा पति दुःखी देख लागे उर आर है॥
महा अपराधी एक पुद्गल है छहों मांहि।
सोई दुःख देत दीखे नाना परकार है॥

---

१. भज गोविन्दं स्तोत्र-चक्रवर्ती राजगोपालाचारी (पृ०७)

अपने पति की दूषित वृत्ति की आलोचना करती हुई सुबुद्धि देवी न्यायपूर्ण बात कहती है, कि मेरा पति ही अपने दुःख का बीज बोता है। उसका दोष दूसरे के ऊपर लादना ठीक नहीं है। सुबुद्धि की अपनी प्रिय सखी से अपने पति की कटु समालोचना कितनी सत्य है, यह प्रत्येक तत्त्वज्ञ सोच सकता है :-

कहत सुबुद्धि आली कहा दोष पुद्गल को।
अपनी ही भूल लाल होत आप ख्वार है ॥
खोटो दाम आपनो सराफै कहा लगे वीर।
कोउ को न दोष मेरो भोंदू भरतार है ॥

अविद्या के कारण इस जीव की रुचि इतनी विकृत हो गई है कि यह आत्मा के अहितकारी कार्यों में आनन्द की कल्पना करता है। यह बालू को पेल तेल पाने को महाकष्ट उठाता है; किन्तु बालू के भीतर तेल का अभाव होने से वह उद्योग व्यर्थ जाता है, इसी प्रकार बाह्य पदार्थ में आनन्द न होने से उसकी वहाँ खोज सर्वदा निराशा रूप में ही परिणत होती है।

अमेरिकन दार्शनिक इमरसन ने कहा है- "एक समय अनेक लोगों ने बहुत शस्य-श्यामला भूमि पर अधिकार जमाया। वे अपनी जागीर में घूमते हुए गर्व का अनुभव कर रहे थे। वे कहते थे यह भूमि तो हमारी है।" उस समय पृथ्वी से प्रतिध्वनि उत्पन्न हुई :-

They call me theirs
Who so controlled me;
Yet everyone
Wished to stay, and is gone,
How am I theirs ?
If they cannot hold me
But I hold them?

– जिन्होंने मुझ पर अधिकार जमाया, उन्होंने कहा-'यह पृथ्वी हमारी है।' प्रत्येक ने चाहा कि वह यहाँ निवास करे; किन्तु वह चला गया । बताओ! मैं उनकी किस प्रकार हूँ? वे मुझे पकड़ नहीं सकते; किन्तु मैं ही उनको अपने आधीन करती हूँ।

विश्व का सर्वोच्च प्रहरी हिमालय बता सकेगा, कि इस भारत देश पर तथा

दूसरी जगह अपना प्रभुत्व जमाने कितने व्यक्ति, जातियों आदि का पदार्पण नहीं हुआ और अब उनका नाम भी ज्ञात नहीं है, इतिहास के पृष्ठों में जिन देशों की पुरातन युग में वैभवपूर्ण स्थिति बताई जाती है, वहाँ विनाश तथा शून्यता का अखण्ड साम्राज्य है।

महाकवि जिनसेन ने महापुराण में बताया है कि चक्रवर्ती भरतेश्वर विविध देशों पर विजय प्राप्ति के उपरान्त वृषभाचल नामक एक सुन्दर पर्वत के समीप पहुँचे। उस समय तक भरतराज अपने को विश्व में अप्रतिम पृथ्वीपति सोचते थे; किन्तु उस पर्वत के पास पहुँचने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि असंख्य शासक इस पृथ्वी के स्वामी बने थे और वे सब चले गए। उस पर्वत पर परम्परा के अनुसार प्रतापी नरेश चक्रवर्ती का नाम उत्कीर्ण रहता है, उस क्रम के अनुसार पर्वत पर अपने नाम की प्रशस्ति अंकित करने को भरतेश्वर तैयार हुए। महाकवि कहते हैं-''चक्रवर्ती भरत ने काकिणी रत्न लेकर ज्योंही वहाँ लिखने की इच्छा की, त्योंही उन्होंने वहाँ हजारों चक्रवर्ती राजाओं के नाम अंकित देखे। असंख्यात करोड़ कल्पों में जो चक्रवर्ती हुए थे, उन सबके नामों से भरे हुए उस वृषभाचल को देखकर भरत को बहुत ही विस्मय हुआ। तदनन्तर जिसका गर्व कुछ दूर हुआ है ऐसे चक्रवर्ती ने आश्चर्ययुक्त होकर इस भरतक्षेत्र की भूमि को अनन्य-शासन-अन्य के शासन रहित नहीं माना।''[१] उस समय चक्रवर्ती भरतेश्वर के अन्तःकरण में यह बात अंकित हुई कि विश्व के मध्य उसकी असाधारण स्थिति नहीं है। जब तक मोह का नशा नहीं उतरता, तब तक मनुष्य अद्भुत कल्पनाजाल में स्वयं को कैदी बनाया करता है।

मोह पिशाच के द्वारा छला गया जीव प्रभुता पाकर स्वयं का पतन करते हुए दूसरों की दुर्गति का भी कारण बनता है। उदाहरणार्थ वाममार्गियों का प्रश्रय पाकर धर्म का कितना विकृत रूप बनाया गया कि उसका विचार करते ही सच्चे धर्मवालों के हृदय पर वज्रपात सा होता है। इस वाममार्ग के मुख्य केन्द्र विक्रमशिला काश्मीर तथा बंगाल थे। श्री के. एम. पनिक्कर ने लिखा है कि वाममार्ग के केन्द्रस्थलों की बड़ी दयनीय स्थिति

---

१. काकिणी रत्नमादाय यदा लिलिखिषत्ययम्।
तदा राजसहस्राणां नामान्यत्रैक्षताधिराट् ॥१४॥

असंख्यकल्पकोटीषु येऽतिक्रान्ता धराभुजः।
तेषां नामभिराकीर्णं तं पश्यन् विसिष्मिये ॥१४२॥

ततः किंचित् स्खलद्गर्वो विलक्षीभूय चक्रिराट्।
अनन्यशासनामेनां स मेने भरतावनीम् ॥१४३॥ पर्व ३२

थी- "एक साधु शराब की बोतल सहित विक्रमशिला के विश्वविद्यालय में पाया गया। इस संबंध में पूछे जाने पर उसने कहा कि वह मदिरा उसे उसकी प्रेयसी भिक्षुणी ने दी थी। विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उसके विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही करने का जब विचार किया, तब विश्वविद्यालय के सदस्यों में दो पक्ष हो गए। इस प्रकार काफी झगड़ा बढ़ गया। इन लोगों की आराधना मांस, मीन, मदिरा, तथा स्त्री-सेवन की अनुज्ञा थी। मनुष्य बलि तक विधेय थी। इनके ग्रन्थ में यह उल्लेख आया है कि पूजा में नरमांस भी आवश्यक था, जिसे वे लोग महाप्रसाद कहकर उदरस्थ करते थे। मदिरा के साथ मानव-रक्त भी पिया जाता था।[१]

आज भी कभी-कभी पत्रों में ऐसा वर्णन पढ़ने में आ जाता है कि "अमुक साधु के वेषवाले व्यक्ति ने बच्चों को उड़ाकर उनका वध करके अपनी नर-रक्त प्रेमी देवी का आशीर्वाद प्राप्त किया।" ऐसे लोग भी अपने को महान् धर्म का अंग कहते हैं।

शान्तभाव से धर्मों के इतिहास का परिशीलन करने वाले को यह स्पष्ट हो जायेगा कि ऐसी पतनकारी प्रवृत्तियों के कारण ही सच्चा धर्म भी लांछित किया जाने लगा और उसी का यह परिणाम है कि जन-साधारण का हृदय धर्म के बंधन से विमुक्त रहने में अपना कल्याण सोचता है। लोग अपनी भोगलिप्सा की पूर्ति के लिए धर्म तथा उसके आश्रयरूप देवी, देवताओं को उन बातों से अभिभूत बताते हैं, जिन दुर्बलताओं से मोही मानव व्यथित हो रहा है। उदाहरणार्थ किसी तम्बाखू प्रेमी कविराज ने यह कविता बना दी कि कृष्णमहाराज भी तम्बाखू खाते थे-

---

1. In religion also this degeneration was apparent.. The Left Hand Marge had taken deep roots and a nursery for it existed at Vikramasila, Kashmere and Bengal. The following incident, which took place in Vikramsila will show how deep was the cancer which had eaten into the vitals of national life.

A priest studying at the university was discovered with a bottle of wine. When asked he stated that it was given to him by a nun, whom he used to meet. The authorities of the university decided to take disciplinary action, but on this the members of the university split into two factions and great trouble followed...

Every thing was permitted in this worship-fish, flesh, wine, women. Even human-sacrifice was allowed. One passage would seem even to indicate that human flesh was also used in worship and consumed as Mahaprasad. Blood of men along with wine was also used.

"A SURVEY OF INDIAN HISTORY": K.M: Pannikker P.105.

कृष्ण चले बैकुंठ को राधा पकड़ी बाँह।

यहाँ तमाखू खाय लो, वहाँ तमाखू नाहि ॥

एक कवि कहते हैं कि भगवान ब्रह्मदेव से पूछा गया, कि इस जगत में सार रूप कौन पदार्थ है? उस समय अपने चारों मुखों से भगवान ने कहा कि तमाखू ही साररूप पदार्थ है।

ऐसा ही काल्पनिक चित्रण अनेक विलासी तथा व्यसनी लोग करते हैं। भगवान के नाम पर लोग अपनी विषय लोलुपता की पूर्ति करते हैं। ऐसे कार्य का दुष्परिणाम क्या होगा, यह विलासी लोग नहीं सोचते हैं। खोजा समाज के गुरु आगाखान जी भरकर शराब पीते हुए कहते हैं, 'The wine turns in to water as soon as it touches my mouth'. (John Gunther, Inside Asia, p.485) जिस समय शराब मेरे कंठ में पहुंचती है, उस समय वह जल रूप में परिवर्तित हो जाती है।

गीता में नरक अवस्था में जीवात्मा के पतन के त्रिविध तमोद्वारों का इन शब्दों में कथन किया गया है -

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१-अध्याय १६

– नरक के तीन द्वार कहे गए हैं- काम, क्रोध तथा लोभ। इनके द्वारा आत्मा का अधःपतन होता है; इससे इन तीनों का त्याग करना चाहिए। दिगम्बर जैन मूर्तियों में शांति, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का दर्शन स्पष्ट रूप से होता है।

यदि हम शान्त भाव से विचार करें, तो उपर्युक्त उक्ति अक्षरशः सत्य प्रतीत होगी। इनमें सर्वोपरि स्थान लोभ का है। जैन पूजा में कहा है "लोभ पाप का बाप बखाना" अंग्रेजी में सूक्ति है-"No vice like avarice" आज भारत राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र हो गया है; किन्तु वह लोभ के जाल में भयंकर रूप से पराधीन हो गया है अहिंसा का पुण्य नाम लेने वाला शासन मांसाहार तथा जीववध को प्रेरणा देता है। जीववध द्वारा वह धनसंचय करने के पथ में लग रहा है। जीवघात द्वारा धन कमाना धीवर, कसाई आदि का कार्य रहा है। अहिंसावादी शासन जीवघात द्वारा गरीबी दूरकर संपन्नता का स्वप्न देखता है। यह भयंकर भ्रम है। अहिंसावादी रहते हुए गरीबी वरदान है। शीलवती महिला फटे वस्त्रों में रहती हुई भी रत्नालंकृत वेश्या से अनंत गुनी अच्छी है। शासन अव्यवस्था के द्वारा धन का अपार अपव्यय करता है तथा धनलाभ के लिए वह धर्म-अधर्म की तनिक खबर नहीं रखता है।

इस कमाई के नशे में इस देश के सारथीगण यह नहीं सोचते कि बड़े-बड़े राष्ट्र उन्नति के शिखर पर चढ़कर पापों के कारण पतन के गहरे गर्त में ऐसे गिरे हैं कि उनका पता भी नहीं चलता है। अत: यह जानना जरूरी है कि हिंसा और विलासिता के द्वारा प्राप्त भौतिक उन्नति का भवन भी बहुत समय तक नहीं टिकेगा। बड़े-बड़े निरामिष परिवार में जन्मधारण करने वाले व्यक्ति जब कांग्रेस शासन के पदाधिकारी बन जाते हैं, तब वे मांसाहार, मत्स्याहार आदि को उचित बताने वाले भाषण देते हैं।[१] ये बन्दर बेचते हैं, मछली बेचते हैं और न जाने क्या-क्या बेचकर राष्ट्रकोष भरने की सोचते हैं तथा विलासिता की सामग्री बढ़ाकर देश को पश्चिमी सभ्यता के आदर्श के अनुसार समुन्नत देखना चाहते हैं। यह स्मरण रहना चाहिए कि जीवघात या मांस विक्रय द्वारा शासन जितना धन कमाता है, वह भीषण नदियों की बाढ़, अनावृष्टि आदि प्राकृतिक प्रकोपों के द्वारा क्षण भर में समाप्त हो जाता है। पाप के द्वारा संपत्ति, शांति, सौमनस्य आदि का विनाश हो जाता है। यह विषय अनुसंधान के योग्य है।

---

१. नागपुर के २ अक्टूबर १९५३ के दैनिक नवभारत में कांग्रेसी सरकार की सूचना छपी थी- "बन्दर मारो, इनाम लो। प्रत्येक बन्दर मारने पर ५) तथा ५ से अधिक बन्दर मारने पर १) की दर से पुरस्कार दिया जावेगा। जो व्यक्ति ५ से कम बन्दर मारेगा, उसे कोई पुरस्कार नहीं दिया जायगा।"

शासन द्वारा निर्दोष जीवों की हत्या द्वारा पैसा पाने के आकांक्षी व्यक्तियों का हृदय पत्थर का बन जाता है, फिर वे अपनी क्रूरता द्वारा मानव समाज के लिए अभिशाप बन जाते हैं, बड़े-बड़े हत्याकांड ऐसों के द्वारा हो जाते हैं। अत: शासन को गहराई से सोचना चाहिए। देश को विपत्ति के गर्त में गिरने से बचाना चाहिए। देश के पुरातन गौरव को याद करना चाहिए।

सन् १९५५ के ६ फरवरी के हितवाद में लन्दन का समाचार छपा था कि भारत की हाईकमिश्नर श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित से दयाप्रेमी अंग्रेजों का एक शिष्टमण्डल मिला था, उसने निवेदन किया था कि लन्दन के बन्दरगाह पर से दो वर्षों में एक लाख बन्दर अमेरिका भेजे गए थे- 'The deputation pointed out that in last two years hundred thousand monkeys have passed through London airport for the United States.' दयाप्रेमी शिष्टमंडल ने बन्दरों को न भेजे जाने की प्रार्थना की थी। उन बन्दरों का नाश वैज्ञानिक कार्यों में किया जाता था।

बम्बई के मुख्य मंत्री ब्राह्मण जातीय स्व. खेर ने मछली के मांस की स्तुति करते हुए उसे खाने की प्रेरणा की थी। वर्ष १९६२ के आरम्भ में धार्मिक परिवार में जन्म धारण करने वाले गवर्नर श्रीप्रकाशजी ने अण्डा खाने का उपदेश दिया था। मांसाहार का महत्त्व बताने का प्रचार कार्य भारत शासन का खाद्य विभाग करता है। स्वतन्त्र भारत में भयंकर रूप से जीव-वध शासन के कारण बढ़ता जा रहा है, यह महान् दु:ख की बात है। दया प्रचार का जोरदार प्रयत्न राष्ट्रहितार्थ आवश्यक है; अन्यथा हिंसा भयंकर विपदाओं का हेतु बनेगी।

ये गणतंत्र शासन के वाहक जिनको पिता, बापू कहकर देशवासियों के समक्ष अपने को गाँधीभक्त सूचित करते हैं, उन गांधीजी के ही उपदेश पर यदि दृष्टि दें, जो उन्होंने सन् १९४६ में अमेरिकावासियों को दिया था, तो इनकी श्यामवृत्तियों में शुभ्रता का पदार्पण हो सकता है, "मेरा ख्याल है कि अमेरिका का भविष्य उज्ज्वल है। वह धन को उसके सिंहासन से हटाकर ईश्वर के लिए थोड़ी जगह खाली करे। लेकिन अगर वह धन की ही पूजा करता रहा, तो उसका भविष्य अन्धकारमय है, फिर लोग चाहे जो कहें। धन आखिर तक किसी का सगा नहीं रहा है। वह हमेशा बेवफा (बेईमान) दोस्त साबित हुआ है।" (२१-१०-१९६० नई दिल्ली, प्रेस्टन ग्रोबर के साथ बातचीत में)। भारत देश ने त्याग तथा त्यागी की पूजा की है। यदि उसका मार्गदर्शन करने वालों ने अपना रवैया न बदला, तो या तो वे देश को विनाश की स्थिति में पहुँचा देंगे अथवा जनता को अधर्म की ओर ले जाने वालों का साथ छोड़ना पड़ेगा।

मनुष्य जीवन अल्पकाल स्थायी है। शीघ्र ही सावधानीपूर्ण प्रवृत्ति का आश्रय करना श्रेयस्कर है। स्वामी विवेकानन्द उपनिषद् का यह वाक्य अपने श्रोताओं को सुनाया करते थे - "त्यागेन अमृतत्वं आनशुः" त्याग के द्वारा अमृतत्व (Immortality) की प्राप्ति होती है। समझ में नहीं आता कि गाँधीवादी भारत के भाग्यविधाताओं का ध्यान सादगी की साकार मूर्ति सेवाग्राम की कुटी की ओर क्यों नहीं जाता? लुई फिशर ने गाँधीजी के विषय में लिखा है- 'Gandhi is the symbol of lifelong renunciation and dedication.'– गाँधीजी आजीवन त्याग तथा आत्मसमर्पण के प्रतीक रूप थे।

दो हजार वर्ष पूर्व ग्रीस देश सभ्यता तथा समृद्धि के शिखर पर था। उस देश की अप्रतिम विभूति सुकरात का जीवन सार्वजनिक शान्ति के मार्ग को सूचित करता हुआ प्रतीत होता है। जहाँ आज तरह-तरह की आवश्यकताओं को उत्पन्न करके उनकी पूर्ति हेतु कल, कारखानों तथा उनके लिए धन संग्रह के लिए भारत लालायित है, वहाँ सुकरात कहता था- "जितनी जरूरतों को तुम कम करोगे, उतना ही तुम परमात्मा के सदृश बनोगे।" "The fewer our wants, the more we resemble gods."

[1]सुकरात ने आवश्यकताओं को अल्पतम करते हुए जीवन व्यतीत करने का अभ्यास कर लिया था। सुकरात बाजार में जाकर विविध विक्रय-योग्य वस्तुओं को

---

1. He trained himself to live in the most frugal manner. 'How many things I can do without?' he would exclaim on looking at the goods exposed for sale in the market-places. 'The Paths of Peace.' by H. Bellis

देखकर सोचता था, इनमें से किन-किन पदार्थों के बिना मेरा काम चल सकता है? जब समाज में त्यागी पुरुषों में वृद्धि होती है, तब राष्ट्र उन्नत होता है। भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में लोकमान्य तिलक, देशबंधु चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय आदि महनीय विभूतियों के त्याग के फलस्वरूप गाँधीजी ने भारत को विजयी बनाया था।

आज त्यागियों 'Selfless' का स्थान 'Selfish' स्वार्थी लोगों ने ग्रहण किया है और वे स्वार्थी लोग मछली बेचने का (Sell Fish) धन्धा करने लगे।

इस हिंसा के कारण देश की जनता सुखी नहीं है; यद्यपि बहस द्वारा तथा कल्पित आँकड़ों के आधार पर अथवा अन्य लोगों की सम्मतियाँ बताकर हमें बच्चों की तरह समझाया जाता है कि अब तुम्हारी हालत बहुत अच्छी हो गई है, तुम उन्नत हो रहे हो। यह भी विनोदप्रद बात है। क्षीण शरीर व्यक्ति में यदि बल की वृद्धि होती है, उसका वजन बढ़ता है, तो क्या उसे मालूम नहीं पड़ता? क्या उसे समझाया जाता है कि तुम अब स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रगति कर रहे हो? यदि देश भौतिक विकास से सुखी हो रहा है, तो उसका अनुभव क्यों नहीं हो रहा है? क्यों महंगाई का ज्वालामुखी सबको संतप्त कर रहा है। किसी ने व्यंग्यात्मक भाषा में कहा है-

देश हुआ आजाद अब कीमत भी आजाद।
जी भर बढ़ने दो उन्हें क्यों करते फरयाद ॥

वास्तव में, शान्ति और उन्नति का मार्ग आत्मा के गुणों को विकसित करना तथा विलासिता से विमुख होना है। जब मनुष्य भोग विलास की ओर कदम बढ़ाता है, तो वह कुछ काल के पश्चात् पतन को प्राप्त करता है। विलासपुरी का निवासी 'विकासनगर' से दूर होता हुआ 'विनाशपुर' के निकट पहुँचता है। इतिहास इस बात का साक्षी है, कि विषयों के दास दीपक के पास दौड़कर आने वाले पतंगा की दशा को प्राप्त करते हैं। विषयजनित आनंद कृत्रिम (artificial) है। उसमें स्थायीपन नहीं है। वह विपत्ति प्रचुर भी है। स्वावलंबन तथा सदाचार द्वारा उपलब्ध आनन्द अपूर्व होता है।

समंतभद्र स्वामी ने संभवनाथ भगवान के स्तवन में इंद्रियजनित सुख की मीमांसा करते हुए लिखा है-

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यम्, तृष्णामयाप्यायनमात्र हेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रम्, तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥३॥

— भगवन्! आपने यह कहा है कि इंद्रियों से उत्पन्न होनेवाला सुख बिजली की चमक के समान क्षणस्थायी है। वह सुख तृष्णा रूपी रोग का एक मात्र हेतु है। उसके सेवन करने से विषयों की लालसा बढ़ती है। यह तृष्णा की वृद्धि निरन्तर संतप्त करती है। उसी कारण यह संताप जगत् को कृषि वाणिज्यादि कार्यों में प्रवृत्त कराकर अनेक प्रकार के कष्टों से दुःखी बनाता है।

जिस ३० जनवरी १९४८ के दिन गोडसे ने गोली मारकर गांधी जी की जीवन-लीला समाप्त की थी, उसी दिन के प्रभातकाल में वे शायर के इस गीत को ध्यान से सुन रहे थे-

है बहारे बाग दुनिया चंद रोज।
देख लो इसका तमाशा चन्द रोज॥

— यह जगत् एक बगीचे के समान है, जिसमें सौरभ तथा सौन्दर्य थोड़ी देर निवास करते हैं। यह स्थायी आनन्द का स्थल नहीं है। इसका तमाशा कुछ समय पर्यन्त रहा है, उसे देख लो। वह आसक्ति के योग्य नहीं है। उपर्युक्त उद्गार गांधी जी की समाधि भूमि पर अंकित रखने योग्य हैं।

इस क्षणिक आनन्द तथा वैभव के पीछे मनुष्य तो क्या सांस्कृतिक संपत्ति का उत्तराधिकारी यह देश भी आँख बन्दकर सुख-प्राप्ति के मार्ग पर दौड़ लगा रहा है। भारतवासियों को- शासकों तथा शासितों को महाभारत के शान्तिपर्व में प्रतिपादित भीष्म की पुण्य वाणी ध्यान में रखना चाहिए-

"धर्मेण निधनं श्रेयः, न जयः पापकर्मणा।"

—धर्म (अहिंसात्मक जीवन) के साथ मृत्यु अच्छी है, पाप कार्यों के द्वारा विजय भी बुरी है।[१]

पाप की आधार शिला पर अवस्थित अभ्युदय वास्तविक आनन्द और शान्ति से दूर रहता है। किसी भवन की नींव में यदि मुर्दा डाल दिया जाये और ऊपर दया के देवता का मंदिर बनाया जाय, तो क्या उस स्थान पर भगवती अहिंसा का निवास होगा? दया के देवता के मंदिर की नींव में रक्त नहीं, प्रेम का अमृत सींचा जाना चाहिए। मनुष्य

---

1. "Death through Dharma is better than victory through a Sinful act." — The Mahabharata Condensed. Madras.P.401

का कर्त्तव्य है कि वह अपना 'स्व' अपने शरीर तथा परिवार को ही नहीं मानकर प्राणीमात्र को अपना सोचे तथा माने। सच्ची करुणा की सृष्टि में सम्पूर्ण जीव समान दिखते हैं। माता को सुस्वादु वस्तु अपने बच्चों को खिलाने में जितना आनन्द आता है, उतना आनन्द अकेले अपना पेट भरने में नहीं आता।

जो व्यक्ति नकली नहीं, असली आनन्द चाहता है, उसे अपने आपको समुद्र की तरह गंभीर तथा विशाल बनाना चाहिए। रवि बाबू ने विश्वकवि की प्रतिष्ठा के अनुरूप ये शब्द कहे थे- "महाशान्ति महाप्रेम, महापुण्य महाप्रेम।" महान् प्रेम ही महान् पुण्य है; उसके समीप ही महा शान्ति का निवास रहता है। योगसूत्र में लिखा है- "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" (सूत्र ३५, द्वितीय पाद) अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उसके सन्निधान होने पर ("सहजविरोधीनामहिनकुलादीनां बैरत्यागः") निसर्गविरोधी सर्प-नकुलादि जीवों में वैरभाव छूट जाता है।

अहिंसा की सुव्यवस्थित रीति से श्रेष्ठ साधना का मार्गदर्शन जैनग्रन्थों में किया गया है। अहिंसा की सफल साधना करने वालों में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर कैवल्यप्राप्ति के पश्चात् मगधदेश की राजधानी राजगृह के विपुलाचल पर आए थे। उस समय भगवान के समवसरण में विद्यमान पशुओं में अद्भुत मैत्री की ज्योति जगी थी। जिनसेन स्वामी ने महापुराण में उस मैत्री की एक मधुर झाँकी इस प्रकार दी है। सम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार) ऋषिराज गौतम गणधर से कहते है-

सिंह-स्तनन्धयानत्र करिण्यः पाययन्त्यमूः।
सिंहधेनुस्तनं स्वैरं स्पृशन्ति कलभा इमे ॥२-१३॥

— प्रभो ! इधर ये हथिनियाँ सिंह के बच्चों को अपना दूध पिला रही हैं तथा सिंहिनी के स्तनों का दूध हाथी के बच्चे स्वेच्छा से पी रहे हैं।

सम्राट् श्रेणिक पुनः कहते हैं:-

तपोवनमिदं रम्यं परितो विपुलाचलम्।
दयावनमिवोद्‌भूतं प्रसादयति मे मनः ॥२-१७।

— नाथ! विपुलाचल के चारों ओर का यह तपोवन बड़ा रमणीय है। यह मुझे दयावन के रूप में उत्पन्न हुआ अत्यन्त प्रिय लगता है।

अहिंसा आध्यात्मिक तथा लौकिक उन्नति की जननी सदृश है। जिनेन्द्र भगवान

के एक हजार आठ नामों में 'महादय:' शब्द आया है, उसका भाव है कि भगवान महादया युक्त हैं। उनको 'महोदय' भी कहा है; क्योंकि उनका उदय अर्थात् उनकी उन्नति भी महान् है। 'महान् दया' का 'महान् उदय' के साथ संबंध है। भगवान को 'महादम:'-महाइन्द्रिय विजेता भी कहा है; क्योंकि उन्नति का आरम्भ इन्द्रियविजय तथा आत्म निर्मलता द्वारा सम्पादित होता है।

काम, क्रोध, लोभ, मान, माया आदि विकारों के कारण ही यह जीव अविनाशी आनन्द को नहीं प्राप्त कर पाता। अबोध बालक मिट्टी के ढेर में अवर्णनीय सौन्दर्य तथा विभूति की कल्पना करके प्रसन्न होता है, पश्चात् ज्ञान के विकास होने पर उसे अपनी भूल तथा भोलेपन का पता चलता है; इसी प्रकार मोह रूपी अन्धकार के दूर होने पर मनुष्य को वस्तुस्थिति का सम्यक् अवबोध होता है। इस मोह के कारण लौकिक विद्या के महान् विद्वान् तथा सर्व प्रकार के वैभवादि सम्पन्न प्राणी अज्ञवत् चेष्टा करते हैं। जब यह जीव चिंतन अवस्था में पदार्थों के तथा अपने स्वरूप पर विचार करता है, तब यह सोचता है कि मैं अब तक गहरे अन्धकार में था, जो मैंने अपने आत्मस्वरूप को नहीं जाना।

विश्व के महापुरुष आत्मा के ज्ञान को सुख का मूल बीज बताते हैं। 'आत्मानं विद्धि'। (Know Thyself) आदि शब्द उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालते हैं। सर्वथा एकाकी जीवन बिताने वाला चीनी महापुरुष कन्फ्यूशस कहता था- ''मैं पहले अपने को भलीभाँति जानना चाहता हूँ। मेरा अनुभव है कि अपने को जानना बड़ा कठिन कार्य है।'' जैन महर्षि कुन्दकुन्द ने लिखा है:-

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।
भाविय-सहावपुरिसो विसएसु विरज्जए दुक्खं ।।६५।। मोक्षप्राभृत

— इस आत्मा का ज्ञान बहुत कठिनता से होता है। आत्म-बोध होने पर उसकी भावना कठिन कार्य है। आत्मा की भावना करने वाला पुरुष बड़ी कठिनता से विषयों से विरक्त होता है।

आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिए विशेष ज्ञान भी आवश्यक है। ऐसे जीव जिनके मन नहीं है, आत्मोपलब्धि के उद्योग से वंचित हो जाते हैं। मनुष्य जीवन में सहज ही सर्व प्रकार की अनुकूल सामग्री है; किन्तु यह जीव भूल जाता है कि यदि मैंने शीघ्र हित सम्पादन नहीं किया, तो जीवन सूर्य अस्तङ्गत हो जायगा। इमरसन ने लिखा

है- 'Life is too short to Waste'. "जीवन इतना थोड़ा है कि उसमें से क्षणभर भी बरबाद नहीं किया जा सकता।" अत: आत्मविकास की ओर ध्यान जाना चाहिए। असली आनन्द का भण्डार बड़े भवनों तथा भौतिक विकास-केन्द्रों में नहीं है; आत्मा को महान् बनाने में व्यक्ति तथा राष्ट्र का हित है। पश्चिम के एक विद्वान् ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि शासन के नागरिकों के घरों की छतों को ऊँचा करने में राष्ट्र की उतनी सेवा तुम नहीं कर सकते, जितनी कि उनकी आत्मा को विशाल बनाकर कर सकते हो। विद्वान् लेखक के शब्द इस प्रकार हैं:- 'You will do the greatest services to the state if instead of raising the roofs of the houses you will raise the souls of the Citizens, for it is better that great souls should dwell in small houses than that mean slaves should lurk in great ones.' भौतिक विकास द्वारा प्राप्त सुख कृत्रिम है तथा अल्पकाल तक टिकता है। सारा जगत् अज्ञानवश उस सुख में ही मस्त हो रहा है। पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है:-

वपुः गृहं धनं दाराः पुत्रमित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ।।

—शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु ये सब जीव से भिन्न स्वभावयुक्त हैं; किन्तु अज्ञानी जीव इन सब को अपना मानता है।

जिसने वास्तविक तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वह विवेकी व्यक्ति भोग तथा मोह के मार्ग से विमुख होकर श्रेष्ठ त्याग को अंगीकार करता है। इस युग में आत्मविद्यारूप श्रेयोमार्ग का प्रदर्शन प्रथम जैन तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने किया था। उन्होंने प्रजापति के रूप में लोगों को लौकिक सुख और शान्ति के मार्ग पर लगाया था। जब उनकी दृष्टि मोह के अंधकार की न्यूनता होने पर विशेष विशुद्ध बनी तब उन्होंने महान् राज्य का परित्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारण की थी। उनका श्रेष्ठ व्यक्तित्व वैदिक साहित्य में भी निरूपित किया गया है। ऋग्वेद तथा उपनिषदों में दिगम्बर स्वरूप युक्त परमहंस साधुओं का उल्लेख है। जावाल उपनिषद् में कहा है, "यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थ.... सः परमहंसो नाम"। जब सिकन्दर भारत में आया था, तब उसने दिगम्बर साधुओं का दर्शन किया था, ऐसा मेगस्थनीज ने लिखा है।[1] भागवत में भगवान ऋषभदेव को वासुदेव का अंश कहते हुए उन्हें आत्मविद्या का पारगामी बताया है। भागवत में उनके लिए 'वासुदेवांशम्' शब्द आया है। उनके नौ पुत्र आत्मविद्या में निपुण दिगम्बर श्रमण

1. When Alexander came to India he saw some naked saints in Texila.

हो गए थे। भागवत के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं:-

नवाभवन्महाभागा: मुनयो ह्यर्थशंसिन: ।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्या-विशारदा: ॥२०, अ. २, स्क. ११ ॥

वे दिगम्बर साधु सर्वत्र अव्याहत गति से विचरण करते थे।

अव्याहतेष्टगतय: सुरसिध्यसाध्य-
गन्धर्व-यक्ष-नर-किन्नर-नाग-लोकान् ।
मुक्ताश्चरन्ति मुनि-चारण-भूतनाथ-
विद्याधर-द्विजगवाँ भुवनानि कामम् ॥२३ ॥

—एक समय महात्मा निमि ने बड़े-बड़े ऋषियों के द्वारा एक महान् यज्ञ कराया था, तब वहाँ नव दिगम्बर श्रमण पहुँचे थे। उन्हें देखकर राजा निमि तथा अन्य महान् विप्र लोग खड़े हो गए थे, उन दिगम्बर साधुओं का महान् सन्मान किया था तथा उनकी पूजा की थी। (श्लोक २४,२५, २६, अ. २)।

भागवत में लिखा है कि साधु का धर्म "शांति तथा अहिंसा" है- "भिक्षोर्धर्म: शमोऽहिंसा" (४२, अध्याय १८, स्कन्ध ११)। इस श्रेष्ठ अहिंसा धर्म की चर्चा करना सरल है, उस पर निर्दोष रूप से आचरण करना महान् आत्माओं का काम है। इस अहिंसा की साधना के लिए दिगम्बर वृत्ति तथा नि:संग अवस्था आवश्यक है। जैसे सरोवर में एक छोटा सा पाषाण खण्ड फेंकने पर लहरें उठती हैं, इसी प्रकार बाह्य कामिनी, कंचनादि का जरा भी संबंध मन को वीतरागता से गिराकर रागी, द्वेषी, मोही आदि विकार भाव सम्पन्न कराता है। इन्द्रियों के कारण ही जीव का मन चंचल होता है। गीता में कहा है- "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मन: ॥६०, अध्याय २ ॥ इन्द्रियाँ प्रमथन स्वभाव वाली हैं; वे बलपूर्वक मन को अपनी ओर खींचती हैं।

बाह्य पदार्थों का आश्रय पाकर आसक्ति उत्पन्न होती है, उससे कामना जागती है, इसके निमित्त से क्रोध पैदा होता है। क्रोध से अविवेक, उससे स्मृति का नाश होता है, इसके द्वारा बुद्धि-विवेक का नाश होता है। इससे यह श्रेयोमार्ग से गिर जाता है-

ध्यायतो विषयान्पुंस: संगस्तेषूपजायते ।
संगात्सञ्जायते काम: कामात्क्रोधोभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोह: संमोहात्स्मृतिविभ्रम: ।
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६१,६२,अ.२ ॥

कोई लोग सोचते हैं, मनोभावों की शुद्धि आवश्यक है। बाह्य सामग्री से कुछ हानि नहीं पहुँचती। परिग्रह पास में रहने से कोई हानि नहीं है। यह परिकल्पना भ्रान्त है। डकैती का विचार यदि बुरा है तो डकैती का कार्य क्यों न बुरा होगा। धीवर द्वारा मछली मारने की मनोदशा यदि त्याज्य है तो क्या मछली मारने का कार्य त्याज्य न होगा? परस्त्री-सेवन का चिंतन यदि निंद्य है तो उक्त कार्य क्यों न पातक रूप होगा? दैवी सम्पत्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है- 'दैवी संपद्विमोक्षाय' (५,१६)। जैन शास्त्रों में उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य ये दस धर्म कहे गए हैं।[१] दिगम्बर जैन साधु में ये दश गुण पाए जाते हैं। इन्हीं गुणों का उल्लेख दैवी सम्पत्ति के रूप में गीता में पाया जाता है। वास्तव में, ये गुण ही नर को नारायणरूपता प्रदान करते हैं। प्रत्येक सत्पुरुष का ध्यान इन पद्यों पर जाना चाहिए :-

अभयं सत्व-संशुद्धिर्ज्ञान-योग-व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा-सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥१-३, अ. १६॥

– हे अर्जुन! अभय, अन्तःकरण की शुद्धता, ज्ञानयोग में दृढ़स्थिति, दान, इन्द्रियों का दमन, पूजा, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, निन्दा न करना, सर्वजीवों में दया, इन्द्रियों की लोलुपता का त्याग, कोमलता, लज्जा, चंचलता का त्याग, तेज, क्षमा, धैर्य, अन्तरंग तथा बहिरंग पवित्रता, शत्रुभाव का त्याग, अभिमान का अभाव, ये दैवी सम्पति-प्राप्त पुरुष के लक्षण कहे गए हैं। गीता-भक्तों के मनोमंदिर में यदि दैवी संपत्ति का सूर्य प्रकाश प्रदान करे तो जीवन ज्योतिर्मय बन जाय। विद्वेष तथा हिंसामूलक प्रवृत्तियों का अभाव हो जाय और आदर्श मानव की स्थिति प्राप्त हो सकती है। सत्कर्मों की परिकल्पना नहीं, उनके अनुरूप जीवन का निर्माण आवश्यक है। आत्मा का पतन करानेवाली सामग्री आसुरी सम्पत्ति कही गई है। कोई भी व्यक्ति हो, कितना भी बड़ा तथा लोकमान्य हो; धर्म के क्षेत्र में भी जिसने

---

१. उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-सत्य-शौच-संयम-तपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः- ॥ तत्त्वार्थसूत्र अ.९,६॥

अपना बड़ा आसन जमाया हो, यदि उसमें आसुरी सम्पत्ति का विष है, तो उसकी कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है। बड़े-बड़े धर्मों के सत्ताधीश बनने वालों में ये विकार पाए जाते हैं। आत्महितार्थ इस गीतोक्त सत्य को सभी धर्मवालों को हृदय में स्थान देना चाहिए। गीता में कहा है:-

दंभो दर्पेऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४,अ. १६॥

– हे अर्जुन! दम्भ (पाखण्ड), घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी तथा अज्ञान ये आसुरी सम्पत्ति प्राप्त व्यक्ति के चिह्न हैं।

यदि धार्मिकों के हृदयों में दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति का स्वरूप अंकित हो, तो जैसे लोमहर्षक धार्मिक अत्याचार पूर्व में हुए हैं, उनकी पुनरावृत्ति न हो। यह भ्रम है कि धर्म के नाम पर किए गए क्रूर कर्म तथा आसुरी आचरण उन्नति प्रदान करेंगे। श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन से कहा था :-

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०, अ. १६॥

– हे कौन्तेय! मूढ़ प्राणी जन्म-जन्मांतरों में आसुरी योनि को प्राप्त हुए। वे मुझको न प्राप्त कर अत्यन्त अधम नरकादि गतियों को प्राप्त होते हैं।"

इस ज्ञान-ज्योति के उज्ज्वल प्रकाश में उन लोगों का जीवन देखा जा सकता है, समझा जा सकता है; जो अहिंसा की शरण ग्रहण करते हैं अथवा जो हिंसादि पापाचरण तथा दम्भादि विकारों के कारण निर्विचार हो कार्य करते हैं। जो लोग अपने को गीताभक्त कहते हुए अहिंसादि दैवी संपत्ति से समलंकृत दिगम्बर श्रमणों अथवा शान्ति के अन्य उपासकों पर तामसी भावों से प्रेरित हो अपने में आसुरी वृत्ति को स्थान देते हैं, उनकी क्या गति होगी, यह उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है? ऐसी शिक्षाओं के प्रचार से धार्मिक मैत्री उत्पन्न होती है। जैनशास्त्रों में कहा है, जो हीनाचरण करता है, वह कुगति में जाता है। अपने को जैन कहनेवाला यदि पापाचरणी है, तो वह आत्मा उन्नतिपूर्ण स्थिति को प्राप्त नहीं करेगी; क्योंकि व्यक्ति का भविष्य उसके उज्ज्वल अथवा मलिन भावों पर आश्रित है।

यदि शान्तभाव से वैदिक विद्वान् अपने साहित्य को देखें, तो उनके हृदय में जैनधर्म, जैन देवता तथा जैन साधुओं के प्रति आदर तथा प्रेम भाव सहज ही उत्पन्न

होगा। जैन दिगम्बर मूर्तियाँ काम, क्रोध तथा लोभ रूप नरक के कारण त्रिविध दोषों से रहित हो, अकाम, अक्रोध तथा अलोभ वृत्ति की स्पष्ट प्रतीक हैं। जैन साधु जब दिगम्बर स्थिति को प्राप्त करते हैं, तब वे गीता की परिभाषा के अनुसार ब्राह्मी स्थिति सम्पन्न 'स्थितप्रज्ञ' सत्पुरुष के रूप में सम्मान के योग्य हो जाते हैं। उनका आदर न करके उनके प्रति अभद्र भावों को व्यक्त करना क्या स्वधर्म की पवित्र आज्ञा का उल्लंघन करना नहीं हैं? दिगम्बर जैन मुनि परमशान्ति स्वरूप, सर्वकामनाओं से मुक्त तथा पाणिपात्र महातपस्वी होते हैं। उन परम ब्रह्मचर्य से समलंकृत साधुओं का विहार सुभिक्ष तथा समृद्धि का कारण कहा गया है। स्थित-प्रज्ञ का स्वरूप इन शब्दों में कहा गया है :-

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५, अ. २॥

– हे अर्जुन! यह पुरुष मनोगत सर्व कामनाओं का त्याग करता है, उस काल में आत्मा के द्वारा ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

शीत, उष्ण, क्षुधा, प्यास, दंश, मशक, दिगम्बरत्व आदि की कठिनाइयों को सहन करने वाले जैन मुनिराज के विषय में गीता की यह उक्ति कितनी सत्य तथा उपयुक्त है, यह विचारवान व्यक्ति सोच सकता है :-

दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग-भय-क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६ अ.२॥

–जो दुःखों से घबराता नहीं, सुखों में जिसकी तनिक भी इच्छा नहीं है, जो राग, भय तथा क्रोध से विमुक्त है, वह स्थितप्रज्ञ मुनि कहा गया है।

सामान्य श्रेणी का मानव तो श्रेयोमार्ग में संलग्न साधुओं तथा तपस्वियों के जीवन से प्रकाश पाता हुआ गृहस्थ जीवन व्यतीत करता है; किन्तु उसकी आकांक्षा भर्तृहरि के शब्दों में इस प्रकार रहती है-

एकाकी निस्पृहो शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
[१]कदाऽहं संभविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥८९॥ वैराग्यशतक

– भगवन्! मैं अकेला, स्पृहा रहित, शान्त, कर-पात्र में भोजन करने वाला तथा कर्मों का मूलोच्छेद करने में समर्थ दिगम्बर मुनि कब बनूंगा?

---

१. कहीं-कहीं 'कदा शंभो' भी पाठ मिलता है।

इस दिगम्बर अवस्था के प्राप्त होने पर मनुष्य अगणित चिन्ताओं तथा मनो-व्यथाओं से मुक्त होकर उस उच्च शांति को प्राप्त करता है, जिसकी बड़े से बड़े नरेश, वैभवशाली गृहस्थ, श्रेष्ठ गौरवशील राजनीतिज्ञ आदि स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते। दुनिया की उलझनों में फँसे व्यक्ति को क्षणभर भी चैन नहीं मिलती है। लोकोपकार, लोकसेवा आदि सत्कार्यों के द्वारा आनन्द और अभ्युदय मिलते हैं, किन्तु निःश्रेयस, निर्वाण-मुक्ति, अविनाशी सुख का उपाय विश्व से विमुख हो आत्मा की ओर उन्मुख होकर जीवन को वीतराग-वीतमोह बनाना है।

अध्यात्मविद्या के रसिक विद्वान् महाकवि बनारसीदासजी का आत्मोन्मुखता की ओर प्रेरणा देने वाला भजन मनन योग्य है। अध्यात्म का महत्त्व न आँकने के कारण कोई विदेशी आध्यात्मिकता में 'World Flight' -दुनिया से दूर भागने की कल्पना करके अकर्मण्यता का दर्शन करते हैं; किन्तु यदि उन्हें यह पता चल जाय कि साधु तपोवन में जाकर चुपचाप अकर्मण्य नहीं बैठता है; वह क्रोध, मान, माया लोभ, काम आदि अन्तरंग शत्रुओं से घोर संग्राम करता है, तब वे यह समझेंगे कि उस अवस्था को 'Spiritual Fight' आध्यात्मिक-संग्राम कहना सुसंगत होगा।

बनारसीदास जी कहते हैं-

"दुविधा कब जै है या मन की ॥दु.॥
कब निजनाथ निरंजन सुमिरौं, तज सेवा जन-जन की ॥दु.॥१॥

कब रुचि सौं पीवै दृग चातक, बूँद अखय पद घन की ।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूँ न ममता तन की ॥दु.॥२॥

कब घट अन्तर रहै निरन्तर दिढ़ता सुगुरु वचन की।
कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धन की ॥दु.॥३॥

कब घर छांडि होहु एकाकी, लिये लालसा बन की।
ऐसी दशा होय कब मेरी, हौं बलि-बलि वा छनकी॥दु.॥४॥"

गाँधी जी राजनैतिक नेता होते हुए भी गहरी आध्यात्मिक रुचि वाले सत्पुरुष थे, इसीसे उन्होंने इंगलैंड के तत्कालीन प्रधानमंत्री चर्चिल को एक पत्र लिखकर कहा था- "मेरी तीव्र इच्छा है कि मैं दिगम्बर साधु बनूँ, यद्यपि मैं अभी उस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सका हूँ।" वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करने के स्थान में जो व्यक्ति एक झोपड़ी में

रहकर अपनी आवश्यकताओं को न्यून करते हुए अपना जीवन व्यतीत करता था, उस पुरुष की दृष्टि भौतिकता के मोतियाबिन्दु के रोग से विमुक्त होने से स्वच्छ थी।

देशवासियों को स्वदेशी सामग्री का उपयोग करने का उपदेश देने वाले गाँधी जी आत्मा के लिए उसके देह को भी परदेशी सोचते थे। जहाँ 'स्व' शब्द आत्मा का वाचक बनता है, वहाँ जड़ देह उस चैतन्य ज्योतिर्मयी आत्मा से भिन्न ही ठहरी, अत: उससे मुक्ति प्राप्त करना ही सच्चे अर्थ में स्वदेशी बनना कहा जायगा। उसी विशुद्ध प्रकाश में अपने देश पर अपना शासन 'स्वराज्य' न होकर अपनी आत्मा को भोग तथा विषयों के कुचक्र से छुड़ाकर आत्मा में अवस्थित होना 'स्वराज्य' है। उस स्वराज्य को जिनसेन स्वामी महापुराणकार के शब्दों में "धर्म-साम्राज्य-नायक" भी कहा जाता है। यरवदा जेल में बैठे हुए कैदी शरीरवाले गाँधीजी ने सन् १९३० में वे अनमोल शब्द लिखे थे-"आत्मा के लिए स्वदेशी का अंतिम अर्थ सारे सम्बन्धों से आत्यंतिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है।" ऐसी स्थिति को प्राप्त कराने की क्षमता अपने हाथ से काते गए सूत से बने खादी के वस्त्र में नहीं है। वह वस्त्र भी परदेशी है। उसके लिए दिशारूपी वस्त्र धारणकर या तो दिगम्बर होना पड़ेगा अथवा वस्त्र मात्र रहित निरम्बर होना आवश्यक होगा। सहस्रनाम पाठ में परमात्मा के वाचक शब्दों में यह कहा है :-

'दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रंथेशो निरम्बर:'

– भगवान दिशारूपी वस्त्रों को धारण करने से 'दिग्वास:' हैं; पवन रूपी करधनी से समलंकृत होने से 'वातरशन:' हैं, मोह की ग्रन्थि (गाँठ) रहित होने के कारण निर्ग्रंथों के ईश्वर हैं तथा अम्बर अर्थात् वस्त्ररहित होने से निरम्बर हैं।

इस प्रसंग में गाँधीजी के ये उद्गार बड़े अनुभवपूर्ण प्रतीत होंगे-"आदर्श आत्यन्तिक अपरिग्रह तो उसी का होगा, जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। मतलब वह पक्षी की भाँति बिना घर के, बिना वस्त्रों के और बिना अन्न के विचरण करेगा, इस अवस्था को तो बिरले ही पहुँच सकते हैं।" आज जो लोग भौतिक अभ्युदय को अपने जीवन का लक्ष्य बनाए हुए हैं, तथा उस लक्ष्य की प्राप्ति में कृतार्थता की कल्पना किए हैं, भारत के उन कर्णधारों को अपने पूज्य बापू के इन शब्दों की गहराई हृदयंगम करने का कष्ट करना चाहिए-"सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि उसको विचार और इच्छापूर्वक घटाना है। ज्यों-ज्यों परिग्रह घटाइये, त्यों-त्यों सच्चा सुख और सच्चा संतोष बढ़ता है।"

(गांधी वाणी पृ. २५६)

जैन कवि की यह वाणी कितनी सप्राण, विशुद्ध तथा वास्तविक है-

चाह घटी चिन्ता हटी मनुआ बेपरवाह।
जिन्हें कछू नहिं चाहिए वे शाहनपति शाह ॥

ऐसी पवित्र तथा परिशुद्ध स्थिति प्राप्त करने के लिए इस जीव को जड़तत्त्व की आराधना को छोड़कर अनंत शक्ति के अक्षयभण्डार आनंदमय आत्मा का आश्रय लेना होगा। जड़ पदार्थ की संगति से ही जीव की दुर्दशा होती है। अग्नि जब लोहे की संगति करती है, तब वह लुहार के द्वारा घनों की मार सहन करती है। परमानंद स्तोत्र में लिखा है-

सदानन्दमयं जीवं यो जानाति स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं परमानन्द-कारणम् ॥

-जो जीव को सदा आनन्दमय जानता है, परमार्थ दृष्टि से वह ज्ञानी है, पंडित है। वह श्रेष्ठ आनन्द के कारण स्वरूप अपनी आत्मा की आराधना करता है।

सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने इस आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहा है। यह आत्मा स्वशरीर प्रमाण है। संसारी जीव कर्मों द्वारा बद्ध हैं, इससे कर्मों के अनुसार जितना छोटा-बड़ा शरीर प्राप्त होता है, जीव भी उसी प्रकार संकोच-विस्तार रूप होता है। आत्मा शरीर के बाहर नहीं है तथा वह शरीरव्यापी है, वह विश्वव्यापी नहीं है। यह जैनागम का कथन अनुभव तथा विज्ञानसम्मत है। अतः आत्मा का चिंतन करने वाले मानव को अपने शरीर प्रमाण ज्ञानस्वरूप आत्मा का विचार करना चाहिए। महान् योगी पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में आत्मा का स्वरूप इस प्रकार कहा है :-

स्व-संवेदन-सुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यन्त-सौख्यवान् आत्मा लोकालोकविलोकनः ॥

-यह आत्मा स्व को अर्थात् अपने आपको संवेदन (ज्ञान) के द्वारा भली प्रकार जान जाता है। यह शरीर प्रमाण है। इस आत्मतत्त्व का क्षय नहीं होता, यह अविनाशी आनन्द वाला है। यह लोक तथा अलोक का दर्शन करने की सामर्थ्य सम्पन्न है।

शुभचंद्राचार्य ने लिखा है कि यह जीव पशु, मनुष्यादि की पर्यायों में पाया जाता है। उसका कारण यह कर्मोदय है- "सर्वोऽयं कर्मविक्रमः"। मैं अनंतज्ञानादि सम्पन्न हूँ, इससे विपक्षी कर्मरूप विषवृक्ष को क्यों न जड़मूल से उखाड़ूँ? "किन्तु

प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्ष-विषद्रुमम्'' । इस अध्यात्म विद्या के यथार्थ रहस्य से अपरिचित अविवेकी अपने को वर्तमान पर्याय में ही पूर्ण शुद्ध मानते हैं और सदाचार में अकर्मण्यता दिखाकर पाप-प्रवृत्तियों में प्रगति करते हैं। अत: मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि वह वैराग्यभाव को जगाकर आत्महित में प्रवृत्ति करे।

आत्मज्ञानी में वैराग्य का दिव्य प्रकाश पाया जाता है। उसका अन्त:करण वैराग्यरूप अमृत से परिपूर्ण रहता है। अन्य धर्मों में भी आत्मतत्त्व के अभ्यासी के लिए वैराग्य की महत्ता स्वीकार की गई है।

योगसूत्र में लिखा है- योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: ॥२॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध: ॥१२॥-चित्तवृत्ति का निरोध योग है। चित्तवृत्ति की चंचलता का निवारण अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा साध्य है। गीता में भी कहा है :-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५ अ. ६॥

-हे अर्जुन! इसमें सन्देह नहीं है कि मन चंचल है और उसे वश में करना कठिन है; किन्तु अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा वह मन वश में किया जाता है।

मनोजय के द्वारा ध्यान की सामर्थ्य प्राप्त होती है, जिससे अनादिकालीन कर्मों की पर्वत सदृश राशि अंतर्मुहूर्त काल में नष्ट हो जाती है। आत्मविकास के प्रेमी भद्र-पुरुषों को जैनाचार्य का यह मार्मिक तथा अनुभवपूर्ण मार्गदर्शन ध्यान देने योग्य है-

संगत्याग: कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मन: ॥

—परिग्रह का त्याग करके दिगम्बर मुद्रा स्वीकार करना, राग-द्वेषादि मनोविकारों का दमन करना, व्रतों का पालन करना, मन तथा इन्द्रियों को जीतना यह ध्यान की कारण रूप सामग्री है।

कोई-कोई विषयासक्त व्यक्ति त्यागी जीवन की बुराई बताते हुए कहते हैं, जब भगवान के ज्ञान में हमारा चारित्र रूप परिणमन आयेगा, तब हम चारित्र धारण करेंगे, मानों इन्होंने भगवान के साथ इतनी निकटता प्राप्त कर ली है कि भगवान इनके पास आकर इनको यह कहेंगे-''श्रीमान्‌जी, उठिये, अब आपका दीक्षाकल्याणक का समय आ गया है।'' मानों भगवान सर्वज्ञ को इन प्रमादियों ने अपना पहरेदार बना लिया है।

सत्कर्मों से विमुख हो दुष्ट प्रवृत्तियों में निमग्न होने वाले तथा उनमें विशेष प्रयत्नरत व्यक्तियों को महर्षि कुंदकुंद उपदेश देते हैं, "जो व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक पाप कार्यों में लगते हैं, वे संसार में दुःख भोगते हैं।"

जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो।
मोहंधयार-सहियो तेण दु परिपडदि संसारे ॥३४॥

ऐसे प्रमादियों के प्रमुख को एक जैन कवि भजन में समझाते हैं—

आवै न भोगन तैं तोहि गिलान ॥टेक॥
तीरथनाथ भोग तजि दीने तिन तैं भय मन आन।
तू तिनतैं कहुँ डरता नांही, दीसत अति बलवान ॥टेक॥

इस प्रसंग में उर्दू के एक शायर की उक्ति स्मरण योग्य है, जो यह बताती है कि आचरण के द्वारा जीवन बनता है। उच्च पद या नीच अवस्था मनुष्य के आचार पर आश्रित है।

अमल से जिंदगी बनती है, जन्नत भी जहन्नुम भी।
ये खाकी अपनी फितरत में न नूरी है न नारी है ॥

मोह के कारण अन्धा जीव विपरीत दृष्टि बन जाता है, उससे ही सब प्रकार के उपद्रव आरम्भ होते हैं। उस मोह को वश करने का उपाय यशोविजय उपाध्याय ने ज्ञानसार में इस प्रकार कहा है-

अहं ममेति मंत्रोयं मोहस्य जगदांध्यकृत्।
अयमेव हि नञपूर्वः प्रतिमंत्रोपि मोहजित् ॥

– मोहरूपी जादूगर जिस मंत्र के द्वारा संसार को मूर्ख बनाता है वह मंत्र है 'मैं ऐसा हूँ,' (अहंकार) 'मेरा यह है' (ममकार)। इस अहंकार, ममकार के द्वारा यह अपना विनाश करता है। इस मोह के मंत्र में निषेध वाचक शब्द लगाकर 'न मम' 'न अहं' -यह जगत् मेरा नहीं है; मैं सुखी, दुःखी, धनवान, गरीब आदि नहीं हूँ; इस दृष्टि के द्वारा मोह का जादू दूर हो जाता है।

जैसे सुवर्ण पीतवर्ण है, उसी प्रकार का पीलापन पीतल में भी पाया जाता है, इसी प्रकार सर्वज्ञ शासन के द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक दृष्टि एवं इतर जनों द्वारा कही जाने वाली आत्मा की चर्चा में सामान्यतया आध्यात्मिकता का नाम मात्र से साम्य है।

रत्नत्रय की ज्योति से समलंकृत आत्मदृष्टि मोक्षमार्ग है। उस आत्मा का क्या स्वरूप मुमुक्षु को श्रद्धान में रखना चाहिए, इस सम्बन्ध में कुंदकुंदस्वामी ने **प्रवचनसार** में कहा है-

अरसमरुवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीव-मणिदिट्ठ-संठाणं ॥१७२॥

– जीव को रस रहित, रूप रहित, गंध रहित, स्पर्श रहित, शब्द रहित, किसी चिह्न के द्वारा न ग्रहण करने योग्य तथा विशिष्ट आकार रहित जानो।

नियमसार में कहा है-

एगो मे सासदो आदा णाण-दंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१०२॥

– तत्त्वदृष्टि से विचारने पर ज्ञात होगा कि मेरी आत्मा अकेली है। वह अविनाशी है तथा ज्ञान-दर्शन स्वरूप है। इसके सिवाय शेष पदार्थ मुझसे भिन्न हैं। वे संयोग लक्षणवाले हैं। बाह्य पदार्थों का मेरी आत्मा के साथ तादात्म्य भाव नहीं है।

जो जीव का ध्यान राग, द्वेष, मोहादि विषधरों से व्याप्त जगत् की ओर खींचते हैं, वे इस आत्मा को जन्म-जरा-मरण के संकटों से नहीं छुड़ा सकते। **भैया भगवतीदास जी** ने प्रेमभरी वाणी में जीव को समझाते हुए प्रार्थना की है, कि वह जड़ शरीर तथा धन-धान्य, कुटुम्बादि के मोह का त्याग करके अपना उद्धार करे। उनके उद्बोधक शब्द हैं-

अहो जगत के राय मानहु एती बीनती।
छांड़हु पर-परजाय, काहे भूले भरम में ॥

इस आध्यात्मिक प्रकाश की उपलब्धि के लिए मनुष्य को अपना अन्तःकरण सम्यग्दर्शन से समलंकृत करना चाहिए। उसे सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी प्रभु का शरण ग्रहण करना होगा। यदि आराध्य विकारों का पुंज होगा, तो उसका आश्रय ग्रहण करने से कैसे कल्याण होगा? सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान आवश्यक है। इनके लिए साधारण अहिंसापूर्ण जीवन प्रवृत्ति आवश्यक है। जैन आगम में इसे रत्नत्रय का मार्ग कहा है। उसकी श्रेष्ठ साधना इस युग में अत्यन्त कठिन है। शारीरिक परिस्थिति, बाह्य वातावरण तथा श्रेष्ठ मनोजय इसके लिए आवश्यक हैं। आध्यात्मिक प्रकाशप्रद सामग्री दुर्लभ है।

चारित्र-चक्रवर्ती श्रमणराज

यह भारत का सौभाग्य रहा, कि उसको चारित्र-चक्रवर्ती श्रमणराज आचार्य शान्तिसागर महाराज नाम के दिगम्बर जैन महर्षि के रूप में आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त हुई थी। उन्होंने श्रेष्ठ अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहादि की समाराधना की थी तथा ३६ दिन पर्यन्त आहार-पान का परित्यागकर उच्च अहिंसा की साधना के हेतु कुंथलगिरि की जैन तपोभूमि से १८ सितम्बर १९५५ के प्रभात में परलोक यात्रा की थी। वे चन्द्रमा के समान अत्यन्त शीतल थे तथा सूर्य की भाँति तपस्या के तेज से अलंकृत थे। वह आध्यात्मिक ज्योति लोकोत्तर थी, जिसमें भानु तथा शशि दोनों की विशेषताएँ केन्द्रित थीं।

हमने इन श्रमणराज के समाधि लेने के पूर्व उनके पुण्य जीवन पर जो रचना बनाई थी, उसे 'चारित्र चक्रवर्ती' नाम से प्रगट किया था, क्योंकि वे चारित्ररूपी धर्मचक्र का प्रवर्तन कर रहे थे। उनका जीवन परोपकारपूर्ण समुज्ज्वल प्रवृत्तियों से समलंकृत था। इसके पश्चात् गुरुदेव ने आत्मशुद्धि तथा रत्नत्रय-साधना को अपने जीवन का केन्द्र विन्दु बनाया था; इसलिए उन्होंने जनसम्पर्क को छोड़कर आत्माराधन के कल्याणपथ को अपनाया था। उन्होंने 'समाधिशतक' की इस उच्च शिक्षा द्वारा अपने जीवन को अनुशासित किया था :-

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

– लोक सम्पर्क होने पर वचनालाप होता है, उससे मानसिक चंचलता होती है और चित्त में विभ्रम होता है, इसलिए योगी जनसम्पर्क का परित्याग करे।

वास्तव में वे परमयोगी हो गए थे, जिन्होंने शरीर-पोषण से पूर्ण विमुखता धारण कर आत्मोन्मुखता प्राप्त की थी। उन गुरुदेव ने सल्लेखना के श्रेष्ठ क्षणों में एकबार यह रहस्यपूर्ण बात बताई थी, कि वे अनन्त सिद्धों की निवासभूमि सिद्धशिला पर चिन्तनशक्ति द्वारा पहुँचकर अपनी आत्मा का ही ध्यान करते थे। अतः उनका जीवन आध्यात्मिक ज्योतिरूप में प्रतीत होता है, जो अपनी मुद्रा द्वारा मोक्षमार्ग का निरूपण करते हुए सब प्राणियों को यह दिव्य प्रकाश प्रदान करता है, कि प्रत्येक भव्य आत्मचिंतन पूर्वक सच्चे पुरुषार्थ का प्रश्रय ले रत्नत्रय के प्रसाद से परमात्मा की अवस्था को प्राप्त करता है। पुस्तक के उत्तरखण्ड का नाम **आध्यात्मिक ज्योति** रखना उचित लगा।

इस पुस्तक की मुद्रण व्यवस्था, प्रूफ संशोधन तथा महत्त्वपूर्ण सुझाव देना

आदि अत्यन्त श्रमपूर्ण कार्य मेरे अनुज प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकर, एम.ए.बी.कॉम, एल-एल.बी. ने बहुत श्रम कर सम्यक् प्रकार सम्पन्न किये। अनेक संस्मरणों के लेखन में छोटे भाई श्रेयांसकुमार, बी.एस-सी., अभिनन्दनकुमार दिवाकर एम.ए. एल-एल.बी. एडवोकेट ने भी गुरुभक्ति से प्रेरित हो कार्य किया था। चिरंजीव ऋषभ ने लेखनकार्य में बहुत परिश्रम उठाया। इस रचना का कुछ अंश लिखते समय स्व. प्रो. ताराचंद जैन, पथरिया (सागर) ने महत्त्वपूर्ण योग दिया था। श्रीगणपति रोटे कोल्हापुर ने साथ चलकर संस्मरण संग्रह करने में सहयोग किया था। ब्र. जिनदासजी समडोलीकर ने भी प्रवास का कष्ट उठाकर अपूर्व सहयोग दिया था। गुरुभक्त बन्धु श्री एम.एम. दोशी वकील फलटण तथा श्री गजानन मूग कोल्हापुर ने कुछ उपयोगी चित्र भेजे थे। इस प्रकार इनके पवित्र सहयोग द्वारा यह कार्य बन सका। लेखक इनके प्रति आभार व्यक्त करता है।

१०८ चारित्र चूड़ामणि महामुनि वर्धमानसागर महाराज, आचार्य वीरसागर महाराज, उग्रतपस्वी नेमिसागर महाराज, वीतरागी आचार्य धर्मसागर महाराज, आचार्य पायसागर महाराज, आचार्य देशभूषण महाराज, आदिसागर महाराज (दक्षिण), आचार्य अनंतकीर्ति महाराज आदि अनेक निर्ग्रन्थ साधुओं ने, अनेक साध्वियों ने, त्यागियों ने, गृहस्थों ने अपने अमूल्य संस्मरण निबद्ध करने में सहयोग दिया था। **संस्मरणों के लेखन में यथाशक्ति पर्याप्त सावधानी रखी गई है। फिर भी स्वयं के प्रमाद अथवा किन्हीं संस्मरणदाताओं की असावधानी से यदि कोई ऐसी बात छप गई हो, जो यथार्थ न हो, तो हमें जानकार बंधु साधार सामग्री भेजने की कृपा करें, जिसके प्रकाश में आगामी संस्करण में समुचित संशोधन कर विशुद्ध सत्य की रक्षा की जा सके।**

दिवाकर-सदन
सिवनी (मध्यप्रदेश)
दिनांक १७-४-१९६२
चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (महावीर जयंती)

सुमेरुचंद्र दिवाकर

।। ज्ञानामृतम् ।।

वृद्धिं व्रजति विज्ञानं यशश्चरति निर्मलम्।
प्रयाति दुरितं दूरं महापुरुष-कीर्तनात्।।
अल्पकालमिदं जंतोः शरीरं रोग-निर्भरम्।
यशस्तु सत्कथाजन्म यावच्चन्द्रार्कतारकम्।।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पुरुषेणात्मवेदिना।
शरीरं स्थास्नु कर्तव्यं महापुरुषकीर्तनं।।२४-२६, प्रथम पर्व

महापुरुष का यशोगान करने से विशुद्ध ज्ञान वृद्धि को प्राप्त होता है, निर्मल कीर्ति का प्रसार होता है। पाप दूर भागता है। इस जीव की रोगभरी देह थोड़े दिन टिकनेवाली है, किन्तु महापुरुष की गुण-गाथा से उत्पन्न यश जब तक चन्द्र, सूर्य, तारे रहेंगे, तब तक विद्यमान रहेगा। अतः आत्मज्ञ पुरुष को सम्पूर्ण प्रयत्नों द्वारा महापुरुष का कीर्तन करके इस यशरूपी शरीर को स्थायी बनाना चाहिए। —(पद्मपुराण)

पूजार्थाऽऽज्ञैश्वर्यैर्बल-परिजन-काम-भोग-भूयिष्ठैः।
अतिशयित-भुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः।।१३५।।

सद्धर्म (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) पूजा, धन, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल, परिजन, पंचइन्द्रियों के द्वारा सेव्यमान काम तथा भोग की प्रचुरता से त्रिभुवन में उत्कृष्ट तथा आश्चर्यप्रद अभ्युदय रूप फल प्रदान करता है।

यदि पाप-निरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्य-सम्पदा किं प्रयोजनम्।।२७।।

यदि पापास्रव का निरोध है अर्थात् उसका संवर होता है, तो अन्य सम्पत्ति से क्या प्रयोजन है? यदि पाप का आस्रव होता है, तब भी अन्य सम्पत्ति से क्या प्रयोजन है?

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम-तपोभृताम्।
त्रिमूढा-पोढ-मष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।।४।।

सच्चे सर्वज्ञ-वीतराग-हितोपदेशी आप्त, जिनेन्द्रवाणी रूप आगम तथा तप को धारण करने वाले दिगम्बर ऋषियों का देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता रहित, निःशंकित आदि अष्टांग युक्त तथा जाति कुलादि के अभिमान रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

- (रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्येयं गुरोर्मुखात्।
विनयेन ततोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥११८, पर्व ३८॥

सबसे पहले गुरु के मुख से श्रावकाचार पढ़ना चाहिए, इसके अनन्तर विनयपूर्वक अध्यात्मशास्त्र तथा अन्य शास्त्र पढ़ना चाहिए। -(महापुराण)

दुराचारार्जितं पापं सच्चरित्रेण नश्यति ॥४६, पर्व ७२॥

दुराचार अर्थात् नीच आचरण करने से बाँधा गया पाप कर्म सम्यक् आचरण के द्वारा नष्ट हो जाता है।

दुर्विधः सधनः पुण्यात् पुण्यात्स्वर्गश्च प्राप्यते।
तस्मात्पुण्यं विचिन्वंतु हतापत्-संपदैषिणः॥१५७,पर्व ७५॥

पुण्य से धनरहित धनवान बनता है। पुण्य से स्वर्ग प्राप्त होता है, अतएव आपत्ति का अभाव तथा सम्पत्ति की प्राप्ति की इच्छा करनेवालों को पुण्य का संग्रह करना चाहिए। -(उत्तरपुराण)

पुण्यं जिनेन्द्र-चरणार्चनसाध्यमाद्यम्।
पुण्यं सुपात्रगतदान-समुत्थमेतत्॥
पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात्।
पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम्॥

पुण्य की उत्पत्ति जिनेन्द्र भगवान के चरणों की पूजा द्वारा सम्पन्न होती है, सुपात्र-दान द्वारा यह पुण्य प्राप्त होता है। व्रतों के पालन द्वारा तथा उपवास के द्वारा पुण्य की प्राप्ति होती है। पुण्यार्थी पुरुषों को उपर्युक्त पूजा, पात्रदान, व्रत तथा उपवास द्वारा पुण्यार्जन करना चाहिए। -(हरिवंशपुराण)

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयं।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः॥२४६॥

जिस योगी के पुण्य तथा पाप बिना फल दिये निर्जीर्ण हो जाते हैं, उसके निर्वाण होता है, उसके पुनः कर्मों का आगमन नहीं होता।

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन्न जयेद्यत्तदज्ञता ॥२१२॥

तपस्या का कष्ट सहन करने की शक्ति न होने से बहुत समय पर्यन्त घोर तप नहीं करते हो, तो कोई बात नहीं है; किन्तु अपने परिणामों के द्वारा ही वश करने योग्य क्रोधादि कषायरूप शत्रुओं को यदि नहीं जीतते हो, तो यह तुम्हारी अज्ञानता है।

धर्मादवाप्त-विभवः धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।
बीजादवाप्त-धान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥२१॥

धर्म के द्वारा वैभव को प्राप्त करके धर्म की रक्षा करते हुए भोगों का अनुभव करो। जैसे किसान बीज के द्वारा धान्य प्राप्त करता हुआ बीज की रक्षा करता हुआ उसका उपभोग करता है।

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्य-पापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात्पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२३॥

महान् ज्ञानियों ने कहा है कि पुण्य तथा पाप के कारण जीव के भाव ही हैं। इससे पाप का क्षय तथा पुण्य का संचय करना उचित है।

-(आत्मानुशासन)

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

रागद्वेष आदि की उत्पत्ति न होना अहिंसा है। उनकी उत्पत्ति होना ही हिंसा है, यह जिनवाणी का सार है। -(पुरुषार्थसिध्युपाय)

यदा मोहात् प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थ-मात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३९॥

जब तपस्वी साधु की आत्मा में राग तथा द्वेष उत्पन्न हो, उसी समय राग-द्वेष विकार विमुक्त अपनी आत्मा की भावना करे; ऐसा करने से वे विकार क्षण भर में शान्त होते हैं।

सोऽह-मित्यात्त-संस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढ़संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥२८॥

'सोऽहं'जो परमात्मा है, वह मैं हूँ इस प्रकार का संस्कार, इस प्रकार की भावना तथा इसी में सुदृढ़ संस्कारों से आत्मा में स्थिरता प्राप्त होती है।

-(समाधिशतक)

स्यात्सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्ररूपः पर्यायार्थदेशतो मोक्षमार्गः।
एकोज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद् द्रव्यार्थदेशतो मुक्तिमार्गः॥२१ अ.॥

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा एक अद्वितीय तथा सर्वदा ज्ञान स्वरूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है। (तत्त्वार्थसार)

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिः दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः॥

यह जिनेन्द्र भगवान की भक्ति अकेली ही दुर्गति-गमन को दूर करने में समर्थ है, वह पुण्य को प्रदान करती है। उस भक्ति द्वारा भाग्यशाली व्यक्ति को मुक्तिलक्ष्मी भी प्राप्त होती है। -(दशभक्ति)

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा।
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः॥
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः।
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥२६॥

मेरी आत्मा अकेली है। वह अविनाशी है। वह पूर्ण निर्मल है तथा ज्ञान स्वभाव वाली है। उसके सिवाय अन्य सर्व पदार्थ बाह्य हैं। कर्मोदय से प्राप्त सामग्री शाश्वतिक नहीं है।

शरीरतः कर्तुमनंतशक्ति।
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्॥
जिनेन्द्र! कोषादिव खड्गयष्टिम्।
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः॥२॥

हे जिनेन्द्र भगवान्! आपके प्रसाद से मेरी ऐसी शक्ति हो, कि तलवार से जिस

प्रकार म्यान अलग रहती है, उसी प्रकार मैं अनन्त शक्ति युक्त तथा दोष रहित अपनी आत्मा को शरीर से पृथक् कर सकूँ। -(सामायिक पाठ)

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेपि सर्वथा ॥२७॥

'मैं' एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानवान हूँ, योगीन्द्रों के ज्ञानगोचर हूँ। संयोग रूप से प्राप्त सर्वपदार्थ मुझसे सर्व प्रकार से भिन्न हैं। -(इष्टोपदेश)

आदे हि कम्मगंठी जा बद्धा विसय-राय- मोहेहिं।
तं छिदंति कयत्था तव-संजम सीलयगुणेण ॥२७॥

जो कर्मों की गाँठ, विषयों की आसक्ति तथा मोहभाव के कारण आत्मा में बंधी है, उसे कृतार्थ पुरुष तप, संयम और शीलरूप गुणों के द्वारा काट देते हैं।
-(अष्टपाहुड)

अवश्यं यदि नश्यंति स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्तिः संसृतिरन्यथा॥

यदि विषय-भोग की सामग्री अधिक समय तक स्थित रहकर भी अन्त में विनाश को प्राप्त होती है, तो उसका पहले ही स्वयं त्याग करना उचित होगा। ऐसा करने से मुक्ति का लाभ होगा, अन्यथा संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। -(क्षत्रचूड़ामणि)

* * * *

मोह महातम दलन दिन तप-लक्ष्मी-भरतार।
सो पारस परमेस मुझ होहु सुमति दातार॥[१]

तीन काल के जिनवरा तीन काल के सिद्ध।
तीन काल के मुनिवरा वन्दों लोकप्रसिद्ध॥

तीन भुवन में जे लसें, चैत्य, चैत्य-गृह सार।
तिनकों वन्दौं भावयुत, ये त्रिभुवन में सार॥

---

१. हमारे परम धार्मिक, प्रशान्त परिणामी, आदरणीय बाबा रतनचन्द्रजी ने जो प्रकीर्णक तथा प्रबोधक पद्य हमें बाल्यजीवन में सिखाये थे, वे यहाँ दिये गए हैं, ताकि उनको स्मरण कर लोग आत्महित में प्रवृत्ति करें।

चौबीसी तीनों नमों, नमों तीस चौबीस।
सीमंधर आदिक नमों, विहरमान जिन बीस॥

वृषभसेनको आदि दे, अंतिम गौतम स्वाम।
चौदहसौ बावन सुगुरु, तिनकों सदा प्रणाम॥

तुम माता तुम ही पिता, तुम सज्जन सुखदान।
तुम समान इस लोक में, और नहीं भगवान॥

पड़ूँ पग तरे आपके, पाप पग तरे दैन।
हरो कर्म को सब तरे, देहु सब तरे चैन॥

हार गए हो नाथ तुम, अधम अनेक उबार।
धीरे-धीरे सहज ही, लीजे हमें उबार॥

जहाँ जपै नमोकार वहाँ अघ कैसे आवें।
जहाँ जपै नमोकार वहाँ व्यंतर भग जावें॥

जहाँ जपै नमोकार वहाँ सुख सम्पत्ति होई।
जहाँ जपै नमोकार वहाँ दुःख रहे न कोई॥

नमोकार जपत नव निधि मिलै, सुख समूह आवे निकट।
भैया नित जपवो करो, महामन्त्र नमोकार है॥

सुलझे पशु उपदेश सुन, सुलझे क्यों न पुमान।
नाहर तें भये वीर जिन, गज पारस भगवान॥

आयु घटत है रात दिन, ज्यों करोंत तें काठ।
हित अपना जल्दी करो, पड़ा रहे सब ठाठ॥

मन तू सड़े शरीर में, क्या माने सुख-चैन।
जहाँ नगारे कूच के, बजत रहत दिन-रैन॥

को काको दुःख देत है, देत करम झकझोर।
उलझै सुलझे आपही, धुजा पवन के जोर॥

ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर साज मतंग जो ईन्धन ढोवै।
कंचन भाजन धूरि भरै शठ मूढ़ सुधा-रस सों पग धोवै।।

बेहित काग उड़ावन कारन डार उदधि मनि मूरख रोवै।
त्यों नरदेह दुर्लभ्य बनारसि पाय अजान अकारथ खोवै।।

आठनि की करतूति विचारहु कौन-कौन ये करते हाल।
कबहुँक सिर पर छत्र फिरावें कबहुँक रूप करैं बेहाल।।

देवलोक सुख कबहूँ भुगतें कबहूँ रंच नाज को काल।
ये करतूति करैं कर्मादिक चेतन रूप तू आप सम्हाल।।

प्रभु सुमरन को आलसी भोजन को तैयार।
ज्ञानी ऐसे नरन कौं बार-बार धिक्कार।।

रात गँवाई सोयकर, दिवस गँवाया खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय।।

तीन लोक का नाथ तू क्यों बन रहा अनाथ।
रत्नत्रय निधि साथ ले क्यों न होय जगनाथ।।

॥ अनुक्रम ॥

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

आध्यात्मिक ज्योति

दिव्य समाधि

(सल्लेखना)

अपने सीमित साधनों के मध्य रहने वाले मानव को यह पता नहीं चलता कि आगे कैसी विचित्र अघटित तथा अकल्पित बातें प्रत्यक्षगोचर हो जाती हैं। विधि सुघटित घटनाओं को विघटित करता है और अघटित घटनाओं का निर्माण करता है। ऐसी भी घटनाएँ प्रत्यक्षगोचर होती हैं जिनकी मनुष्य ने कभी चिन्ता भी नहीं की थी।

अघटित-घटितं घटयति, सुघटित-घटितं च जर्जरीकुरुते ।
विधिदेव तानि घटयति, यानि नरो नैव चिन्तयति ॥

स्व. आचार्य शान्तिसागरजी महाराज के चरणों के समीप रहने से मन में ऐसा विश्वास जम गया था कि आचार्य महाराज जब भी सल्लेखना स्वीकार करेंगे तब नियम सल्लेखना लेंगे, यम सल्लेखना नहीं लेंगे। ऐसा ही उनका मनोगत अनेक बार ज्ञात हुआ था। मुझे दृढ़ विश्वास था कि महाराज विचारक महापुरुष हैं, उनकी सल्लेखना नियम सल्लेखना के रूप में प्रारम्भ होगी, किन्तु भविष्य का रूप किसे विदित था? जिसकी स्वप्न में भी कल्पना न थी, वह साक्षात् हो गया। आचार्य शान्तिसागर महाराज ने यम सल्लेखना ले ली। उसे लिये चार दिन हो गए। कुंथलगिरि से कोई भी समाचार मुझे नहीं मिला।

२२ अगस्त १९५५ को १ बजे मध्याह्न में फलटण से इन्द्रराज गांधी का तार मिला, 'Acharya Maharaj started Yama Sallekhana from four days, start first train Kunthalgiri' 'आचार्य महाराज ने चार दिन हुए यम सल्लेखना ले ली है। शीघ्र ही पहली ट्रेन से कुंथलगिरि पहुँचिये।' मैं अवाक् हो गया। चित्त घबड़ा गया। अकल्पित बात हो गई। तत्काल ही मैंने गुरुदेव के दर्शनार्थ प्रस्थान किया।

मैं २२ अगस्त को २ बजे दिन की मोटर से नागपुर ७॥ बजे रात को पहुँचा।

वहाँ से रेल से शेगाँव गया। पश्चात् मोटर से देवलगाँव, वागरुल, जालना होते हुए ता. २३ की रात को १० बजे कुन्थलगिरि पहुँचा। उस समय मूसलाधार वर्षा हो रही थी। एक घण्टा स्थान पाने की परेशानी के उपरान्त मुझ अकेले को स्थान मिल पाया।

प्रथम दर्शन

मैंने २४ अगस्त के प्रभात में पर्वत पर कुटी में आचार्य शान्तिसागर महाराज के दर्शन किये और नमोस्तु निवेदन किया। महाराज बोले – "बहुत देर में आए। आ गए, यह बहुत अच्छा किया। बहुत अच्छा हुआ आ गए। बहुत अच्छा हुआ आ गए। बहुत अच्छा किया।" इस प्रकार चार बार पूज्यश्री के शब्दों को सुनकर स्पष्ट हुआ कि उन श्रेष्ठ साधुराज के पवित्र अंतःकरण में मेरे प्रति करुणापूर्ण स्थान अवश्य है।

मैंने कहा – "महाराज ! श्रेष्ठ तपस्या रूप यम समाधि का महान् निश्चय करके आपने जगत् को चमत्कृत कर दिया है। आपका अनुपम सौभाग्य है। इस समय मैं आपकी सेवार्थ आया हूँ। शास्त्र सुनाने की आज्ञा हो या स्तोत्र पढ़ने आदि का आदेश हो, तो मैं सेवा करने को तैयार हूँ।"

पूर्णतया स्वावलम्बी अवस्था

महाराज बोले – "अब हमें शास्त्र नहीं चाहिए। जीवन भर सर्वशास्त्र सुने। खूब सुने, पढ़े। इतने शास्त्र सुने कि कण्ठ पूर्ण भर चुका है। अब हमें शास्त्रों की जरूरत नहीं है। हमें आत्मा का ही चिन्तन करना है। इस विषय में स्वयं सावधान हूँ। हमें कोई भी सहायता नहीं चाहिए।" महाराज की वीतराग भावपूर्ण वाणी को सुन मन बड़ा सन्तुष्ट हुआ। सचमुच में जिस महापुरुष के ये वाक्य हों "शास्त्र हृदय में भरा है" उन्हें ग्रन्थ के अवलम्बन की इस समय क्या आवश्यकता?

ता. २५ अगस्त को अष्टमी थी। मैंने पूछा – "महाराज ! नींद घंटा दो घंटा आती तो है न?"

महाराज – "निद्रा अति अल्प है।"

आत्मा का ध्यान

प्रश्न – "महाराज ! आत्मध्यान का क्या हाल है?"

महाराज – **आत्म-ध्यान सतत चालू आहे** — आत्मध्यान निरन्तर चलता है।

वीरसागरजी को आचार्यपद

ता. २६ शुक्रवार को आचार्य महाराज ने वीरसागर महाराज को आचार्यपद प्रदान किया। उसका प्रारूप आचार्यश्री के भावानुसार मैंने लिखा था। भट्टारक लक्ष्मीसेनजी कोल्हापुर आदि के परामर्शानुसार उसमें यथोचित परिवर्तन हुआ। अन्त में पुनः आचार्य महाराज को बाँचकर सुनाया, तब उन्होंने कुछ मार्मिक संशोधन कराए। उनका एक वाक्य बड़ा विचारपूर्ण था – "हम स्वयं के सन्तोष से अपने प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य वीरसागर को आचार्य पद देते हैं।"

आचार्य वीरसागरजी को संदेश

आचार्य महाराज ने वीरसागर महाराज को यह महत्त्वपूर्ण संदेश भेजा था – "आगम के अनुसार प्रवृत्ति करना, हमारी ही तरह समाधि धारण करना और सुयोग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना, जिससे परम्परा बराबर चले ।"

उन्होंने यह भी कहा – "वीरसागर बहुत दूर है, यहाँ नहीं आ सकता अन्यथा यहाँ बुलाकर ही हम आचार्यपद देते।" उनके ये शब्द महत्त्व के थे – "वीरसागर को हमारा आशीर्वाद कहना और कहना कि शांत भाव रखे, शोक करने की जरूरत नहीं है।"

उस समय महाराज का एक-एक शब्द अनमोल था। वे बड़ी मार्मिक बातें कहते थे। क्षु. सिद्धसागर (ब्र. भरमप्पा) को महाराज ने कहा था - 'रेल, मोटर से मत जाना।" इस आदेश के प्रकाश में उच्चत्यागी अपना कल्याण सोच सकते हैं, कर्त्तव्य जान सकते हैं। शिष्यों को व्रत ग्रहण की प्रेरणा करते हुए वे बोले - " स्वर्ग में आवोगे तो हमारे साथी रहोगे।"

अद्भुत दृश्य

यम समाधि के बारहवें दिन ता. २६ अगस्त को महाराज जल लेने उठे। उनकी चर्या में तनिक भी शिथिलता न थी। पहले मन्दिर में भगवान का पंचामृत द्वारा किया गया अभिषेक उन्होंने बड़े ध्यान से देखा। बाद में महाराज चर्या को निकले। हजारों की भीड़ उनकी चर्या देखने को पर्वत पर एकत्र थी। अद्भुत दृश्य था। नवधा भक्ति के बाद महाराज ने खड़े-खड़े अपनी अँजुली द्वारा थोड़ा सा जलमात्र लिया और पश्चात् वे क्षण भर में ही बैठ गये। कुछ क्षण बाद गमनकर अपनी कुटी में आए और पुनः आत्मचिंतन में निमग्न हो गये। आत्मचिंतन उनका अत्यन्त प्रिय, अभ्यस्त कार्य था। संसार को वह कार्य बड़ा कठिन लगता है। वास्तव में, वे महान् योगी थे।

स्वाध्याय की प्रेरणा

एक दिन महाराज ने कहा था – "धर्म पर अविचल श्रद्धा धारण करो।" उन्होंने यह भी कहा था – "स्वाध्याय करो। यह स्वाध्याय परम तप है। **'णहि सज्झायसमं तवो कम्मं'**। शास्त्र के अभ्यास से आत्मा का कल्याण होता है। गरीब लोग शास्त्र नहीं खरीद सकते। उनको शास्त्रों का दान करो। शास्त्रदान में महान् पुण्य है।"

आत्मध्यान का महामन्त्र

'आत्मा का चिंतन करो', यह बात दो तीन वर्षों से वे पुनःपुनः कहा करते थे। उन्होंने सन् १९५४ में फलटण में चातुर्मास के पूर्व सब समाज को बुलाकर कहा था, "तुम्हें हमारा चातुर्मास अपने यहाँ कराना है, तो एक बात सबको अंगीकार करनी पड़ेगी।" सबने उनकी बात शिरोधार्य करने का वचन दिया। पश्चात् महाराज ने कहा "सब स्त्री-पुरुष यदि प्रतिदिन कम-से-कम पाँच मिनिट पर्यन्त आत्मा का चिंतवन करने की प्रतिज्ञा करते हैं तो हम तुम्हारे नगर में चातुर्मास करेंगे, अन्यथा नहीं।" श्रेष्ठ साधुराज के समागम का सौभाग्य सामान्य नहीं था। सब लोगों ने गुरुदेव की आज्ञा स्वीकार की थी।

आत्मानुभव की चर्चा का आधार

आत्मानुभव के विषय में एक दिन फलटण में आचार्य महाराज ने बड़ी सुन्दर चर्चा की। उसे सुनकर सभी लोग आनन्दविभोर हो गए थे। उस समय हृदय यही अनुभव करता था, कि यह कथन तत्त्व के अंतस्तत्त्व को स्पर्श करने वाले सम्यक्ज्ञानी का है। शुक सदृश अध्यात्म ग्रन्थों का वाचन या निरूपण करने वालों का नहीं है। फिर भी मन में शंका उत्पन्न हुई थी अतः मैंने धीरे से नम्रतापूर्वक पूछा - "महाराज! आप जो आत्मा के अनुभव की चर्चा कर रहे हैं, यह आगम के आधार पर कह रहे हैं या अनुमान से कह रहे हैं या अपने अनुभव से कह रहे हैं?"

महाराज ने कहा - "यह बात हम अपने अनुभव के आधार पर कह रहे हैं"। इतना कहने के बाद उनकी मुद्रा बहुत गम्भीर हो गई। मुझे अपूर्व आनन्द आया क्योंकि इस कलिकाल में आत्मतत्त्व का रसास्वादन करने वाले महायोगी शांतिसागर जी हैं और उनके पावन चरणों में बैठने का मुझे सौभाग्य मिल रहा है।

महाराज कहते थे - "निकट भव्य को आत्मस्वरूप का अनुभव होता है।

तपोरत श्रमणशिरोमणि

ध्यानरत साधुराज

ज्ञानरत गुरुदेव

एकलविहारी निर्ग्रन्थराज

संयम के उपकरण – पिच्छी, कमण्डल, शास्त्र

रत्नत्रयधारी मुनित्रय
(पायसागर महाराज, आचार्यश्री, नेमिसागर महाराज)

लेखक आचार्यश्री के समक्ष शास्त्र प्रवचन करते हुए
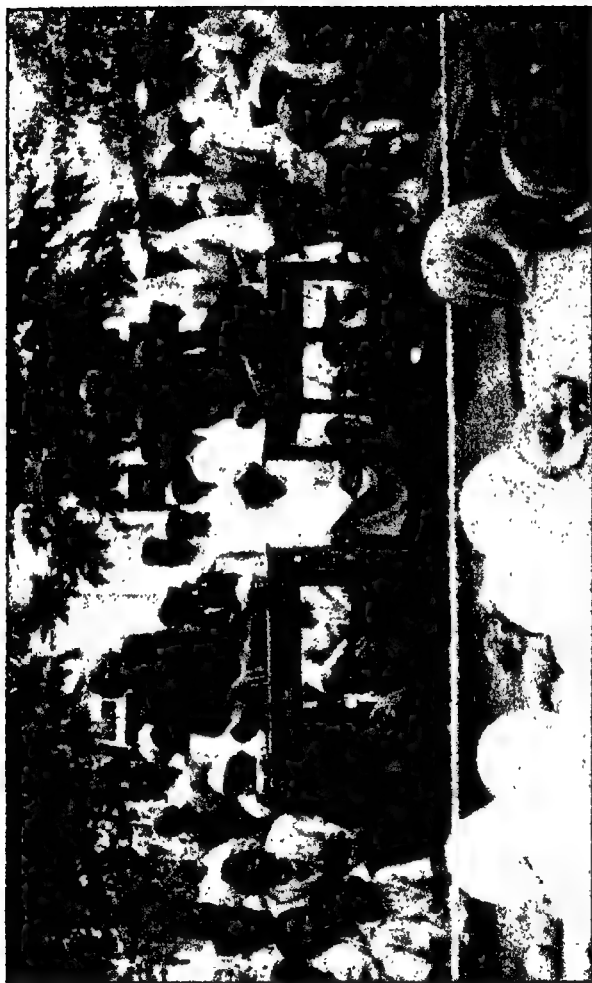
आचार्यश्री तथा नेमिसागर महाराज का सांगली में दर्शन
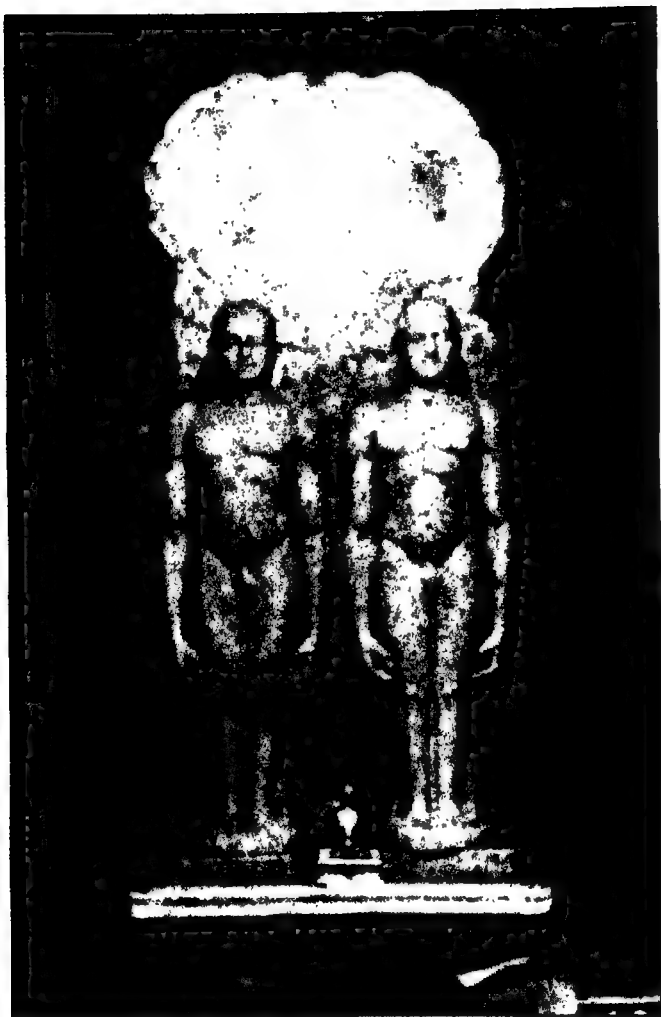
कुन्थलगिरि में भ. देशभूषण एवं कुलभूषण के युगल बिम्ब
जिनके चरणों में आचार्यश्री ने समाधि की प्रतिज्ञा की थी

पूज्य आचार्यश्री – शास्त्रोद्धार चर्चा – प्रकरण में रत

कुन्थलगिरि में समाधिस्थ आचार्य महाराज के दर्शनार्थ जाते हुए 'क्यू' में जनसमुदाय

जिसे संसार में बहुत समय तक परिभ्रमण करना है, उसे आत्मा का अनुभव नहीं होता है। अभव्य को भी आत्मा का अनुभव नहीं होता है।"

एक दिन महाराज को मैंने कुछ आध्यात्मिक सुन्दर श्लोक सुनाए; कारण शास्त्र में लिखा है कि क्षपक के समीप मधुर वाणी से ऐसी बात सुनावे जिससे उसके भावों में वीतरागता के परिणाम की तथा विशुद्धता की वृद्धि हो। "प्रीणयेत् वचोमृतैः"।

आध्यात्मिक सूत्र

माघनंदी आचार्य रचित आध्यात्मिक सूत्रों को मैं पढ़ने लगा। मैंने कहा - "महाराज देखिये! जिस आत्मस्वरूप के चिन्तन में आप संलग्न हैं और जिसका स्वाद आप ले रहे हैं, उसके विषय में आचार्य के सूत्र बड़े मधुर लगते हैं; 'चिदानंदस्वरूपोहम्' (मैं चिदानन्द स्वरूप हूँ), 'ज्ञानज्योति-स्वरूपोहम्' (मैं ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ), 'शुद्धात्मानुभूति स्वरूपोहम्' (मैं शुद्ध आत्मानुभूति स्वरूप हूँ), 'अनंतशक्ति स्वरूपोहम्' (मैं अनन्तशक्ति स्वरूप हूँ), 'कृतकृत्योहम्' (मैं कृतकृत्य रूप हूँ)। 'सिद्धस्वरूपोहम्' (मैं सिद्धस्वरूप हूँ). 'चैतन्यपुंजस्वरूपोहम्' (मैं चैतन्यपुंज रूप हूँ)। इसे सुनकर महाराज ने कहा था - "यह कथन भी आत्मा का यथार्थ रूप नहीं बताता है। अनुभव की अवस्था दूसरे प्रकार की होती है। जब आत्मा ज्ञानादिगुणों से परिपूर्ण है तब बार-बार 'अहं' क्या कहते हो। मैं जो हूँ सो हूँ। बार-बार 'मैं' क्यों कहते हो?" यह कहकर वे गुरुदेव चुप हो गए। उक्त कथन महायोगी के अनुभव पर आश्रित है।

शान्त बनो

कुछ क्षण के पश्चात् अंत:प्रेरणा से धीरे-धीरे उन क्षपकराज ने कहा - "कर्मों का नाश करना है तो शांत बनो। कर्मों का मूलोच्छेद शांत भाव से होता है। जब आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होकर रहता है, तब कर्म घबड़ाकर भागते हैं।"

आत्मभवन में निवास

मैंने जिनेन्द्र भगवान के स्तोत्र की चर्चा करते हुए उसके अपार सामर्थ्य पर कुछ प्रकाश डाला, तब महाराज कहने लगे; "हम स्तोत्र वगैरह सब पढ़ चुके हैं। उसे हम भली प्रकार जानते हैं किन्तु अब हम अपनी आत्मा के भीतर बैठ गए हैं। अब हमें अन्य बातों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इस समय हम अपने घर में बैठे सदृश हैं।"

जलग्रहण का रहस्य

आचार्य महाराज ने यम सल्लेखना लेते समय केवल जल लेने की छूट रखी थी। इस सम्बन्ध में मैंने कहा - "महाराज! यह जल की छूट रखने का कार्य आपका बहुत महत्त्व का है। वास्तव में आपने विवेकपूर्ण कार्य किया है। आपके जीवन भर के कार्यों में हमें विवेकपूर्ण प्रवृत्ति का ही दर्शन होता रहा है। गौतम स्वामी से पूछा गया था - भगवन्! ऐसा उपाय बताइये कि जिससे पापों का भार न उठाना पड़े। तब उन्होंने कहा था - "विवेकपूर्वक कार्य करो इससे तुम्हें पापों का बंध नहीं होगा।"[१] यह सुनकर महाराज बोले - "हमने देखा है जल नहीं ग्रहण करने के कारण आठ-दस त्यागियों की बुरी हालत हुई है अत: हमने जल का त्याग नहीं किया है।"

उन्होंने यह भी कहा - "हमने पानी लेने की छूट इसलिए भी रखी है कि इससे दूसरे त्यागी भाइयों का मार्ग-दर्शन होता है। नहीं तो हमारा अनुकरण करने पर बहुतों की असमाधि होगी।"

मर्म की बात

एक दिन महाराज कहने लगे - "आत्मचिन्तन द्वारा सम्यग्दर्शन होता है। सम्यक्त्व होने पर दर्शन मोह का अभाव होते हुए भी चारित्र-मोहनीय कर्म बैठा रहता है। उसका क्षय करने के लिए संयम धारण करना आवश्यक है। संयम से चारित्र मोहनीय नष्ट होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण मोह के क्षय होने से 'अर्हन्त' स्वरूप की प्राप्ति होती है।"

जीवित समयसार

मैंने कहा - "महाराज! आपके समीप बैठने पर ऐसा लगता है कि हम जीवित समयसार के पास बैठे हों। आप आत्मा और शरीर को न केवल भिन्न मानते हैं तथा

---

१. कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सए।
कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण बज्झई॥
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई॥

\- मूलाचार

प्रश्न - भगवन्! कैसे चलें? कैसे खड़े रहें? कैसे बैठें? कैसे शयन करें, कैसे भोजन करें? कैसे बोलें? किस प्रकार पाप नहीं बँधता है?

उत्तर - यत्नपूर्वक चलो; यत्नपूर्वक खड़े रहो; सावधानी से बैठो; सावधानी से शयन करो; सावधानी से भोजन करो; सावधानी पूर्वक सम्भाषण करो। ऐसा करने से पाप नहीं बँधता है।

कहते हैं किन्तु प्रवृत्ति भी उसी प्रकार कर रहे हैं। शरीर आत्मा से भिन्न है। वह अपना स्वभाव नहीं है। पर-भाव रूप है; फिर उसे खिलाने-पिलाने आदि का व्यर्थ क्यों प्रयत्न किया जाय? यथार्थ में इस समय आपकी आत्म-प्रवृत्ति अलौकिक है।''

आत्मा को भिन्न कहना तथा विषयों में प्रवृत्त होना कैसा?

महाराज बोले - ''आत्मा को भिन्न बोलना और विषयों में लगना कैसा आत्मचिन्तन है? शरीर से आत्मा भिन्न है अत: आत्मा का ही चिन्तन करना ठीक है। शरीर की क्या बात? वह तो पर ही है। उसकी सेवा या चिन्ता क्यों करना? उसका क्यों ध्यान करना? देखो! आत्मा के ध्यान से कर्मों का नाश होता है।

हृदय में शान्ति का आवास

ऐसी मधुर चर्चा चल रही थी, कि मन्दिर में अभिषेक की बोली का बड़े जोर से हल्ला मचना शुरू हो गया। उसको सुनकर मैंने कहा - ''महाराज! इस पूजन की बोली आदि को बन्द करने से गड़बड़ नहीं होगी। हल्ला नहीं होगा।''

महाराज बोले - ''बाहर हल्ला हो, गड़बड़ी हो उससे हमें क्या है? जब भीतर शान्ति है, तब बाहर की गड़बड़ी हो उससे हमें क्या है? जब भीतर शान्ति है, तब बाहर की गड़बड़ी क्या करेगी? आत्मा में शान्ति है, तो हल्ला क्या बाधा करेगा?''

जीवन द्वारा उपदेश

यम सल्लेखना के तेरहवें दिन पूज्यश्री को प्रणाम कर मैंने निवेदन किया था - ''हम लोगों का महान् सौभाग्य है, जो आप सदृश निरन्तर आत्मस्वरूप का चिन्तन करने में निमग्न साधुराज के पुण्य चरणों का आश्रय मिला है। आपने जीवन भर रत्नत्रय धर्म की समाराधना की है। अब आपका जीवन स्वयं रत्नत्रय धर्म का उपदेश देता है।'' उनके पास पहुँचने पर मन में यह भाव पैदा होता था, कि इस कुटी के भीतर एक महान् आत्मा विद्यमान है; जो कर्मों का भीषणता से क्षय करती हुई अपूर्व विशुद्धता को प्राप्त कर रही है। वह आत्मा मृत्यु को चुनौती देकर और उसे आमन्त्रित करके अन्त में मृत्युञ्जय बनने का परम पुरुषार्थ कर रही है। मृत्यु के आगमन के पूर्व उसका नाम सुनते ही बड़े-बड़ों के होश ठिकाने आ जाते हैं; किन्तु आप मृत्यु को मित्र सदृश सोचकर उससे भेंट करने को तैयार बैठे हैं।

अकिंचनत्व की भावना

मैंने कहा - "महाराज! आपके जीवन का प्रियग्रन्थ **'आत्मानुशासन'** रहा है। उसमें **गुणभद्रस्वामी** ने बड़ी मार्मिक बात लिखी है। ग्रन्थकार महातपस्वी सत्पुरुष हुए हैं, ऐसा अन्य आचार्यों ने लिखा है।[१] प्रतीत होता है कि पक्षोपवासादि के द्वारा प्राप्त प्रकाश से प्रेरित हो उन्होंने लिखा है।[२] "मैं तुझे एक ऐसी महत्त्व की बात कहता हूँ कि उससे तू त्रिलोक का स्वामी बन जायगा। वह कथन योगियों के ही गोचर है। वह बात यह है कि तू 'अकिंचनोहं'-'मैं अकिंचन हूँ।' मेरे परमाणु मात्र भी पर पदार्थ नहीं है, ऐसा चिंतन कर। यही परमात्मपद का रहस्य है। आप भी उस अकिंचनत्व की भावना कर रहे हैं तथा शरीर को आहारादि देना बंद करने के कारण प्रवृत्ति द्वारा भी अकिंचन रूप हो रहे हैं।"

मार्दव परिणाम

महाराज बोले -"वे बहुत बड़े आचार्य हो गए हैं। हम उनके सामने क्या चीज हैं?"

मैंने कहा - "महाराज! आज आपके उपवास को दो सप्ताह हो रहे हैं। आपकी तपस्या और आत्मस्थिरता देखकर सब लोग चकित हैं।"

महाराज बोले - "हमने इस शरीर से सब प्रकार के सिंह-विक्रीड़ित आदि तप किए। हमारे वज्र वृषभ नाराच संहनन नहीं है, इससे प्रायोपगमन रूप श्रेष्ठ संन्यास के स्थान में हमने इंगिनीमरण रूप संन्यास लिया है। जिस समाधिमरण के समय क्षपक मुनि अन्य की सहायता का त्याग करते हैं तथा स्वयं की शक्ति पर आश्रित रहते हैं वह इंगिनीमरण है। **गोम्मटसार** में कहा है, "अप्पोवयार-पेक्खं परोवयारुण-मिंगीणीमरणं।" सत्रह प्रकार के मरणों में तीन प्रकार के मरण (भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी, प्रायोपगमन) श्रेष्ठ कहे गए हैं।" पूर्व के महान् आचार्यों का उल्लेख करते हुए महाराज ने कहा - "पहले के बड़े-बड़े आचार्य लगभग १५ वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए थे। वे गुरु के पास रहते थे, पश्चात् आचार्य-पद ग्रहण करते थे।"

---

१. तस्सय सिस्सो गुणवं गुणभद्दो दिव्वणाण-परिपुण्णो।
पक्खोववास-मंडिय महातवो भाव-लिंगो य॥ -दर्शनसार, ३२
उन जिनसेन स्वामी के शिष्य गुणवान गुणभद्र थे; जो दिव्यज्ञान-परिपूर्ण, पक्षोपवास अलंकृत, महातपस्वी, भावलिंगी मुनिराज थे।

२. अकिंचनोहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥११०॥ - आत्मानुशासन

क्षुल्लक दीक्षा का अपूर्व समारम्भ

ता. २८ अगस्त सन् १९५५ रविवार को आचार्य महाराज के समक्ष उनकी सुन्दर रीति से वैयावृत्य तथा परिचर्या करने वाले ब्र. भरमप्पा की क्षुल्लक दीक्षा का समारम्भ हुआ। ब्र. भरमप्पा ने सर्व उपस्थित संघ से क्षमा माँगी। संघ ने उनकी दीक्षा की भावना की अनुमोदना की। आचार्य महाराज ने वीतरागता के भावों में निमग्न रहते हुए भी ब्र. भरमप्पा पर विशेष करुणावश दीक्षा समारम्भ में उपस्थित रहने की कृपा की तथा अपने महान् सेवक भरमप्पा के मस्तक पर दीक्षा सम्बन्धी बीजाक्षर का न्यास किया। दीक्षा की विधि विद्वान् तथा सहृदय भट्टारक लक्ष्मीसेन जी कोल्हापुर द्वारा सम्पन्न हुई थी। कुछ समय के पश्चात् ब्र. भरमप्पा के हाथ में पिच्छी कमण्डल आ गये। महाराज ने आशीर्वाद देते हुए उनको 'सिद्धसागर' यह महत्त्वपूर्ण नाम प्रदान किया।

महाराज का आशीर्वाद

दीक्षा समारम्भ हो गया। इसके पश्चात् दूसरे दिन सायंकाल के समय पूज्यश्री ने कहा - "भरमा! तुमने दीक्षा ली है। हमारा विश्वास है कि तेरी कुगति नहीं होगी। घबड़ाना मत। मिथ्यामती साधु भी तपस्या के द्वारा देव पदवी को प्राप्त करते हैं तब तो तूने जिनेन्द्र कथित व्रत लिये हैं। निश्चय ही तेरी सद्गति होगी।" उन्होंने यह भी कहा था, मेरे सामने जो तेरा मूल्य है, वह चक्रवर्ती का भी नहीं है।

भक्तों को संयम-पालनार्थ प्रबल प्रेरणा

महाराज अपने भक्तों को संयम-धारणार्थ अधिक प्रेरणा देते रहते थे। उनके समीप बहुत वर्षों से आने-जाने वाले कुछ शिक्षित और सम्पन्न भक्तों को वे व्रती बनने को कहा करते थे; परन्तु उन भक्तों के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती थी। महाराज निराश नहीं होते थे।

वे एक दिन कहने लगे - "नर्मदा नदी के पत्थर बहुत चिकने हो जाते हैं। पानी में निरन्तर रहते-रहते उन पर भी जल टिकने लगता है; किंतु तुम लोगों के मन में हमारी बात क्यों नहीं टिकती है।" पश्चात् महाराज बोले - "तुम व्रती नहीं बनते हो, नहीं बनना चाहते हो और हम निरन्तर तुमको यह कहते रहते हैं। यथार्थ में तुम तो बहुत अच्छे हो। हम ही अज्ञानी हैं।"

इसके बाद आचार्यश्री की करुणाप्रेरित यह वाणी निकली - "अरे! क्या देखते हो। व्रत पालोगे, तो स्वर्ग में तुम हमारे साथी रहोगे। वहाँ भी मिलते रहोगे। हमें वहाँ

साथी चाहिए। देखो! अभी हम तुमको इतना आग्रह करते हैं। स्मरण रखो आगे फिर शांतिसागर तुमको कहने नहीं आने वाला है। स्वर्ग में जाकर वहाँ से विदेह में पहुँच सीमंधर स्वामी के दर्शन कर सकोगे। उनकी दिव्य ध्वनि सुन सकोगे। नंदीश्वर आदि के अकृत्रिम जिनबिम्बों का दर्शन कर सकोगे। इससे तुमको सम्यक्त्व मिल सकेगा। वहाँ से चयकर मोक्ष जा सकोगे। सोचो! एक बार फिर से सोचो।"

महाराज की यह मार्मिक वाणी उन लोगों के मन पर असर कर गई और उन लोगों ने कठिन परिस्थिति होते हुए भी व्रत प्रतिमा धारण कर ली। कुंथलगिरि में उन बन्धुओं से भेंट हुई। उन्होंने अपनी कथा सुनाते हुए संयम धारण जनित शान्ति और सन्तोष को व्यक्त किया।

वृद्धव्रती को उपदेश

एक व्यक्ति ने, जो अधिक वृद्ध हो गए हैं, बताया था कि - महाराज ने हमें व्रत प्रतिमा दी थी तथा हमसे कहा था - "घबड़ाना मत। व्रतों को निर्दोष पालने का पूरा-पूरा प्रयत्न करते रहना। यदि दोष आ जावे, तो प्रायश्चित्त ले लिया करना। दोष आ जाने पर माह दो माह पर्यन्त णमोकार महामन्त्र की विशेष रूप से चार माला और जप लिया करना।"

अपने परिवार के जनगोंडा पाटील को देशना

कुंथलगिरि में महाराज के स्व. छोटे भाई कुमगोंडा पाटील के चिरंजीव श्री जनगोंडा पाटील जयसिंगपुर से सपरिवार आए थे। आचार्य महाराज के चरणों में उन्होंने प्रणाम किया। बाल्यकाल में जनगोंडा आचार्य महाराज की गोद में खूब खेल चुका है, जब महाराज शांतिसागर जी सातगोंडा पाटील थे। उस समय का स्नेह दूसरे प्रकार का था, अब का स्नेह वीतरागता की ओर ले जाने वाला था। जनगोंडा को महाराज ने कहा - "देखो! हमने यम समाधि ली है और अब शीघ्र जाने वाले हैं। तुमको भी संयम धारण करना चाहिए। इसके सिवाय जीव का हित नहीं होता है।" जनगोंडा ने कहा - "महाराज क्या करूँ? जो आज्ञा हो, वह करने को तैयार हूँ।"

दीक्षा का संकल्प करो

महाराज बोले - "तुमको हमारी ही तरह दिगम्बर दीक्षा धारण करना चाहिए। इससे अधिक आनन्द और शांति का दूसरा मार्ग नहीं है।"

भावलिंगी श्रमण को मुनित्व सचमुच में आनन्द का भण्डार लगता है। जिनके

मन में सम्यक् ज्ञान तथा वैराग्य की ज्योति नहीं जगती है, उनको वह पद भयावह और कष्टपूर्ण प्रतीत होता है।

इष्ट बन्धु को धर्म में लगाना

सुभाषितकार कहता है "जो तुम्हारा इष्ट है, उसे धर्म की ओर उन्मुख करो - इष्टं धर्मेण योजयेत्।" इस नियमानुसार आचार्यश्री ने अपने पूर्व के स्नेहपात्र को श्रेष्ठ कल्याण की बात कही। जनगोंडा के पिता कुमगोंडा पर भी महाराज का बड़ा प्रेम था।

एक दिन महाराज ने मुझसे कहा "कुमगोंडा का असमय में मरण हो गया। हम उसे ब्रह्मचर्य प्रतिमामात्र दे पाए। हमारा इरादा उसे भी वर्धमानसागर की तरह मुनि बनाने का था। वर्धमानसागर भी पहले गृहस्थी के जाल में था। जिस प्रकार सुनार चाँदी के तार को यन्त्र में जोर से खींचता है, उसी प्रकार हमने उसे संयम की ओर खींचकर लगाया है।" इस दृष्टि से महाराज ने जनगोंडा को मुनि बनने को कहा।

जनगोंडा ने कहा - "महाराज! कुछ वर्षों की साधना के पश्चात् मुनि बनने की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ।"

पश्चात् महाराज ने जनगोंडा की स्त्री को बुलाकर पूछा - "यदि यह मुनि बनता है तो तुमको कोई आपत्ति तो नहीं है?" वह देवी बोली - "महाराज! कल के बदले यदि वे आज भी मुनि बनना चाहें, तो मेरी ओर से कोई भी रोक-टोक नहीं है।" यह बात सुनकर उन क्षपकराज को बहुत शांति मिली। महाराज ने उस बाई को व्रत प्रतिमा दी। उसी क्षण वे दम्पती व्रती श्रावक बन गए।

घराने में मुनिपद की परम्परा

महाराज ने जनगोंडा से एक बात और कही थी - "तुम जब मुनि बन जाओ, तो अपने पुत्र को भी आगे मुनि पद धारण करने की कहना न भूलना। अपने घराने में मुनिपद धारण करने की परम्परा बराबर चलती जावे, यह ध्यान रखना।"

इस वर्णन को बाँचते समय वाचक के हृदय में ऐसा ही लगेगा, मानों वह ऐसे काल में पहुँच गया है जहाँ संयम की सुधाधारा से समाज का हृदय धुला करता था और महापुण्यशाली तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ पुरुषों का सद्भाव था। कर्म का विपाक विचित्र होता है। श्री जनगोंडा पाटील का सन् १९५९ में स्वर्गवास हो गया। वे मुझसे कहते थे, शास्त्राध्ययन हेतु मैं बाहर जाकर शीघ्र दीक्षा लेने की तैयारी कर रहा हूँ।"

विनोद में भी संयम की प्रेरणा

महाराज की प्रत्येक चेष्टा संयम की प्रेरणा प्रदान करती थी। उनके विनोद में भी आत्मा को प्रकाशदायिनी सामग्री मिला करती थी। २८ अगस्त को क्षुल्लक सिद्धसागरजी की दीक्षा हुई थी। नवीन क्षुल्लकजी ने महाराज के चरणों में आकर प्रणाम किया और महाराज से क्षमायाचना की।

महाराज बोले - "भरमा! तुमको तब क्षमा करेंगे, जब तुम निर्ग्रन्थ दीक्षा लोगे।"

ऐसी ही कल्याणदायिनी मधुर वार्ता कोल्हापुर के एक पवित्र हृदय भक्त की है। उनका नाम बाबूराव मार्ले है। सम्पन्न होते हुए संयम पालना और संयमियों की सेवा-भक्ति करना उनका व्रत रहता है। वे दो प्रतिमाधारी थे। बारसी से महाराज कुंथलगिरि को आते थे। महाराज का कमण्डलु हाथ में लेकर गुरुदेव के पीछे-पीछे चला करते थे। एक बार वे महाराज का कमण्डलु उठाने लगे, तो महाराज ने कह दिया - "तुम हमारे कमण्डलु को हाथ मत लगाना। उसे मत उठाओ।" ये शब्द सुनते ही मार्ले चकित हुए।

महाराज कहने लगे - "यदि दीक्षा लेने की प्रतिज्ञा करने का इरादा हो, तो कमण्डलु लेना, नहीं तो हम अपना कमण्डलु स्वयं उठावेंगे।"

वे भाई विचार में पड़ गये। महाराज के पवित्र व्यक्तित्व ने उस आत्मा के अंत:करण पर प्रभाव डाला। वे बोले - "महाराज! कुछ वर्षों के बाद अवश्यमेव मैं क्षुल्लक दीक्षा लूँगा।" महाराज को सन्तोष हुआ। महाराज अपने परीक्षित भक्तों को प्रेरणा करते थे। वे जानते थे कि वह भव्य संयम को धारण करने की क्षमता संपन्न है।

कुतर्क का समाधान

यहाँ कोई यह कुतर्क कर सकता है, कि महाराज का ऐसा आग्रह करना अच्छा नहीं लगता। जिनको संयम या व्रत लेना होगा, वे स्वयं लेंगे। ऐसी प्रेरणा तथा आग्रह ठीक नहीं है।

शान्तभाव से विचार करने पर विदित होगा कि सन्मार्ग पर चलने के लिए जीवन को प्रेरणा देना आवश्यक है। पतन की ओर किसी को उपदेश की जरूरत नहीं पड़ती है। जल की धारा स्वत: नीचे की ओर जाती है, उसे ऊँचा उठाने के लिए और ऊपर की भूमि पर पहुँचाने के लिए विशेष बल तथा शक्ति की आवश्यकता पड़ा करती है। यही हाल जीव की परिणति का है। उसे ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए सत्प्रयत्न तथा उद्योग अत्यन्त आवश्यक हैं।

मार्मिक दृष्टि

एक बात और है, महाराज में यह विशेषता थी कि आदमी की सूरत देखकर उसे पूर्णतया पहिचान जाते थे। इस प्रवीणता के कारण उनका अंत:करण पात्र-अपात्र का पहले ही विचार कर लिया करता था। पंजाब प्रान्त के एक शास्त्री जी सुनाते थे - "मैं महाराज के पास गया। मैंने उनसे ब्रह्मचर्य प्रतिमा देने की प्रार्थना की। मुझे कई दिन तक लगातार उनके पीछे पड़ना पड़ा, तब योग्य मुहूर्त में गुरुदेव ने मुझे उक्त व्रत देकर मेरा जीवन मङ्गलमय बनाया।

जीव के सच्चे कल्याण की दृष्टि

मैंने भी देखा है कि महाराज व्यक्ति की शक्ति, अवस्था, पात्रता आदि का भली प्रकार पूर्ण विचार करके ही व्रतादि देते थे। एक समय एक व्यक्ति बड़ा व्रत माँग रहा था, किन्तु महाराज ने उसे छोटा व्रत दिया। मैंने कहा - "महाराज! आपने ऐसा क्यों किया? उसके भाव ऊँचे थे, तो आपको उसकी इच्छानुसार बड़ा व्रत देना था।"

महाराज बोले - "उसकी अन्तरङ्ग स्थिति को हम जानते हैं। वह बड़े व्रत का निर्वाह नहीं कर सकेगा। जबरदस्ती व्रत लेकर उसको भङ्ग करेगा, इससे उसकी आत्मा का अहित हो जायगा। हमें ऐसा काम करना है, जिससे उस जीव की भलाई तथा उत्कर्ष हो। हम दूर तक सोच कर व्रत देते हैं।

सप्तम प्रतिमा धारण

उक्त बाबूराव जी मार्ले ने महाराज का कमण्डलु उठा लिया, तब महाराज बोले- "देखो! क्षण भर का भरोसा नहीं है। कल क्या हो जायगा यह कौन जानता है। तुम आगे दीक्षा लोगे, यह ठीक है किन्तु बताओ! अभी क्या लेते हो।"

उक्त व्यक्ति की अच्छी होनहार होने से उसने कह दिया -"महाराज मैं सप्तम प्रतिमा लेता हूँ।"

महाराज ने कहा - "अच्छा"। उन्होंने महाराज के चरणों में प्रणाम किया। महाराज ने पिच्छी सिर पर रखकर अपना पवित्र आशीर्वाद दिया। छोटे से विनोद का इतना मधुर पवित्र परिपाक हुआ। एक व्यक्ति धन वैभव के होते हुए भी गुरुदेव के प्रसाद से ब्रह्मव्रती हो गया और आगे वह क्षुल्लकव्रती होगा।

ओजपूर्ण वाणी

महाराज की वाणी में बड़ा बल था। संयम को धारण न करनेवाला भी हृदय से संयम का भक्त बन जाता था और उसके मन में भी संयम के प्रति हार्दिक ममता और प्रगाढ़ अनुराग जागृत हो जाता था। अत्यन्त परिचित ब्र. बंडू को महाराज कहते थे - "अरे! तू संन्यासी हो जा। मरे साधु का कलेवर और प्राणधारी गृहस्थ समान हैं। इतना ही नहीं साधु का मृत देह जो काम करता है, वह गृहस्थ भी नहीं करता है। मेरे पीछे तुझे कोई और कहने को आने वाला नहीं है। पीछी धारण कर मरो। ऐसे ही मत मरना। करने के कार्य में रुको मत! मेरा बेटा है, भाई है, धन है, आदि की बात मत सोचो।"

लक्ष्मी पुण्य की दासी है

महाराज की यह वाणी बहुत गहरी अनुभूति को प्रदर्शित करती है - "अरे! निर्दय होकर घर छोड़ना पड़ता है। निर्दय हुए बिना घर नहीं छूटता है। मेरे पीछे घर में सम्पत्ति रहेगी या नहीं रहेगी यह ख्याल भी मत करो। घर के व्यक्तियों का पुण्य होगा, तो रहेगी। पुण्य नहीं होगा, तो संपत्ति नहीं रहेगी। लक्ष्मी पुण्य की दासी है।"

भीरु स्वभाव वालों के प्रति उपेक्षा

उनके ये वाक्य भी पूर्ण सत्य हैं - "जो व्रत लेने वाले नहीं हैं, उनको हम नहीं कहते हैं। इसमें हमारा धन व्यर्थ में जाता है। ऐसों से हम नहीं बोलते।" व्रती की वीर से तुलना करते हुए पूज्यश्री कहते थे - "डरपोक आदमी, हरिण और गाँव की चिड़िया अपना स्थान छोड़कर बाहर नहीं जाते हैं। वीर व्यक्ति अपना स्थान छोड़कर बाहर जाता है।"

वाहन में बैठनेवाले साधुओं को इशारा

जो साधु बनकर भी रेलगाड़ी आदि का मोह नहीं छोड़ते उनके बारे में विनोदपूर्ण भाषा में आचार्य महाराज कहते थे- "हम तो दरिद्र साधु हैं। हमें पैदल गमन किए सिवाय साध्य नहीं है। इसके सिवाय गत्यंतर नहीं है। रेल में जाने वालों को तो विद्या सिद्ध है। वे क्षण भर में यहाँ से वहाँ चले जाते हैं। अन्य धर्म के साधु भी तो रेल में नहीं बैठते और पैदल चलते हैं किन्तु यहाँ के जो साधु वाहन का उपयोग करते हैं, उनको क्या कहना?"

लोकोत्तर मनोभाव और वैराग्य

आचार्यश्री का हृदय लोकोत्तर था। उनकी मुद्रा क्षणभर में भी गम्भीर बन जाती थी। उनकी परिणति में विकार नहीं रहता था। एक समय मुनि वर्धमान स्वामी ने

महाराज के पास अपनी प्रार्थना भिजवाई - "महाराज! मैं तो बानवे वर्ष से अधिक का हो गया। आपके दर्शनों की बड़ी इच्छा है। क्या करूँ?" इस पर महाराज ने कहा - "हमारा वर्धमानसागर का क्या सम्बन्ध? गृहस्थावस्था में वह हमारा बड़ा भाई रहा है सो इससे क्या? हम तो सब कुछ त्याग कर चुके हैं। पंच परावर्तन रूप संसार में हम अनादिकाल से घूमते हैं। उसमें सभी जीव हमारे भाई-बन्धु रह चुके हैं। ऐसी स्थिति में किस-किस को भाई, बहिन, माता, पिता मानना। हमको तो सभी जीव समान हैं। हम किसी में भी भेद नहीं देखते हैं। ऐसी स्थिति में वर्धमानसागर बार-बार हमें क्यों दर्शन के लिए कहता है।"

उस व्यक्ति ने बुद्धिमत्तापूर्वक यह कहा - "महाराज! वे आपके दर्शन अपने भाई के रूप में नहीं करना चाहते हैं।"

महाराज बोले - "यदि ऐसी बात है, तो वहाँ से ही स्मरण कर लिया करे। यहाँ आने की क्या जरूरत है?"

कितनी मोहरहित, वीतरागतापूर्ण परिणति आचार्यश्री की थी। विचारवान व्यक्ति आश्चर्य में पड़े बिना न रहेगा। जहाँ अन्य त्यागी लौकिक सम्बन्धों और पूर्व सम्पर्कों का विचार कर मोही बन जाते हैं वहाँ आचार्यश्री अपने सगे ज्येष्ठ भाई के प्रति भी आदर्श वीतरागता का रक्षण करते हैं। वास्तव में वे पवित्र साधु थे। उनकी साधुत्व की कल्पना प्रारम्भ से ही उज्ज्वल थी।

साधु को धन देने वाला भी दुर्गति का पात्र है

सन् १९२५ की बात है। उस समय पूज्यश्री नसलापुर में विराजमान थे। मुनि नेमिसागर जी उस समय गृहस्थ थे। उनके हृदय में सत्य, श्रद्धा और सद्गुरु के प्रति निर्मल भक्ति का भाव नहीं उत्पन्न हुआ था।

श्री नेमण्णा ने महाराज से पूछा था - "साधु किसको कहते हैं?"

महाराज ने कहा था - "जिसके पास परिग्रह न हो, कषाय न हो, दुनिया की झंझटें न हों, जो स्वाध्याय और ध्यान में लीन रहता हो उसे साधु कहते हैं।"

धन के लालची साधुओं का वर्णन करते हुए महाराज ने कहा था - "हाल में ऐसे भी साधु बहुत होते हैं, जो पैसा रखते हैं। कमंडलु में पैसे डलवाते हैं। ऐसे साधु को पैसा देने वाला पहले दुर्गति को जाता है। तुम पैसा देकर के पहले स्वयं क्यों दुर्गति को जाते हो?" इससे आचार्यश्री की स्फटिक सदृश विशुद्ध दृष्टि स्पष्ट होती है।

अनुभवपूर्ण समाधान

अभी कुंथलगिरि आते समय मार्ग में महाराज से एक सुन्दर प्रश्न पूछा गया - "महाराज! सुकुमाल मुनि का शरीर जब शृगाली खा रही थी, तब उनको कष्ट होता था या नहीं?"

महाराज बोले - "ध्यान की निमग्नता में बाहर की स्थिति का पता नहीं चलता है। जब मैं ध्यान करने बैठता हूँ, तब तुम चाकू से मेरी अँगुली आदि को काट करके देखो। उस समय मुझे पता नहीं चलेगा।" **इष्टोपदेश** में कहा है, "**स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः।**" योगपरायण योगी को अपने शरीर का भान नहीं रहता है।

आगमानुसारी साधु का मार्ग प्रशस्त है

प्रश्न - "महाराज! आप तो महान् साधु हैं। आपके समक्ष रहने से सभी साधुओं का निर्वाह होता रहा है, आपके पश्चात् साधुओं का कैसे निर्वाह होगा?"

उत्तर - "जैसा आगम में कहा गया है, उसके अनुसार जो भी साधु चलेगा, उसकी रक्षा अरहंत भगवान करेंगे। धर्माराधक की विपत्ति नियम से दूर होती है।" वे इस वसुधातल पर पाए जाने वाली लोकोत्तर आत्मा थे, यह बात शत्रुभाव धारण करने वाला, दुर्जनों का शिरोमणि भी स्वीकार करेगा। उनकी आत्मा भेदविज्ञान की दिव्य ज्योति से प्रकाशित थी। शरीर के प्रति आसक्ति या मोह क्या कहलाता है, यह बात उनमें तनिक भी नहीं थी। उनकी तत्त्वज्ञानी सदृश चेष्टाएँ मुनिपद स्वीकार करने के पूर्व से ही थीं। घर में निवास करते हुए भी वे सरोवर में विद्यमान सरोज सदृश अनासक्त थे।

पाहुन सदृश मनोवृत्ति

सल्लेखना के तीसरे सप्ताह में उन गुरुदेव ने मुझसे कहा था - "हम अपने घर में पाहुने सदृश रहते थे। हमारा प्रारम्भ से ही किसी के प्रति मोह-भाव नहीं था।" ये वीतराग भाव उनके जन्म-जन्मान्तर की देन थे। इसी से तो उन्होंने कई बार कहा - "हम पूर्वभवों में मुनिपद धारण कर चुके हैं, ऐसा हमें लगता है।" सल्लेखना के समय भी उन साधुराज की वाणी से पुनः उसी कथन का प्रसङ्गवश समर्थन हुआ। ऐसी पूज्यतम एवं अत्यन्त विशुद्ध आत्मा की साधुत्व की स्थिति में अन्तःकरण वृत्ति की उच्चता का मूल्य बहिरात्म वृत्ति में निमग्न लोग क्या आँक सकते हैं? रत्नत्रय समलंकृत आत्मा की महत्ता को विषयान्ध तथा 'हिये की आँखों से हीन' आदमी नहीं जान सकता है। जन्मान्ध सूर्य के दिव्य प्रकाश के सौन्दर्य का वर्णन नहीं कर सकता है। फिर भी आचार्यश्री के जीवन की बाहरी बातों से भी उनकी श्रेष्ठता अधम से अधम व्यक्ति किए बिना नहीं रह सकता।

सल्लेखना के लिए मानसिक तैयारी

यम सल्लेखना लेने के दो माह पूर्व से ही उनके मन में शरीर के प्रति गहरी विरक्ति का भाव प्रवर्धमान हो रहा था। इसका स्पष्ट पता इस घटना से होता है। कुंथलगिरि आते समय एक गुरुभक्त ने महाराज की पीठ में दाद रोग को देखा। उस रोग से उनकी पीठ और कमर का भाग विशेष व्याप्त था।

दाद रोग की दवा

भक्त ने कहा - "महाराज! इस दाद की दवाई क्यों नहीं करते? दवा लगाने से यह शीघ्र ही दूर हो जायगा।"

महाराज बोले - "अरे! इसमें बहुत दवाई लगाई गई। तेजाब तक लगाया गया; किन्तु यह बीमारी हमारा पिण्ड नहीं छोड़ती है। हमारे पास एक दवाई है उसे लगावेंगे, तो यह रोग नष्ट हो जायगा और शरीर रोगमुक्त हो जायगा।"

भक्त बोला - "महाराज! अभी दवा क्यों नहीं लगाते? आगे लगावेंगे, ऐसा क्यों कहते हैं? बताइये, कौन दवा है? मैं लगा दूँगा।"

महाराज बोले - "अरे! वह दवा तू नहीं जानता। मैं उसे दो माह में लगाकर इस शरीर को पूरा ठीक कर दूँगा।"

शरीर से गहरी विरक्ति

इसके अनन्तर महाराज की मुद्रा गम्भीर हो गई और वे कहने लगे - "यह शरीर हमें बहुत दिनों से खूब तङ्ग करने लगा है। पहले दाँतों ने तकरार की -झगड़ा किया। वे सब चले गए। इसके बाद आँख ने गड़बड़ शुरू की। धीरे-धीरे एक आँख की ज्योति मन्द हो गई। बाद में दूसरी भी जाने को तैयार हो रही है। देखो! हमने जीवन में किसी की गुलामी नहीं की। फिर भी इस आँख की खूब दवा की। सुबह-शाम दवा लगाते थे। दवा लगाते-लगाते हम थक गए। अब शरीर की हमको फिकर नहीं है। थोड़े दिन में इस शरीर को छोड़कर नवीन नीरोग और स्वच्छ शरीर धारण करेंगे, तब कमर की दाद वगैरह अपने आप दूर भाग जायगी।"

आचार्यश्री की इस वाणी में उनकी यम-सल्लेखना के बीज अंकुरित पाए जाते थे। गुरुदेव की वाणी सुनकर बेचारा भक्त चुप हो गया। महाराज की अनासक्ति अद्भुत थी।

शरीर से भेद-बुद्धि

एक बार उन्होंने मुझसे कवलाना में पूछा था - "क्यों पंडितजी! चूल्हे में आग जलने से तुम्हें कष्ट होता है या नहीं?" मैंने कहा-"महाराज! उससे हमें क्या बाधा होगी। हम तो चूल्हे से पृथक् हैं।"

महाराज बोले - "इसी प्रकार हमारे शरीर में रोग आदि होने पर भी हमें कोई बाधा नहीं होती।" यथार्थ में वे पहिले ही घर में पाहुने सदृश रहते थे और अहिंसा महाव्रती निर्ग्रन्थराज बनने पर तो वे शरीर के भीतर ही पाहुने सदृश हो गए थे। जब देह अपना नहीं है। उसका गुण, धर्म आत्मा से पृथक् है, तब देह के अनुकूल या विपरीत परिणमन होने पर सम्यक्ज्ञानी सत्पुरुष क्यों राग या द्वेष को धारण करेगा? यह तत्त्व बौद्धिक स्तर (Intellectual level) पर तो प्रत्येक विचारक के चित्त में जँच जाता है किन्तु अनुभूति की दृष्टि से जब तक सम्यग्दर्शन अंत:करण में आविर्भूत नहीं होता है, तथा सम्यक् चारित्र की प्राप्ति नहीं होती है तब तक इस ओर जीव की प्रवृत्ति नहीं होती है। शास्त्र में इस कलिकाल में सम्यक्त्वी की संख्या दो-चार कही है।[१] वह ऐसी आत्माओं को लक्ष्य करके कहा है।

सल्लेखना का निश्चय गजपंथा में १९५१ में हुआ था

सल्लेखना का तो निश्चय उन्होंने गजपंथा में सन् १९५१ में किया था; किन्तु यम-सल्लेखना को कार्यरूपता कुंथलगिरि में प्राप्त हुई। महाराज ने सन् १९५२ में बारामती चातुर्मास के समय पर्यूषण में मुझसे कहा था कि "हमने गजपंथा में द्वादशवर्ष वाली सल्लेखना का उत्कृष्ट नियम ले लिया है। अभी तक हमने यह बात जाहिर नहीं की थी। तुमसे कह रहे हैं। इसे तुम दूसरों से भी कहना चाहो, तो कह सकते हो।" इसके बाद से महाराज की संयम साधना, उपवासादि बड़े उग्र रूप से हो चले।

कुंथलगिरि चातुर्मास में विशेष तपस्या

सन् १९५३ में अर्थात् दो वर्ष पूर्व कुंथलगिरि में उनका चातुर्मास था, तब

---

१. विद्यन्ते कति आत्मबोधविमुखा: संदेहिनो देहिन:।
प्राप्यन्ते कतिचित् कदाचित्पुनर्जिज्ञासमाना: क्वचित्।
आत्मज्ञा: परमप्रमोदसुखिन: प्रोन्मीलदंतर्दृशो।
द्वित्रा: स्युर्बहवो यदि त्रिचतुरास्ते पंचषट् दुर्लभा:॥
-संस्कृत टीका कार्तिकियानुप्रेक्षा

उनके उपवास वृहत् रूप में चल रहे थे। मैं व्रतों में पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि पंचमी से महाराज ने पाँच दिन का मौन और पंच उपवास का नियम कर लिया है। मैंने महाराज से कहा - "आपके चरणों में लाभ लेने की लालसा से भारत के बड़े-बड़े स्थानों के निमन्त्रण को छोड़कर आपकी सेवा में सदा की भाँति आया हूँ। आपका मौन देखकर मैं चकित सा हो गया। कम-से-कम धर्मशास्त्र की चर्चा के लिए तो मौन का बन्धन न हो।"

पाँच दिन के पश्चात् महाराज ने आहार किया और पुन: पाँच उपवास की प्रतिज्ञा कर ली; किन्तु इस समय उन्होंने मौन नहीं लिया। महाराज बोले - "हमने सोचा पंडित इतनी दूर से हमारे पास आया है। तुम्हारा ख्याल करके हमने मौन नहीं लिया।" मैंने उनके पावन चरणों को प्रणाम किया और कहा - "महाराज! आपने बड़ी दया की। इससे शेष व्रत के काल में आपके अमूल्य अनुभवों का लाभ हम सबको मिल सकेगा।"

'भगवती आराधना' से समाधि का प्रकाश-लाभ

महाराज ने अपनी तपस्या का कारण समाधिमरण की तैयारी बताया था। इसके पश्चात् मैंने 'भगवती आराधना' ग्रन्थ को ध्यानपूर्वक पढ़ा, तब ज्ञात हुआ कि आचार्य महाराज की नैसर्गिक प्रवृत्ति पूर्णतया शास्त्रसंगत रहा करती है।

मुनिपद के लिए आदर्श

महापुराण में सम्राट् भरत के विषय में कथित जिनसेन स्वामी की एक बात इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। भरतेश्वर की प्रवृत्ति तथा उस महापुरुष की शरीर रचना आदि को विविध शास्त्र पारंगत लोग प्रत्यक्ष देखकर अपना-अपना संशय दूर किया करते थे। भरतेश्वर मूर्तिमान् आयुर्वेद शास्त्र के समान दिखते थे -"आयुर्वेदोनुमूर्तिमान्" -१६-१४५

अन्येस्वपि कला-शास्त्र-संग्रहेषु कृतागमाः।
तमेवादर्शमालोक्य संशयांशाद् व्यरंसिषुः ॥१६-१५०॥

इसी प्रकार यह कथन उचित है कि मुनि-धर्म के शास्त्रों को पढ़ते समय आचार्य महाराज की प्रवृत्ति का विचार करते ही शंका दूर हो जाती थी। महाराज की प्रत्येक चेष्टा शास्त्र के अनुकूल थी।

न्यायपक्ष ग्रहण

ऐसी पुण्य जीवनी होते हुए भी दूसरे व्यक्ति की युक्तिपूर्ण बात को स्वीकार

करने में वे संकोच नहीं करते थे। महत्ता इस बात में नहीं है कि यदि मुख से अयोग्य बात निकल गई हो, तो उसको ही ठीक सिद्ध करने में अपने पांडित्य का प्रदर्शन किया जाय।

भ्रान्त विचार

किन्हीं-किन्हीं की यही धारणा रहती है कि मुख से जो भी बात निकल जाय, उसे ही ठीक सिद्ध करने में पांडित्य की प्रतिष्ठा है। एक समय महाराष्ट्र के एक बड़े नगर में महाराज विराजमान थे। मैं पर्यूषणपर्व में वहाँ तत्त्वार्थ-सूत्र पर विवेचन करता था। शास्त्र की एक शंका का ठीक समाधान मेरे ध्यान में नहीं आया। मैंने कहा इस विषय पर मैं अभी कुछ नहीं कह सकता, पीछे शास्त्र देखकर कुछ कह सकूँगा। मेरे इस व्यवहार को देख शास्त्र के समाप्त होने पर एक वृद्ध शास्त्री जी बहुत अप्रसन्न हुए और कहने लगे पंडिताई की रक्षा के लिए तुम्हें कुछ भी उत्तर देकर उसका समर्थन करना चाहिए था। मैंने नम्रता से कहा, "पंडितजी! मुझ में ऐसी पंडिताई इसलिए नहीं है कि मैं यथार्थ में पंडित नहीं हूँ।"

विचारपूर्ण प्रवृत्ति

आचार्य महाराज का कवलाना में दूसरी बार चातुर्मास हो रहा था। अन्नपरित्याग के कारण उनका शरीर बहुत अशक्त हो गया था। उस समय उनकी देहस्थिति चिंताप्रद होती जा रही थी। एक दिन महाराज आहार के लिए नहीं निकल रहे थे। मैं उनके चरणों में पहुँचा।

महाराज बोले " आज हमारा इरादा आहार लेने का नहीं हो रहा है।" मैंने प्रार्थना की "महाराज! ऐसा न कीजिए। शरीर कमजोर है। चर्या को अवश्य निकलिये। यदि शरीर को थोड़ा जल भी मिल जायगा, तो ठीक रहेगा। यह शरीर रत्नत्रय साधन में सहायता देता है, इसलिए इसके रक्षण का उचित ध्यान आवश्यक है।" मेरे आग्रह करने पर महाराज ने विचार बदल दिया और क्षण भर में वे चर्या को निकल गये।

भूल-संशोधन में निरन्तर तत्पर

मैंने देखा है कि विरुद्ध पक्ष की युक्तियुक्त बात को वे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते रहे हैं। उनके मुख से मैंने बहुत बार यह सुना "**यदि बालक भी हमें हमारी भूल बतायेगा, तो हम भूल को स्वीकार कर लेंगे।**" माता सत्यवती से प्रसूत साधुराज की ऐसी प्रवृत्ति पूर्णतया स्वाभाविक तथा उचित भी थी।

समाधिमरण के स्वार्थी प्रेरक

कुंथलगिरि में आचार्यश्री को यम-सल्लेखना तप में समारूढ़ देखकर तथा विविध साधनों से यह ज्ञातकर हृदय में व्यथा हुई कि कुछ स्वार्थी तथा विवेकहीन भक्तों ने पूर्व में सल्लेखना लेकर यम से युद्ध छेड़ने के गुरुदेव के विचार व्यक्त करते समय उत्साहवर्धक रणभेरी बजाना प्रारम्भ कर दी। इससे उनकी उस तपस्या की ओर बहुत शीघ्र प्रवृत्ति हो गई। सत्यशोधक के नाते लेखक का यह कटु कर्तव्य है कि 'शत्रोरपि गुणाः वाच्या, दोषाः वाच्या गुरोरपि' की नीति का संरक्षण करे।

समाधिमरण के बाद वर्तमान पर्याय की समाप्ति हो जाती है। जीव पर्यायान्तर को धारण करता है। अतः आचार्यश्री फिर दर्शन न देंगे। इस सर्वविदित तत्त्व को भी कुछ लोग भूलकर महाराज को सदा समाधिमरण धारण करने की प्रेरणा दिया करते थे।

पहले भी प्रेरणा

महाराज ने मुझे सुनाया था कि एक बार वे बहुत बीमार हो गए थे। शरीर इतना अशक्त हो गया था कि करवट भी बदलना कठिन था। लघुशंका निमित्त उठकर दूर जाना असम्भव हो गया था। उस प्रसङ्ग में एक ब्रह्मचारी जी ने महाराज से बहुत आग्रह किया था - "महाराज! आप समाधि ले लीजिये। अब आप अधिक दिन नहीं टिकेंगे।"[१]

महाराज ने उत्तर दिया था - "हमने बाल्यकाल से जिनेन्द्र के धर्म की शरण ली है। हमें अपने जीवन के बारे में धोखा नहीं होगा; ऐसा हमारा विश्वास है। हमें तुम्हारी सलाह की जरूरत न पड़ेगी।" कदाचित् पूज्यश्री के मन पर उन महोदय की वाणी असर कर देती या उन अविवेकी व्यक्ति की भाँति और भी प्रेरक निमित्त बननेवाले पुरुष मिल जाते और महाराज उनके कथनानुसार प्रवृत्ति करते, तो दस बारह वर्ष पूर्व ही यह आध्यात्मिक निधि लुट गई होती। समाज का भाग्य था कि इतने वर्ष ये महापुरुष समाज को सत्पथ-प्रदर्शन करते रहे।

सशक्त शरीर होते हुए यम सल्लेखना ग्रहण

इस यम सल्लेखना के प्रकरण में कुछ जिम्मेदार धर्मबन्धुओं से कुंथलगिरि में अनेक बातें ज्ञात हुईं। यम सल्लेखना लेने के पश्चात् २७ वें दिन आचार्य महाराज ने मुझे

---

१. इन्होंने ही कुंथलगिरि में समाधिमरण लेने को महाराज से अनेक बार आग्रह किया। ऐसी अमङ्गल सलाह देने वाले का नाम न देना उचित लगता है। अब इनका मरण हो गया।

बुलाकर कहा था - "हमारे शरीर में तो शक्ति बहुत है। नेत्रों के कारण ही हमें यह नियम लेना पड़ा। हम सोचते थे कि यह शरीर शीघ्र समाप्त हो जायगा; किन्तु बहुत समय होता जा रहा है। हजारों लोग आ रहे हैं। वर्षा आदि के कारण उनको बहुत कष्ट भोगना पड़ रहा है। अन्य लोगों को भी हमारे कारण कष्ट होता है। शीघ्र सल्लेखना हो जाय, ऐसा कोई उपाय शास्त्र में कहीं कहा गया है क्या?" यह विकल्प उत्पन्न हुआ था।

विकल्प निवारण

मैंने कहा - "महाराज! आप यह क्या कहते हैं? आपके दर्शनार्थ आनेवाले तथा उपस्थित रहने वाले सभी लोग यह चाहते हैं, कि आपका रत्नत्रय का साधक शरीर अधिक समय पर्यन्त टिका रहे। शीघ्र सल्लेखना की तो आप कल्पना भी न कीजिए। आपकी समाधि सम्यक् प्रकार सम्पन्न हो, इसलिए सारे भारत में लाखों नर-नारी जिनेन्द्र भगवान से प्रार्थना कर रहे हैं तथा अनेक प्रकार पूजा-विधानादि कर रहे हैं। वे प्रभु से यही प्रार्थना कर रहे हैं कि हमारे श्रेष्ठ धर्मगुरु का शरीर अधिक समय तक रहे 'अपमृत्युविनाशनं भवतु' का मन्त्र पढ़ा जाता है।"

महाराज बोले - "तुम्हें यह कैसे मालूम है?"

मैंने कहा - "महाराज! अखबारों में इसका वर्णन छपता है कि कहाँ-कहाँ लोग धार्मिक समाराधना कर रहे हैं।"

ऐसी चर्चा द्वारा गुरुदेव के मन में 'मरणाशंसा' सदृश यह विकल्प दूर हो गया। वे न जीवन को चाहते थे, न मरण की लालसा कर रहे थे, न इष्टजनों का उनके मन में अनुराग था, न सुख की लालसा थी और आगामी भोगों की ओर भी उनका मन नहीं था। उन्होंने मुझसे कहा ही था कि हमारे मन में मोक्ष की भी इच्छा नहीं है। श्रेष्ठ महापुरुष के जीवन में जैसा सौन्दर्य और माधुर्य चाहिए, वैसी अलौकिकता उन सन्तराज में थी।

नेत्र ज्योति

यह बात यहाँ कही जा चुकी है कि महाराज के नेत्रों की स्थिति ठीक रहती, तो समाधि की उग्र तपस्या का आश्रय इतने शीघ्र न लिया जाता। नेत्रों की ज्योति के विषय में भी कुछ बातें शान्त भाव से चिन्तनीय हैं। फलटण के कुछ गुरुचरण-सेवक प्रमुख लोगों ने कहा था कि उन लोगों ने वहाँ डॉक्टर द्वारा नेत्रों की जाँच करवाई थी, तब डॉक्टर ने कहा था "अभी जैसा दिखता है वैसा ही आगे दिखेगा। शीघ्र कोई अन्तर नहीं होगा।" इससे आचार्यश्री के मन को नेत्रों के बारे में समाधान हो गया था।

समाधि की प्रेरणा का रहस्य

वे नीरा ग्राम तरफ आए। वहाँ से उनका भाव मुक्तागिरि की तरफ बिहार करने का हुआ और वे रवाना होने को तैयार थे क्योंकि वीरसागर महाराज ने एक बार मुक्तागिरि को समाधियोग्य स्थान सुझाया था। इस विषय में उनका पत्र नीरा में आया था। कुछ लोग महाराज के पास आए और उन्होंने स्मरण दिलाया - "महाराज! आप वहाँ कहाँ जाते हैं? आपके नेत्रों की ज्योति मंद हो रही है। आपको समाधिमरण लेना है।" कहते हैं उनमें मुख्य सत्पुरुष तो वे थे, जो १२ वर्ष पूर्व ही पूज्य गुरुदेव को समाधिमरण के लिए प्रेरणा तथा उत्साह प्रदान कर चुके थे। इन प्रेरकों की इच्छा उन गुरुराज को मुक्तागिरि गमन से विमुख कराकर कुंथलगिरि ले जाने की थी। इस पद्धति से क्षेत्र के लिए विपुल धन-लाभ की उनकी अंतरंग की भावना थी।

समाधिमरण लेने की चर्चा की जाने पर पूज्यश्री ने कहा "अच्छा अभी हम कुछ दिन यहाँ नीरा में ही निवास करेंगे।" इसके अनंतर मुक्तागिरि के व्यवस्थापकों आदि ने गुरुदेव के समीप आने का प्रयत्न नहीं किया और कुंथलगिरि के पक्षकारों ने आकर गुरुदेव का उस ओर प्रस्थान करा दिया। बारामती में जब महाराज थे, तब भी कुछ व्यक्ति आकर नेत्रों की चर्चा का आश्रय ले समाधिमरण के लिए महाराज के स्वयं-विरक्त मन को प्रेरणाप्रद बातें कहने में संकोच नहीं करते थे।

विपरीत निमित्तों का जमघट

हमें ज्ञात हुआ है कि जब पूज्य महाराज कुंथलगिरि पहुँच गए, तब वहाँ पूना से एक वैद्य बुलाया गया। वैद्य ने नेत्रों की पूर्ण जाँच के पश्चात् भयंकर अवस्था न बताकर रोग को उपचार से साध्य कहा। उस समय महाराज ने वैद्य की दवा एक माह के लगभग लगाने की भावना दर्शाई।

इसके ही अनंतर कुछ लोगों ने एक विवेकशून्य नेत्र-विशेषज्ञ डाक्टर को बुलाया, जिसने कहते हैं, महाराज के समक्ष कह दिया, कि अब आपके नेत्र ठीक नहीं हो सकते। उनकी शक्ति समाप्तप्राय हो गई है। रक्तवाहिनी नसें (Veins) काम नहीं कर रही हैं। उस वाणी को सुनते ही महाराज का मन पूर्ण बदल गया और उन्होंने यम से युद्ध लेने के लिए यम-सल्लेखना का सुदर्शनचक्र चलाने का विचार किया।

उस समय, ऐसा पता चला है कि एक निकटवर्ती, प्रभावशाली, विचारशील भक्त सज्जन ने महाराज से प्रार्थना की, कि अभी आप यम-सल्लेखना न लीजिए। चातुर्मास

पूर्ण होने दीजिए। आपके हजारों व्रती शिष्य हैं। मुनिराज आदि भी शिष्य हैं। ये सब चातुर्मास के पश्चात् आपके दर्शनार्थ आ सकेंगे। दूसरे भक्तों ने आकर पुनः समाधि के लिए प्रेरणा दी और इन शब्दों द्वारा उन्होंने समाधि लेने को राजनीतिज्ञ की भाषा में कहा - "महाराज! हम आपके विचार से सहमत हैं। जैसा आपको उचित दिखे, वैसा आप कीजिए।" भवितव्यता अलंघनीय है। इस परिस्थिति में महाराज ने यम समाधि ले ली।

आश्चर्य की लहर

नीरा, बारामती, फलटण आदि समीप के श्रावक लोग चकित हो गए कि कुछ माह पूर्व महाराज के नेत्रों में ऐसा भीषण कदम उठाने की कोई बात न थी। क्षण भर में यह क्या से क्या हो गया? वास्तव में समाधि के लिए प्रेरक बनने वाले भाइयों ने लोभ त्याग कर यदि विचार से काम लिया होता और गुरुदेव के शीघ्र उठाए जाने वाले कदम को उठाने का नम्रतापूर्वक विरोध किया होता, तो १८ सितम्बर सन् १९५५ को धर्म के सूर्य के अस्तंगत होने का दुर्भाग्य समाज को न मिलता। कलिकाल के कारण ऐसे दुःखद काण्ड सहज ही घटित हो जाते हैं।

यह बात सत्य है कि मरना सभी संसारी जीवों के लिए अवश्यंभाविनी घटना है; किन्तु महान् परोपकारी आत्मा के जीवन के कुछ क्षण भी यदि अधिक मिल जाते हैं, तो न जाने किस जीव को कौनसी आध्यात्मिक प्राप्ति हो जाती।

सल्लेखना की विज्ञापनबाजी से हानि

महाराष्ट्र प्रान्त के निकट एक प्रतिष्ठित सज्जन ने यम-समाधि के बारे में एक बात हमें बताई कि महाराज की भावना थी कि कुंथलगिरि में रहकर वे कठोर तपस्या द्वारा नियम समाधि में उद्यत रहेंगे। कुछ लोगों ने यद्यपि महाराज की सल्लेखना की सर्वत्र अधिक विज्ञापन बाजी शुरू कर दी किन्तु हमें जरा भी खबर नहीं। प्रचार होने से हजारों लोगों का वेग से आना प्रारम्भ हो गया। अव्यवस्था का राज्य देखकर महाराज के मन का झुकाव शीघ्र ही कदम बढ़ाने का हुआ।

दूसरों के कष्ट-निवारण की ओर पूज्यश्री का सदा ध्यान रहा है। अपने कष्ट की रंचमात्र परवाह न कर ये साधुराज दूसरों के दुःख का विशेष विचार करते थे। यम-सल्लेखना के समय लोगों की भीड़, प्रकृति का कोप, प्रबंध में अक्षम्य प्रमाद देख गुरुदेव यही कहते थे - "लोगों का अच्छा प्रबन्ध करो। हमारी तनिक भी चिन्ता न करो। हम अपने काम में स्वयं सजग तथा सावधान हैं।"

पावापुरी का विचार था

इस सल्लेखना की चर्चा के संबंध में यह भी ज्ञातव्य है कि महाराज का भाव उत्तरप्रान्त में आकर विशेषकर पावापुरी में सल्लेखना करने का था। गजपंथा (नासिक) चातुर्मास के समय महाराज ने मुझसे कहा था - "अभी हमारे पाँवों में शक्ति है। हमारा इरादा एकबार फिर से शिखरजी तरफ जाने का है।"

कवलाना में जब आचार्य महाराज थे, तब उन्होंने कहा था - "हमारी इच्छा पावापुरी में सल्लेखना लेने की है। वहाँ जाते हुए कदाचित् मार्ग में ही हमारा शरीरांत हो जाय, तो हमारे शरीर को जहाँ हमारे पिता हैं, वहाँ पहुँचा देना।"

मैंने कहा - "महाराज! पिता से आपका क्या मतलब है?"

महाराज - "हमारे पिता महावीर भगवान् हैं।"

इस पर मेरे अनुज प्रोफेसर डॉ. सुशीलचन्द्र दिवाकर ने कहा - "महाराज! तब तो आपकी माता जिनवाणी हुई।"

महाराज का मुखमंडल मधुर स्मित से आलोकित हो उठा और वे कहने लगे - "तुम बिल्कुल ठीक कहते हो। जिनवाणी हमारी माता है और भगवान महावीर स्वामी हमारे पिता हैं।"[१]

जब महाराज का लोणंद में चातुर्मास हुआ था, उस समय पूज्यश्री के मन में उत्तर की ओर विहारार्थ प्रस्थान करने का विचार उत्पन्न हुआ। पर्यूषण में उन्होंने मुझसे कहा था - "शिखर जी तरफ जाने का हमारा विचार हो रहा है।" उस समय उनके आदेशानुसार पावापुरी, चम्पापुरी, मुक्तागिरि, शिखरजी आदि को विशेष ज्ञातव्य बातों के विषय में उत्तर के लिए पत्र भेजा था। बम्बई के प्रख्यात गुरुभक्त संघभक्त शिरोमणि सेठ गेंदनमल जी जवेरी को महाराज ने बुलाकर लोणंद में एकान्त में परामर्श किया था। अकलूज के बन्धु भाईचन्द, ताराचन्द, जीवनचन्द, बापूचन्द, मियाचन्द, रतूचन्द को महाराज ने बुलाया था।

श्री मियाचन्द रतूचन्द फड़े ने ये शब्द हमसे कहे - "हम लोगों ने आचार्यश्री

---

१. सहस्रनाम पाठ में भगवान को "पिता, पितामहः पाता" कहा है। सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर का स्तवन करते हुए समंतभद्र स्वामी ने भगवान को मातृ-सदृश लिखा है - "मातेव बालस्य हितानुशास्ता" -(५)।

के समक्ष श्रीफल रखकर प्रतिज्ञा की थी, कि आपका उत्तर तरफ विहार करने का भाव है, तो जहाँ आप यात्रार्थ जाने को कहेंगे, वहाँ चलने की सर्व व्यवस्था तथा सेवा करने को हम लोग तैयार हैं।" ऐसे अनेक प्रकरण हैं, जिनसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि पूज्यश्री की बलवती भावना उत्तर की तरफ जाने की थी।

महाराज का इरादा

वे हमसे यह भी कहते थे कि - "अब पहले की तरह बड़े समुदाय के साथ जाने का हमारा भाव नहीं है। थोड़े से लोगों के साथ जाने की इच्छा है।" उस समय मैंने कहा था - "महाराज! अबकी बार यदि आप यात्रार्थ गए तो सिवनी होकर के ही जाइए, ऐसी प्रार्थना है?"

सिवनी के मंदिर

महाराज ने कहा था - "क्या बतायें, पहले हमारी तुम्हारी 'ओलख' (पहिचान) नहीं थी, नहीं तो जब जबलपुर आए थे, तब सिवनी के मन्दिरों के दर्शनार्थ अवश्य आते।"

सिवनी के मंदिरों के फोटो देखकर महाराज ने कहा था - "बहुत सुन्दर मन्दिर हैं।" उत्तर जाते समय हम सिवनी होते हुए जावेंगे।"

अविवेक का कार्य

उपर्युक्त विवेचन का ध्येय किसी के दोषों का उद्भावन नहीं है। यह तो समझ का फेर है। गुरुदेव का जीवन किसे प्रिय नहीं था; किन्तु किन्हीं अदूरदर्शी भाइयों के भ्रान्त विचार तथा मिथ्या भक्ति ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि असमय में ही गुरुदेव का स्वर्गारोहण कुंथलगिरि से हो गया।

आचार्यश्री की सेवा में रहनेवाले हजारों व्यक्तियों का अनुभव रहा है, कि आचार्य महाराज के साथ में कभी भी कोई कष्ट नहीं हुआ। कुंथलगिरि में संघपति सेठ गेंदनमल जी जवेरी बम्बई वालों से हमने आचार्य महाराज के प्रभाव के बारे में चर्चा चलाई थी, तो वे कहने लगे - "हम महाराज के साथ हजारों मील पैदल गए हैं। उनके प्रभाववश कभी भी कष्ट नहीं हुआ।" औरों का भी यही अनुभव रहा है।

प्रकृति का रोष

कुंथलगिरि की कथा इससे निराली रही है। प्रकृति का भीषण प्रकोप रहा है।

वर्षा की भीषणता के कारण यात्री घबड़ाते थे। प्रबन्ध की भी अद्भुत स्थिति थी। शांतिमय वातावरण का अभाव अधिक दृष्टिगोचर होता था। कलह तथा विरोध की अद्भुत बातें यत्र तत्र सुनने में तथा अनुभव में आती थीं। महाराज के शव के रखने को जो विमान पहले बना था, वह बड़ी ही विचित्र बनावट का था। पश्चात् संघपति सेठ गेंदनमलजी के कड़े रुख के कारण उन महापुरुष के शरीर की श्मशान-यात्रा के अनुरूप दूसरा विमान बनवाया गया था। यह विषय भी कटु विवादस्वरूप बन गया था। दुर्भाग्य से अभक्त जनों का नेतृत्व उस समय दिखता था।

लेखक का कर्तव्यपालन हमें प्रेरित करता है कि हम सत्य के प्रकाश में संकोच छोड़कर वास्तविकता का चित्रण करें। कुंथलगिरि की अमंगलमय प्रवृत्तियों की स्मृतियाँ आज भी मनोव्यथा उत्पन्न करती हैं। पाठक इस घटना के विषय में स्वयं सोचें कि कैसी-कैसी बातें वहाँ हुई थीं।

अविवेक की चरम सीमा

महाराज का शरीरांत तो ता. १८ सितम्बर को हुआ था; किन्तु ऐसी अद्भुत व्यवस्था रही कि आठ दिन पूर्व ही दाहस्थल पर महाराज की चिता रच दी गई थी। हजारों यात्री इस अद्भुत विवेक को देखकर दुःखी हो रहे थे कि गुरुदेव जीवित हैं, फिर क्यों उनकी चिता पहले ही रच दी गई? कुछ लोगों ने हमसे कहा था कि ऐसा अनर्थ तो रुकवाइये। हमने उत्तर दिया था कि इस स्थल का अद्भुत रङ्ग-ढङ्ग देखकर बुद्धि काम नहीं करती है। फिर भी कुछ बन्धुओं से चर्चा की और उन्होंने पूर्व निर्मित चिता की सामग्री स्थानान्तर करके रखवा दी थी।

अविवेक के शासनवश सल्लेखना के अन्तिम समय के कुछ पूर्व हजारों लोगों को आचार्य महाराज के दर्शन में रोक करने से दर्शन के बिना ही लौट जाना पड़ा। आसाम, बङ्गाल, पंजाब, उत्तरप्रदेश, कर्नाटक, मलाबार, मध्यप्रदेश, मध्यभारत आदि के हजारों लोग - ऐसे लोग जिन्होंने जीवन में अपने धर्मगुरु का कभी भी दर्शन नहीं किया था - विपुल द्रव्य खर्च कर बड़ी भक्ति से वहाँ पहुँचे थे। हजारों गरीब तो ऐसे भी थे जो अपने घर की वस्तुओं को बेचकर, कर्जा तक लेकर उन साधुराज के दर्शन द्वारा अपना जन्म सफल करने आए थे; किन्तु उनको अत्यन्त दुःखी हो निराश लौटना पड़ा। उनकी मनोव्यथा का मूल्य कौन आँक सकता है?

मिथ्या परिकल्पना

अहंकारी और अविवेकी स्वयंभू व्यवस्थापक आदेश भर दे देते थे कि महाराज

का दर्शन नहीं हो सकता। उनके ध्यान में विघ्न आयेगा। मैंने कई लोगों से कहा था - "अभिषेक के समय लाउड स्पीकर में हजारों की बोली करते समय धनसंचय की पूर्ति होने से वह हल्ला ध्यान में बाधक नहीं होता था; किन्तु मौनभाव से चुप रहने की शपथ लेकर जाने वाले लोगों को कुटी खोलकर यदि गुरुदेव के दर्शन का अवसर दिया जाय, तो क्या बाधा है?"

विवेक का जागरण

अनेक भाइयों के सत्प्रयत्न से तथा भट्टारक लक्ष्मीसेन महाराज के विशेष उद्योग से अन्त में महाराज के पास की कुटी अलग कर दी गई और सब लोग उनका दर्शन करके कुछ शांति प्राप्त कर सके। यदि ऐसा विवेक पहिले जग जाता तो हजारों श्रावकों को दूर-दूर से आकर निराश न लौटना पड़ता।

निंदनीय दुष्ट भावना

जब महाराज के दर्शन लोगों को हो रहे थे, तब एक सुशिक्षित प्रबंधक सज्जन ने उलाहना देते हुए मुझसे कहा - "आप लोग अभी भी दर्शन करा रहे हैं। आप लोग शीघ्र ही महाराज का प्राण लिये बिना न रहेंगे।" उन चिरपरिचित क्षेत्रप्रबंधक की वाणी दिल में तीर की तरह चुभी थी। हम सदा से प्रत्यक्ष में, परोक्ष में गुरुदेव की पूजा करते रहे हैं, फिर भी ये हमें उनके जीवन का शत्रु सोचते थे। तब दूसरों के विषय में क्या कहा जाय? पहले वे व्यक्ति महाराज के तीव्र विपक्षी रहे हैं। अब तो वे काल-कवलित हो गए।

अंतराय कर्म

सामायिक के पश्चात् आचार्य महाराज का भक्ति पाठ आदि का कार्यक्रम बराबर चला करता था। महाराज अपनी क्रियाओं में आश्चर्यप्रद रीति से सजग रहते थे। मैं सोचता था, जब लोग कुछ इधर उधर की बातों में पूज्यश्री के क्षणों को लेते हैं, तब ऐसे समय यदि समाधिशतक आदि की उद्बोधिनी सामग्री उनको सुनाई जाय, तो क्षपकराज की सुन्दर सेवा होगी। उनके पास में रहने वाले लोग अद्भुत थे। बड़ी कठिनता से वहाँ कुटी में प्रवेश हो पाता था और वहाँ मौनी बनने का संकेत प्राप्त होता था।

शास्त्र की बड़ी सुन्दर बातें, महाराज को सुनाने योग्य दृष्टिपथ में आती थीं, जिनसे उनके हृदय को विशेष प्रेरणा प्राप्त होती; किन्तु वहाँ महाराज के निकटवर्ती मंडल की दृष्टि में यह बात महत्त्व विहीन दिखती थी।

आचार्यश्री जिनेन्द्रदर्शन को जाते हुए

आचार्यश्री आहार ले रहे हैं

आचार्यश्री आहार के बाद

समाधि के 35 वें दिन का अद्भुत चित्र

चिन्तनरत श्रमणराज

जब कभी सौभाग्य मिला, तब चर्चा द्वारा गुरुदेव के हृदय की ऐसी अनुपम बातें सुनने में आईं, जिनको शास्त्र का अपूर्व मर्म कहा जा सकता है। महाराज के आसपास धनसंचय के हेतु हल्ला को शांति मानने वाले और धर्म की वीतरागतापूर्ण चुनी सामग्री को व्यर्थ की बातें सोचने वाले अद्भुत विवेकी वर्ग से मेरा यही कहना था कि इस अवसर पर आगत हजारों व्यक्तियों को धर्मलाभ का मौका भाषण, उपदेशादि द्वारा कराने का प्रबन्ध जरूरी है; परन्तु बहुत कम सुनवाई हो पाती थी। वहाँ अंधेर नगरी का रूप दिखता था।

आर्षवाणी की अपार शक्ति

जो सोचते हैं शास्त्र क्या करेगा? वे इस एक श्लोक को ही देखें कि इस एक पद्य में ही आत्मा को सामर्थ्य प्रदान करने वाली कितनी जोरदार सामग्री भरी है। ऐसी सामग्री के सुनाए जाने से मन को अधिक निर्मलता प्राप्त हुए बिना नहीं रहती।

जिनवाणी रूप भोजन

'मृत्यु के साथ युद्ध करो' वाले क्षपकराज के शरीर को भोजन नहीं मिलता है, उनकी आत्मा के लिए अमृतमय भोजन सदृश ऐसी जिनवाणी की सामग्री होती है - आचार्य समझाते हैं "अरे क्षपक! कृमि समुदाय से परिपूर्ण शरीररूपी पिंजरे के नष्ट होते समय तुझे डरना नहीं चाहिए। तेरा शरीर तो ज्ञान रूप है, पुद्गल शरीरात्मक नहीं है। कहा भी है -

कृमिजाल-शताकीर्णे, जर्जरे देहपंजरे।
भज्यमाने न भेतव्यं, यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥ - मृत्युमहोत्सव ॥९॥

अद्भुत आत्म-सामर्थ्य

वहाँ की सामग्री को ध्यान में रखने पर मेरी तो यह धारणा है कि यदि आचार्य शांतिसागर महाराज के स्थान पर अन्य व्यक्ति ने समाधि ली होती, तो उनके भावों में स्थिरता रहना बहुत कठिन बात थी। आचार्यश्री की सारी जीवनी अपूर्व थी, तपोमयी थी। अगणित संकटों के मध्य में भी वे आध्यात्मिक स्थिरता को कायम रख सकते थे। उनकी शक्ति और अभ्यास असामान्य रहे हैं।

एक समय महाराज ने कहा था - "हम बीच बाजार में भी बैठकर आत्मध्यान कर सकते हैं।" उस समय मैंने पूछा था - "महाराज! बाजार का हल्ला आदि आपके ध्यान में विघ्न उपस्थित नहीं करेंगे, यह कैसे हो सकता है?"

महाराज ने कहा था, "आत्मचिंतन करते समय बाजार भला क्या करेगा?" इस सामर्थ्य प्राप्ति का रहस्य महाराज ने अपने जीवन भर का अभ्यास बताया था।

विघ्न में अविचल साधुराज

हमें तो यही प्रतीत होता है कि उन साधुराज की जीवन भर की महान् तैयारी उस समय उनके लिए कार्यप्रद हुई। भला; जब मृत्यु के विशिष्ट प्रतिनिधि सर्पराजों ने उनके शरीर से लिपटकर तथा और बड़े-बड़े संकटों में आ आकर उन योगिराज की स्थिरता को क्षति नहीं पहुँचाई, तब भक्त रूप दर्शी कुछ मानवों के द्वारा उपस्थित किये विघ्नों से उनका क्या बिगड़ता था? कल्पान्त के पवन से पर्वत कंपित होते हैं; किन्तु मेरु गिरि का शिखर कभी भी विचलित नहीं होता है। महाराज का मन मेरुशिखर सदृश अडिग और अकंप था।

यहाँ शंका हो सकती है कि आचार्य महाराज की लोकोत्तर स्थिरता आदि को जब आप स्वीकार करते हैं, तब कुछ लोगों के कार्यों को आप क्यों दोष पूर्ण कहते हैं?

यदि दुर्दैव का प्रभाव न होता, तो -

इस आक्षेप के उत्तर में हमारा यही कथन है कि यदि बाधक सामग्री के स्थान में ध्यान और आत्मचिंतन की पोषक सामग्री द्वारा साधुराज की सेवा की जाती, तो उसके द्वारा और भी अधिक आत्मरस की वृद्धि होने से स्व-परहित होता। '**अधिकस्य अधिकं फलम्।**' सारे भारत के कोने-कोने से आगत जनसमुदाय भी अपने कल्याण की विपुल सामग्री ले जा सकते थे। खेद है कि दुर्दैव के प्रभाव से वहाँ विकट बातों का ही ऐसा मेला हो गया था, जिसने मनों को मैला बना दिया था। इस कथा को समाप्त करना ही हितकर प्रतीत होता है। कोयले को अधिक घिसने से हाथ काले ही होंगे।

कर्तव्य पालन

हम तो इस विषय पर कुछ भी नहीं लिखना चाहते थे; किन्तु उक्त इतिहास लेखक के नाते कर्तव्य की प्रेरणा से कुछ अवांछनीय बातों पर भी प्रकाश डालना पड़ा, जिससे सहृदय धर्मबंधुओं को पता चल जाय कि अपने ही भाइयों की अदूरदर्शिता से अपने ही पैरों पर कैसे कुठाराघात हुआ और जैन समाज की ही नहीं विश्व की अनुपम विभूति आचार्य शांतिसागर महाराज की आत्मा ने इस पौद्गलिक औदारिक शरीर का परित्याग करके असमय में ही दिव्य देह को धारण कर लिया।

आज तो वे तपोमूर्ति सुरराज बने हुए स्वर्गीय सुखों से घिरे हुए हैं। हमें तो ऐसा

लगता है कि उनका वैराग्य-भाव-पूर्ण हृदय उन अनुपम सुखों में भी पूर्णतया अनासक्त रह आत्मचिंतनजनित अपने आध्यात्मिक आनन्द का रसपान करता होगा; किन्तु हमारी आत्मा के कल्याण की अपूर्व सामग्री उनके जीवन के निर्ग्रन्थ काल में रही है; अतः विश्वास है कि उनके जीवन की साधुतापूर्ण वार्ता भ्रान्त आत्माओं को सदा सत्पथ बताती रहेगी। इससे उसकी चर्चा भी सर्वदा श्रेयोनुबंधिनी रहेगी।

क्षीण नाड़ी

उपवास को एक माह से अधिक समय हो गया था। एक दिन महाराज की प्रकृति विशेष क्षीण दिखने लगी। उनका सार्वजनिक रूप से दर्शन भी बन्द हो गया। उस समय एक वैद्यराज महाराज के पास गया और उनकी कुटी में हाथ डालकर उनकी नाड़ी देखने लगा। आचार्य महाराज बोल उठे - "क्या देखते हो? कोई रोग है क्या? हमारे शरीर में कोई रोग नहीं है। अब हम शीघ्र ही जाने वाले हैं।"

भट्टारक लक्ष्मीसेनजी से महत्त्वपूर्ण वार्तालाप

सत्ताईसवें उपवास के दिन भट्टारक लक्ष्मीसेन स्वामी कोल्हापुर संस्थान ने आचार्य महाराज से पूछा, "महाराज! शांति तो है?"

महाराज - "पूर्ण शांति है। शरीर में भी शांति है।"

भट्टारक जी - "आप पुण्यवान हैं। आपके पुण्य-प्रभाव से ही शांति है।"

महाराज - "बाबा! हमारा पुण्य नहीं है। भगवान देशभूषण कुलभूषण के प्रभाव से ऐसा है।" ऐसी पवित्र श्रद्धा गुरुदेव की थी।

धर्म का अवलंबन

एक विद्वान् ने महाराज से कहा "आपके अभाव में हम लोग निरवलंब हो गए।"

महाराज - "क्यों? धर्म का अवलंबन तो है। धर्म पर चलने से सबका कल्याण होता है।"

धर्मसंरक्षण का ध्यान

रा.ब. सेठ राजकुमारसिंह जी इंदौर ने ३-९-५५ को महाराज के पास जा उनको प्रणाम किया। गुरुदेव बोले - "धर्म के संरक्षण का काम तुम्हारा है।"

सेठजी - "महाराज! आपके आशीर्वाद से जो मुझसे बन सकेगा, करूँगा।"

विवेकपूर्ण दानशीलता

कुंथलगिरि में आने वाले हजारों भाई ऐसे थे, जो अकेले आए थे। उनके भोजन का प्रबन्ध करने की उदारता बारसी के उदार हृदय विवेकी तथा दानशूर सेठ बालचंद लालचंद भूमकर ने की थी। श्री भूमकर की दानशीलता सचमुच में अपूर्व थी। श्रेष्ठ साधुराज शांतिसागर महाराज की सल्लेखना अलौकिक थी। उन गुरुदेव के दर्शनार्थ हजारों भाई आते-जाते थे। श्रीभूमकर ने यह सूचना करदी थी कि जिस भाई का प्रबंध न हो वे सब हमारे खास भोजनालय में पधारकर भोजन करें। यह बुद्धिमत्ता पूर्ण दानशीलता सराहनीय है। इस संबंध की चर्चा भट्टारक जिनसेन स्वामी ने आचार्य महाराज से की, तब महाराज बोले - "भूमकर ने बहुत पुण्य का काम किया है। अन्नदान से जीव सुखी होता है।" शास्त्र में कहा है -

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन, निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात् सुखी नित्यं, निर्व्याधिः भेषजाद्भवेत्॥

आत्महित में सर्वदा सजग

मैंने सल्लेखना के बीसवें दिन सुयोग पाकर कहा - "महाराज! समंतभद्र स्वामी ने स्वयंभूस्तोत्र में एक बड़ी सुन्दर बात कही है। (१) शीतलनाथ भगवान की स्तुति में वे कहते हैं - "भगवन्! जगत् के प्राणी अपनी आजीविका तथा सुखोपभोग के योग्य सामग्री अर्जन करने में दिन व्यतीत करके रात को श्रान्त हो सो जाते हैं; किन्तु आप दिनरात प्रमाद का त्यागकर आत्महित के विशुद्ध पथ में सजग रहते हैं।" इसी प्रकार आप भी चौबीसों घंटे आत्मकल्याण में निमग्न हैं। धन्य है आपका जीवन और आपकी आत्म साधना।"

अपने विषय में

महाराज बोले - "हमारा शरीर बहुत चलने वाला था। आँख ने गड़बड़ी कर दी। संयम निर्दोष पालने में विघ्न देखकर हमने समाधि धारण की।"

इतने में एक भाई ने कह दिया - "महाराज! आप तो तीर्थंकर होंगे।"

महाराज - "तीर्थंकर हों या केवली हों, कुछ भी हों। मोक्ष मिलेगा, तो ठीक है।" कुछ क्षण के पश्चात् गुरुदेव बोले - "हमें उसकी भी लालसा नहीं है।"

महाराज की शरीर-स्थिति

मैंने कहा - "महाराज! आपका यह शरीर हमारी दृष्टि से कल्याणदायी तथा ममत्व की वस्तु तो है ही, यह आपके लिए भी उपेक्षा का पात्र नहीं है। यह रत्नत्रय का साधक शरीर जब तक रहेगा, तब तक आपका महाव्रती का जीवन है। आप छठे, सातवें गुणस्थान का आनंद लेते रहेंगे। इसे छोड़ने में शीघ्रता की,तो आपकी भी हानि है। आपको अविरत नामका चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त होगा। अतः आपको जलग्रहण नहीं छोड़ना चाहिए।"

महाराज - "हमने जल का त्याग कहाँ किया है?"

मैंने कहा - "आपने ४ दिन से जल लेना बंद कर दिया है। इससे सब लोग चिंतामग्न हो गए हैं। आगे जल लेने की हमारी प्रार्थना पर अवश्य ध्यान दीजिये।"

जल-परित्याग का हेतु

हमारा तर्क तो महाराज को अनुकूल लगा; किन्तु अब विचित्र स्थिति में जल लेना सामान्य बात नहीं थी। महाराज की क्रियाएँ अन्त तक आगम के अनुसार ही रही हैं। कोई सोच सकता है कि वे बैठे-बैठे कुटी के भीतर जल ले सकते थे; किन्तु ऐसी बात साधुओं के शिरोमणि शान्तिसागर महाराज के विषय में नहीं सोचना चाहिए। डरकर या घबड़ाकर जिनेन्द्रवाणी के विरुद्ध प्रवृत्ति करना उनके जीवन में तो क्या स्वप्न में भी नहीं पाया गया। जलग्रहण करने के लिए वे उसी प्रकार शरीर-शुद्धि करके जाते थे, जैसे समाधि के पूर्व में जाया करते थे। अब भी वे पूर्ववत् ही नवधा भक्ति होने के बाद खड़े-खड़े अँजुलियों में केवल उष्ण जल लेते थे।

अब शरीर इतना अशक्त हो गया कि कम से कम पन्द्रह मिनिट पर्यन्त शारीरिक श्रम के पश्चात् शुद्ध जल की दो-चार अँजुलियाँ लेना असम्भव हो गया था। जल लेने में उनकी जितनी शक्ति का व्यय होता था उसका बहुत अल्प अंश जलग्रहण द्वारा उनको प्राप्त होता था। इन अनेक बातों को सोचकर उन विवेकमूर्ति मुनिनाथ ने फिर आगे जल नहीं लिया।

अद्भुत तेजपुञ्ज शरीर

उनका शरीर आत्मतेज का अद्भुत पुञ्ज दिखता था। तीस से भी अधिक उपवास होने पर देखनेवालों को ऐसा लगता था, मानों महाराज ने दस-पाँच ही उपवास

किये होंगे। उनके दर्शन से जड़वादी मानव के मन में आत्मबल की प्रतिष्ठा अंकित हुए बिना नहीं रहती थी।

निकट से निरीक्षण

देशभूषण-कुलभूषण भगवान के अभिषेक का जब उन्होंने अन्तिम बार दर्शन किया था, उस दिन शुभोदय से महाराज के ठीक पीछे मुझे खड़े होने का सौभाग्य मिला था।

मैं महाराज के अत्यन्त क्षीण शरीर को ध्यान से देख रहा था। उनके शरीर के तेज की दूसरों के शरीर से तुलना करता था, तब उनकी देह विशेष दीप्तियुक्त लगती थी। मुखमण्डल पर तो आत्मतेज की ऐसी ही आभा दिखती थी, जिस प्रकार सूर्योदय के पूर्व प्राची दिशा में विशेष प्रकाश दिखाता है। उनके हाथ, पैर, वक्षःस्थल उस लम्बे उपवास के अनुरूप क्षीण नहीं लगते थे, फिर भी बहुत समय से महान् तपस्या के कारण क्षीणता युक्त शरीर और उस पर यह महान् सल्लेखना का भार, ये सब अद्भुत सामग्री, आत्म-शक्ति और उस तेज को स्पष्ट करते थे।

एकाग्रचित्त हो अभिषेक-दर्शन

मैंने देखा कि महाराज एकाग्रचित्त हो जिनेन्द्र भगवान की छवि को ही देखते थे। इधर उधर उनकी निगाह नहीं पड़ती थी। मुख से थके माँदे व्यक्ति के समान शब्द नहीं निकलता था। तत्त्व दृष्टि से विचार किया जाय,तो कहना होगा कि शरीर तो पोषक सामग्री के अभाव में शक्ति तथा सामर्थ्य रहित हो चुका था; किन्तु अनन्तशक्ति पुञ्ज आत्मा की सहायता उस शरीर को मिलती थी, इससे ही वह टिका हुआ था और आत्मदेव की आराधना में सहायता करता था।

अनेकान्तिक दृष्टि

सल्लेखना के ३० वें उपवास के लगभग महाराज ने मन्दिर जाकर भगवान के अभिषेक का दर्शन किया। अन्तिम क्षण के पूर्व में जिनेन्द्र देव के पंचामृत अभिषेक के गन्धोदक को भक्तिपूर्वक ग्रहण किया। इधर श्रेष्ठ समाधि धारण रूप निश्चय दृष्टि और इधर जिनेन्द्र भक्ति आदि रूप व्यवहार दृष्टि इस बात को व्यक्त करती थी कि आचार्य महाराज की जीवनी अनेकान्त भाव को घोषित करती थी।

शिक्षाग्रहण

आज अपने आपको परम आध्यात्मिक समझने वाले व्यक्तियों को आचार्यश्री

के जीवन रूपी मानस्तम्भ के द्वारा अपने अध्यात्मज्ञान का अहंकार दूर करना श्रेयस्कर है। वे भले आदमी कम-से-कम इतना तो सोच सकते हैं कि जब साधु शिरोमणि शांतिसागर महाराज सदृश सत्पुरुष को जिन-दर्शनादि द्वारा आत्मशुद्धि में सहायता प्राप्त होती थी और इसीलिए जीवन भर इन मङ्गलप्रवृत्तियों का उन्होंने परित्याग नहीं किया, तब साधारण श्रेणी का व्यक्ति, जो प्राय: आरम्भ और विषयों की सेवा में काल व्यतीत किया करता है, यदि जिन-दर्शन पूजा आदि व्यवहार धर्म को छोड़ता है अथवा उसका तिरस्कार करता है, तो आगम के प्रकाश में वह अपने उत्कर्ष तथा कल्याण के पथ पर कुठाराघात करता है। आज के समय में, समाज के मध्य निश्चय और व्यवहार पक्ष की रस्साखिंचाई के संघर्ष में, आचार्य शान्तिसागर जी की जीवनी पूर्ण समाधानप्रद सामग्री प्रस्तुत करती है।

मुनिबन्धु को संदेश

करीब ९२ वर्ष की वय वाले मुनिबन्धु चारित्र चूड़ामणि श्री १०८ वर्धमान सागर महाराज के लिए पूज्यश्री ने संदेश भेजा था, "अभी १२ वर्ष की सल्लेखना के छह सात वर्ष तुम्हारे शेष हैं। अत: कोई गड़बड़ मत करना। जब तक शक्ति है, तब तक आहार लेना। धीरज रखकर ध्यान करना। हमारे अन्त पर दु:खी नहीं होना और परिणामों में बिगाड़ मत लाना।"

शेडवाल

आचार्यश्री ने यह भी कहा - "शक्ति हो तो समीप में विहार करना। नहीं तो थोड़े दिन शेडवाल बस्ती में और थोड़े दिन शेडवाल के आश्रम में समय व्यतीत किया करना।" उन्होंने यह भी कहा था - "अपने घराने के पिता, पितामह आदि सभी सल्लेखना करते आए हैं, इसी प्रकार तुम भी उस परम्परा का रक्षण करना। इससे स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त होता है। अच्छे भाव से ध्यान करते गए, तो स्वर्ग मिलेगा, मोक्ष मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं है।"

भट्टारक युगल को उपदेश

कुंथलगिरि में आचार्यश्री के समीप भट्टारक लक्ष्मीसेन जी कोल्हापुर मठ वाले थे। भट्टारक जिनसेन स्वामी भी सदा की भाँति गुरुदेव की सेवा में विद्यमान रहते थे। एक दिन पूज्य महाराज ने दोनों भट्टारकों को यह महत्त्वपूर्ण बात कही थी - "**धर्म का रक्षण करो, समाज का रक्षण करो और साधु-संतों का रक्षण करो।**"

कल्याण का त्रिविध मार्गदर्शन

आचार्यश्री ने यमसल्लेखना लेते हुए तीन बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें कही थीं - "(१) जिनेन्द्र भगवान की वाणी पर विश्वास करो। (२) स्वाध्याय का प्रचार करो। (३) जैनधर्म का प्रचार करो।" आचार्य महाराज की ये तीनों बातें इस युग की दृष्टि से रत्नत्रय सदृश हैं।

आज का युग

आज के युग में जो भी व्यक्ति लक्ष्मी का कृपापात्र बना, या जिसके पास लौकिक ज्ञान का थोड़ासा अंश आया, वह अहंकार-मूर्ति तुरन्त ही अपने को महान् ज्ञानी मानकर, जिनागम पर सन्देह करना प्रारंभ कर देता है। हमें ऐसे सत्पुरुषों के दर्शन का अनेक जगह सौभाग्य मिला करता है, जो भद्रता के नाते आगम के विषयों से स्वयं को अत्यन्त अपरिचित बताते हुए भी उन ऋषिवाक्यों को सदोष कहने में संकोच नहीं करते हैं।

स्वच्छ जीवन का पोषण

शास्त्रों से परिचित धन के लोलुपी कुछ भाई भी ऐसे लोगों की हाँ में हाँ मिलाकर वीतरागवाणी को सकलंक बनाने की दुःखद चेष्टा करते हैं। विद्वत्ता का गौरव भूलकर वे लोग द्रव्य के दास बनकर आगम की आज्ञा के लोप करने पर प्राप्त होने वाले नरक-तिर्यंच गति के दुःखों को भूलकर अपने मालिकों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का पोषण करने लगे हैं। इस स्थिति में उन श्रीमानों की भी परमार्थ दृष्टि से बड़ी दुर्गति होती है। कारण, धन का मद उनको विवेकहीन बनाकर वानर सदृश चंचल बनाता है और ये विद्वान् कहे जाने वाले उनको अपनी मोहमयी वाणी रूपी मदिरा पिलाकर, उनको निरर्गल बना देते हैं। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त आवश्यक है कि नर-जन्म और श्रावक का कुल पाने वाले व्यक्ति को वीतराग की वाणी के प्रति श्रद्धा धारण करना चाहिए।

जिनागम की श्रद्धा

समझदार आदमी जिनागम का जैसा-जैसा व्यवस्थित अभ्यास या स्वाध्याय करता जाएगा; वैसा-वैसा उसका विश्वास विशुद्ध होगा और उसकी श्रद्धा बलवती होती जाएगी। पहले लोगों की शास्त्र स्वाध्याय तथा चर्चा में रुचि रहा करती थी; किन्तु आज लोगों का झुकाव लौकिकता की ओर अधिक रहा करता है। ऐसे लोग शास्त्र को पढ़कर विषयपोषण की सामग्री खोजते फिरते हैं। समाज के अत्यन्त वृद्ध, करुणाशील, अनुभवी

तथा तपस्वी धर्मगुरु ने स्वर्गयात्रा करने के पूर्व जो उक्त बात कही है, उसके अनुसार प्रवृत्ति करना हमारे लिए हितकारी है।

स्वाध्याय प्रचार

दूसरी बात महाराज ने स्वाध्याय-प्रचार की कही थी। आज जन साधारण के हाथ में जब अल्प मूल्य में उपयोगी साहित्य मुद्रित होकर आवे, तो स्वाध्याय का प्रचार हो; लेकिन ग्रन्थ-विक्रेता महाशय जिन-वाणी को बहुमूल्य में बेचकर सुखोपभोग की सामग्री इकट्ठी करना चाहते हैं। शास्त्रों को बेचकर धनी बनने वालों की दुःखद कथा सुनाते हुए एक अनुभवी समाजनेता ने बताया था कि ऐसा करने से बहुत से अर्थलोलुप आगम विक्रेताओं पर किस-किस प्रकार से असाता का पहाड़ टूटा है, फिर भी उनकी आँखों पर पट्टी बँधी हुई है; अतः आवश्यक है कि समाज का विचारक वर्ग इस बात की व्यवस्था करे ताकि ज्ञानसंवर्धक तथा जीवन को विमल बनाने वाला जैन साहित्य कम-से-कम मूल्य में समाज तथा जनता को प्राप्त हो सके। समाज के सहृदय विद्वानों, कार्यकर्ताओं तथा दानियों को गीता प्रेस सदृश उद्योग करना चाहिए, जिससे अल्प अथवा उचित मूल्य में सुन्दर तथा मनन करने योग्य साहित्य का प्रकाशन सम्भव हो सके। यह धारणा अनुचित है कि अधिक मूल्य रखने से उसका विशेष महत्त्व होता है। यह लालची परिकल्पना ठीक नहीं है, ज्ञानप्रसार में बाधक है।

निर्लोभ दृष्टि

कई लोग बिना आगा-पीछा सोचे जघन्य श्रेणी का साहित्य छापकर उसे बाँटने में धर्मप्रभावना की कल्पना करते हैं। निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने वाले इस सुझाव से सहमत होंगे कि जो भी धर्म प्रभावना करने वाला साहित्य प्रकाश में आवे उससे स्वार्थ-पोषण का सम्बन्ध न हो। तत्त्वार्थराजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने लिखा है कि जो शास्त्र को बेचकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, वे आगे वज्रमूर्ख हुए बिना न रहेंगे। हमारा परम कर्तव्य है कि जीव को अनन्त कल्याण प्रदान करने वाली जिनवाणी को जन-जन की वाणी बनावें। शास्त्रदान का फल कैवल्य ज्योति की प्राप्ति है। आगमविरोधी साहित्य का प्रकाशन तथा दान कार्य मिथ्यात्व पोषक होने से कुगति-प्रदाता है।

धर्म प्रचार

आचार्य महाराज की तीसरी बात बहुत महत्त्वपूर्ण है - "जैनधर्म का प्रचार

करो।" आचार्य महाराज का कथन साम्प्रदायिकता के मोहवश नहीं था। वे जानते थे कि जैनधर्म की रत्नत्रयी धर्मदेशना के प्रभाव से यह जीव अनन्त संसार के सन्ताप से मुक्त होकर अविनाशी शांति प्राप्त करके सिद्ध परमात्मा बनता है, इसलिए वे समस्त जीवों के कल्याण की भावना से समाज को कहते हैं - "जैनधर्म का प्रचार करो।" इस युग में एक आत्मा ने महाराज शांतिसागरजी के रूप में रत्नत्रय की आराधना तथा उज्ज्वल तपस्या द्वारा जो वीतराग शासन की प्रभावना की, वह लाखों लोग न कर सके। बड़े-बड़े दानी या विद्वान् भी न कर सके। कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है, **"सव्व जगस्स हिदकरो धम्मो तित्थंकरहि अक्खादो"** - तीर्थंकरदेव कथित धर्म विश्वकल्याणकारी है। वर्तमान युग में भोगासक्ति के महारोग से पीड़ित विदेशी लोगों में शांतिदायी धर्मपान की तीव्र पिपासा है। वैभव प्रदर्शन के स्थान पर आज सत्साहित्य प्रकाशन तथा प्रचार की जरूरत है। सुलझे हुए प्रकाण्ड समर्थ विद्वानों को प्रचारार्थ विदेश भेजना चाहिए। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि **चरित्रहीन व्यक्ति प्रभावना का अपात्र है। मलिन जीवन क्या प्रकाश देगा?**

यदि धर्म की प्रभावना करने वाला व्यक्ति सदाचार सम्पन्न हो, सुश्रद्धा समलंकृत हो, अध्ययनशील हो, तो उसकी वाणी आज के ज्ञानपिपासु, चिंतनप्रधान जगत् के मन पर प्रभाव डाल सकती है। आज धर्मप्रभावना के लिए उद्यत प्रायः ऐसे सत्पुरुषों के दर्शन होते हैं, जो श्रावक के कर्तव्य-देवदर्शन, पूजन सदृश कार्यों से पूर्णतया विमुख रहते हैं। असंयम का मुकुट उनके मस्तक पर शोभायमान रहता है। अभक्ष्य पदार्थों के सेवन करने की तथा उसे उचित सिद्ध करने की उनमें सिद्धहस्तता रहती है। ऐसों से धर्म की प्रभावना होती है या तिरस्कार होता है, यह विवेकी व्यक्ति अपने हृदय पर हाथ रखकर विचार कर सकता है।

एक चरित्रवान् विद्वान् बताते थे कि किसी नगर में लोकशास्त्रज्ञ जैन भाइयों का सम्मेलन हुआ था। उसके अध्यक्ष बने थे, विलायत से प्रमाण-पत्र प्राप्त एक सज्जन। धर्म प्रभावना की चर्चा तथा तत्त्वचिंता से श्रान्त हो वे लोग स्वयं को स्फूर्ति प्रदान करने के लिए रात्रि में बिजली के आलोक में बैठकर भक्ष्याभक्ष्य का विचार छोड़कर आहार करते रहे। उनको देखकर समाज के भले और भोले लोगों पर यह प्रभाव पड़ा था कि ऐसे नाविकों की नौका में यदि बैठ गए, तो नाविक तथा यात्री नौका के साथ में नदी के तल में जाकर अनन्त निद्रा का आनन्द लेंगे।

जिनशासन प्रेमी का कर्तव्य

सद्धर्म की प्रभावना तथा प्रचार के लिए तत्पर व्यक्ति को रत्नत्रय समलंकृत होना चाहिए। शराब पीने वाला किस प्रकार मद्य-त्याग का उपदेश देकर लोगों को प्रभावित कर सकता है?

अतः यह आवश्यक है कि धर्म-प्रचार के योग्य इस युग में समाज वीतराग शासन की लोक में प्रतिष्ठा-वृद्धि निमित्त सत्पुरुषों का निर्माण करे। ज्ञानवान संयम को धारण करें और संयमी व्यक्ति सरस्वती के प्रति विरक्ति का भाव त्याग उसकी आराधना करें, ऐसे लोगों द्वारा ही धर्म का प्रसार होता है। **भगवती आराधना** में लिखा है, "श्रेयोर्थिना जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य-एव नियमेन हितोपदेशः" - "जिनशासन के प्रेमी कल्याण चाहने वाले सत्पुरुष को नियम रूप से हित का उपदेश देना चाहिए। स्वाध्याय रूप अंतरंग तप का एक भेद धर्मोपदेश कहा गया है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहते हैं, **"वाचना-पृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशाः"** (अ. ९ सूत्र २५) - धर्म प्रभावना तीर्थंकरपद दायिनी षोड़शभावनाओं में परिगणित है। सम्यक्त्व के आठ अंगों में प्रभावना अंग कहा गया है। मिथ्यात्व रोग से पीड़ित व्यक्तियों को अनेकान्त विद्यापान रूप अमृतपान कराने का काम सच्चरित्र, गहन अध्ययनशील तथा वक्तृत्व शक्ति समलंकृत व्यक्तियों का काम है। चरित्रहीन, मायावी, लोभी, अध्ययन शून्य व्यक्ति के कार्य को शून्य ही उपलब्ध होता है। यह धर्मप्रचार की बात श्रावक, श्रमण सब के विचार योग्य है।

त्यागियों के लिए विचारणीय

आचार्य शांतिसागर महाराज की धर्मप्रचार की बात त्यागियों के बहुत काम की है। कारण इस धर्म प्रभावना द्वारा यह जीव धर्म तीर्थंकर की पदवी तक को प्राप्त करता है। प्रायः देखने में आता है कि त्यागी लोग व्रत लेने के बाद स्वाध्याय से इस तरह विमुख रहते हैं, जिस प्रकार वे सांसारिक प्रपंच की बातों से अलग रहते हैं। उनमें से कुछ लोगों से बात करने का मौका आया, तो वे शिवभूति साधु को अपना आदर्श बताते हैं, जिन ने 'तुष-माष-भिन्न' अर्थात् छिलका और दाल भिन्न-भिन्न है इतने ज्ञान द्वारा कैवल्य को प्राप्त किया था। आश्चर्य है कि शास्त्रों से अनुचित स्वार्थ की सिद्धि की जाती है। उचित तो यह था कि उससे आत्मा के लिए प्रेरणा प्राप्त करनी थी। ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग के द्वारा यह जीव सुरेन्द्र-वंद्य जिनेन्द्र की पदवी पाता है। स्वाध्याय को महान् तथा अपूर्व तप कहा गया है।

संयमविरोधी भावना

कोई-कोई सम्यक्त्व की चर्चा के विषय में महान् प्रेम दिखाते हुए संयमी के प्रति तिरस्कार की भावना व्यक्त करते हैं और अपना आदर्श अन्तर्मुहूर्त में सिद्धि प्राप्त करनेवाले चक्रवर्ती भरत को कहते हैं। ऐसे लोग यह स्मरण रखने की कृपा नहीं करते हैं कि चक्रवर्ती भरत सदृश अल्पतम काल में सिद्धि आदिनाथ भगवान से लेकर वीर भगवान तक चौबीस तीर्थंकरों में किसी को न मिली, तब क्या हमें तीर्थंकरों से भी अपने को बड़ा और विशुद्धि का भंडार सोचना चाहिए? यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भरतेश्वर के जीव ने पूर्व जन्मों में महान् तप द्वारा अपनी आत्मा को सशक्त बनाया था।

आज के लोगों में युक्तिसंगत बात को शिरोधार्य करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वैज्ञानिक अनुसंधानों आदि के प्रभाववश प्राय: शिक्षित वर्ग के अन्त:करण पर मूढ़ता से प्रसूत तथा विज्ञान विरुद्ध धर्म की मान्यताओं का भार नहीं लादा जा सकता है। **जैनधर्म का कथन अनुभव, युक्ति तथा विज्ञान के पूर्णतया अनुरूप है। उसके तत्त्व का निरूपण करने वाले निस्पृह, सहृदय और सच्चरित्र व्यक्ति होने चाहिए और ऐसे धर्मसेवकों के सहायक विवेकी धनिक चाहिए। विद्वानों में संयम चाहिए और त्यागियों में विद्या का रस उत्पन्न होना चाहिए।** इस प्रकार की सामग्री का समागम होने पर जैनधर्म की प्रभावना हो सकती है। धीर-वीर विवेकी व्यक्ति आज भी वीर शासन का चमत्कार विज्ञजगत् को बताकर विश्वहित कर सकते हैं।

ज्ञान और चारित्र का संगम

उत्तरपुराण में **गुणभद्रस्वामी** ने लिखा है कि विद्वत्ता के साथ संयम तथा सदाचरण का समागम आवश्यक है -

> **विद्वत्त्वं सच्चरित्रत्वं मुख्यं वक्तरि लक्षणम्।**
> **अबाधितस्वरूपं वा जीवस्य ज्ञानदर्शने ॥६१-७॥**

जिस प्रकार ज्ञान तथा दर्शन जीव के अबाधित लक्षण हैं, उसी प्रकार विद्वत्ता तथा सदाचार वक्ता के मुख्य लक्षण हैं।

जैनधर्म की समृद्ध अतीत अवस्था की झाँकी देखने पर ज्ञात होता है कि उस समय प्रकाण्ड धर्माचार्य थे, जो ज्ञान के पारगामी थे और श्रेष्ठ संयम के धारक थे। ऐसे महान् आचार्यों का कार्य आज का गृहस्थ यदि करना चाहता है, तो उसमें कम से कम सज्जन मनुष्य के सामान्य गुण तो होने ही चाहिए और उसे सामान्य श्रावक के सदाचार

की परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहिए। हमारा तो विश्वास है कि संयम का शत्रु, सद्धर्म की ध्वजा की इज्जत कभी भी नहीं बढ़ा सकता। स्याद्वाद के ध्वज को हाथ में उठाने वालों को पापी, पाखंडी और प्रतारणा में प्रवीण न होकर मार्दव, सत्य तथा संयम आदि सद्गुणों का प्रगाढ़ प्रेमी होना चाहिए। आज के अनुकूल युग में हमें जैनधर्म की प्रभावना के कार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

असाधारण व्यक्तित्व

आचार्य महाराज का व्यक्तित्व असाधारण रहा है। सारा विश्व खोजने पर भी वे अलौकिक ही लगेंगे। ऐसी महान् विभूति के अनुभवों के अनुसार प्रवृत्ति करने वालों को कभी कष्ट नहीं हो सकता। एक दिन महाराज ने कहा था - ''हम इन्द्रियों का तो निग्रह कर चुके हैं। हमारा चालीस वर्ष का अनुभव है। सभी इन्द्रियाँ हमारे मन के आधीन हो गई हैं। वे हम पर अपना हुकम नहीं चलाती हैं। अब प्राणी संयम का पालन करना हमारे लिए कठिन हो गया है, कारण नेत्रों की ज्योति मन्द हो रही है; अत: सल्लेखना की शरण लेनी पड़ेगी। मुझे समाधि के लिए किसी को णमोकार तक सुनाने की जरूरत नहीं पड़ेगी।''

पुरातन सेवक की स्मृति

पहले नसलापुर के जैनबन्धु श्री हनगोंडा ने बड़ी भक्तिपूर्वक महाराज की सेवा की थी। सल्लेखना के १९ वें दिन सहसा महाराज को उसकी स्मृति आगई कि अब हनगोंड़ा ८० वर्ष के हो गए। यहाँ महाराज को उसकी याद आई, उधर वह एक दिन पूर्व ही कुंथलगिरि आ गया था। वह महाराज की सेवा में पहुँचा।

अमृत वाणी

उन्होंने परम करुणा-भाव पूर्वक उससे कहा - ''तुमने हमारी बहुत सेवा की।'' यह कहकर उसे उन्होंने आशीर्वाद दिया। वह फूट-फूटकर गुरुचरणों की ममता के कारण रोने लगा। महाराज ने सान्त्वना के ये शब्द कहे - ''अरे! यह संसार असार है। दु:ख करने में सार नहीं है।'' गुरुदेव की वाणी सुनकर वह गुरु चरणों का प्रेमी ग्रामीण कुटी के बाहर आ गया।

अभिषेक

चौरासी वर्ष की आयु में लम्बे उपवासों के होते हुए भी महाराज की स्मृति आदि पूर्ववत् शुद्ध रही है। वे भगवान का अभिषेक देख रहे थे। वह समाधि का १८ वाँ

दिन था। महाराज ने प्रबंधकों से कहा - "जब तुम लोग पूजा की बोली द्वारा हजारों रुपया वसूल करते हो, तब अभिषेक के लिए केशर, दूध, दही आदि के परिमाण में क्यों कमी करते हो?" दूसरे दिन से बड़े वैभव पूर्वक अभिषेक होने लगा। उस अभिषेक को ध्यानपूर्वक देखने पर हृदय को बड़ा संतोष मिलता था।

विचारणीय दृष्टि

"यदि वह घी, दूध, दही आदि के द्वारा किया गया जिनेन्द्र का अभिषेक आचार्यश्री की अत्यन्त विरक्त तथा यम-सल्लेखना के शिखर पर समारूढ़ आत्मा को आगम विपरीत प्रतीत होता तो वे देह की क्षीण अवस्था में क्यों बहुत समय बैठकर अभिषेक दर्शन में अपना बहुमूल्य समय देते? आचार्यश्री की प्रवृत्ति आगमविरुद्ध कभी नहीं रही है।" अत: इस कार्य में हमारा कर्तव्य है कि क्षपकराज की जीवनी से अपने कल्याण की बात ग्रहण करें और पक्ष-मोह को छोड़ें। उनके चरणों का अनुगमन करना श्रेयस्कर है। हमें आगमपंथी बनना चाहिए।

वैराग्य-भाव की पराकाष्ठा

गुरुदेव से प्रार्थना की गई थी- "महाराज! अभी आहार लेना बन्द नहीं कीजिए। चौमासा पूर्ण होने पर मुनि आर्यिका आदि आकर आपका दर्शन करेंगे। चौमासा होने से वे कोई भी गुरु दर्शन हेतु नहीं आ सकेंगे।" महाराज ने कहा - "प्राणी अकेला जन्म धारण करता है, अकेला जाता है - **'येसी एकला जासी एकला'**। कोई किसी का साथी नहीं है - **'साथी कुणि न कुणाचा'**। क्यों मैं दूसरों के लिए अपने को रोकूँ? हम किसी को न आने को कहते हैं, न जाने को कहते हैं।"

संघपति - "महाराज! जो आपके शिष्य हैं, वे अवश्य आवेंगे।"

महाराज - "उनके लिए हम अपनी आत्मा के हित में क्यों बाधा डालें?"

इसके पश्चात् महाराज के मन में कुंथलगिरि पर्वत के शिखर पर जाने का विचार आया। यह ज्ञात होते ही भट्टारक जिनसेन स्वामी ने कहा - "महाराज! आज का दिन ठीक नहीं है। आज तो अमावस्या है।"

सामान्यत: आचार्यश्री के जीवन में सभी महत्त्व के कार्य मुहूर्त आदि के विचार के साथ हुआ करते थे; किन्तु उस समय उनका मन समाधि के लिए अत्यन्त उत्सुक हो चुका था। वैराग्य का सिन्धु वेग से उद्वेलित हो रहा था। इससे वे बोल उठे - "महावीर भगवान अमावस्या को ही तो मोक्ष गए हैं। इसमें क्या है?"

भगवान की कृपा

महाराज की महावीर भगवान के प्रति अपार भक्ति रही है। जब भी कोई महत्त्व का धार्मिक कार्य उनके प्रयत्न से सम्पन्न हो जाता था, तब वे कहा करते थे - "महावीर भगवान की कृपा है, उससे ऐसी बात बन गई।" अपने कार्य को महत्त्व देना और अहंकार की बातें करना मैंने उनमें कभी नहीं पाया।

वीरवाणी

एक दिन महाराज ने कवलाना में कहा था - "आज महावीर भगवान हमारे बीच में नहीं हैं, तो क्या हुआ? उनकी वाणी तो विद्यमान है। उससे हम अपनी आत्मा का अच्छी तरह कल्याण कर सकते हैं।"

सुन्दर प्रायश्चित्त

महाराज का अनुभव और तत्त्व को देखने की दृष्टि निराली थी। एक बार महाराज बारामती में थे। वहाँ एक सम्पन्न महिला की बहुमूल्य नथ खो गई। वह हजारों रु. की थी। इससे बड़ों बड़ों पर शक हो रहा था। अन्त में खोजने पर उस महिला के पास ही वह आभूषण मिल गया। यह बात जब महाराज को ज्ञात हुई, तब महाराज ने उस महिला से कहा - "तुम्हें प्रायश्चित्त लेना चाहिए। तुमने दूसरों पर प्रमादवश दोषारोपण किया।"

उसने पूछा - "क्या प्रायश्चित्त लिया जाय?"

महाराज ने कहा - "यहाँ स्थित जिन लोगों पर तुमने दोष की कल्पना की थी, उन सबको भोजन कराओ।"

महाराज के कथनानुसार ही कार्य हुआ।

वर्धमान महाराज से मार्मिक बातचीत

शेडवाल जाते हुए वर्धमानस्वामी को आचार्यश्री के दर्शन का सौभाग्य मिला। उन्होंने आचार्य महाराज से कहा था - "महाराज! आपने तो १२ वर्ष की समाधि का नियम लिया है। मुझे आपका क्या आदेश है?"

महाराज - "तुम भी हमारी तरह नियम ले लो।"

उन्होंने १२ वर्ष की समाधि का नियम ले लिया। पश्चात् आचार्यश्री ने कहा - "तुम अब विशेष भ्रमण मत करो। जहाँ संयम ठीक पले, वहाँ काल व्यतीत करो। अब

अधिक भ्रमण ठीक नहीं है। अब बुढ़ापा बहुत आ गया है।" उस समय वर्धमान स्वामी की अवस्था लगभग ९३ या ९४ वर्ष की थी। वहाँ जब दोनों भाई अथवा परमार्थ की भाषा में दोनों गुरु शिष्य मिलते थे, तब वे एकान्त में संयम तथा धर्म की ही बातें करते थे। धन्य था उन साधुयुगल का पवित्र जीवन।

स्थायी लोककल्याण की उमङ्ग

कुंभोज बाहुबली क्षेत्र पर आचार्यश्री पहुँचे। उनके पवित्र हृदय में सहसा एक उमङ्ग आई कि इस क्षेत्र पर यदि बाहुबली भगवान की एक विशाल मूर्ति विराजमान हो जाय, तो उससे आसपास के लाखों की संख्या वाले ग्रामीण जैन कृषक वर्ग का बड़ा हित हो। महाराज ने अपना मनोगत व्यक्त किया ही था कि शीघ्र ही अर्थ का प्रबन्ध हो गया और मूर्ति की प्राप्ति के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो गया।

उस प्रसङ्ग पर आचार्य महाराज ने ये मार्मिक उद्‌गार व्यक्त किए थे - "दक्षिण में श्रमणवेलगोला को साधारण लोग कठिनता से पहुँचते हैं, इससे सर्व साधारण के हितार्थ बाहुबली क्षेत्र पर २८ फुट ऊँची बाहुबली भगवान की मूर्ति विराजमान हो। मेरी यह हार्दिक भावना थी। अब उसकी पूर्ति हो जायगी, यह सन्तोष की बात है।" महाराज की इस भावना का विशेष कारण है। महाराज मिथ्यात्वत्याग को धर्म का मूल मानते रहे हैं। भोले गरीब जैन अज्ञान के कारण लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता के फन्दे में फँस जाते हैं। इससे उन्होंने दक्षिण में विहार करते समय मिथ्यात्व के त्याग का जोरदार उपदेश दिया था। जो गृहस्थ मिथ्यात्व का त्याग करता था, वही महाराज को आहार दे सकता था। दक्षिण में लोग प्राय: स्वत: ही शुद्ध आहार पान करते हैं, इससे उनको आहार-पान के विषय में उपदेश देने की आवश्यकता नहीं थी।

महाराज लोगों को कहते थे - "कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र का आश्रय कभी मत ग्रहण करो। कुगुरु की वन्दना मत करो। उनकी बात भी मत सुनो। यह संसार बढ़ाने का कारण है। इससे बड़ा कोई पाप नहीं है। मिथ्यात्व महापाप है। झूठ, चोरी, सप्तव्यसन आदि सभी कुकृत्य पाप हैं; परन्तु मिथ्यात्व से बड़ा पाप दूसरा नहीं है। इस विशाल मूर्ति की भक्ति द्वारा साधारण जनता का अपार कल्याण होगा। सचमुच में मूर्ति कल्पवृक्ष है।"

सबकी शुभ कामना

आचार्य महाराज वास्तव में लोकोत्तर महात्मा थे। विरोधी या विपक्षी के प्रति

भी उनके मन में सद्भावना रहती थी। एक दिन उनके पास से सिवनी आते समय मैंने कहा था - "महाराज! आशीर्वाद हेतु प्रार्थना है।"

महाराज ने कहा - "तुम्हें ही क्यों, जो भी धर्म पर चलता है, उसके लिए हमारा आशीर्वाद है। जो हमारा विरोध करता है, उस पर भी हमारा प्रेम है, उसे भी हमारा आशीर्वाद है कि वह सद्बुद्धि प्राप्त कर आत्मकल्याण करे।"

विशाल हृदय

सल्लेखना के समय कुंथलगिरि में हमें महाराज के विशाल हृदय और लोकोत्तर भाव का दर्शन हुआ। जो लोग महाराज के प्रति कलुषित प्रवृत्ति वाले रहे थे वे लोग भी उन साधुराज के लिए विशेष धर्म-प्रेम के पात्र थे।

चंदन तुल्य जीवन

वे चंदन के वृक्ष के समान थे, जो सर्पराज को भी आश्रय देता है। चंदन के साथ उनका सादृश्य सार्थक है। स्वर्गारोहण के उपरान्त उनका देह (शरीर) चंदन, कपूरादि से भस्म हुआ था। उस समय समझ में आया कि चंदन के समान ये सदा सुवास देते थे। इससे चंदन की लकड़ी द्वारा ही उन सद्गुणों के पुंजरूप, आत्मा के आश्रय-स्थल शरीर को दाह योग्य समझा गया था। वे चंदन के समान ही गुण धर्म वाले थे। जिस घर में इनका जन्म हुआ था, वहाँ चंदन का वृक्ष है।

सच्चा साम्य भाव

कुंथलगिरि में महाराज के अत्यन्त निकट आने-जाने वाले कई व्यक्तियों की भयंकर विरोधियों के रूप में प्रसिद्धि रही है। उनके विरुद्ध कृत्यों से महाराज भी सुपरिचित थे। सामान्य श्रेणी का साधु ऐसे व्यक्तियों को अपने पास भी न प्रवेश देता; किन्तु धन्य हैं, वे आचार्यशिरोमणि साधुराज श्रीशांतिसागरजी कि जिन्होंने राग तथा द्वेष का त्याग करके भक्तों-अभक्तों, मित्रों-अमित्रों आदि सभी पर साम्य भाव धारण किया था। कुंथलगिरि के पर्वत पर वे साम्य भाव से समलंकृत लोकोत्तर महापुरुष लगते थे। ऐसे महापुरुषों की गंभीरता और उच्चता को राग-द्वेष के पंक में लिप्त मानव नहीं जान सकता है। वे असि या पुष्पमाला में भेद नहीं करते थे। सर्पराज को भी वे उसी स्नेह से कृतार्थ करते थे, जिस करुणा द्वारा वे भक्तजनों को उपकृत करते थे। इसका यह अर्थ नहीं है कि दुष्ट व्यक्ति तथा साधु पुरुष समान हो गए। वे स्वभावानुसार भिन्न ही रहते हैं और अपनी-अपनी कषायानुसार भावी जीवन का निर्माण करते हैं। श्रेष्ठ महात्मा राग द्वेष की मलिनता

से ऊँचे उठकर साम्य भाव रूप वीतरागता को प्राप्त करते हैं। यह वीतरागता ही मोक्ष की जननी है। वीतराग और वीतरागता के आश्रय से जीव का उत्कर्ष होता है। सराग और सरागता की समाराधना से आत्मा का पतन होता है। इससे आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है। महाराज के विषय में यह श्लोक पूर्णतया चरितार्थ होता था। कारण, वे सच्ची तथा शाश्वतिक शांतिदायिनी जननी समाधि की गोद में विराजमान थे -

साम्यं मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित्।
आशां सर्वां परित्यज्य, समाधिमहमाश्रये ॥३॥

- मैं संपूर्ण आशाओं को त्यागकर समाधि का शरण ग्रहण करता हूँ। संपूर्ण प्राणधारियों के प्रति मेरे हृदय में समता भाव है। किसी भी जीव के प्रति मेरे मन में विरोध नहीं है।

आचार्यश्री की दृष्टि

आचार्यश्री की समाधि का निकट से निरीक्षण करने पर उक्त पद्य की अक्षरशः अन्वर्थता दिखी। उनका आत्मविश्वास सामायिकपाठ के इस पद्य में निबद्ध है -

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषा बहिर्भवा भावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः ॥१०॥

"मेरी आत्मा का स्वरूप ज्ञान और दर्शन है। मेरी आत्मा अकेली है। वह अविनाशी है। इसके सिवाय बाह्य पदार्थ मुझ से भिन्न हैं। उनका मेरे साथ संयोग मात्र है। वे मेरे साथ तादात्म्य नहीं हैं।"

आगम का सार

आचार्य महाराज ने सल्लेखना के २६वें दिन के अमर संदेश में कहा ही था - **"जीव अकेला आहे, अकेला आहे! जीवाचा कोणी नाँही रे बाबा! कोणी नांही।"** -जीव अकेला है, अकेला है। जीव का कोई नहीं बाबा, कोई नहीं है। इसके सिवाय गुरुदेव के ये बोल बड़े अनमोल रहे - **"जीवाचा पक्ष घेतला तर पुद्गलाचा घात हो तो। पुद्गलाचा पक्ष घेतला तर जीवाचा घात हो तो। परन्तु मोक्षाला जाणारा जीव हा एकटा च आहे पुद्गल नांही।"**- 'जीव का पक्ष ग्रहण करने पर पुद्गल का घात होता है, पुद्गल का पक्ष ग्रहण करो, तो आत्मा का घात होता है; परन्तु मोक्ष को जाने वाला जीव अकेला ही है, पुद्गल साथ में मोक्ष नहीं जाता है।'

तपोग्नि द्वारा लोकोत्तरता की अभिवृद्धि

अग्नि में तपाया गया सुवर्ण जिस प्रकार परिशुद्ध होता है, उसी प्रकार सल्लेखना की तपोग्नि द्वारा आचार्य महाराज का जीवन सर्व प्रकार से लोकोत्तर बनता जा रहा था। दूरवर्ती लोग उस विशुद्ध जीवन की क्या कल्पना कर सकते हैं?

प्रशम मूर्ति

सल्लेखना की वेला में महाराज केवल प्रशममूर्ति दिखते थे। उस समय वे नाम निक्षेप की दृष्टि से नहीं, अन्वर्थता की अपेक्षा भी शान्ति के सिंधु शांतिसागर थे। वे पूर्णतया अलौकिक थे।

जिनेश्वर के लघु नंदन

संसार मृत्यु के नाम से घबड़ाता है और उसके भय से नीच से नीच कार्य करने को तत्पर हो जाता है; किन्तु शांतिसागर महाराज मृत्यु को चुनौती दे, उससे युद्ध करते हुए जिनेश्वर के नंदन के समान शोभायमान होते थे। उनका संकल्प था 'Death thou shalt die' - अरी मृत्यु तेरी मृत्यु होगी। समाधि में सफल संयमी एक दिन मृत्युंजय बनता ही है।

मृत्युंजय बनने का मार्ग

संसार के देव-दानव-मानव आदि प्राणियों पर मृत्युराज का आतंक है। ऐसा कौन है, जिस पर यम का शासन न हो? ऐसे अद्भुत पराक्रम वाले यम को पछाड़कर अपने प्रकृति सिद्ध अधिकार अमृतत्व को प्राप्त करने की श्रेष्ठ कला जिनेन्द्र के शासन में बताई गई है। अहिंसा की पूर्णता जब जीवन में प्रतिष्ठित हो जाती है, तब यह प्राणी अमृतत्व का अधिकारी बनता है। सुव्यवस्थित, सुसम्बद्ध तथा निर्दोष रूप से अहिंसा का प्रतिपादन तथा प्रतिपालन अनेकान्त शासन में ही हुआ है। इससे अमृतत्व की उपलब्धि का एक मात्र उपाय जिनेन्द्रदेव की वीतराग देशना का अनुकरण करना है। एकान्तवादी की अमृतत्व की कल्पना विषपान द्वारा नीरोगता पाने सदृश विवेक शून्य है।

जैन शास्त्र कहते हैं कि मृत्यु विजेता बनने के लिए मुमुक्षु को मृत्यु के भय का परित्याग कर उसे मित्र सदृश मानना चाहिए। इसी मर्म को हृदयस्थ करने के कारण आचार्य शांतिसागर महाराज ने अपने जीवन की संध्या वेला पर समाधिपूर्वक-शान्त भाव सहित प्राणों का परित्याग करके रत्नत्रय धर्म की रक्षा का सुदृढ़ संकल्प किया था। वे मृत्यु को उपकारी मित्र सोचते थे, "मृत्यु मित्र उपकारी मेरो"।

महाराज की धारणा

अन्न के द्वारा जिस देह का पोषण होता है, वह तो अनात्म रूप है। इस बात को सभी लोग जानते हैं; परन्तु इस पर विश्वास नहीं है। महाराज ने कहा था - "अनंत काला पासून जीव पुद्गल दोन्हीं मित्र आहे। हे सर्व जग जाणतो, परंतु विश्वास नांही।" उनका यह कथन भी था तथा तदनुसार उनकी दृढ़ धारणा थी कि जीव का पक्ष लेने पर पुद्गल का घात होता है और पुद्गल का पक्ष लेने पर जीव का घात होता है - "जीवाचा पक्ष घेतला तर पुद्गलाचा घात हो तो, पुद्गलाचा पक्ष घेतला तर जीवाचा घात हो तो।" इस कारण आहार परित्याग करने की ओर उनकी प्रवृत्ति हुई।

अलौकिक उपवास

दो तीन माह से तो उनकी शरीर से अत्यन्त विमुख-वृत्ति हो गई थी। १४ अगस्त सन् १९५५ के आहार के उपरान्त उन्होंने आहार को छोड़ा। दूरदर्शी तथा विवेकी साधु होने के कारण उन्होंने जलग्रहण की छूट रखी थी; किन्तु चार सितम्बर को अंतिम बार जल लेकर उससे भी संबंध छोड़ दिया था। जगत् में बहुत से लोग उपवास करते हैं और वे कभी तो फलाहार करते हैं, कभी रस ग्रहण करते हैं, कभी औषधि लेते हैं; इसके अतिरिक्त और भी प्रकार से शरीर को, मुखद्वार को छोड़कर, पोषण प्रदान करते हैं।

यहाँ इन आत्मयोगी का उपवास जगत् के लोगों से निराला था। शरीर को स्फूर्ति देने के लिए घी, तेल आदि की मालिश का पूर्ण परित्याग था। सभी प्रकार की भोज्य वस्तुएँ छूट गई थीं। एक मात्र आत्मपोषण की ओर लक्ष्य था।

आगमोक्त आचरण

उन्होंने जब भी जल लिया था, तब दिगम्बर मुनि की आहार ग्रहण करने की विधिपूर्वक ही उसे ग्रहण किया था। खड़े होकर, दूसरे का आश्रय न ले, अपने हाथ की अंजुलियों द्वारा थोड़ासा जलमात्र लिया था। चार सितम्बर को उक्त स्थिति में इन्होंने चार छह अंजुली जल लिया था; परन्तु बीस दिन से अनाहार शरीर को खड़े रखकर जल लेने की क्षमता भी उस देह में नहीं रही थी। वास्तव में तो चौरासी वर्ष के वृद्ध तपस्वी के शरीर द्वारा ऐसी साधना इतिहास की दृष्टि से भी लोकोत्तर मानी जायगी।

आत्मबल का प्रभाव

शरीररूपी गाड़ी तो पूर्णतः शक्तिशून्य हो चुकी थी; केवल आत्मा का बल शरीर को खींच रहा था। यह आत्मा का ही बल था, जो मेरी प्रार्थना पर सल्लेखना के

२६वें दिन आठ सितम्बर को सायंकाल के समय उन साधुराज ने २२ मिनट पर्यन्त लोककल्याण के लिए अपना अमर सन्देश दिया था, जिससे विश्व के प्रत्येक शांतिप्रेमी को प्रकाश प्राप्त होता है।

चिन्तापूर्ण शरीर स्थिति

ता. १३ सितम्बर को सल्लेखना का ३१ वाँ दिन था। उस दिन गुरुदेव की शरीर-स्थिति बहुत चिन्ताजनक हो गई और ऐसा लगने लगा कि अब इस आध्यात्मिक सूर्य के अस्तंगत होने में तनिक भी देर नहीं है। यह सूर्य अब क्षितिज को स्पर्श कर चुका है। भूतल पर से उसका दर्शन लोगों को नहीं होता; हाँ शैलशिखर से उस सूर्य की कुछ-कुछ ज्योति दिखाई पड़ रही है। उस समय महाराज की स्थिरता अद्भुत थी। उनकी सारी ही बातें अद्भुत रही हैं। जितने काम उस विभूति के द्वारा हुए वे विश्व को चकित ही तो करते थे।

ता. १३ को महाराज का दर्शन दुर्लभ बन गया। हजारों यात्री आए थे; किन्तु उनकी शरीर की स्थिति को देखकर जन-साधारण को दर्शन का लाभ मिलना असंभव दिखने लगा। उस दिन बाहर से आगत टेलीफोनों के उत्तर में हमने यह समाचार भेजा था - ''महाराज की प्रकृति अत्यन्त क्षीण है। दर्शन असम्भव लगता है। नाड़ी कमजोर है। भविष्य अनिश्चित है। आसपास की पंचायतों को तार या फोन से सूचना दे दीजिये, जिससे दर्शनार्थी लोग यहाँ आकर निराश न हों।'' अन्य लोगों ने भी आसपास समाचार भेज दिए कि अब यह धर्म का सूर्य शीघ्र ही लोकान्तर को प्रयाण करने को है। जैसे-जैसे समय बीतता था, वैसे-वैसे दूर-दूर के लोग अहिंसा के श्रेष्ठ आराधक के दर्शनार्थ आ रहे थे। बहुभाग तो ऐसे लोगों का था, जिनके मन में दर्शन के प्रति अवर्णनीय ममता थी। कारण, उन्होंने जीवन में एक बार भी इन लोकोत्तर साधुराज की प्रत्यक्ष वन्दना न की थी। उस समय धार्मिक जनता में अपार चिन्ता बढ़ रही थी।

अन्तिम दर्शन

कुछ बेचारे तो दुःखी हृदय से लौट गये और कुछ लोग इस आशा से कि शायद आगे दर्शन मिल जाँय, ठहरे। अन्त में सत्रह सितम्बर को सुबह महाराज के दर्शन सबको मिलेंगे, ऐसी सूचना ता. १६ की रात्रि को लोगों को मिली। इस सम्बन्ध में कोल्हापुर के भट्टारक लक्ष्मीसेन स्वामी ने महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया था, जिसके फलस्वरूप दर्शन में अन्तराय बनने वाले व्यक्तियों को सद्बुद्धि प्राप्त हुई। बड़े व्यवस्थित ढङ्ग से तथा शांतिपूर्वक

एक-एक व्यक्ति की पंक्ति बनाकर लोगों ने आचार्यश्री का दर्शन किया। महाराज तो आत्मध्यान में निमग्न रहते थे। वास्तव में ऐसा दिखता था मानों वे लेटे-लेटे सामायिक कर रहे हों। बात यथार्थ में भी यही थी।

पीठ का दर्शन

जब मैं पर्वत पर पहुँचा, तब महाराज करवट बदल चुके थे, इससे उनकी पीठ ही दिखाई पड़ी। मैंने सोचा - "सचमुच में अब हमें महाराज की पीठ ही तो दिखेगी। उन्होंने अपना मुख परलोक की ओर कर लिया है। उनकी दृष्टि आत्मा की ओर हो गई है। इस जगत् की ओर उन्होंने पीठ कर ली है।" पर्वत से लौटकर नीचे आए लोगों को बड़ा सन्तोष हो गया कि जिस दर्शन के लिए वे हजारों मील से आए, वह कामना पूर्ण हो गई। कई लोग दूर-दूर से पैदल भी आए। आने वालों में अजैन भी थे। सब को दर्शन मिल गए, इससे लोगों के मन में संतोष था; किन्तु रह-रहकर याद आती थी कि यदि ऐसी व्यवस्था पहले हो जाती, तो निराश लौटे लोगों की भी कामना पूर्ण हो सकती थी। **वास्तव में अंतराय कर्म का उदय आने पर समझदार व्यक्तियों का विवेक भी साथ नहीं देता और अनुकूल सामग्री भी प्रतिकूलता धारण करने लगती है।**

मुझे आशा नहीं थी कि अब पर्वत पर पुनः गुरुदेव के पास पहुँचने का सौभाग्य मिलेगा। मैं तो किसी-किसी भाई से कहता था - "गुरुदेव तो हृदय में विराजमान हैं, वे सदा विराजमान रहेंगे। उनके भौतिक शरीर के दर्शन न हुए तो क्या? मेरे मनोमंदिर में तो उनके चरण सदा विद्यमान हैं। उनका दर्शन तो सर्वदा हुआ ही करेगा।"

कुछ समय के पश्चात् मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि एक व्यक्ति मेरे पास आया और उसने कहा कि पर्वत पर आपको बुलाया गया है।

परलोक यात्रा के पूर्व

मैं पैंतीसवें दिन पर्वत पर लगभग तीन बजे पहुँचा और महाराज की कुटी में गया। वहाँ मुझे उन क्षपकराज के अत्यन्त निकट लगभग दो घंटे रहने का अपूर्व अवसर मिला। वे चुपचाप लेटे थे, कभी-कभी हाथों का संचालन हो जाता था। अखण्ड सन्नाटा कुटी में रहता था। महाराज की श्रेष्ठ समाधि निर्विघ्न हो, उस उद्देश्य से मैं भगवान की जाप करता हुआ, उनके शरीर को देखता था।

मेरी विचारधारा

मन में विविध प्रकार के विचार आ रहे थे। मैं सोचता था - "धन्य हैं ये

महापुरुष, धन्य है इनकी पवित्र श्रद्धा, धन्य है इनकी लोकोत्तर तपस्या।" मुझे तो ऐसा लगा कि मैं जीवित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के समीप बैठा हूँ। शरीर मात्र भी परिग्रह से पृथक्, रत्नत्रय की ज्योति से समलंकृत वह आत्मा "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि" रूप सूत्रांश का स्मरण कराती थी।

बार-बार मन में यह विचार आता था कि इस क्षीण शरीर में कितनी बलवान आत्मा है। वह मृत्यु से अलौकिक युद्ध कर रही है। वह कर्मों की निर्जरा कर रही है। इस आत्मा की दर्शन-विशुद्धता अलौकिक है। महाराज का सशक्त शरीर तो और भी दिन रहता; किन्तु जिनाज्ञानुसार इन्होंने अमर सल्लेखना ली। छोटे-छोटे जीवों के प्राण-रक्षण की प्रतिज्ञा रूप प्राणी-संयम की ये सचमुच में प्राण-पण से रक्षा कर रहे थे। ऐसी ही रत्नत्रय से समलंकृत पराक्रमी आत्मा गणधर, तीर्थंकर आदि की आध्यात्मिक पदवी को प्राप्त करती हैं।

महाकवि टेनीसन ने लिखा है -

Self-reverence, Self-knowledge, Self-Control,

These three alone lead life to Sovereign power.

-आत्म-श्रद्धा, आत्मबोध तथा आत्म-संयम ये तीनों ही जीवन को श्रेष्ठ शक्ति प्रदान करते हैं। परावलम्बन का त्यागकर वे पूर्णतया स्वाश्रयी हो गये थे। वे सच्चे आत्मयोगी थे।

महाकवि के उपर्युक्त वाक्य महाराज के जीवन में मूर्तिरूप हो गए थे।

राजा महाबल की तुलना

स्वर्ग प्रयाण करने के चौदह घंटे पूर्व जो मैंने दो घंटे पर्यंत क्षपकराज की शरीर स्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण किया था, उसकी तुलना महापुराण में वर्णित महाबल राजा की बाईस दिन पर्यंत चलने वाली समाधि से की जा सकती है। पंचम काल में महान् बल युक्त शरीर सम्पन्न ये साधुराज भी तो महाबल थे। अग्नि में जैसे वनस्पति भी जल जाती है, उसीप्रकार तपोग्नि में महाराज का शरीर भी दग्ध सदृश हो गया था। महाबल राजा का जीव दसवें भव में ऋषभनाथ तीर्थंकर हुआ है। महाबल राजा ने स्वकृत और परकृत दोनों प्रकार की परिचर्या से रहित श्रेष्ठ प्रायोपगमन संन्यास मरण का नियम लिया था।

महापुराण का चित्रण

आचार्य महाराज ने इंगिनी-मरण लिया था, उसमें दूसरे के द्वारा अपने शरीर

की परिचर्या और सेवा का परित्याग किया जाता है। स्वयं शरीर की सेवा का त्याग नहीं होता। महाकवि जिनसेन ने महाबल की मानसिक और शारीरिक अवस्था का जो चित्रण किया था, वही रूप इन साधुराज के विषय में भी था। आचार्य लिखते हैं - "कठिन तपस्या करनेवाले महाबल महाराज का शरीर तो कृश हो गया था; परन्तु पंच परमेष्ठियों के स्मरण के कारण उनके भावों की विशुद्धि बढ़ रही थी। निरन्तर उपवास करने के कारण उन महाबल के शरीर में शिथिलता अवश्य आ गई थी; किन्तु ग्रहण की गई प्रतिज्ञा में रंचमात्र भी शिथिलता नहीं आई थी। सो ठीक है, **क्योंकि प्रतिज्ञा में शिथिलता नहीं करना ही महापुरुषों का व्रत है।** रक्त, मांस आदि के क्षययुक्त तथा रसरहित शरीर शरदकालीन मेघों के समान क्षीण हो गया था। उस समय वह राजा देवों के समान रक्त, मांसादि रहित शरीर को धारण कर रहा था। राजा महाबल ने मरण का प्रारंभ करने वाले व्रत धारण किए हैं, यह देखकर उसके दोनों नेत्र मानों शोक से ही कहीं जा छिपे थे। अर्थात् नेत्र भीतर घुस गए थे। वे पहले के विलासों से विरत हो गए थे। महाबल के दोनों गालों के रक्त, मांस, चमड़ा आदि सब सूख गए थे, तथापि उन्होंने अपनी अविनाशिनी कान्ति का परित्याग नहीं किया था।"

ऐसी ही स्थिति हमने महाराज शांतिसागरजी के शरीर की देखी थी। शरीर की क्षीणता का तो क्या वर्णन किया जा सकता है? अस्थिपंजर मात्र शेष था। दीप्ति अपूर्व थी। रत्नत्रय की अंतरंग दीप्ति वृद्धिंगत हो रही थी। इसका ही संभवत: प्रभाव शरीर पर प्रगट हो रहा था।

शरीर की अवस्था

महाबल राजा का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं - "समाधि-मरण ग्रहण के पूर्व जो कंधे अत्यन्त स्थूल थे तथा बाहु-बन्ध की रगड़ से अत्यन्त कठोर थे उस समय वे अतिशय कोमलता को प्राप्त हो गए थे। उसका उदर कुछ भीतर की ओर झुक गया था और त्रिवली भी नष्ट हो गई थी, इसलिए ऐसा जान पड़ता था, मानों पवन के न चलने से तरंग रहित सूखता हुआ सरोवर ही हो। जिस प्रकार अग्नि में तपाया हुआ सुवर्ण-पाषाण अत्यन्त शुद्धि को धारण करता हुआ, अधिक प्रकाशमान होने लगता है, उसी प्रकार वह महाबल भी तप रूपी अग्नि से तृप्त हो अत्यन्त शुद्धि को धारण करता हुआ अधिक प्रकाशमान हो रहा था।"

"महाबल राजा असह्य शरीर के संताप को लीला मात्र में ही सहन कर लेता था तथा कभी किसी विपत्ति से पराजित नहीं होता था। इससे उसके साथ युद्ध करते

समय परीषह भी पराजित हुए थे। परीषह उसे अपने कर्तव्य मार्ग से च्युत नहीं कर सके थे।" आचार्य जिनसेन लिखते हैं -

त्वगस्थीभूतदेहोपि यद्व्यजेष्ट परीषहान्।
स्व-समाधि-बलाद् व्यक्तं स तदासीन्महाबलः ॥५-२४४॥

-यद्यपि उसके शरीर में चमड़ा तथा हड्डी मात्र शेष बचे थे तथापि उस महाबल ने आत्मा की समाधि के बल से अनेक परीषहों को जीत लिया था, इस कारण उस समय यह यथार्थ में "महाबल सिद्ध हुआ था।"

अपूर्व समाधि

यहाँ आचार्य महाराज की भी यही स्थिति थी। महाबल राजा ने बाईस दिन पर्यन्त सल्लेखना की थी, आचार्य महाराज की सल्लेखना तो छत्तीस दिन तक रही। मैं उनके समीप बैठा था, वह पैंतीसवाँ दिन था। हीन संहनन को धारण करने वाले व्यक्ति का यह निर्मलतापूर्वक स्वीकृत समाधिमरण युग-युग तक अद्वितीय माना जायगा। आचार्य महाराज का मन तो सिद्ध भगवान के चरणों का विशेष रूप से अनुरागी था। वह सिद्धालय में जाकर अनन्त-सिद्धों के साथ अपने स्वरूप में निमग्न होता था।

महत्त्वपूर्ण चित्रण

महाबल के विषय में **महाकवि जिनसेन** ने यह महत्त्वपूर्ण कथन किया है -

मूर्ध्नि लोकोत्तमान् सिद्धान् हृदयेऽर्हतः।
शिरः कवचमस्त्रं च स चक्रे साधुभिस्त्रिभिः ॥५-२४५॥

-उसने अपने मस्तक पर लोकोत्तम सिद्ध परमेष्ठी को, हृदय में अर्हन्त को विराजमान किया था। आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन तीन परमेष्ठियों के ध्यान रूपी टोप, कवच तथा शस्त्र धारण किए थे।

चक्षुषी परमात्मानं अद्राष्टामस्य योगतः।
अश्रौष्टां परमं मंत्रं श्रोत्रे जिह्वा तमापठत् ॥५-२४६॥

-ध्यान के द्वारा उसके दोनों नेत्र केवल परमात्मा का ही दर्शन करते थे, कान परममंत्र को ही सुनते थे और जीभ उसी महामन्त्र का पाठ करती थी।

क्षपकराज की श्रेष्ठ अवस्था

आचार्य महाराज के समीप अखंड शांति थी, जो सम्भवत: उन शांति के सागर की मानसिक स्थिति का अनुसरण करती थी। उनके पास कोई भी शब्दोच्चार नहीं हो रहा था। शरीर चेष्टारहित था। श्वासोच्छ्वास के गमनागमन कृत देह में परिवर्तन दिख रहा था। यदि यह चिह्न शेष न रहता, तो देह को चैतन्य शून्य भी कहा जा सकता था। प्रतीत होता था कि वे म्यान से जैसे तलवार भिन्न रहती है, उसी प्रकार शरीर से पृथक् अपनी आत्मा के चिन्तवन में निमग्न थे। उस आत्म-समाधि में उनको जो आनन्द की उपलब्धि हो रही थी, उसकी कल्पना आर्तध्यान, रौद्रध्यान के जाल में फँसा हुआ गृहस्थ क्या कर सकता है? महान् कुशल वीतराग योगीजन ही उस परमामृत की मधुरता को समझते हैं। जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति सूर्य के प्रकाश के विषय में कल्पना नहीं कर सकता, उसी प्रकार मोहान्ध गृहस्थ भी महाराज की अन्तरङ्ग अवस्था की कल्पना नहीं कर सकते। बाह्य सामग्री से यह अनुमान होता था कि महाराज उत्कृष्ट योग-साधना में संलग्न हैं। घबड़ाहट, वेदना आदि का लेश नहीं था।

दुर्भाग्य की बात

लगभग दो घण्टे पश्चात् मैं बाहर गया। महाराज की समस्त स्थिति बार-बार मन के आगे घूमती रहती थी। सोचा था, पश्चात् भी महाराज के पास जाकर स्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करूँगा; किन्तु ऐसा होना असम्भव था। दुर्भाग्यवश वहाँ जो लोग प्रबन्ध कर रहे थे, वे यह सोच ही नहीं सकते थे कि ऐसे बहुमूल्य क्षणों में आचार्य महाराज के पास कैसे लोगों को रहना चाहिए। महाराज की जीवन भर उज्ज्वल सेवा करने वाले बड़े-बड़े व्यक्तियों को ये मूढ़मति प्रहरी भीतर नहीं जाने देते थे। उस समय विचित्र कर्म-विपाक देखकर आश्चर्य होता था। मन बहुत दु:खी भी होता था। भवितव्यता के विरुद्ध किसका वश चलता है।

प्रभात में स्वर्ग प्रयाण

जैसे ३५ दिन बीते, ऐसे रात्रि भी व्यतीत हो गई। नभोमण्डल में सूर्य का आगमन हुआ। घड़ी में छह बजकर पचास मिनट हुए थे। चारित्र-चक्रवर्ती साधुराज ने स्वर्ग को प्रयाण किया।

कारण ?

यह समाचार सुनते ही मन में विचार आया कि रात्रि को यमराज अनेक बार

आया किन्तु उसने सोचा कि इन साधुराज के जीवन में सूर्यप्रकाश के बिना अन्धकार में कभी यात्रा नहीं की, तब इस महाप्रयाण का कार्य अन्धकार में करना इनकी चिरकालीन आदत के प्रतिकूल होगा; अत: मानों यमराज रुका रहा और नभोमण्डल में प्रभाकर को देखते ही उन्हें ले गया। वह दिन रविवार का था। अमृतसिद्धियोग था। १८ सितम्बर, भादों सुदी द्वितीया का दिन था। उस समय हस्त नक्षत्र था।

मैं तुरन्त पर्वत पर पहुँचा। कुटी में जाकर देखा। वहाँ आचार्य महाराज नहीं थे। चारित्र चक्रवर्ती गुरुदेव नहीं थे। आध्यात्मिकों के चूड़ामणि नहीं थे। धर्म के सूर्य नहीं थे। उनकी पावन आत्मा ने जिस शरीर में ८४ वर्ष निवास किया था, केवल वह पौद्गलिक शरीर था। वही कुटी थी। वह अमर ज्योति नहीं थी। हृदय में बड़ी वर्णनातीत वेदना हुई।

गहरी मनोवेदना

प्रत्येक के हृदय में गहरी पीड़ा उत्पन्न हो गई। बन्ध के मूल कारण बन्धु का यह वियोग नहीं था। अकारज बन्धु, विश्व के बन्धु आचार्य परमेष्ठी का यह चिर वियोग था। इस मनोव्यथा को कौन लिख सकता है, कह सकता है, बता सकता है। कण्ठ के रुँध जाने से रोया भी नहीं जाता था। वाणी विहीन हृदय फूट-फूटकर रोता था। आसपास की प्रकृति रोतीसी लगती थी। पर्वत का पाषाण भी रोता सा दिखता था। आज कुंथलगिरि ही नहीं, वरन् भारतवर्ष सचमुच अनाथ हो गया, उसके नाथ चले गए। उसके स्वच्छंद जीवन पर संयम की नाथ लगाने वाले सदा के लिए चले गए।

आँखों से अश्रु का प्रवाह बह चला। आज हमारी आत्मा के गुरु सचमुच में यहाँ से स्वर्ग प्रयाण कर गये। शरीर की आकृति अत्यन्त सौम्य थी, शांत थी। देखने पर ऐसा लगता था कि आचार्य शांतिसागर महाराज गहरी समाधि में लीन हैं; किन्तु वहाँ शान्तिसागर महाराज अब नहीं थे। वह राजहंस उड़कर सुरेन्द्रों का साथी बन गया था।

निधि लुट गई

समाधिमरण की सफल साधना से बड़ी जीवन में कोई निधि नहीं है। उस परीक्षा में आचार्यश्री प्रथम श्रेणी में भी प्रथम आए, इस विचार से तो मन में सन्तोष होना था; किन्तु उस समय मन विह्वल बन गया था। जीवन से भी अधिक पूज्य और मान्य धर्म की निधि लुट गई, इस मोह तथा ममतावश नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी।

उनके पद्मासन शरीर को पर्वत के उन्नत स्थल पर विराजमान कर सब लोगों को दर्शन कराया गया। उस समय दर्शकों को यही लगता था कि महाराज तो हमारे नेत्रों के

समक्ष साक्षात् बैठे हैं और पुण्य दर्शन दे रहे हैं। पर्वत पर साधुओं आदि ने दशभक्ति का पाठ पढ़ा, कुछ संस्कार हुए।

बाद में विमान में उनकी तपोमयी देह को विराजमान किया गया। यहाँ उनका मानव शरीर काष्ठ विमान में विराजमान किया गया था। परमार्थतः महाराज की आत्मा संयम-साधना के प्रसाद से स्वर्ग के श्रेष्ठ विमान में विराजमान हुई होगी।

निर्ग्रन्थ का शरीर भी मङ्गलमय

निर्ग्रन्थ साधु का प्राणरहित शरीर भी मङ्गलरूप कहा गया है; क्योंकि उस शरीर के कण-कण द्वारा जीवन भर में मं अर्थात् पाप को गलानेवाले अथवा मंग अर्थात् पुण्य को लाने वाले कार्य हुए। इससे उसे मङ्गलमय कहना युक्तिसङ्गत भी है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है -

सूरिउवज्झयसाहूदेहाणि हु दव्वमंगलयं ॥१-२०॥

-आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का शरीर द्रव्यमङ्गल है।

चरणों को प्रणामांजलि

विमान स्थित आचार्य परमेष्ठी के द्रव्यमंगल रूप शरीर के पास पहुँच चरणों को स्पर्श कर मैंने प्रणाम किया। चरणों में चन्दन लगा था। चरण की लम्बी गज रेखा स्पष्ट दृष्टिगोचर हुई। चाँदी के पुष्प भी चरणों पर रखे दिखाई दिए। मुझे अन्य लोगों के साथ उस विमान को कन्धा देने का प्रथम अवसर दिया गया।

'ॐ सिद्धाय नमः' की उच्चध्वनि

धर्मसूर्य के अस्तंगत होने से व्यथित भव्य समुदाय ॐ सिद्धाय नमः ॐ सिद्धाय नमः का उच्चस्वर से उच्चारण करता हुआ विमान के साथ बढ़ता जा रहा था। थोड़ी देर में विमान क्षेत्र के बाहर बनी हुई पांडुक शिला के पास लाया गया। पश्चात् पावन पर्वत की प्रदक्षिणा देता हुआ विमान पर्वत पर लाया गया।

महाराज का शरीर जब देखो, ध्यान मुद्रा में ही लीन दिखता था। दो बजे दिन के समय पर्वत पर मानस्तम्भ के समीपवर्ती स्थान पर विमान रखा गया। वहाँ शास्त्रानुसार शरीर के अंतिम संस्कार, लगभग पंद्रह हजार जनता के समक्ष, कोल्हापुर जैन मठ के भट्टारक श्रीलक्ष्मीसेन स्वामी ने कराए। आचार्यश्री के पावन शरीर के पृष्ठ भाग का दूध, दही आदि के घड़ों से सेठ गोविन्द जी रावजी दोसी के परिवार घराने द्वारा अभिषेक हुआ।

अंतिम संस्कार

पृष्ठ भाग का ही अभिषेक क्यों किया जाय, इस विषय में आचार्यश्री ने पहले मुझे बताया था कि यदि सामने के भाग का भी अभिषेक कराया जाय और कदाचित् क्षपक के शरीर में सूक्ष्म रूप से प्राण रहे आवें, तो उसकी प्रतिज्ञा भंग होने का प्रसंग आ जायगा। (इससे पिछले भाग का ही अभिषेक करना चाहिए।)

प्रदीप्त अग्नि

अभिषेक होते ही चंदन, नारियल की गरी, कपूरादि द्रव्यों से पद्मासन बैठे हुए उस शरीर को ढाँकने का कार्य शुरू हुआ। देखते-देखते आचार्यश्री का मुखमंडल भर जो दृष्टिगोचर होता था कुछ क्षण बाद वह भी उस दाह्य द्रव्य में दब गया। विशेष मंत्र से परिशुद्ध की गई अग्नि के द्वारा शरीर का ४ बजे शाम को दाह संस्कार प्रारंभ हुआ।[१] कपूरादि सामग्री को पाकर अग्नि को वृद्धिगत होते देर न लगी। अग्नि पवन का सहयोग पाकर सभी दिग्दिगन्त को पवित्र बना रही थी। देह का दाह संस्कार हो रहा था।

हमें भी समाधिलाभ हो

उसे देखकर लोगों के हृदय में विविध भाव उत्पन्न हो रहे थे। ज्ञानी-जन सोचते थे - हे साधुराज! जैसी तुम्हारी सफल संयम पूर्ण जीवन यात्रा हुई और श्रेष्ठ समाधि रूप अमृत तुमने प्राप्त किया, ऐसा ही जिनेन्द्रदेव के प्रसाद से हमें भी अपना जन्म कृतार्थ करने का अवसर प्राप्त हो।

जीवन की स्मृति

धीरे-धीरे लोग पर्वत से नीचे उतर आए। रात्रि को लगभग ८ बजे पर्वत पर हम पुनः पहुँचे। अग्नि वेग से जल रही थी। हम वहीं लगभग दो घंटे बैठे। उठने का मन ही नहीं होता था। आचार्यश्री के जीवन की पुण्य घटनाओं तथा सत्संगों की बार-बार याद आती थी। मनमें गहरी वेदना उत्पन्न होती थी कि इस वर्ष का (सन् १९५५ का) पर्यूषण पर्व इन महामानव के समीप बिताने का मौका ही न आ पाया। अग्नि की लपटें मेरी ओर आती थीं। मैं उनको देखकर चकित था तथा विविध विचारों में निमग्न हो जाता था।

---

१. आचार्य महाराज के शरीर को भस्मीभूत करने में इस प्रकार सामग्री लगी थी - पच्चीस मन चंदन, डेढ़ मन घी, तीस मन नारियल तथा तीन बोरा कपूर आदि।
गांधी जी के शरीरदाह में पन्द्रह मन चंदन, दो मन धूप, चार मन घी, एक मन नारियल तथा पन्द्रह सेर कपूर लगा था।

सांत्वना के विचार

अब महाराज के दर्शन और सत्संग का सौभाग्य सदा के लिए समाप्त हो गया। इस कल्पना से अंतःकरण में असह्य पीड़ा होती थी। उस समय महापुराण का यह कथन याद आता था कि आदिनाथ भगवान के मोक्ष होने पर तत्त्वज्ञानी भरत शोक-विह्वल हो रहे थे। उनको दुःखी देखकर वृषभसेन गणधर ने सांत्वना देते हुए कहा था - "अरे भरत! निर्वाण-कल्याणक होना आनंद की बात है। उसमें शोक की कल्पना ठीक नहीं है, "तोषे विषादः कुतः।' पहले उनका शरीर नेत्रगोचर होता था, अब वह भीतरी ज्ञानचक्षुओं द्वारा देखा जा सकता है। तुम उनका सदा दर्शन कर सकते हो।

प्रागक्षिगोचरः संप्रति चेतसि वर्तते भगवान्।
तत्र कः शोकः पश्यैनं तत्र सर्वदा॥

इसी प्रकार गुरुदेव की ३६ दिन की लम्बी समाधि श्रेष्ठ रीति से पूर्ण हो गई। यह महान् संतोष की बात माननी चाहिए। शोक की बात सोचना अयोग्य है। ऐसे विचार आने पर मनोवेदना कम होती थी।

शिष्यों को संदेश

स्वर्गयात्रा के पूर्व आचार्यश्री ने अपने प्रमुख शिष्यों को यह संदेशा दिया था कि हमारे जाने पर शोक मत करना और आर्तध्यान नहीं करना।

आचार्य महाराज का अमर संदेश तो हमें निर्वाण-प्राप्ति के पूर्व तक का कर्तव्य-पथ बता गया है। उन्होंने समाज के लिए जो हितकारी बात कही थी, वह प्रत्येक भव्य के काम की वस्तु है। उसका मूल्य त्रिलोक भर के पदार्थ नहीं हैं। उसके द्वारा सभी श्रेष्ठ ऋद्धि, सिद्धि, वैभव आदि मिलते हैं। वे वाक्य थे - "सम्यक्त्व धारण करो।" वैसे उनका सारा जीवन ही हमारे लिए, आपके लिए, विश्व के लिए संदेश है।

अमर ज्योति के विषय में आगम

आचार्यश्री की आत्मा का क्या हुआ यह बात भौतिक नेत्रों से अगोचर होती हुई भी आगम चक्षु के द्वारा देखी जा सकती है। जिनवाणी का कथन है कि इस शरीर को छोड़कर जीव तीनसमय के भीतर दूसरे स्थान में पहुँचकर नवीन शरीर निर्माण के योग्य सामग्री को ग्रहण करने लगता है।

गोम्मटसार में लिखा है - "जिसने देवायु का बंध किया है, वही जीव अणुव्रत

तथा महाव्रत को धारण करता है।"[१] अतः महाव्रती आचार्य महाराज का स्वर्ग में पहुँचना पूर्णतया सुसंगत बात है। तिलोयपण्णत्ति के निम्नलिखित कथन को ध्यान पूर्वक पढ़ने से यह विचार चित्त में उत्पन्न होता है कि संभवतः आचार्य महाराज देवताओं के ऋषि लौकान्तिक हुए होंगे। उन्होंने निर्दोष रीति से जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था। उनका सम्पूर्ण जीवन वैराग्य रस से भरा हुआ था।

लौकान्तिक कौन होता है ?

तिलोयपण्णत्ति का कथन इस प्रकार है -

- जो सम्यग्दृष्टि श्रमण, स्तुति और निन्दा में, सुख और दुःख में, बंधु और रिपु में समान है, वही लौकान्तिक होता है।

- जो देह के विषय में निरपेक्ष, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निरारंभ और निर्दोष हैं, वे ही श्रेष्ठ श्रमण लौकान्तिक होते हैं।

- जो श्रमण संयोग और वियोग में, लाभ और अलाभ में तथा जीवित और मरण में समदृष्टि होते हैं, वे ही लौकान्तिक होते हैं।

- संयम, समिति, ध्यान एवं समाधि के विषय में जो निरन्तर उद्यत रहते हैं तथा तीव्र तपश्चरण धारण करते हैं, वे श्रमण लौकान्तिक होते हैं।

- पंच महाव्रत सहित पंच-समितियों का चिरकाल तक आचरण करने वाले और पाँचों इन्द्रिय-विषयों से विरक्त ऋषि लौकान्तिक होते हैं।

(तिलोयपण्णत्ति गाथा ६४७ से ६५१ तक - आठवाँ अधिकार पृ. ८६३ भाग २)

अनुमान

आचार्यश्री के चरणों में बहुत समय व्यतीत करने के कारण तथा उनकी सर्व प्रकार की चेष्टाओं को सूक्ष्म रीति से निरीक्षण करने के फलस्वरूप ऐसा मानना उचित प्रतीत होता है कि वे लौकान्तिक देव हुए होंगे। वे अलौकिक पुरुषरत्न थे, यह उनकी जीवनी से ज्ञात होता है। माता के उदर में जब ये महापुरुष आए थे, तब सत्यवती माता के हृदय में १०८ सहस्रदल युक्त कमलों से जिनेन्द्र भगवान की वैभव सहित पूजा करने की मनोकामना उत्पन्न हुई थी। आज के जड़वाद तथा विषयलोलुपता के युग में उन्होंने

---

१. चित्तारिवि खेत्ताइं आउगबंधेण होदि सम्मत्त।
अणुवद-महव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मुत्त॥ - गोम्मटसार की ६५१॥

रत्नत्रय धर्म की प्रभावना की है और वर्धमान भगवान के शासन को वर्धमान बनाया है, उससे तो ये भाविजिनेश्वर या जिनेश्वर के नन्दन सदृश लगते रहे हैं। हमारी तो यह धारणा है कि लौकान्तिक देवर्षि की अवधि पूर्ण होने के पश्चात् ये धर्म तीर्थंकर होंगे। कुन्दकुन्द ऋषिराज की वाणी महत्त्वपूर्ण है -

अज्जवि तिरयण सुद्धा अप्पा झाए वि लहइ इंदत्तं।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुर्दि जंति॥

- मोक्ष पाहुड़ ७७

आज के पंचम काल में रत्नत्रय की निर्दोष आराधना करने वाली आत्माएँ इंद्रपद अथवा लौकांतिक देव पना पाकर वहां से चयकर निर्वाण को पाती हैं।

भट्टारक जिनसेन स्वामी का स्वप्न

कोल्हापुर के भट्टारक जिनसेनजी को ७-७-५३ को प्रभात में स्वप्न आया था कि आचार्य शांतिसागर महाराज तीसरे भव में तीर्थंकर होंगे। भट्टारक महाराज की बात सुनकर आचार्य महाराज ने भी कहा था कि "१२ वर्षपूर्व हमें भी ऐसा ही स्वप्न आया था कि तुम पुष्करार्ध द्वीप में तीर्थंकर पद धारण करोगे।"

जैनागम में वर्णित अष्टांग महानिमित्त ज्ञान में स्वप्न ज्ञान का समावेश है। स्वप्न द्वारा भविष्य का बोध होता है। जो स्वप्न वातादि विकारों से उद्‌भूत होते हैं, उनकी सत्यता सदा शंकास्पद रहती है। जिनेन्द्र की जननी गर्भ में तीर्थंकर के अवतरण के पूर्व मंगलमय सोलह स्वप्न देखती है। पाश्चात्य लोग भी इस विषय को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। १४ अप्रैल सन् १८६५ को अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहमलिंकन ने उच्च सरकारी पदाधिकारियों की बैठक बुलाकर उनसे कहा कि उन्हें कोई महत्त्वपूर्ण खबर अवश्य ही सुनने को मिलेगी। उन्होंने बताया कि उन्होंने स्वप्न देखा कि वे ऐसी नाव में बैठे हैं, जिसमें पतवार नहीं है। इस स्वप्न की बात बताने के ५ घंटे बाद ही "जान विल्डीज वूथ की बन्दूक से उनकी हत्या हो गई।"(नवभारत टाइम्स बम्बई, २० नवम्बर १९५५ पृ. ८)

संभावित शंका

यह शंका की जा सकती है कि केवली, श्रुतकेवली के चरण-मूल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ होता है, तब आज उक्त दोनों विभूतियों के अभाव में किस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकेगा?

समाधान

यथार्थ में शंका उचित है; किन्तु इस भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध न करके लौकान्तिक पदवी को छोड़कर पुन: नर पदवी धारण करके तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। विदेह में तीर्थंकर पंचकल्याणक वाले होते हैं, तीन कल्याणक वाले भी होते हैं, दो कल्याणक वाले भी होते हैं। गृहस्थावस्था में यदि तीर्थंकर प्रकृति का बंध किसी चरम शरीरी आत्मा ने किया, तो उनके तीन कल्याणक होंगे। यदि निग्रंथ ने बंध किया, तो ज्ञान और मोक्ष रूप दो ही, कल्याणक हो सकेंगे।

इस अपेक्षा से सोचा जाय, तो वे सभी भाग्यशाली हो जाते हैं, जिन्होंने ऐसी प्रवर्धमान पुण्यशाली आत्मा के दर्शनादि का लाभ लिया हो। सबसे बड़ा भाग्य तो उनका है, जो गुरुदेव के उपदेशानुसार पुण्य जीवन व्यतीत करते हैं।

देव पर्याय की कथा

औदारिक शरीर परित्याग के अंतर्मुहूर्त के भीतर ही उनका वैक्रियिक शरीर परिपूर्ण हो गया और वे उपपाद शय्या से उठ गए। लगभग ७ बजकर ३५ मिनिट पर उनका दिव्य शरीर परिपूर्ण हो गया। उस समय उन्होंने विचार किया होगा कि यह आनंद और वैभव की सामग्री यहाँ कैसे आ गई? अवधिज्ञान से उनको ज्ञात हुआ होगा कि मैंने कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र पर यम सल्लेखना पूर्वक अपने शरीर का संयम सहित त्याग किया, उससे मुझे यह देव पर्याय प्राप्त हुई है। इस ज्ञान के पश्चात् वे आनंदपूर्ण वाद्यध्वनि तथा जयघोष सुनते हुए सरोवर में स्नान करते हैं और आनंदपूर्वक जिन भगवान की अकृत्रिम रत्नमय प्रतिमाओं के दर्शन-पूजन अभिषेकादि में मग्न हो जाते हैं। यह बात स्मरणीय है कि जिन प्रतिमा को स्थापना जिन कहते हैं। समवसरण के भगवान भाव जिन हैं। स्थापना जिन का अभिषेक होता है। आगम में कहा है -

णाम जिणा जिणणामा ठवणजिणा तहय ताह पडिमाओ।
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था॥

- अष्टपाहुड टीका पृ. ९५

जिनेन्द्र का नाम नामजिन, उनकी प्रतिमा स्थापना जिन, जिनेन्द्र होने वाले द्रव्य जिन तथा समवशरणस्थ भाव जिन हैं।

आगम का कथन

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि "वे देव तीन छत्र, सिंहासन, भामंडल और

चामरादि से सुन्दर जिन प्रतिमाओं के आगे जय जय शब्द को करते हैं। उक्त देव भक्तियुक्त मन से सहित होकर सैकड़ों स्तुतियों के द्वारा जिनेन्द्र प्रतिमाओं की स्तुति करके पश्चात् उनका अभिषेक प्रारंभ करते हैं।''

(आठवाँ अधिकार भाग २-५८२ से ५८४ तक)

स्वयं अभिषेक करना

''उक्त देव क्षीर समुद्र के जल से पूर्ण एक हजार आठ सुवर्ण कलशों के द्वारा महाविभूति के साथ जिनाभिषेक करते हैं।'' अब तक महाराज प्रति दिन जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक देखा करते थे। आज वे सुरराज बनकर रत्नबिम्बों का स्वयं अभिषेक कर रहे होंगे, ऐसा प्रतीत होता था। **तिलोयपण्णत्ति** के ये शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं –

''सम्यग्दृष्टि देव कर्मक्षय के निमित्त सदा मन में अतिशय भक्ति से सहित होकर जिनेन्द्रों की पूजा करते हैं।'' ५८८ ॥ यहाँ ''कम्मक्खवणनिमित्तं'' शब्द ध्यान देने योग्य है।

''मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों के संबोधन से ये कुलदेवता हैं, ऐसा मानकर नित्य जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।''५८९ ॥

आगम वाणी

महापुराण में कहा है - राजा महाबल की समाधि के उपरान्त ललितांग देव रूप में उत्पत्ति हुई थी। इस कथन के प्रकाश में आचार्य महाराज के विषय में हम अपने मनोमंदिर में कल्पना का भव्य चित्र खींच सकते हैं - ''श्रीप्रभ विमान में उपपाद शय्या पर उस देव का जन्म हुआ। मेघरहित आकाश में श्वेत बादलों सहित बिजली की तरह उपपाद शय्या पर शीघ्र ही वैक्रियिक शरीर शोभायमान होने लगा। अंतर्मुहूर्त में ही यौवन-पूर्ण, सुलक्षण-संपन्न तरुण के समान वे उपपाद शय्या से उठे। दैदीप्यमान कुंडल, केयूर, मुकुट, बाजूबंद आदि आभूषण पहिने हुए, माला सहित, उत्तम वस्त्रों को धारण कर वे शोभायमान हो रहे थे। उनके नेत्र टिमकार रहित थे। उस समय कल्पवृक्षों द्वारा पुष्पों की स्वयमेव वर्षा हो रही थी। दुंदुभि ध्वनि हो रही थी। सुर समुदाय आकर प्रणाम कर रहा था। उस समय वह देव चकित हो सोचता है - मैं कौन हूँ, ये सब कौन हैं? मैं कहाँ से आया? यह शय्या तल किसका है?'' तत्काल भवप्रत्यय अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। उससे ज्ञात होता है -:

अये तपः फलं दिव्यम् अयं स्वर्गो महाद्युतिः।
इमे देवास्समुत्सर्पद-देहोद्योताः प्रणामिनः ॥५-२६७॥

अहो! यह हमारे तप का मनोहर फल है। यह दैदीप्यमान स्थल स्वर्ग है। ये प्रणाम करते हुए दैदीप्यमान शरीर वाले देवता लोग हैं।

इतने में देवतागण स्तुति करते हुए कहते हैं -

प्रतीच्छ प्रथमं नाथ सज्जं मज्जन-मंगलम्।
ततः पूजा जिनेन्द्राणां कुरु पुण्यानुबंधिनीम्॥५-२७३॥

-हे नाथ! स्नान की सामग्री तैयार है। पहले मंगल-स्नान कीजिए। इसके अनंतर पुण्यानुबंधिनी जिनेन्द्र भगवान की पूजा कीजिए।

इसी प्रकार का परिणमन उस तपस्वी जीव का देव पर्याय में हुआ, जिसका छह बजकर पचास मिनिट पर १८ सितम्बर सन् १९५५ के प्रभात में कुंथलगिरि पर देहान्त हुआ था, जिसकी आचार्य शांतिसागर महाराज कहकर लोग पूजा करते थे।

इस जिनेन्द्र-पूजा के पश्चात् वे अपने प्रासाद में पहुँचकर सिंहासन पर शोभायमान हुए होंगे।[१]

यह भी संभव है कि वे शीघ्र ही देवपद-प्राप्ति के उपरान्त पूर्व संस्कारों की प्रेरणा से विदेह क्षेत्र में गए हों और वहाँ देवों के कोठों में बैठकर देवाधिदेव सीमंधर भगवान के समवसरण में उन्होंने दिव्यध्वनि सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया हो। अब वे धर्मवृक्ष के अमृत तुल्य मधुर फलों का रसास्वादन कर रहे हैं। हमारी भौतिक दृष्टि से आचार्य महाराज नहीं हैं, उनका शरीर अग्नि में भस्म हो गया; किन्तु आगम के प्रकाश से विदित होता है कि उनकी आत्मा अमर लोक में है और आगे वे तपश्चर्या द्वारा 'जरामरणोज्झित' सिद्ध भगवान बनेंगे।

स्वर्ग का आनन्द

आचार्यश्री पहले लोगों को व्रत प्रदान करते समय कभी-कभी कहते थे - ''इससे तुमको स्वर्ग में अवर्णनीय आनन्द मिलेगा। सभी इन्द्रियों को सुखप्रद सामग्री

---

१. आणंदतूर-जयथुदिरवेण जम्मं वि बुज्झ स पत्तं।
दट्ठूण सपरिवारं गयजम्मं ओहिणा णत्वा॥५५१॥
धम्म पससिदूण णहादूण दहे भिसेयलंकारं।
लद्धा जिणाभिसेयं पूजं कुव्वंति सद्दिट्ठी॥५५२॥

-त्रिलोकसार वैमानिक लोकाधिकार।

स्वर्ग में मिलती है।'' वह अब दिव्यलोक में उनके अनुभवगोचर हो गई। पूज्यपाद स्वामी ने स्वर्ग के सुख को अनुपम कहते हुए बताया है कि वह 'अनातंकम्' - आतंक रहित है और 'दीर्घकालोपलालितम्' - सुदीर्घकाल पर्यन्त प्राप्त होता है। सागरों पर्यन्त सुख की धारा चली जाती है। स्वर्ग प्राप्त करने वाले जीव को दुषमा काल के शेष साढ़े अठारह हजार वर्ष तथा दुषमा-दुषमा काल के इक्कीस हजार वर्ष पर्यन्त कष्टों को नहीं भोगना पड़ेगा। उत्सर्पिणी के भी प्रथम द्वितीय कालों की व्यथाओं से वे बचे रहते हैं। दुषमा सुषमा नाम के उत्सर्पिणी के तीसरे काल में जन्म धारण करके वे निर्वाण को प्राप्त कर सकते हैं। कारण, उस काल में वज्रवृषभ संहनन की प्राप्ति हो जाती है। अवसर्पिणी का चौथा और उत्सर्पिणी का तीसरा काल समान रहते हैं। विदेह में तो सदा चौथा काल रहता है।

लौकांतिक

लौकान्तिक देवों की आयु आठ सागर प्रमाण होती है। उनकी ऊँचाई पंचहस्त प्रमाण कही गई है। उनकी शुक्ल लेश्या होती है। इनकी संख्या सब मिलाकर केवल चार लाख सात हजार आठ सौ छह (४,०७,८०६) है। इनका जीवन अलौकिक रहता है। ये देवांगनाओं के सम्पर्क से रहित अपूर्व आनन्द का रसास्वादन करते हैं। ग्यारह अङ्ग तथा चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता होते हैं। स्वर्ग के वैभव में भी इनकी ज्ञान-ज्योति बराबर प्रकाश देती रहती है। इससे ये अपने दिव्यसुखों को अनित्य ही जानते हैं, मानते हैं, अनुभव करते हैं। धर्म के सिवाय अन्य शरण नहीं है, ऐसी अशरण भावना को भी सदा स्मरण करते हैं। विरक्त स्वभाव के कारण ही इनका मन जिनेन्द्र के रागवर्धक गर्भ तथा जन्मकल्याणकों में भाग लेने को उत्साहित नहीं होता। जिनेन्द्र के मन में वैराग्य का बसन्त आते समय ये आकर कोकिल सदृश मधुर कण्ठ द्वारा वैराग्यपोषक ध्वनि आरम्भ करते हैं। ऊँचे स्वर्ग के देवताओं के द्वारा ये वन्दनीय बनते हैं।

वैक्रियिक शरीर

अब आचार्यश्री का दिव्य शरीर हो गया। वह वैक्रियिक शरीर कहलाता है। वह अत्यन्त सुन्दर सुवास सम्पन्न होता है। उसका विविध रूप से परिणमन किया जा सकता है। वह दीप्तिमान होता है। उस शरीर का वर्णन इस प्रकार आगम में किया गया है - "देवों के शरीर में न नख, केश और रोम होते हैं, न चमड़ा और मांस होता है, न रुधिर और चर्बी होती है, न हड्डियाँ होती हैं, न मूत्र और न मल होता है और न नसें ही होती हैं।" ॥५६८॥

संचित कर्म के प्रभाव से अतिशयित वैक्रियिक रूप दिव्यबंध होने के कारण देवों के शरीर में वर्ण, रस, गंध और स्पर्श बाधा रूप नहीं होते। - ॥५६९॥ (तिलोयपण्णत्ति भाग २, अध्याय ८)

इस वैक्रियिक शरीर के सम्बन्ध में जस्टिस जुगमंदर लाल जैनी बार-एट-ला के शब्द ध्यान देने योग्य हैं -

The gods have Vaikriyaka body which they can change at will. Milton rightly mentions this as the body of the angels in his Paradise Lost. The Christian, Mohammedan and other systems of religion hold a similar view. Cabalistic and Mystic systems of ancient Greece, Egypt, Assyria and Babylon also had some sort of faith in this phenomenon of changeable bodies. Popular magic, even of the black kind, connected with wizard's lore and witch-craft, also recognised that men can change themselves into animals etc. Fables and fictions in the East and the West, all the world over are familiar with this theory of physical trans-figuration. The famous Fasana-e-ajayaba (The wonderful tale) of urdu literature richly illustrates this, as the Prince Jane-slam could change himself into monkey and back to his human form again.

Thus the changeability of form is a well-known phenomenon. The gods in Jainism have all a body, which they can change at will, it is their Vaikriyaka body. They possess it universally like their antipodean analogues to the denizens of the nether world, the embodied mundane souls of the hell. The body has no flesh, blood and bones and there are no filthy excretions from it. It is very lustrous and bright. It may be compared to a cloud shot with the shining glory of a rising or setting sun now looking like one living being now changing itself into another form."

The Bright ones in Jainism, page 3

आठ सागर की स्थिति वाले देवों का आहार आठ हजार वर्षों के बाद होता है। आहार के समय उनके कण्ठ में अमृत झर जाता है, उससे उनको सर्व प्रकार की शांति और आनन्द प्राप्त होता है। इस विषय में सर्वज्ञ भगवान ने यह बात कही है - "जो देव

जितने सागरोपम काल तक जीवित रहता है, उसके उतने ही हजार वर्षों में आहार होता है।'' (ति.प. ५५२-८, ५. ८५२)

उत्तर शरीर सहित बहिर्गमन

इनका मूल शरीर स्वर्ग में रहता है। इनके शरीर की विक्रिया बाहर जाती है। आगम में कहा है - ''गर्भ और जन्मादि कल्याणकों में देवों के उत्तर शरीर जाते हैं। उनके मूल शरीर सुखपूर्वक जन्मस्थानों में चेष्टा करते हैं - ''**जम्मणट्ठाणेसु सुहं मूल-सरीराणि चेट्ठंति।**'' (ति. प. ५९५-८, ५, ८५७)

लौकान्तिकों की विशेषता

अन्य देव तो आमोद, प्रमोद, क्रीड़ा आदि द्वारा अपना सागरों का समय पूर्ण करते हैं।

लौकान्तिकों के बारे में **तिलोयपण्णत्ति** में लिखा है - ''देवर्षिनाम वाले वे देव सब देवों से अर्चनीय, भक्ति में तल्लीन और सर्वकाल स्वाध्याय में निमग्न रहते हैं - ''भत्तिपसत्ता सज्झायसाधीणा सव्वकालेसु'' (६४५)

त्रिलोकसार में **नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती** ने लिखा है -

ते हीणाहियरहिया, विसयविरत्ता य देवरिसिणामा।
अणुपिक्ख दत्तचित्ता, सेससुराणच्चणिजाहु ।।५३९।।

- वे देवताओं के ऋषि हीनाधिकता रहित, विषयों से विरक्त, अनुप्रेक्षाओं की भावना में लीन तथा शेष देवताओं के द्वारा वंदनीय होते हैं। वे देवर्षि यही चाहा करते हैं कि कब उनको इस स्वर्ग के मनोज्ञ कारागार से मुक्ति मिले और वे नरपर्याय प्राप्त कर पुनः अविनाशी मुक्ति की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या के पथ में प्रवृत्त हों।

निर्विकल्प समाधिजन्य आनंद का अभाव

स्वर्ग में सब सुख हैं; किन्तु वहाँ संयमानुगामिनी निर्विकल्प समाधिजन्य शान्ति नहीं है। यह बात आज शांतिसागर महाराज की आत्मा के अनुभव में आती होगी। आत्मोत्थ आनन्द की समता इंद्रियजनित सुख कभी नहीं कर सकता है। एक आनन्द स्वाभाविकता की ज्योति धारण करता है और दूसरा इंद्रियजनित सुख विभाव परिणतिरूप है। इस कारण सम्यग्दृष्टि लोग स्वर्ग के सुखों में भी अनासक्त रहते हैं। **पंचाध्यायी** में लिखा है -

शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम्।
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी॥

-महान् पुण्यशाली इंद्र, चक्रवर्ती आदि का सुख तृष्णा का बीज है। उनके सच्चे सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

भक्तों की आकांक्षा

आचार्यश्री की यमसमाधि के समय एक भक्त ने महाराज से कहा था - "आप देव, देवेन्द्र होंगे। वहाँ से यहाँ कभी आकर हम लोगों को अवश्य संबोधने की कृपा कीजिए।" इस प्रलाप को सुनकर महाराज चुप रहे थे। इस काल में स्वर्ग से कल्पवासी देव यहाँ नहीं आते हैं, ऐसा शास्त्र में कहा गया है; अतः आगम के प्रकाश में उक्त प्रार्थना वस्तुतः सारशून्य ही है।

पदचिह्न

एक बात और ध्यान देने की है कि वे अपना पावन उपदेश दे गए। अपनी जीवनी द्वारा श्रेष्ठ रत्नत्रय धर्म का पालन किस प्रकार हो सकता है, यह बता गए। बस, उनके पद-चिह्नों को देखकर जो जीव आगे बढ़ेगा, वह शान्ति, समृद्धि, वैभव के साथ शिवपुरी का नागरिक भी बन सकेगा। संसार के दुःखों से संत्रस्त भव्यात्माओं की वह वाणी चिरस्मरणीय है "बाबा नो! भीऊ नका। आत्म चिंतन करो - वत्स! डर मत। आत्मा का चिंतन कर।"

सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्यश्री नेमिचंद्र के ये शब्द चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश उज्ज्वल आत्माओं में सुघटित होते हैं -

विविह-तव-रयण-भूसा णाणसुई सीलवत्थ-सोम्मंगा।
जे तेसिंमेव वस्सा सुरलच्छी सिद्धिलच्छीय॥५५५ - (त्रिलोकसार)

-जो विविध तप रत्न भूषण धारी, पवित्र ज्ञान वाले, शील रूप वस्त्र से सौम्य शरीर वाले होते हैं, सुरलक्ष्मी तथा सिद्धिलक्ष्मी भी उनके ही आधीन रहती है।

सल्लेखना का संक्षिप्त विवरण

आचार्य महाराज ने कुंथलगिरि में १४ अगस्त रविवार को नियम-सल्लेखना का निश्चय व्यक्त किया था। उन्होंने यह सल्लेखना आठ दिन के लिए ली थी। ता. १७ दिन बुधवार को उन्होंने यम सल्लेखना रूप अपनी प्रतिज्ञा कर ली। उस दिन अमावस्या

थी। उसी दिन वे पहाड़ पर आ गए। वहाँ उन्होंने ता. २० अगस्त को केवल जल लिया था। ता. २३ को पुन: जल ग्रहण किया था। ता. २४ को उन्होंने जल नहीं लिया। उन्होंने ता. २५ से ता. २८ पर्यन्त चार दिन लगातार जल लिया था। ता. २८ रविवार को ब्र. भरमप्पा को क्षुल्लक दीक्षा दी। पश्चात् २९, ३०, ३१ तथा १ सितम्बर, इन चार दिनों में उन्होंने जल नहीं लिया। पश्चात् २, ३ तथा ४ तारीख को उन्होंने जल लिया। वही उनका अंतिम जलग्रहण का दिन था। उन्होंने रविवार १४ अगस्त से आहार त्यागकर केवल जलग्रहण करने की छूट रखी थी। ४ सितम्बर का रविवार आया। उस दिन जल लेकर उन्होंने जल भी छोड़ दिया और एक रविवार को छोड़कर दूसरे रविवार को ८४ वर्ष से सुरक्षित शरीर को भी छोड़कर स्वर्ग को प्रयाण किया था।

मृत्यु से युद्ध की तैयारी

महाराज का जीवन बड़ा व्यवस्थित और नियमित रहा है। यम-समाधि के योग्य अपने मन को बनाने के लिए उन्होंने खूब तैयारी की थी। लोणंद से जब आचार्य महाराज फलटण आए, तब उन्होंने जीवन भर को अन्न का परित्याग किया था। कुंथलगिरि पहुँचकर उन्होंने अधिक उपवास शुरू कर दिए थे। श्रावण बदी प्रथमा से उन्होंने अवमौदर्य तप का अभ्यास प्रारंभ कर दिया था। महाराज ने एक ग्रास पर्यन्त आहार को घटा दिया। वे कहने लगे - "यदि प्रति दिन दो ग्रास भी आहार लें, तो यह शरीर बहुत दिन चलेगा। यदि केवल दूध लेंगे, तो यह शरीर वर्षों टिकेगा।"

सल्लेखना का मूल कारण

जब प्राणी संयम नहीं पाल सकता है, तब इस शरीर के रक्षण द्वारा असंयम का पोषण क्यों किया जाय? इस धारणा ने, इस पुण्य भावना ने, उन साधुराज को यम-समाधि की ओर उत्साहित किया था।

सप्ततत्त्व निरूपण का रहस्य

प्रश्न - "भेद विज्ञान ही तो सम्यक्त्व है; अत: आत्मतत्त्व का ही विवेचन करना आचार्यों का कर्तव्य था; परन्तु अजीव आस्रव, बंधादि का विवेचन क्यों किया जाता है?"

उत्तर - आचार्यश्री से इस प्रश्न का यह समाधान प्राप्त हुआ था, "रेत की राशि में किसी का मोती गिर गया। वह रेत के प्रत्येक कण को देखता फिरता है। समस्त वालुका का शोधन उसके लिए आवश्यक है; इसी प्रकार आत्मा का सम्यक्त्व रूप रत्न

खो गया है। उसके अन्वेषण के लिए अजीव, आस्रव, बंधादि का परिज्ञान आवश्यक है। इस कारण सप्त तत्त्वों का निरूपण सम्यक्त्वी के लिए हितकारी है।"

आत्मा का ध्यान

प्रश्न - "आप प्रायः कहा करते हैं - "आत्मा का ध्यान करो"; किन्तु यह कार्य बड़ा कठिन प्रतीत होता है। मैं शुद्ध, बुद्ध, ज्ञायक स्वभाव, टंकोत्कीर्ण रूप हूँ; यह कथन बारंबार कहते-कहते शुकवाणीवत् बन जाता है। अतः कैसे आत्मा का ध्यान किया जाय?"

उत्तर - "शरीर प्रमाण आत्मा है। उसके बाहर उसका सद्भाव ज्ञात नहीं होता है। संपूर्ण देह में आत्मा है। उसका चिंतन करो। आत्मा को बाहर मत भटकने दो। भीतर चिंतन करने से बाहर का विकल्प दूर हो जायगा। आत्मा का निर्विकल्प चिंतन थोड़े समय तक ही हो पाता है। प्रारम्भ में बाहर के पदार्थों का पता कुछ-कुछ चलता है, शब्दादि का बोध भी होता है; किन्तु पश्चात् तोप के छूटने पर भी उसका पता नहीं चलता है।" यह कथन अनुभवी ऋषिराज का है। अतः महत्त्वपूर्ण है।

आत्मा की खोज सरल है

तिल में तैलवत् इस शरीर में आत्मा व्याप्त है। अपनी आत्मा क्या अपने को नहीं मिलेगी? समुद्र में मछली की खोज कठिन है; किन्तु लोटे के पानी में वह पड़ी हो, तो उसे पाना सरल है, इसी प्रकार अपने शरीर में विद्यमान आत्मा की खोज भी सरल है। प्रतिदिन आत्मा का चिंतन करो। कम-से-कम दो घड़ी प्रमाण मन-वचन-काय कृत-कारित-अनुमोदना इन नवकोटि से सावद्य दोष का त्याग करो।

आत्मध्यान से लाभ

इस ध्यान द्वारा गृहस्थ होते हुए भी तुम महान् निर्जरा करोगे। २४ घंटे में आधा घंटा, पन्द्रह मिनिट आत्मा का ध्यान करो। इससे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इसके सिवाय भगवान ने मोक्ष का दूसरा उपाय नहीं कहा है।

पुरुषार्थ के लिए प्रेरक उदाहरण

महाराज ने यह उदाहरण दिया था - "एक राजा था। उसके बुढ़ापे में एक ही पुत्र हुआ। उसे बड़े लाड़-प्यार से पाला। उसने खेलकूद में समय नष्ट कर दिया और कुछ भी विद्या नहीं सीखी। एक दिन राजाने दीक्षा ले ली और पुत्र को राजा बना दिया। अशिक्षित पुत्र राजा हो गया।

एक बार उस राज्य पर दूसरे राज्य का आक्रमण हो गया। उस समय एक पत्र ऐसा आया, जिसे राजा के सिवाय दूसरे को पढ़ने की आज्ञा नहीं थी; अत: वह जरूरी पत्र इस नवीन राजा के पास लाया गया। निरक्षर होने के कारण उसे पाते ही इसके नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए। उस समय मन का संताप दूर करने को चतुर मंत्री ने इनको बाहर चलने को कहा। ये बाहर भ्रमणार्थ गए। वहाँ देखा-पानी खींचने की कोमल रस्सी से कठोर काले पाषाण में गड्ढा हो गया है। इसी प्रकार उद्योग से अज्ञानी पुरुष ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। जैसे नरम डोरी से कठोर श्याम पाषाण में गड्ढा पड़ गया। इससे प्रेरित हो उसने विद्या का अभ्यास किया। इसी प्रकार प्रयत्न द्वारा क्या मेरी आत्मा मुझे न मिलेगी? राजा को विद्या सदृश प्रयत्नरत व्यक्ति से आत्मा का ध्यान भी बनेगा। पुरुषार्थी ही सिद्धि पाता है।

जैसे विषयोपभोग की सामग्री हेतु गृहस्थ दिन-रात प्रयत्नरत रहता है, इसी प्रकार धर्म के विषय में भी उद्योगी रहना चाहिए। विषयोपभोगी धर्मविमुख व्यक्ति संसार-सागर में डूबता है। आचार्य कहते हैं -

जह जीवो कुणइ रइं पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु।
तह जइ जिणिंद धम्मे तो लीलाए सुहं लहदि॥

इस गाथा का हिन्दी अनवुाद इस प्रकार है -

जैसे रमणी विषय सुत ममता के आधार।
वैसा यदि जिनधर्म हो शीघ्र होय भव पार॥

पावन-स्मृति

प्रात:स्मरणीय आचार्य महाराज तो स्वर्गीय निधि बन गए। अब पावन स्मृति मात्र शेष है। उनके पुण्य जीवन के संस्मरण बड़े मधुर, मार्मिक तथा शान्तिदायक हैं। हमने अपने संस्मरणों के साथ अनेक धर्ममूर्ति मुनियों, त्यागियों, श्रावकों आदि के संस्मरणों का संकलन किया है। इन संस्मरणों के माध्यम से उन महान् तपोमूर्ति गुरुदेव के जीवन की एक झलक प्राप्त होती है। इनके द्वारा मोहमलिन मन को विशुद्धता प्राप्त होती है।

कुंथलगिरि पर्यूषण

कुंथलगिरि में आचार्य शांतिसागर महाराज के चातुर्मास में पर्यूषण पर्व पर ता.

१२ सितम्बर सन् १९५३ से ता. २६ सितम्बर सन् १९५३ तक रहने का पुण्य सौभाग्य मिला। उस समय आचार्यश्री ने ८३ वर्ष की वय में पंचोपवास मौनपूर्वक किए थे। इसके पूर्व में भी दो बार पंचोपवास हुए थे। करीब १८ दिन का मौन रहा था। भाद्रपद के माह भर दूध का भी त्याग था। पंचरस छोड़े तो चालीस वर्ष हो गए। नेमिसागर मुनिराज ने भादों भर एक उपवास एक पारणा वाला क्रम रखा। आचार्यश्री ने जन्म भर को अन्न का त्याग कर दिया था।

घोर तप का करना

प्रश्न – "महाराज! घोर तपस्या करने का क्या कारण है?"

उत्तर – "हम समाधिमरण की तैयारी कर रहे हैं। सहसा आँख की ज्योति चली गई, तो हमें उसी समय समाधि की तैयारी करनी पड़ेगी। कारण, उस स्थिति में समिति नहीं बनेगी; अत: जीवरक्षा का कार्य नहीं बनेगा। **हम तप उतना ही करते हैं, जितने में मन की शांति बनी रहे।"**

निर्वाणभूमि का प्रभाव

प्रश्न – " महाराज! पाँच-पाँच उपवास करने से तो शरीर को कष्ट होता होगा?"

उत्तर – "हमें यहाँ पाँच उपवास एक उपवास सरीखे लगते हैं। यह निर्वाण-भूमि का प्रभाव है। निर्वाण-भूमि में तपस्या का कष्ट नहीं होता है। हम तो शक्ति देखकर ही तप करते हैं।"

मौन से लाभ

प्रश्न – "महाराज! मौन व्रत से आपको क्या लाभ पहुँचता है?"

उत्तर – "मौन करने से संसार से आधा सम्बन्ध छूट सा जाता है। सैकड़ों लोगों के मध्य घिरे रहने पर भी ऐसा लगता है, मानों हम अपनी कुटी में ही बैठे हों। उससे मन की शांति बहुत बढ़ती है। मन आत्मा के ध्यान की ओर जाता है। वचनालाप में कुछ-न-कुछ सत्य का अतिक्रमण भी होता ही है, मौन द्वारा सत्य का संरक्षण भी होता ही है। चित्तवृत्ति बाहरी पदार्थों की ओर नहीं दौड़ती है।"

लम्बे उपवासों के सम्बन्ध में महाराज का अनुभव

प्रश्न – "उपवास से क्या लाभ होता है? क्या उससे शरीर को त्रास नहीं होता है?"

उत्तर - "आहार का त्याग करने से शरीर को कष्ट क्यों नहीं होगा? लम्बे उपवासों के होने पर शरीर में शिथिलता आना स्वाभाविक बात है। फिर उपवास क्यों किया जाता है, यह पूछो तो उसका उत्तर यह है कि उपवास द्वारा मोह की मन्दता होती है। उपवास करने पर शरीर नहीं चलता। जब शरीर की सुधि नहीं रहती है, तो रुपया-पैसा, बाल-बच्चों की भी चिन्ता नहीं सताती है। उस समय मोह-भाव मन्द होता है, आत्मा की शक्ति जागृत होती है। अपने शरीर की जब चिंता छूटती है, तब दूसरों की क्या चिन्ता रहेगी?"

इस विषय के स्पष्टीकरणार्थ महाराज ने एक कथा सुनाई - "बन्दर का अपने बच्चे पर अधिक प्रेम रहता है। एक बार एक बँदरिया का बच्चा मर गया, तो वह उस मृत बच्चे को छाती से चिपकाये रही। उस समय हमने देखा, कुछ बन्दरों ने जबरदस्ती उसके बच्चे को छीनकर नदी में डाल दिया था। बन्दर को पानी में तैरना नहीं आता है। यह हमने प्रत्यक्ष देखा है। इतना प्रेम मृत बालक पर बँदरिया का था।"

दूसरी घटना महाराज ने बताई - "एक समय एक हौज में पानी भरा जा रहा था। एक बँदरिया अपने बच्चे को कन्धे पर रखकर उस हौज में थी। जैसे-जैसे पानी बढ़ता जाता था, वह गर्दन तक पानी आने के पूर्व बच्चे को कंधे पर रखकर बचाती रही; किन्तु जब जल की मात्रा बढ़ गई और स्वयं बँदरिया डूबने लगी, तो उसने बच्चे को पैरों के नीचे दबाया और उस पर खड़ी हो गई, जिससे वह स्वयं न डूबने पावे। इतना ममत्व स्वयं के जीवन पर होता है। उस शरीर के प्रति मोह का भाव उपवास में छूटता है। यह क्या कम लाभ है?"

उपवास की मर्यादा

प्रश्न - "उपवासों में आपको आकुलता होती है या नहीं?"

उत्तर - "हम उतने ही उपवास करते हैं, जितने में मन की शांति बनी रहे, जिसमें मन की शांति भंग हो, वह काम नहीं करना चाहिए।"

कष्ट में पंच परमेष्ठी का नाम-स्मरण

प्रश्न - "महाराज! एक ने पहले उपवास का लम्बा नियम ले लिया। उस समय उसे ज्ञान न था, कि वह उपवास मेरे लिए दुःखद हो जायगा। अब वह कष्टपूर्ण स्थिति में क्या करे?"

उत्तर - "व्रतादि के पालन करने पर जब कष्ट आवे, तो पंचपरमेष्ठी का लगातार

नामस्मरण करे। हम दृढ़ता से कहते हैं कि पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से शरीर की पीड़ा शीघ्र ही दूर हो जायगी और शांति मिलेगी।''

प्रश्न - ''महाराज! कोई-कोई यह सोचते हैं, कि संजद शब्द धवल सिद्धान्त में रखने वालों की कार्यवाही से आपने दूध का त्याग कर दिया और लम्बे लम्बे उपवास लिये थे। इसमें क्या सत्य है?

समाधि की तैयारी

उत्तर - ''हमने कह दिया है कि उपवास का कारण समाधि की तैयारी है। षोड़शकारण व्रत के कारण हमने भादों भर के लिए शेष रसों के सिवाय दूध का त्याग किया था।[१] हमें संजद शब्द का जरा भी विकल्प नहीं है। हमें संसार भर का भी विकल्प नहीं है। अब तो हमें अपनी आत्मा का ही ख्याल है। दुनिया भर की बातों का विचार करने से क्या प्रयोजन है? लिखने वाले स्त्री को संजद पद के स्थान में तिर्यंचों, नारकियों को भी संजद लिखते रहे, तो भी हमें उसकी चिंता नहीं है। हमें जो कहना था, सो कह दिया; अब हम बार-बार इसमें नहीं पड़ते हैं।''

प्रतिष्ठा ग्रंथों में बहुभाग लोप करना अयोग्य है

पुन: महाराज ने कहा - ''संजद शब्द न रहने से क्या सिद्धान्त का लोप हो गया? प्रतिष्ठा ग्रन्थों का बहुत सा भाग काट करके नवीन मनोनीत ग्रन्थ के आधार पर प्रतिष्ठा का कार्य तुम्हारी तरफ किया जाता है। ग्रन्थ का ग्रन्थ काट डाला जाय; किन्तु तुम पंडित लोग इस विषय में अब तक क्यों चुप बैठे रहे? आश्चर्य है कि तीन अक्षर के न रखे जाने पर तो दुनिया भर में हल्ला मचाया गया, किन्तु ग्रन्थ का ग्रन्थ काटकर प्रतिष्ठा जैसे महान् कार्य की सप्राणता में क्षति पहुँचाते देखकर भी आप लोग चुप बैठे रहे?''

---

१. समाधिमरण के भक्तप्रत्याख्यान नामक प्रथम भेद के सम्बन्ध में मूलाराधना टीका में इस प्रकार वर्णन किया है-

''भक्तप्रत्याख्यान के १२ वर्ष उत्कृष्ट काल में पहले चार वर्ष तो विविध कायक्लेशों को करे। आगे के चार वर्ष रसादित्याग द्वारा क्षीण करे। आगे के दो वर्ष को आचाम्ल (कांजी आहार) और निर्विकृति (रस, व्यंजनादि रहित भोजन) द्वारा बितावे। एक वर्ष को आचाम्ल द्वारा व्यतीत करे। शेष छह माह को मध्यम तप द्वारा बितावे। अंतिम छह माहों को उत्कृष्ट तप द्वारा व्यतीत करे। (पृष्ठ ४७५)

इस कथम से यह ज्ञात हो जाता है कि आचार्य महाराज कठोर संयम-साधना में क्यों संलग्न रहने लगे थे।

महाराज ने कहा - "विवेकपूर्वक कार्य करना चाहिए।"

आत्मध्यान का अधिकारी

ध्यान के बारे में महाराज ने बड़े अनुभव की बात कही - "ऐसा आत्मा का ध्यान निकट संसारी जीव के ही होता है। जिसका भवभ्रमण अधिक शेष है, उससे ऐसा ध्यान नहीं बनेगा।"

जिनप्रभाव की महिमा

प्रश्न - जिन भगवान का नाम, भाव को बिना समझे भी जपने से क्या जीव के दु:ख दूर होते हैं? यदि जिनेन्द्र गुणस्मरण से कष्टों का निवारण होता है, तो इसका क्या कारण है?

उत्तर - जिस प्रकार अग्नि के आने से नवनीत द्रवीभूत हो जाता है, उसी प्रकार वीतराग भगवान के नाम के प्रभाव से संकटों का समुदाय भी दूर होता है। जिनेन्द्र भगवान एक प्रकार से अग्नि हैं; क्योंकि उनके द्वारा कर्मों का दाह किया जाता है।

आचार्यश्री का समर्थन कल्याणमन्दिर के इस पद्य से होता है -

"आस्तां अचिंत्यमहिमा जिन संस्तवस्ते, नामापि पाति भवतो भवतो जगंति।"

हे जिनेन्द्र! आपके स्तवन की महिमा अचिंत्य है। आपका नाम मात्र भी जगत् के जीवों का रक्षक है।

इस कारण अज्ञ प्राणी भी 'णमो अरिहंताणं' के जप द्वारा कल्याण को प्राप्त करता है। सुभग नाम के गोपाल ने 'णमो अरिहंताणं' की जाप मात्र से सुदर्शन सेठ के रूप में जन्म धारण कर मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार वीतराग भगवान के नाम में भी अचिंत्य और अपार शक्ति है।

पूजा में आह्वान आदि का रहस्य

प्रश्न - आचार्य परमेष्ठी या साधु परमेष्ठी के प्रत्यक्ष होते हुए उनका आह्वान आदि करना कैसे उचित होगा?

उत्तर - आह्वान आदि तन्दुल में नहीं किया जाता। पूजक अपने मन में उक्त आह्वान आदि करता है।

पाप का फल कष्ट

पाप के द्वारा ऊँचे आसन पर अधिष्ठित व्यक्ति भी अवर्णनीय कष्ट को भोगता है। इस विषय में महाराज ने दक्षिण के एक भट्टारक के बारे में यह बताया था कि हीन आचरण के कारण उनके शरीर में कीड़े पड़ गये थे। शरीर से असह्य दुर्गन्ध निकलती थी। मरने पर उस कमरे में घुसने की कोई हिम्मत नहीं करता था, जहाँ मृत शरीर पड़ा था। एक शीशी चन्दन का तेल वहाँ छिड़का गया। लोगों ने नाक में पट्टी बाँधी और अपने शरीर में चन्दन का तेल खूब लगाकर बड़ा साहस कर उस शरीर को बाहर निकाला था। पापोदय से ऐसी स्थिति होती है।

विदेह में द्रव्य मिथ्यात्व नहीं है

प्रश्न – विदेह में मिथ्याधर्म का सद्भाव नहीं कहा है, इसका क्या कारण है?

उत्तर – विदेह में द्रव्य मिथ्यात्व नहीं है। कारण, वहाँ विद्यमान तीर्थंकर द्वारा मोक्ष का सच्चा मार्ग बताया जाता है। वहाँ नित्य चतुर्थ काल रहता है, इसलिए जैसे काल परिवर्तन के कारण भरतादिक क्षेत्र में द्रव्य मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है, वैसा वहाँ नहीं होता। भरतादि क्षेत्र में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के परिवर्तनवश मिथ्याधर्मों का आविर्भाव और विलय हुआ करता है।

मार्मिक समाधान

प्रश्न – 'कूटलेखक्रिया' को किस प्रकार अतिचार कहा जायगा?

उत्तर – जैसे आजकल राजकीय कानून के प्रहार से बचने के लिए गृहस्थ देता है हजार रुपया; किन्तु रसीद लिखवाता है उससे अधिक की, ताकि कचहरी में मुकदमा करने में असल रकम आपत्ति से मुक्त रही आवे। व्रती गृहस्थ का भाव धन के अपहरण का नहीं है; किन्तु कार्य तद्रूप सा दिखता है, इससे इसे अतिचार कहा है। यदि वह गृहस्थ लेख के अनुसार असल से अधिक द्रव्य लेता है, तो वह अनाचार दोष हो जायगा।

प्रश्न – दर्शनविशुद्धि भावना युक्त क्षयोपशम सम्यक्त्वी और उससे रहित क्षायिक सम्यक्त्वी में कौन महान् है?

उत्तर – तीर्थंकर प्रकृति का बंध करनेवाला क्षयोपशम सम्यक्त्वी महान् है। कारण, वह स्वयं संसार समुद्र के पार जाते हुए अगणित प्राणियों को भी मोक्ष में पहुँचाता है।

प्रश्न - केवली भगवान के तेरहवें गुण-स्थान में योग का क्या कारण है?

उत्तर-चौरासी लाख उत्तर गुणों की पूर्णता न होने से कर्मों का आस्रव होता है।

दयापूर्ण दृष्टि

लोग महाराज को आहार देने में गड़बड़ी किया करते हैं, इस विषय में मैंने श्रावकों को जब समझाया कि जिस घर में महाराज पड़गाहे जाँय, वहाँ दूसरों को बिना अनुज्ञा के नहीं जाना चाहिए; अन्यथा गड़बड़ी द्वारा दोष का संचय होता है। मैं लोगों को समझा रहा था, उस प्रसंग पर आचार्यश्री ने मार्मिक बात कही थी।

महाराज बोले - "यदि हम इस गड़बड़ी को बंद करना चाहें, तो एक दिन में सब ठीक हो सकता है। यदि एक घर के भोज्य पदार्थ का नियम ले लिया, तब क्या गड़बड़ी होगी? लोगों का मन न दुखे और हमारा काम हो जाय, हम ऐसा कार्य करते हैं।"

प्रमादी साधु की कथा

विपरीत परिस्थिति में भी क्षमा भाव न छोड़ना मुनि का धर्म है। इस प्रसंग में एक मुनि की बात महाराज ने बताई, जिनके हाथ में किसी मूढ़ स्त्री ने खौलती खीर डाल दी। उस खीर को उन्होंने उस स्त्री के ऊपर ही उछाल दिया, वह औरत चिल्ला उठी, तब उन मुनिराज ने कहा - "तूने हमारे हाथ में खौलती खीर डालते समय नहीं सोचा, इनका क्या हाल होगा?"

एक बार आचार्यश्री के हाथ में दक्षिण में उबलता दूध एक गृहस्थ ने डाला था, उससे वे मूर्च्छित हो गए थे; किन्तु उनमें जरा भी अशांति का आविर्भाव नहीं हुआ था। सचमुच में आचार्य शांतिसागर महाराज का नाम सार्थक था।

वृद्धा की समाधि

कुंथलगिरि में लोणंद की करीब ६० वर्ष वाली बाई ने १६ उपवास किए थे; किन्तु १५ वें दिन प्रभात में विशुद्ध धर्मध्यान पूर्वक उसका शरीरांत हो गया।

महाराज ने उसके कुटुम्बियों से कहा था - "हम खातरी से (निश्चय से) कहते हैं, उस बाई ने देव पर्याय पाई। इतने उपवास से प्राप्त विशुद्धता और निर्वाण भूमि का योग सामान्य लाभ नहीं है। इसके विषय में तुम लोगों के शोक करने का क्या मतलब?"

आचार्यश्री की विशिष्ट मुद्रा

महाराज के थोड़े से प्रबोधपूर्ण शब्दों ने कुटुम्बियों का सारा दुःख धो दिया था। पूज्यश्री की वाणी अपूर्व थी।

नेमिसागर महाराज का केशलोंच

व्रतों के बाद कुंवार बदी दशमी, शनिवार १७ अक्टूबर १९५३ को मुनि नेमिसागरजी का केशलोंच हुआ। नेमिसागरजी का केशलोंच बहुत जल्दी हो गया। उस समय मैंने पूछा - "महाराज! आपको केशों को उखाड़ते देखकर लोगों की आँखों में पानी आ जाता है; किन्तु आपके मुख पर तनिक भी विकृति नहीं आती, इसका क्या कारण है? क्या कष्ट नहीं होता?"

उत्तर में उन्होंने कहा - "हमें कोई कष्ट नहीं होता। केशलोंच करते बहुत दिन बीत गए। इससे अभ्यास भी हो चुका है।"

उस समय आचार्य महाराज का मार्मिक भाषण हुआ था।

आचार्य महाराज का भाषण

अपने उपदेश में आचार्य महाराज ने कहा था - "भव्यो! यह जीव चतुर्गति संसार में परिभ्रमण करता चला आ रहा है। देवगति में कल्पवृक्षों द्वारा मनोवांछित पदार्थ मिलते हैं। उपपाद शय्या में सुखपूर्वक जन्म होता है। परिपूर्ण आयु रहती है। बुढ़ापा नहीं होता; किन्तु उसमें बड़ा दोष यह है कि वह सुख अविनाशी नहीं है। नरक में जीव मारा-मारी और बैर-भाव आदि के कारण दुख पाता है। उसका वर्णन कौन कर सकता है? तिर्यंच पर्याय में बैल, हाथी, भैंसा आदि प्राणी पराधीनता वश पीड़ा पाते हैं। बहुत से जीव भूख से मर जाते हैं। उनसे शक्ति से अधिक काम लिया जाता है, इससे उन्हें अपार वेदना होती है। उन जीवों में भय की मात्रा भी बहुत होती है। हरिण को व्याघ्र का भय रहता है। मेंढ़क को सर्प मारता है। मछली को मछली मार कर खा जाती है। मनुष्य गति में भी स्थायी आनंद नहीं मिलता। स्थिर सुख तो पाँचवीं गति मोक्ष में है। वहाँ पंच इन्द्रिय बिना सुख कैसे? भूखे को अन्न देते हैं; किन्तु क्षुधा की वेदना नहीं है, तो पकवान से क्या प्रयोजन? जहाँ इंद्रिय हैं, वहाँ उसे तृप्त करने का दुःख होता है। एक इंद्रिय को तृप्त करते ही दूसरी इंद्रिय का दुःख उपस्थित होता है। सिद्धों में असली सुख होता है। वैसा सुख दूसरी जगह नहीं। वहाँ जन्म-मरण नहीं है। होटल में भोजन के पैसे लेने के बाद स्थान नहीं मिलता है, ऐसे ही देवपर्याय तक में आयु पूर्ण होने के अनन्तर जीव को क्षण भर भी स्थल नहीं मिलता।

मनुष्य पर्याय के दुःख

मनुष्यों में भोजन, वस्त्र, मकान, धन आदि का दुख रहता है। श्रीमंत को दसगुनी चिंता रहती है। उसके शत्रु भाई बंधु तक बनते हैं। धन को सम्हालने का कम कष्ट नहीं होता।

मोक्षप्राप्ति के अनंतर ही सच्चा सुख मिलता है। उस सुख के लिए क्या करना चाहिए? राजा मांडलिक नरेश, चक्रवर्ती को राज्य की मालिकी का सुख है; किन्तु उनका शत्रु आयु कर्म है। इतना वैभव, नवनिधि, १४ रत्न छोड़कर जाना पड़ता है, इसका महान् दुख है। आयु पूर्ण होने पर एक मिनिट भी रुकना असम्भव है।

सदा सुख

इस प्रकार विचारने पर नरक में दुःख, स्वर्ग में दुःख, तिर्यंच में दुःख, मनुष्य में दुःख, चारों गतियों में दुःख ही दुःख है। खरा सुख सिद्ध पर्याय में है।

मोक्ष का सुख कैसे मिलता है? आचार्य कहते हैं - सम्यक्दर्शन - ज्ञान - चारित्राणि मोक्षमार्गः। पहले मार्ग का वर्णन करना चाहिए। सम्मेदशिखर जाने के लिए पहले उसके मार्ग का वर्णन करना चाहिए।

सम्यक्त्व

सम्यग् दर्शन क्या है? मिथ्यात्व क्या है? यह जानना चाहिए। महाराज ने कहा - "कौन मिथ्यात्वी है? हाथ उठाओ।" उन्होंने पुनः कहा, "सम्यक्त्वी कौन है - हाथ उठाओ।" इस पर सन्नाटा छा गया। महाराज के मुखमंडल पर मधुर स्मित आ गया। वे बोले "केवली भगवान, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी जानते हैं कि कौन सम्यक्त्वी है।" **पंचाध्यायी** में कहा है, "सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं, अस्ति वाचामगोचरं" - "सम्यक्त्व यथार्थ में सूक्ष्म गुण है। वह वाणी के अगोचर है। वह केवली मनःपर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी के ज्ञानगोचर है। जो दूसरों के सम्यक्त्वी होने का प्रमाण पत्र देता है, वह मिथ्या प्रलाप करता है। पद्मपुराण में कहा है "सम्यग्दर्शनरत्नं तु साम्राज्यादपि सुदुर्लभं" - सम्यक्त्व-रत्न साम्राज्य-प्राप्ति से भी सुदुर्लभ है।

मोक्षपाहुड़ में कुंदकुंद स्वामी ने कहा है -

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होदि सम्मत्तं॥

- अहिंसा रूप धर्म, अठारह दोष रहित देव तथा निर्ग्रन्थ वाणी में श्रद्धान सम्यक्त्व है।

उपाय

"उस सम्यक्त्व का उपाय क्या है? प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य ये चार गुण सम्यक्त्वी के हैं। कषाय का उपशांत होना प्रशम है। उसका क्षय १२ वें गुणस्थान में होता है। केवलज्ञान होने पर कषाय नष्ट हो जाता है। कषाय रूप अग्नि यदि कर्मशत्रु पर लगा दी जाय, तो आत्मा का कल्याण हो जाय।"

संवेग

उन्होंने कहा - "अग्नि पर राख डालने पर वह घात नहीं करती। इसी प्रकार कषायों के उपशम होने पर होता है।" प्रसंगवश महाराज ने कुंथलगिरि दिवंगत लोणंद की बाई का उल्लेख करते हुए कहा, "वह भोली सौम्य, सरल बाई थी। 'फार चांगली होती' - १६ दिन के पूर्व वह मर गई। क्या तुम नहीं मरोगे? यह अनित्य भावना सदा करना चाहिए। इसे संवेग गुण कहा है।"

अनुकम्पा

अनुकम्पा में एक इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक पर दया की जाती है। किसी जीव को दुख नहीं देना चाहिए। खरा करुणाभाव मनुष्य पर्याय में होता है। तिर्यंचों में करुणा नहीं होती। वहाँ जीव जीव को खाता है। नरक में करुणा कहाँ है? देवों में हिंसा का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए वहाँ जीव-दया का प्रश्न नहीं उठता। यह स्मरण रखना चाहिए कि ऋण, हत्या और बैर कभी नहीं छूटते, इसलिए बैर-विरोध छोड़ अनुकम्पा धारण करनी चाहिए।

आस्तिक्य

आस्तिक्य नाम का गुण महान् कठिन है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी में प्रगाढ़ श्रद्धा होना उसका स्वरूप है।

प्रसङ्गवश महाराज ने कहा - "दशाध्याय सूत्र में द्वादशांग का सार भरा है। गणधरदेव १२ सभा में स्थित जनता को धर्म बताते थे। कुंदकुंदस्वामी ने कहा है- "जिसके भेद्र-विज्ञान है, उसे सम्यक्त्वी जानना चाहिए। प्रत्येक शरीर में आत्मा पृथक् है। भाव मिथ्यात्व के कारण जीव अजीव को एक मानता है। जड़वस्तु आत्मा से अन्य है। दोनों को एक बोलना मिथ्यात्व है।"

महाराज ने कहा - "प्रथमानुयोग में बताया है, पहले राजाओं की दीक्षा होती थी। आज गरीब ने दीक्षा ली, तो सोचा जाता है कि उसका पेट नहीं भरता होगा। कालदोष से साधु की उत्पत्ति का मूल्य नहीं है। दिगम्बर अवस्था मोक्ष नहीं है। यह मोक्ष का निमित्त है। मिट्टी से घड़ा बनता है, कुम्भकार निमित्त है। अग्नि संस्कार भी आवश्यक निमित्त है। इसी प्रकार दिगम्बर पर्याय निमित्त है। इसके बिना केवलज्ञान नहीं है।"

भेद विज्ञान

"भेद विज्ञान बिना सम्यक्त्व नहीं होता। आत्मा का अनुभव होने पर अन्तर्मुहूर्त में कोटि वर्ष पर्यन्त की गई तपस्या से अधिक निर्जरा होती है। आत्मा को कर्मों का निग्रह करना चाहिए।"

गृहस्थ का कर्त्तव्य

गृहस्थ क्या करें? प्रतिदिन आत्मा का चिन्तन करो। कम से कम दो घड़ी मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से सावद्य दोष का परित्याग करो। इस शरीर में तिल में तैलवत् सर्वत्र आत्मा है। कौनसा भाग खाली है? राजपुत्र द्वारा विद्या-प्राप्ति के लिए किये गये उद्योग सदृश पहले आत्मा का ध्यान करो। इसमें मुनि की मुद्रा अन्तिम वेष है। आरम्भ, मोह, कषाय के क्षयार्थ यह वेष आवश्यक है। जो इस मुद्रा को धारण नहीं कर सकते, वे गृहस्थ होते हुए आत्मा का ध्यान कर निर्जरा करते हैं। चौबीस घन्टे में कम-से-कम पन्द्रह मिनिट पर्यन्त आत्मा का ध्यान करो। इससे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इस आत्मा का ध्यान न करने से तुम अनंत संसार में फिरते रहे इसके सिवाय मोक्ष का दूसरा उपाय नहीं है। ऐसा भगवान ने कहा है। इससे अविनाशी, सुखपूर्ण, मोक्ष की प्राप्ति के लिए आत्मा का ध्यान अवश्य करना चाहिए।

१७ अक्टूबर, १९५३, कुंवार बदी दशमी - शनिवार

मैंने महाराज को समाचार सुनाया - "महाराज! सेठ हुकुमचन्दजी इन्दौर के पैर की हड्डी टूट गई थी। आपरेशन के उपरान्त उस हड्डी की जगह प्लास्टिक का उपयोग किया गया है।"

महाराज ने कहा - "सचमुच में आज के जगत् में अद्भुत वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं।" कुछ क्षण के अनन्तर अत्यन्त गम्भीर मुद्रा में सहसा उनके मुँह से ये शब्द निकल पड़े - "लेकिन जरा दियासलाई लगते ही वह प्लास्टिक भस्मीभूत होता जाता

है।" इस उद्‌गार से हमें बिना नींव पर अवस्थित जड़तर के उत्तुंग प्रासाद की कमजोरी और सदोषता का इशारा मिलता है।

मन्त्र सम्बन्धी चर्चा

प्रश्न - 'हां हीं हुं हूं हें हैं हौं हं ह:' शब्दों का क्या भाव है?

उत्तर - ये ऋद्धिधारक मुनियों के वाचक शब्द हैं।

उपयोगी मन्त्र - **"ॐ अरहंत-सिद्ध-साधुभ्यो नमः"** - ३५ अक्षर के मन्त्र के जपने से महान् फल होता है, उतना फल छोटे मन्त्र की अधिक जाप द्वारा सम्पन्न होगा।

महाराज ने कहा - "हमने धर्मसंकट आने पर ही उस लक्ष्य से सवा लाख जाप किया था, अपने स्वास्थ्य लाभार्थ हमने कभी भी जाप नहीं किया।"

इस वर्ष हमने महाराज में विशेषता देखी। उनकी दृष्टि में अपूर्व परिवर्तन था। महाराज का हृदय वैराग्य और स्वोन्मुखता से अधिक ओतप्रोत हो रहा था।

महाराज के जाप का मन्त्र

मन्त्र - (१) ॐ हां हीं हुं हूं हें हैं हौं ह: अ सि आ उ सा महावीरस्वामी धर्मसंकटनिवारणाय सिद्धाधिपतये स्वाहा।

(२) ॐ अरहंत सिद्ध साधुभ्यो नमः।

प्रश्न - महाराज इस महान् तपस्या से शरीर को कष्ट होता है या नहीं?

उत्तर - (उस समय महाराज का मौन था - पाँच दिन का उपवास भी था, इसलिए उन्होंने संकेत द्वारा अपने हृदय की ओर हाथ दिखाते हुए यह सूचित किया - "आत्मा की शक्ति पर भरोसा है।") मैंने यही शब्द कहे, तो महाराज ने सिर हिला कर इसका समर्थन किया। लोगों के बहुत पत्र आते थे। सब उन्हें नमोस्तु लिखते थे। एक दिन उन्होंने समुदाय रूप यह आदेश हमें दे दिया - "जो हमें नमस्कार लिखे उसे हमारा आशीर्वाद लिख दो।"

पाँच उपवास के समय मौन की स्थिति में महाराज को मास्टर गो.वा. वीड़कर मधुर स्वर में आध्यात्मिक पद सुना रहे थे। हमने समन्तभद्राचार्य का "सुश्रद्धा..." वाला श्लोक सार्थ सुनाया। उस समय उनके मुखमंडल पर आनन्द की ज्योति जग गई।

मौनवृत्ति

एक दिन महाराज ने कहा था - "पहले सोचा था तुम यहाँ व्रतों में आवोगे; इससे मौन नहीं लेना चाहिए; पश्चात् आत्मा की प्रवृत्ति उस ओर हो गई, इससे मौन ले लिया था।" फिर कहने लगे - "लोगों के साथ वचनालाप करने में सार क्या है? जिनके कान पर शब्द पड़ते हैं, उनके हृदय पर कुछ भी प्रभाव नहीं दिखता है। हमारा विचार तो आगे भी ऐसा ही मौन धारण का होता है।"

ईर्यासमिति का भाव

१६ सितम्बर १९५३ भादों सुदी ८ की बात थी। नेमिसागर महाराज पहाड़ पर जा रहे थे। मैंने पूछा - महाराज! आप लम्बा प्रवास करते समय कैसे ईर्यासमिति का पालन कर सकते हैं?" उत्तर में उन्होंने बताया - "हम एक घन्टे में तीन मील चलते हैं। मन्दिर प्रवेश के सम्बन्ध में बम्बई जाकर सिद्धाग्रह निमित्त हम चले थे। सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त सामायिक का काल छोड़कर १० घन्टे चलते थे। उपवास था, इससे ३० मील तक चले गये थे।"

ईर्यासमिति का भाव स्पष्ट करने के लिए उन्होंने पर्वत पर बिना रुके हुए चढ़कर बताया, जिससे यह ज्ञात होता था कि शिखरजी की पहाड़ी पर इन साधुओं को जाते हुए, अल्पकाल में जीवरक्षा होते हुए, लम्बा विहार कैसे होता था? असल बात यह है कि ये आत्मयोगी साधु चलते समय बीच में विश्राम लेना या रुकना नहीं जानते। इससे समय बचता है और अधिक यात्रा होती है।

वास्तुशास्त्र-निपुण

पर्वत पर एक शांति कुटी बनी। उसके निर्माण के समय बड़े-बड़े कान्ट्रेक्टरों से महाराज की जो बात होती थी, उससे स्पष्ट होता था कि वे वास्तुशास्त्र में भी पूर्ण प्रवीण हैं।

अद्भुत तेज-सम्पन्न शरीर

भादों सुदी नवमी को महाराज शास्त्र सभा में से बीच में ही कुछ काल के लिए उठ गए। उनके सिवाय सभी पुरुष तथा महिला मण्डली शास्त्र में बैठी थी; किन्तु ऐसा लगा कि मानों वहाँ विपुल तेज वाली आत्मा नहीं है। इससे मन में सूनापन-सा लगता था। थियासफी (Theosophy) वाले जिसे ओजशक्ति (Aura) कहते हैं, वह महाराज की गजब की वृद्धिंगत मालूम पड़ती है।

संयम के लिए प्रेरणा

संयम के लिए मार्मिक प्रेरणाप्रद बात कहते हुए वे बोले - "आप पंडित लोग सबको धर्म की बात बताते हो; किन्तु स्वयं उन पर नहीं चलते। यह तो धोबी का काम है, जो सबके वस्त्र धो-धोकर स्वच्छ करता है; किन्तु अपने शरीर को मलिन वस्त्रों से ढाँके रखता है।"

दीनों के हितार्थ महाराज के विचार

कुंथलगिरि में पर्यूषण पर्व में महाराज ने गरीबों के हितार्थ कहा था कि "सरकार को प्रत्येक गरीब को जिसकी वार्षिक आमदनी १२०) रु. हो पाँच एकड़ जमीन देनी चाहिए और उसे जीववध तथा मांस का सेवन न करने का नियम कराना चाहिए। इस उपाय से छोटे लोगों का उद्धार होगा।" महाराज के ये शब्द बड़े मूल्यवान हैं - "जीमने से उद्धार नहीं होता। पाप से ऊपर उठाने से आत्मा का उद्धार होता है। जब तक पाप-प्रवृत्तियों से जीव को दूर कर पुण्य की ओर उसका मन नहीं खींचा जायगा, तब तक उसका कैसे उद्धार होगा?"

शासन सत्ता का दोष

देश के वर्तमान अनैतिक वातावरण पर महाराज ने कहा - "इसमें मुख्य दोष प्रजा का नहीं, शासनसत्ता का है। गांधीजी ने मनुष्य सामान्य पर दया के द्वारा लोक में यश और सफलता प्राप्त की और जगत् को चकित कर दिया। इससे तो धर्म का गुण दिखाई देता है। यह दया यदि जीव मात्र पर हो जाय तो उसका मधुर फल अमर्यादित हो जायगा। आज जो सरकार जीवों के घात में लग रही है, यह अमंगल रूप कार्य है।"

शुभ चिह्न

एक दिन महाराज कहने लगे- "दिन को न सोना शुभ चिह्न है। संघपति गेंदनमल का हमारा करीब ३० वर्ष का परिचय है। वे कभी भी दिन को नहीं सोते, चाहे रात को कितने ही जगे हों।"

जन्मांतर का अभ्यास

महाराज ने कुन्थलगिरि के मन्दिर में भगवान के समीप में संघपति सेठ गेंदनमलजी के समक्ष हमसे कहा था कि हमें ऐसा लगता है - "इस भव के पूर्व में भी हमने जिनमुद्रा धारण की होगी।"

हमने पूछा - "आपके इस कथन का क्या आधार है?"

उत्तर - "हमारे पास दीक्षा लेने पर पहले मूलाचार ग्रन्थ नहीं था; किन्तु फिर भी हम अपने अनुभव से जिस प्रकार प्रवृत्ति करते थे, उसका समर्थन हमें शास्त्र में मिलता था - ऐसा ही अनेक बातों में होता था। इससे हमें ऐसा लगता है कि हम दो तीन भव पूर्व अवश्य मुनि रहे होंगे।"

गृहस्थ जीवन की चर्चा

अपने विषय में पूज्यश्री ने कहा - "हम अपनी दूकान में ५ वर्ष बैठे। कोई आकर यदि अनाज वगैरह ले जाता था तो हम उसे नहीं रोकते थे। हम तो घर के स्वामी के बदले में बाड़ी-बाहरी आदमी की तरह रहते थे।"

दुर्ध्यानों का अभाव

उनके ये शब्द बड़े अलौकिक हैं - जीवन में हमारे कभी भी आर्तध्यान रौद्रध्यान नहीं हुए। घर में रहते हुए भी हम सदा उदास भाव से रहते थे। हानि, लाभ, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि के प्रसंग आने पर भी हमारे परिणामों में कभी क्लेश नहीं हुआ।

साधुत्व की तैयारी

हम घर में ५ वर्ष पर्यन्त एकासन और ५ वर्ष पर्यंत धारणा पारणा अर्थात् एक उपवास, एक आहार करते रहे।

मित्र का चरित्र

रुद्रप्पा नामक मित्र के बारे में उन्होंने बताया - "वह श्रीमंत का पुत्र था। वह अपने कमरे का दरवाजा बन्द करके घर में चुपचाप बैठा करता था। वह और किसी से भी बात नहीं करता था। हम से बात करता था और हम पर बड़ा स्नेह करता था। वह पक्का सत्यभाषी था।"

अपना स्वभाव

महाराज ने अपने विषय में कहा - "हम कहते थे तो बिना दस्तखत कराये लोग हजारों रुपया दे देते थे। हमारा कभी भी किसी से झगड़ा नहीं होता था। हम कभी भी दूसरे की निंदा के काम में नहीं पड़े। पिता की मृत्यु के बाद शीघ्र ही हमने दीक्षा ली थी। ५ वर्ष पर्यंत हमने केवल दूध और चावल लिया था।" महाराज ने यह भी बताया - "पहले मुनि लोग अपने साथ वस्त्र रखते थे।"

निमित्त कारण भी बलवान है -

महाराज ने कहा था - "निमित्त कारण भी बलवान है। सूर्य का प्रकाश मोक्षमार्ग में निमित्त है। यदि सूर्य का प्रकाश न हो तो मोक्षमार्ग ही न रहे। प्रकाश के अभाव में मुनियों का विहार आहार आदि कैसे होंगे?" उन्होंने कहा - "कुंभकार के बिना केवल मिट्टी से घट नहीं बनता। इसके पश्चात् उसका अग्निपाक भी आवश्यक है।"

आत्मचिंतन द्वारा निर्जरा

सन् १९५४ के पर्यूषण में फलटण में महाराज ने अपने उपदेश में कहा - "पाँच से पंद्रह मिनिट पर्यन्त आत्मचिंतन करो। इससे निर्जरा होती है। इससे सम्यक्त्व होगा। दान पूजा से पुण्य होता है। जन्म पर्यन्त आत्मा का चिंतन करो।"

शास्त्रदान की प्रेरणा

महाराज कहा करते थे - "शास्त्रदान करो। इसमें बड़ी शक्ति है। शास्त्रदान से केवली होता है। शास्त्र के व्यापार से ज्ञानावरण का बंध होता है। शास्त्र के शब्द अंजन चोर के कान में पड़े थे। उससे उसकी सद्गति हुई। शास्त्र के द्वारा सब जीवों का हित होता है।

मार्मिक विनोद

आचार्यश्री सदा गंभीर ही नहीं रहते थे। उनमें विनोद भी था, जो आत्मा को उन्नत बनने की प्रेरणा देता था। कुंथलगिरि में अध्यापक श्री गो.वा. वीडकर ने एक पद्य बनाया और मधुर स्वर में गुरुदेव को सुनाया। उस गीत की पंक्ति थी। "ओ नींद लेने वाले, तुम जल्द जाग जाना।" उसे सुनकर महाराज बोले -"तुम स्वयं सोते हो और दूसरों को जगाते हो।" 'बगल में बच्चा, गाँव में टेर' - कितनी अद्भुत बात है। यह कहकर वे हँसने लगे।

चातुर्मास के पश्चात् विहार करते समय

सन् १९५३ में कुंथलगिरि में चातुर्मास के उपरान्त महाराज का एकदम प्रस्थान हो गया। उनके मन की बात को साथ के मुनि नेमिसागर महाराज भी नहीं जानते थे। आचार्यश्री ने एकदिन कहा था - "हम किसी की नहीं सुनते हैं। हमारा अंत:करण जैसा कहता है, वैसा हम करते हैं।" सचमुच में लोकोत्तर पुरुषों की अंतरात्मा (inner voice) जो कहती है, तदनुसार उनकी प्रवृत्ति होती है। पुण्य जीवन होने के कारण उनकी पवित्र आत्मा के द्वारा सदा सम्यक् पथ-प्रदर्शन होता है। जाते-जाते वे बोले -

''आम्हीं जात नांही पुन: येथें येऊं। मी हे स्थान पसंद केले आहे' - ''मैं नहीं जा रहा हूँ। पुन: यहाँ आऊंगा। मुझे यह स्थान पसन्द आ गया है।'' अपने जाने का कारण मुनिनाथ ने कहा - ''मुनि एक स्थान पर निरन्तर नहीं रहते। स्थानान्तर में जाना जरूरी है।''

नदी प्रवाह सदृश

इस प्रसंग में मुनि नेमिसागर महाराज ने कहा - ''जिस प्रकार नदी का प्रवाह एक जगह स्थिर नहीं रहता है, उसी प्रकार मुनियों का भी सतत विहार होता रहता है।'' इस पर एक चतुर भक्त ने कहा-''महाराज! आप नदी हैं कहाँ? आप तो सागर हैं। सागर तो एक जगह रहता है।'' यह बात सुनते ही आचार्यश्री के मुखमंडल पर मधुर स्मिति की आभा आ गई। उन्होंने कहा-''हम शीघ्र फिर यहाँ आवेंगे।'' उनकी वाणी पूर्ण सत्य रही।

आत्मभवन का निर्माता

आचार्यश्री के पास बैठनेवाले छोटे-बड़े सभी व्यक्तियों को विशेष स्फूर्ति प्राप्त होती थी। जब महाराज मौन से बैठते थे, तब भी उनके समीप रहने से मन को प्रसन्नता प्राप्त होती थी। महाराज बोलते कम थे; किन्तु जो शब्द निकलते थे, वे नपे तुले रहा करते थे।

एक दिन कुंथलगिरि की धर्मशाला में एक जगह ब्र. भरमप्पा सीमेंट लगाने में तन्मय थे। एक व्यक्ति बोला -''महाराज! भरमप्पा गौडी - कारीगर है।'' दूसरा कहने लगा - ''महाराज को अच्छा न लगेगा, ऐसी बात मत कहो।'' वीडकर जी ने कहा ''महाराज! आपके सत्सङ्ग से भरमप्पा आत्ममंदिर की इमारत बनाने का उद्योग कर रहा है। इससे वह कारीगर तो है ही।'' महाराज हँस पड़े। वास्तव में महाराज ने ब्र. जी को क्षुल्लक दीक्षा देकर अन्त में आत्मभवन का शिल्पी बना दिया था।

गुरुदेव की हम पर कृपा

कुंथलगिरि में सल्लेखना धारण करने के कुछ दिन पूर्व पूज्यश्री ने हमारी याद की थी और लोगों से कहा था - ''ज्यां ठिकाने आमचा चातुर्मास होतो, त्या ठिकाण चा एक ही भाद्रपद चुकीत नाहींत'' - जिस स्थान पर हमारा चातुर्मास होता है, वहाँ एक भी भाद्रमास में आने में यह नहीं चूका है।'' उनका विश्वास था कि मैं भाद्रपद में उनके समीप ही पर्यूषण व्यतीत करूँगा; किन्तु पर्यूषण के तीन दिन पूर्व ही वे महर्षि स्वर्गीय निधि बन गए। सबका सौभाग्यसूर्य अस्तंगत हो गया।

जीर्णोद्धार की प्रशंसा

एक धार्मिक व्यक्ति ने पाँच मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था। उसके बारे में आचार्यश्री कहने लगे - "जिनमन्दिर का काम करके इसने अगले भव के लिए अपना सुन्दर भवन अभी से बना लिया है।"

जीव बन्ध तथा मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ है

आचार्यश्री किसी विषय को स्पष्ट करने के लिए बड़े सुन्दर दृष्टांत देते थे। एक समय वे कहने लगे - "यह जीव अपने हाथ से संकटमय संसार का निर्माण करता है। यदि यह समझदारी से काम ले, तो उस संसार को शीघ्र समाप्त भी स्वयं कर सकता है। एक बार चार मित्र देशाटन को निकले। रात्रि का समय जंगल में व्यतीत करना पड़ा। प्रत्येक व्यक्ति को तीन-तीन घंटे पहरे देने को बाँट दिये गए। प्रारम्भ के तीन घंटे उसके भाग में आए, जो बढ़ई का काम करने में प्रवीण था। समय व्यतीत करने को बढ़ई ने लकड़ी का टुकड़ा काटा और एक शेर की मूर्ति बना दी। दूसरा व्यक्ति चित्रकला में निपुण था। उसने उस मूर्ति को सुन्दरतापूर्वक रँग दिया, जिससे वह असली शेर सरीखा जँचने लगा। तीसरा साथी मंत्रवेत्ता था। उसने उस शेर में मन्त्र द्वारा प्राण संचार का उद्योग किया। शेर के शरीर में हलन-चलन होते देख मांत्रिक झाड़ पर चढ़ गया। उसके पश्चात् तीनों साथी भी वृक्ष पर चढ़ गए। शेर ने अपना रौद्ररूप दिखाना प्रारम्भ किया। चौथा साथी बड़ा बुद्धिमान तथा तांत्रिक था। उसने अपने मित्रों से सारी संकट की कथा का रहस्य जान लिया। उसने मांत्रिक मित्र से कहा - "डरने की कोई बात नहीं है। तुमने ही तो काष्ठ के शरीर में अपने मन्त्र द्वारा प्राणप्रतिष्ठा की थी। तुम अपनी शक्ति को वापिस खींच लो, तब जड़रूप व्याघ्र क्या करेगा?" मांत्रिक ने वैसा ही किया। व्याघ्र पुनः जड़ रूप हो गया।

"इस दृष्टान्त का भाव यह है कि जीव स्वयं रागद्वेष द्वारा संकट रूप शेर के शरीर में प्राणप्रतिष्ठा करता है। यह चाहे तो रागद्वेष को दूर करके कर्म रूपी शेर को समाप्त भी कर सकता है। रागद्वेष के नष्ट होने पर कर्म क्या कर सकते हैं? रागद्वेष के नष्ट होते ही शीघ्र संसार-भ्रमण दूर होकर जीव मुक्तिलक्ष्मी को प्राप्त करता है।"

कथा द्वारा शिक्षा

आचार्य महाराज बड़वानी की वंदनार्थ विहार कर रहे थे। साथ में तीन सम्पन्न गुरुभक्त तरुण भी थे। वे बहुत विनोदशील थे। उन तीनों को विनोद में तत्पर देखकर

आचार्यश्री ने एक शिक्षाप्रद कथा कही -

"एक बड़ी नदी थी। उसमें नाव चलती थी। उस नौका में एक ऊँट सवार हो गया। एक तमाशेवाले का बन्दर भी उसमें बैठा था। इतने में एक बनिया अपने पुत्र सहित नाव में बैठने को आया। चतुर धीवर ने कहा - "इस समय नौका में तुम्हारे लड़के को स्थान नहीं दे सकते। यह बालक उपद्रव कर बैठेगा, तो गड़बड़ी हो जायगी।"

"व्यापारी ने मल्लाह को समझा-बुझाकर नाव में स्थान जमा लिया। नौका चलने लगी। कुछ देर बाद बालक का विनोदी मन न माना। उसने बंदर को एक लकड़ी से छेड़ दिया। चंचल बंदर उछलकर ऊँट की गर्दन पर चढ़ गया। ऊँट के घबड़ाने से नौका उलट पड़ी और सबके सब नदी में गिर पड़े।" ऐसी ही दशा बिना विचारकर प्रवृत्ति करने वालों की होती है। अधिक गप्पों में और विनोद में लगोगे, तो उक्त कथा के समान कष्ट होगा। गुरुदेव का भाव यह था कि जीवन को विनोद में ही व्यतीत मत करो। जीवन का लक्ष्य उच्च और उज्ज्वल कार्य करना है।

त्याग की प्रेरणा

आचार्य महाराज सन् १९२४ के लगभग अकलूज में पधारे थे। वहाँ एक सम्पन्न, धार्मिक तथा प्रभावशाली जैन बंधु थे। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति देखकर महाराज ने कहा - "पहले राजा लोग दीक्षा लेते थे। उनका अनुकरण जनता किया करती थी। आज तुम्हारे सरीखे श्रीमंत लोग यदि दीक्षा लें, तो दूसरे पुरुष भी तुम्हारी त्याग वृत्ति का अनुकरण करेंगे।"

वे जैन भाई कहने लगे - "महाराज! मेरा ध्येय दूसरा है। मैं धन कमाना और दान देना अपना कर्तव्य मानता हूँ।"

महाराज -"अरे भाई! कीचड़ में गिरना और गंगा स्नान करना; चोरी करना और दानशाला का संचालन करने से क्या लाभ? दीक्षा लेकर नरभव को सफल करना चाहिए।"

सुलझी हुई मनोवृत्ति

एक समय एक महिला ने भूल से आचार्य महाराज को आहार में वह वस्तु दे दी, जिसका उन्होंने त्याग कर दिया था। उस पदार्थ का स्वाद आते ही वे अंतराय मानकर आहार लेना बन्दकर चुपचाप बैठ गए। उसके पश्चात् उन्होंने पाँच दिन का

उपवास किया और कठोर प्रायश्चित्त भी लिया। यह देखकर वह महिला महाराज के पास आकर रोने लगी कि मेरी भूल के कारण आपको इतना कष्ट उठाना पड़ा।

महाराज ने उस बहिन को बड़े शान्त भाव से समझाते हुए कहा - "तू क्यों खेद करती है। मेरे अन्तराय का उदय आने से ऐसा हुआ है। तूने तो, यदि यथार्थ में देखा जाय तो मेरा उपकार किया है। तेरे कारण ही मुझे इस शान्ति तथा आनन्दप्रदाता व्रत लेने का सुअवसर मिला। व्रत में कष्ट नहीं होता, आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलती है।"

यथार्थ में आचार्य महाराज निसर्गसिद्ध (Born Saint) साधु रहे हैं। जिस तपस्या को देखकर लोग घबड़ाते हैं, उससे उनके मन को शांति और आत्मा को बल प्राप्त होता था। आचार्यश्री अपनी शक्ति के भीतर ही तप करते थे, जिससे संक्लेश-भाव की प्राप्ति न हो।

त्याग और स्वावलम्बन

समाज में त्याग के क्षेत्र में अद्भुत प्रवृत्ति है। बहुत से ऐसे भी त्यागी मिलते हैं, जो एक भी प्रतिमा रूप व्रत नहीं लेते हैं; किन्तु भोली समाज के बीच बड़े त्यागी के नामसे पूजा-प्रतिष्ठा का रसास्वादन करते हैं। शरीर में शक्ति सामर्थ्य रहते हुए भी हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाते हैं और समाज द्वारा भरण-पोषण की अपेक्षा करते हैं।

सप्तम प्रतिमा वाला सच्चाई से व्यापार कर सकता है

आचार्य महाराज ने एक गृहस्थ को सातवीं प्रतिमा के व्रत दिये। वह व्यापारी था। महाराज ने उससे कहा - "तुम व्यापार कर सकते हो। न्यायपूर्वक और सत्य रीति से तुमको व्यापार करना चाहिए।" इससे उन लोगों को प्रकाश मिल सकता है, जो नैष्ठिक बनने के पूर्व ही त्यागी-उदासीन का रूप धारण कर स्वावलम्बन की प्रवृत्ति से विमुख हो जाया करते हैं।

मौलिक विचार

महाराज के विचारों में मौलिकता रहती थी, उनकी अनेक विषयों में दक्षता देख कर आश्चर्य होता था। वास्तव में बात यह है कि जैसे उनका चरित्र अपूर्व था, उसी प्रकार उनका क्षयोपशम भी असाधारण रहा है। भारत के कोने-कोने से आगत हजारों व्यक्तियों के नाम आदि उनको ऐसे ही याद रहते थे, जैसे किसी बुद्धिमान तरुण को सब बातें याद रहती हैं।

अद्भुत स्मृति

महाराज ने मुझसे कहा था - "जिस चीज को हम एक बार ध्यान से देख लेते हैं, उसे नहीं भूलते हैं।" जब हम महाराज की जन्मभूमि भोज में पहुँचे थे और इनके विषय में परिचायक सामग्री का संग्रह कर रहे थे, तब यह ज्ञात हुआ था कि महाराज बाल्यकाल से ही असाधारण स्मृति शक्ति समन्वित रहे हैं। उनकी प्रतिभा शास्त्राभ्यास, धारणा शक्ति आदि के कारण देश के बड़े से बड़े शास्त्रज्ञ तथा लोकविद्या के निष्णात लोग उन साधुराज के पास से ज्ञान संवर्धक सामग्री का संचय करते थे। उनकी तर्कशक्ति भी महान् थी। श्रेष्ठ कानूनवेत्ता भी उनकी तर्कशक्ति को प्रणाम किए बिना नहीं रहता था।

बाल विवाह प्रतिबंधक कानून के प्रेरक

भारत सरकार के द्वारा बाल-विवाह कानून-निर्माण के बहुत समय पहले ही आचार्य महाराज की दृष्टि उस ओर गई थी। उनके ही प्रताप से कोल्हापुर राज्य में सर्व प्रथम बाल विवाह प्रतिबंधक कानून बना दिया था। इसकी मनोरंजक कथा इस प्रकार है। कोल्हापुर के दीवान श्री लट्ठे दिगम्बर जैन भाई थे। लट्ठे की बुद्धिमत्ता की प्रतिष्ठा महाराष्ट्र प्रान्त में व्याप्त थी। वहाँ आचार्यश्री विराजमान थे। दीवान बहादुर श्री लट्ठे प्रतिदिन सायंकाल के समय महाराज के दर्शनार्थ आया करते थे। एक दिन लट्ठे महाशय ने आकर आचार्यश्री के चरणों में प्रणाम किया। महाराज ने आशीर्वाद देते हुए कहा - "तुमने पूर्व में पुण्य किया है, जिससे तुम इस राज्य के दीवान बने हो और दूसरे राज्यों में तुम्हारी बात का मान है। मेरा तुम से कोई काम नहीं है। एक बात है, जिसके द्वारा तुम लोगों का कल्याण करा सकते हो। कारण, कोल्हापुर के राजा तुम्हारी बात को नहीं टालते।" दीवान बहादुर लट्ठे ने कहा - "महाराज! मेरे योग्य सेवा सूचित करने की प्रार्थना है। महाराज - "छोटे-छोटे बच्चों की शादी की अनीति चल रही है। अबोध बालकों-बालिकाओं का विवाह हो जाता है। लड़के मरने पर बालिका विधवा कहलाने लगती है। उस बालिका का भाग्य फूट जाता है। इससे तुम बाल-विवाह प्रतिबंधक कानून बनाओ। इससे तुम्हारा जन्म सार्थक हो जायगा। इस काम में तनिक भी देर नहीं हो।" कानून के श्रेष्ठ पंडित दीवान लट्ठे की आत्मा आचार्य महाराज की बात सुनकर अत्यन्त हर्षित हुई। मन ही मन उन्होंने महाराज की उज्ज्वल सूझ की प्रशंसा की। गुरुदेव को उन्होंने यह अभिवचन दिया कि आपकी इच्छानुसार शीघ्र ही कार्य करने का प्रयत्न करूँगा।

दीवान श्री लट्ठे की कार्य-कुशलता

गुरुदेव के चरणों को प्रणामकर लट्ठे साहब महाराज कोल्हापुर के महल में पहुँचे। महाराजा साहब उस समय विश्राम कर रहे थे, फिर भी दीवान का आगमन सुनते ही बाहर आ गए। दीवान साहब ने कहा - "गुरु महाराज 'बाल-विवाह-प्रतिबंधक कानून' बनाने को कह रहे हैं।"

राजा ने कहा - "तुम कानून बनाओ। मैं उस पर सही कर दूंगा।" तुरन्त लट्ठे ने कानून का मसौदा तैयार किया। कोल्हापुर राज्य का सरकारी विशेष गजट निकाला गया, जिसमें कानून का मसौदा छपा था। प्रातः काल योग्य समय पर उस मसौदे पर राजा के हस्ताक्षर हो गए। वह कानून बन गया। दोपहर के पश्चात् सरकारी घुड़सवार सुसज्जित हो एक कागज लेकर वहाँ पहुँचा, जहाँ आचार्य शांतिसागर महाराज विराजमान थे।

लोग आश्चर्य में थे कि अशांति और उपद्रव के क्षेत्र में विचरण करने वाले ये शस्त्रसज्जित शाही सवार यहाँ शांति के सागर के पास क्यों आए हैं। महाराज के पास पहुँचकर उस शस्त्रालंकृत घुड़सवार ने उनको प्रणाम किया और उनके हाथ में एक राजमुद्रा अंकित बंद पत्र दिया गया। लोग आश्चर्य में निमग्न थे कि महाराज के पास सरकारी कागज आने का क्या कारण है। क्षण भर में कागज पढ़ने से ज्ञात हुआ कि उसमें महाराज को प्रणाम पूर्वक यह सूचित किया गया था कि उनके पवित्र आदेश को ध्यान में रखकर कोल्हापुर सरकार ने बाल-विवाह प्रतिबंधक कानून बना दिया है। महाराज के मुखमंडल पर एक अपूर्व आनंद की आभा अंकित हो गई।

प्रगतिशील विचारक

भारत सरकार ने जब बाल-विवाह कानून पास किया था, तब समाज के स्थितिपालक दल के लोग उसको अयोग्य बताकर विरोध करते थे। सुधारक कहे जाने वाले भाई उसका स्वागत कर रहे थे। इस प्रसंग से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उक्त कानून के विचार के जन्मदाता आचार्य महाराज थे। यथार्थ में वे बड़े प्रगतिशील तथा उज्ज्वल मौलिक विचारक थे। उन सरीखा सुधारक कौन हो सकता है, जिन्होंने असंयम तथा मिथ्यात्व के विषपान में निमग्न जगत् को रत्नत्रय की अमृत औषधि पिलाई। उन्होंने किसी का भय नहीं किया। पंचम काल का भी विचार नहीं किया। उनका साहसी तथा जिनेन्द्रभक्त हृदय यह कहता था - "यह पंचमकाल का बाल्यकाल है। इससे इसका जोर नहीं चलेगा। यदि प्रयत्न किया जाय, तो धर्म तथा सत्कार्यों के क्षेत्र में नियम से

सफलता प्राप्त हो सकती है। डरकर घर में बैठने से काम नहीं चलेगा।" सचमुच में उन महापुरुष ने पंचमकाल के कलंक को मिटाकर धार्मिक प्रवृत्ति को नवजीवन प्रदान किया। युगधर्म कहकर जहाँ जन-समुदाय पापाचार और विषयों की अंध आराधना की ओर जा रहा था, वहाँ ये महापुरुष उस उद्वेलित लोकप्रवृत्ति रूप सिंधु के विरुद्ध खड़े हो गए और इन्होंने ऐसे-ऐसे महान् कार्य किए, जिसको सोचकर जगत् को आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। वे उन सभी प्रवृत्तियों तथा सुधारों के समर्थक थे, जिनके द्वारा सम्यक्त्व का पोषण होता है, संयम का संवर्धन होता है। महाराज की विशिष्ट विचारकता के कारण वे स्थितिपालकों के प्राण थे तो सुधारकों के श्रद्धाभाजन भी थे।

दिव्य दृष्टि

आचार्यश्री का राजनीति से तनिक भी संबंध नहीं था। समाचार पत्रों में जो राष्ट्रकथा आदि का विवरण छपा करता है, उसे वे न पढ़ते थे, न सुनते थे। उन्होंने जगत् की ओर पीठ कर दी थी। आज की भौतिकता के फेर में फँसा मनुष्य क्षण-क्षण में जगत् के समाचारों को जानने को विह्वल हो जाता है। लंदन, अमेरिका आदि में तीन-तीन घंटे की सारे विश्व की घटनाओं को सूचित करने वाले बड़े-बड़े समाचार-पत्र छपा करते हैं। आत्मा की सुध-बुध न लेने वाले लोग अपना सारा समय शारीरिक और लौकिक कार्यों में ही व्यतीत करते हैं। आचार्यश्री के पास ऐसा व्यर्थ का क्षण नहीं था, जिसे वे विकथाओं की बातों में व्यतीत करें। फिर भी उनकी आत्मा कई विषयों पर ऐसा प्रकाश देती थी कि विशेषज्ञों को भी उनके निर्णय से हर्ष हुए बिना नहीं रहता था। सन् १९४० में द्वितीय महायुद्ध छिड़ा। आचार्यश्री के कानों में उसके समाचार पहुँचे, तब उन्होंने सहज ही पूछा यह युद्ध आरंभ किसने किया? उनको बताया गया कि युद्ध की घोषणा सर्वप्रथम जर्मनी ने की है। महाराज का शुद्ध मन बोल उठा - "इस युद्ध में जर्मनी निश्चय ही पराजित होगा।" कुछ काल तक जर्मनी की विजय अवश्यंभाविनी मानने वाले लोगों को भी यह दिखा कि आचार्यश्री का अंत:करण सत्य बात को पहले ही सूचित कर चुका था।

पुण्यवान जवाहरलाल

गांधीजी की प्रतिष्ठा देश भर में व्याप्त थी। उस समय महाराज बोले - "गांधी जी अच्छे आदमी हैं। उनसे अधिक पुण्यवान जवाहरलाल है। वह राजा बनने लायक है। गांधीजी ने केवल मनुष्य की दया को ही ठीक माना है।" मैंने पूछा था - "महाराज राजनीति की बातों से तो आप दूर रहते हैं, फिर आपने जवाहरलाल जी के बारे में उक्त बातें कैसे कही थीं।

महाराज ने कहा - "हमारा हृदय जैसा बोलता है, वैसा हमने कह दिया। हम न गांधी को जानते, न जवाहर को पहचानते।"

आचार्य महाराज सचमुच में श्रेष्ठ तपस्वी होने के साथ ही साथ अपूर्व पुण्यात्मा भी थे। उनके पुण्य चरणों को सभी सम्प्रदाय वाले प्रणाम करते थे। बड़े-बड़े राजा महाराजा, करोड़पति, सेठ-साहूकार, सैनिक सभी वर्ग के लोग उनके प्रति पूज्यभाव रखते थे।

संघपति का अनुभव

संघपति सेठ गेंदनमलजी तथा उनके परिवार का आचार्यश्री के साथ महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध रहा है। गुरुचरणों की सेवा का चामत्कारिक प्रसाद अभ्युदय तथा समृद्धि के रूप में उस परिवार ने अनुभव भी किया है। सेठ गेंदनमलजी ने कहा था- "महाराज का पुण्य बहुत जोरदार रहा है। हम महाराज के साथ हजारों मील फिरे हैं, कभी भी उपद्रव नहीं हुआ है। हम बागड़ प्रान्त में रात-रात भर गाड़ियों में चलते थे, फिर भी कोई विपत्ति नहीं आई। बागड़ प्रान्त में ग्रामीण ऐसे भयंकर रहते हैं कि दस रुपये के लिए भी प्राण लेने में उनको जरा भी हिचकिचाहट या संकोच नहीं होता था। ऐसे अनेक भीषण स्थानों पर हम गए हैं कि जहाँ से सुख-शांतिपूर्वक जाना असम्भव था; किन्तु आचार्य महाराज के पुण्य-प्रताप से कभी भी कष्ट नहीं देखा।

"वर्षा का भी अद्‌भुत तमाशा बहुत बार देखा। हम लोग महाराज के साथ-साथ रहते थे। वर्षा आगे रहती थी, पीछे रहती थी; किन्तु महाराज के साथ में पानी ने कभी कष्ट नहीं दिया। उनकी हर प्रकार की पुण्याई के दर्शन किये थे।"

"उनकी तपस्या के मन्दिर का कलश देखना और बाकी रहा था। वे कुंथलगिरि के पहाड़ पर बैठकर जो हजारों लोगों को दर्शन देते थे और सबको आशीर्वाद देते थे, वह तो उनके समवसरण सदृश लगता था। उनका यह प्रभाव भी अब देखने का सौभाग्य मिल गया।"

तपस्या द्वारा पुण्य

लोगों की आदत है कि जब कभी पुण्य की महिमा का दर्शन होता है, तो उनका मन उस प्रकार के पुण्य एवं वैभव के लिए लालायित हो जाया करता है। प्रभु से वे प्रार्थना कर बैठते हैं, भगवन्! हमें भी ऐसा ही पुण्य प्राप्त हो। वे लोग अपने कर्मों को सुधारने का प्रयत्न नहीं करते हैं और इसके ही कारण उनकी कामना पूर्ण नहीं होती है।

नीतिकार का कथन पूर्ण सत्य है -

पुण्यस्य फलमिच्छंति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छंति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

-लोग पुण्य को नहीं चाहते हैं, उस पुण्य से प्रसूत सुखरूप फल की इच्छा करते हैं। वे पापरूप फल को नहीं चाहते हैं; किन्तु पाप के संचय में प्रयत्नशील रहते हैं।

आचार्यश्री की अपूर्व तपस्या ही उनके उच्च पुण्य तथा प्रभाव का कारण है।

तृषा-परीषहजेता

एक दिन की घटना है। महाराज आहार को निकले। दातार ने भक्तिपूर्वक भोजन कराया; किन्तु वह जल देना भूल गया। दूसरे दिन गुरुदेव पूर्ववत् मौनपूर्वक आहार को निकले। उस दिन महाराज को दातार ने भोजन कराया; किन्तु अंतराय के विशेष उदयवश वह भी जल देने की आवश्यक बात को भूल गया। कुछ क्षण जल की प्रतीक्षा के पश्चात् महाराज चुप बैठ गए। चुपचाप वापिस आकर वे सामायिक में निमग्न हो गए। पिपासा के कष्ट की क्या सीमा है? क्षण भर देर से यदि प्यासे को पानी मिलता है, तो आत्मा व्याकुल हो जाती है, यहाँ तो दो दिन हो गए; किन्तु वे उस परीषह को समताभाव से सहन कर रहे थे। मालूम पड़ता है, वे नरकों के दुःखों का स्मरण कराकर अपने मन को समझाते होंगे कि तूने जब पराधीन स्थिति में सागरों पर्यन्त प्यास का कष्ट भोगा है,तो यहाँ अपने कर्मों की निर्जरा के हेतु क्यों नहीं इस प्यास की पीड़ा को शांत भाव से सहन करता है! उनका मन उनकी इन्द्रियाँ उनके अधीन थी हीं, अतः बहुत धीरता तथा गम्भीरतापूर्वक वे प्यास की बाधा सहन कर रहे थे।

पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में तृषा परीषह जय पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि - "मुनिराज प्यासरूप अग्नि की ज्वाला को धैर्यरूपी नवीन मृत्तिका के घट में भरे हुए शीतल सुवासपूर्ण समाधिरूप जल के द्वारा बुझाते हैं।" उस स्थिति में धैर्य और समाधि के द्वारा आचार्यश्री की शांति अखंड थी। ग्रन्थकार की शब्द-रचना इस प्रकार है - "पिपासानलशिखां धृति-नव-मृद्घटपूरित-शीतल-सुगन्धि-समाधिवारिणा प्रशमयतः पिपासा-सहनं प्रशस्यते" - (९ अध्याय, ९)

तीसरा दिन आया, उस दिन भी दातार की बुद्धि जल देने की बात को विस्मरण कर गई। इस प्रकार आठ दिन बीत गए। नौवें दिन महाराज के शरीर में छाती पर बहुत से

फोड़े उष्णता के कारण आ गए। शरीर के भीतर की स्थिति को कौन बतावे? शरीर की ऐसी कठिन परिस्थिति में भी वे सागर की भाँति गम्भीर ही रहे आए।

दसवें दिन अन्तराय कर्म का उदय कुछ मन्द पड़ा। उस दिन के दातार गृहस्थ ने महाराज को जल दिया। महाराज ने जल ही जल ग्रहण किया और वे बैठ गए। पश्चात् गम्भीर मुद्रा में उन साधुराज ने कहा - "शरीर को पानी की जरूरत थी और तुम लोग दूध ही डालते थे। चलो! अच्छा हुआ। कर्मों की निर्जरा हो गई।" साधुओं का मूल्य आँकने वाले सोचें, ऐसी तपस्या कहाँ है?

शिथिलाचारी का पतन

आज के युग में ऐसी तपस्या एक दिन भी कठिन दिखती है। लगभग आठ वर्ष हुए उत्तर प्रान्त में एक प्रख्यात तपस्वी साधु को रात्रि के समय पिपासा की असह्य पीड़ा उत्पन्न हुई, तो कुछ शिथिलाचारी पंडितों ने उनसे कहा - "यह आपत्ति का काल है। इस समय आपको जल ले लेना चाहिए।" होनहार विचित्र थी। उन विवेकभ्रष्ट पंडितों तथा उसी प्रकृति के कुछ धनिकों की प्रेरणा पाकर उन साधु ने प्यास की पीड़ा को सहन करने की असमर्थतावश अपनी महान् प्रतिज्ञा को भ्रष्ट कर दिया। कुछ समय के पश्चात् परलोक प्रयाण किया।

प्रतिज्ञापालन

इस घटना की खबर जब आचार्य शांतिसागर महाराज को मिली, तब वे एक तपस्वी के रूप से प्रसिद्ध जीव के पतन को देख विविध प्रकार के विचारों में निमग्न हो गए।

आचार्य महाराज ने मुझसे कहा था - "कभी भी व्रत को भंग नहीं करना चाहिए। प्राण जाते हुए भी प्रतिज्ञा की रक्षा करना चाहिए।" पुराणों में हम पशुओं आदि का भी उच्च विकास देखते हैं; क्योंकि उन जीवों ने व्रत का पालन करने में आश्चर्यकारी स्थिरता रखी है।

प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि संयमधारक को व्रतों से डिगने की बात कभी न कहे। इस प्रकार की प्रणाली से स्व तथा पर की निश्चय से दुर्गति हुए बिना नहीं रहती है। पाप पक्ष का समर्थन करके संयमी का पतन कराने वाले व्यक्ति को यमराज का सगा-सम्बन्धी सोचना उचित है। कृत, कारित तथा अनुमोदना में भी समान फल होता है। पापोदय से शास्त्रज्ञ भी इस तत्त्व को भूल जाता है।

आश्चर्य है, ऐसे लोग स्थिरता की वृद्धि के हेतु सुकौशल-सुकुमाल, गजकुमार आदि के कथानकों को पूर्णतया भुला देते हैं और सामान्य श्रेणी के भी त्यागी को समन्तभद्र मान समंतभद्र सदृश बनने की बात सुझाते हैं। वे यह नहीं सोच सकते हैं कि समंतभद्र अपनी श्रेणी के एक ही हुए हैं। विपरीत स्थिति में भी उनका अनुपम सम्यक्त्व भाव सजग रहा है। पाषाणराशि फटकर भगवान चंद्रप्रभ तीर्थंकर की मूर्ति का प्रगट होना उनकी ही श्रेष्ठ श्रद्धा का फल था। उन श्रेष्ठ महापुरुष की श्रेणी में साधारण मनुष्य को बैठाकर संयम के निरादर की प्रेरणा देना खोटे भविष्य की सूचना देता है।

कर्त्तव्य

हमारा कर्त्तव्य है कि आचार्य महाराज की उज्ज्वल तपस्या को स्मरण करें और अपने जीवन को उच्च बनावें। दूसरे को भी आत्म-विकास की प्रेरणा दें। विपत्ति में ग्रस्त दुःखी व्यक्ति को पाप की ओर ढकेलना एक प्रकार से अंधे आदमी की आँख में धूल झोंकने सदृश बात होगी।

दण्डनरेश का आख्यान

महापुराण का दंड नामक विद्याधर का यह चरित्र ध्यान देने योग्य है - भोगों की आसक्ति के कारण दंड राजा मरकर आर्तध्यानवश अपने खजाने में अजगर हुआ। उसे जातिस्मरण हो गया था; अतः वह अपने पुत्र मणिमाली को ही खजाने में घुसने देता था। अन्य को नहीं जाने देता था। अवधिज्ञानी मुनि से मणिमाली को अपने पूज्य पिता का पतन ज्ञात हुआ। उसने अजगर की आत्मा को धर्म का अमृत पिलाया -

स परित्यज्य संवेगादाहारं सशरीरकम्।
जीवितांते तनुं हित्वा दिविजोऽभून्महर्द्धिकः ॥

- (५-१३५)

-उस सर्पराज ने वैराग्य युक्त हो आहार त्याग किया तथा शरीर छोड़कर वह महान् ऋद्धिधारी देव हुआ। देव होनेपर उसने अपने पुत्र को मणियों का एक शोभायमान हार दिया था।

निकृष्ट वृत्ति वाला सर्प संयम धारण करता है और संयमी मानव संयम छोड़ता है। कितने आश्चर्य की बात है!

शरीरनिस्पृह साधुराज

महाराज भेद-ज्ञान-ज्योति के धनी थे। वे शरीर को पर-वस्तु मानते थे। उनके प्रति उनकी तनिक भी आसक्ति नहीं थी। एक दिन पूज्य गुरुदेव से प्रश्न पूछा गया - "महाराज! आपके स्वर्गारोहण के पश्चात् आपके शरीर का क्या करें?"

उत्तर - "मेरी बात मानोगे क्या?"

प्रश्नकर्त्ता - "हाँ महाराज! आपकी बात क्यों न मानेंगे?"

महाराज - "मेरी बात मानते हो, तो शरीर को नदी, नाला, टेकड़ी आदि पर फेंक देना। पशु-पक्षी इसे भक्षण कर लेंगे। चैतन्य के जाने के पश्चात् इसकी क्या चिन्ता करना?"

यह बात सुनते ही प्रश्नकर्ता ने विनयपूर्वक कहा - "महाराज! क्षमा कीजिए। ऐसा तो हम नहीं कर सकते, शास्त्र की विधि क्या है?"

तब उनको दूसरी विधि कही थी कि मृत शरीर को विमान पर पद्मासन से बिठाकर देह का दहन कार्य किया जाता है। फिर बोले - "हमारे पीछे जैसा दिखे वैसा करो।"

पार्श्वमती अम्मा

आचार्य महाराज के लोकोत्तर जीवन-निर्माण में उनके माता-पिता की श्रेष्ठता को भी एक कारण कहना अनुचित न होगा। पश्चिम के विद्वान, व्यक्ति की उच्चता में माता को विशेष कारण कहते हैं। माता सत्यवती की जीवनी लोकोत्तर थी। जिस जननी ने आचार्य शांतिसागर और महामुनि वर्धमानसागर सदृश दो दिगम्बर श्रेष्ठ तपस्वियों को जन्म दिया। आज के युग में ऐसी माता की तुलना के योग्य कौन जननी हो सकती है? माता सत्यवती से क्षुल्लिका पार्श्वमती अम्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वे कहती थीं "माता सत्यवती बहुत भोली, मंदकषायी, साध्वी तथा अत्यन्त सरल स्वभाव वाली थीं। प्रति दिवस एकासन करती थी। पति की मृत्यु के पश्चात् केश कटवाकर माता ने वैधव्य दीक्षा ली थी। सफेद वस्त्र पहनती थीं। यथार्थ में माता पिच्छी रहित आर्यिका सदृश थीं। माता की आदत शास्त्र चर्चा करने की थी। महाराज तथा कुमगोड़ा माता को शास्त्र सुनाते थे। माता बहुत उदार थी। उनके घर में सदा अतिथि सत्कार हुआ करता था।"

सातगौड़ा का मधुर चरित्र

"अतिथि-सत्कार तथा साधु की वैयावृत्य करने में महाराज बहुत प्रवीण थे। साधु को स्वयं आहार देते थे। उनमें विनय बहुत थी। महाराज की प्रवृत्ति देखकर सब का मन यह बोलता था कि ये नियम से महामुनि बनेंगे। वे माता की आज्ञा का पालन करते थे। बड़ों की बात का आदर करते थे। उनके विषय में जनता कहती थी - "सातगौड़ा फार चांगला, फार सरल, फार सज्जन आहे" - सातगौड़ा (आचार्य महाराज का गृहस्थावस्था का नाम) बहुत अच्छे, अत्यन्त सरल तथा अधिक सज्जन हैं।

जीवन चर्या

"भोजवासी महाराज को देवता सदृश मानते थे। वे घर में कम बोलते थे। उनका संबंध बैर-विरोध पूर्ण बातों से तनिक भी नहीं रहता था। मधुर भाषा बोलते थे। छेदंकरी या पीड़ादायिनी वाणी नहीं बोलते थे। वे मौन से भोजन करते थे। घर में रहते हुए भी वे घी, नमक, शक्कर तथा हरी शाक नहीं खाते थे। संध्या को पानी तक नहीं पीते थे। घर त्यागने के पाँच छः वर्ष पहले से वे एक दिन के बाद से भोजन करते थे। सवेरे मंदिर जाकर दर्शन, सामायिक करते थे। दस बजे स्नान करके मंदिर को पूजा करने जाते थे। वे पूजा करते थे। भगवान का अभिषेक उपाध्याय करता था। हमारे तरफ अभिषेक उपाध्याय (पुजारी) ही करता है। महाराज रात्रि को सब लोगों को शास्त्र सुनाते थे। चातुर्मास के समय अधिक लोग शास्त्र सुनने आते थे। जैन तथा जैनेतरों की दृष्टि में महाराज सत्पुरुष माने जाते थे। भोज ग्राम की जनता भी बहुत धार्मिक है।

"महाराज का कुमगौड़ा पर बहुत प्रेम था। महाराज के घराने में तपस्वी होते चले आए हैं। घर के सब लोग महाराज की आज्ञा में रहते थे। वे इनको साधु सदृश मानते थे। ये कभी भी खेल-तमाशे में नहीं जाते थे। धार्मिक कीर्तन को अवश्य देखते थे।"

उक्त पार्श्वमती माताजी के भोज में आठ चातुर्मास हो चुके हैं। उन्होंने यह भी कहा था - "मैं महाराज को 'अण्णा' (बड़ा भाई) कहती थी।" भोज के आस-पास की जनता बहुत धार्मिक है। लोग सर्व प्रकार सुखी तथा संपन्न हैं। भोज में लगभग तीन सौ घर जैनियों के हैं।

वेषभूषा

महाराज बंडी, धोती, फेंटा, दुपट्टा रखते थे। दीक्षा लेने के १५ या २० वर्ष पूर्व से उन्होंने जूता पहनना छोड़ दिया था।

महाराज के सब से बड़े भाई देवगौड़ा (वर्धमानसागरजी) थे। दूसरे भाई आदिगौड़ा थे। महाराज से छोटी बहिन कृष्णाबाई थी। कुमगौड़ा सबसे छोटे भाई थे। सब भाई-बहिन मिलकर वे ५ व्यक्ति थे।

देवगौड़ा की सत्यनिष्ठा

वर्धमानसागर महाराज का चरित्र भी बड़ा मधुर रहा है। वे अत्यन्त सरल और दयालु रहे हैं। उनके विषय की एक मधुर चर्चा ज्ञात हुई थी। उनके घर का बँटवारा हो चुका था। संपत्ति के निमित्त को लेकर एक मुकदमा न्यायालय के समक्ष पेश हुआ। यदि ये इतनी बात कह देते कि हमारे घर का बँटवारा नहीं है, तो इनको बहुत धन का लाभ होता। वकील ने इनको खूब समझाया था कि आज पेशी पर तुम इतना अवश्य कहना कि हमारा बँटवारा नहीं हुआ है। ये जब अदालत में पहुँचे, तो यह कह बैठे कि हमारा बँटवारा हो चुका है। इससे ये असफल हो गए। कचहरी से लौटने पर वकील इनसे बोला- "आपको कितना समझाया था कि यह न कह देना कि हमारा बँटवारा हो गया है; किन्तु आपने एक न मानी।" वे बोले - "क्या करें। जो ठीक-ठीक बात थी, वह कह दी। नुकसान हो गया, तो हो जाने दो। हम खोटी बात नहीं कहेंगे।"

तपस्विनी बहिन

महाराज की बहिन कृष्णाबाई के बारे में कुंथलगिरि में ज्ञात हुआ कि वह बहुत तपस्विनी थी। ९ वर्ष की अवस्था में कृष्णाबाई विधवा हो गई थी। यथार्थ में वह बाल ब्रह्मचारिणी रही हैं।

भीम के संस्मरण

महाराज के भाई के पौत्र का नाम भीमगौड़ा है। कुंथलगिरि में भीम ने हमें बताया कि वह कृष्णाबाई को आजी कहता था। भीम ने बताया आजी मुझे अण्णां कहती थी, मेरा नाम नहीं लेती थी। कारण, हमारे बाबा-प्रपितामह का नाम भीम था। आजी उनका नाम लेने में संकोचवश मुझे अण्णां कहती थी। घर के सभी लोग मुझे 'अण्णां' कहते हैं।

महाराज के परिवार की यह पद्धति रही है कि पुत्र-पौत्रादि के नाम पिता, पितामह आदि के नामानुसार रखे जाते थे, ताकि उन पूज्य पूर्वजों की स्मृति सदा हरी-भरी रही आवे। क्षत्रचूड़ामणि में बताया है कि महाराज सत्यंधर के पुत्र मोक्षगामी जीवंधर स्वामी हुए हैं। जीवंधर स्वामी ने रानी गंधर्वदत्ता से उत्पन्न अपने पुत्र का नाम सत्यंधर

रखा था, ताकि उनकी स्मृति विलुप्त न हो। इससे उस प्रांत की पद्धति का परिज्ञान होता है।

भीम ने सुनाया था - "आजी (माता सत्यवती) आचार्य श्री को 'महाराज' कहती थी। आजी का सारा समय धर्मध्यान में व्यतीत होता था। आजी ने तीन दिन पर्यन्त सल्लेखना ग्रहणकर शरीर त्याग किया था।"

भीम ने कुंथलगिरि में अपने सगे बाबा आचार्य महाराज के दर्शन किए थे। भीम ने कहा - "महाराज ने हम से अधिक बात नहीं की। उन्होंने हमें अपना पवित्र आशीर्वाद दिया था।"

आठवें दिन आहार लेने वाले मुनि

कठिन तपस्या करने वाले और भी मुनिराज दक्षिण में हुए हैं। वोरगाँव के मुनि आदिसागर आठ दिन के बाद आहार लिया करते थे। जब वे भोज आते थे, तो उनको आहार देने का सौभाग्य 'सातगौड़ा' को ही प्राय: प्राप्त होता था। वे अद्भुत प्रवृत्ति के थे। 'एक-तारा' वाद्य द्वारा भजन गाते थे, इत्यादि।

अविचल निश्चय

मध्यप्रदेश के अर्थमन्त्री तथा भूतपूर्व मुख्यमन्त्री मध्यभारत शासन श्री मिश्रीलाल जी गंगवाल ने अपने सार्वजनिक भाषण में इन साधुराज की सुन्दर शब्दों में स्तुति करते हुए कुंथलगिरि में कहा था - "आचार्य महाराज में निर्भीकता रोम-रोम में भरी हुई है। उनके तर्क के समक्ष आदमी बेजुबान - मूक हो जाता है। वे महान् ज्ञानी और अनुपम त्यागी हैं। तूफान, आँधी कुछ भी आवे, वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहे हैं। उनकी श्रद्धा अविचल रही है। उन्होंने मृत्यु को निमन्त्रण दिया है और हमारे समक्ष ही हँसते-हँसते मृत्यु से लड़ रहे हैं।" श्री गंगवाल ने जो आचार्यश्री के विषय में प्रकाश डाला था, वह उनके निकट सम्पर्क तथा परिचय के आधार पर ही कहा था। यह भाषण १७ सितम्बर का था। ता. १८ के प्रभात में महाराज स्वर्गीय निधि बन गए थे।

एकान्तवास से प्रेम

आचार्य महाराज को एकान्तवास प्रारम्भ से ही प्रिय लगता रहा है। भीषण स्थल में भी वे एकान्त निवास को पसन्द करते थे। वे कहते थे - "एकान्त भूमि में आत्मचिंतन और ध्यान में चित्त खूब लगता है।" पूज्यपाद स्वामी ने कहा है- योग साधना में तत्पर योगी, एकान्तवास को पसंद करता है। "इच्छत्येकान्तं संवासं निर्जनं।"

प्रशान्त वातावरण में निर्विघ्न रूप से आत्मचिंतन तथा आत्मध्यान का कार्य होता है। जनसम्पर्क आत्मनिमग्नता में बाधक होता है।

जब महाराज बड़वानी पहुँचे थे, तो बावनगजा (आदिनाथ की मूर्ति) के पास के शांतिनाथ भगवान के चरणों के समीप अकेले रात भर रहे थे। किसी को वहाँ नहीं आने दिया था। साथ के श्रावकों को पहले ही कह दिया था, आज हम अकेले ही ध्यान करेंगे।

मनोबली महर्षि

पूज्यश्री की यह विशेषता रही है कि जहाँ एकान्त रहता था, वहाँ उनका ध्यान बढ़िया होता था; किन्तु जहाँ एकान्त नहीं रहता था, वहाँ भी उनका ध्यान सम्यक् प्रकार से सम्पन्न हुआ करता था। उनका अपने मन पर पूर्ण अधिकार हो चुका था। इन्द्रियाँ उनकी आज्ञाकारिणी हो गई थीं। अतः जैसा उनकी आत्मा आदेश देती थी, वैसी ही स्थिति इन्द्रिय तथा मन उपस्थित कर देते थे।

आदर्श ज्ञान

दर्पण जितना स्वच्छ होता है,उतना ही निर्मल प्रतिबिम्ब बाहर के पदार्थ का उसमें स्वतः दिखाई पड़ता है। आचार्यश्री का अन्तःकरण आदर्श सदृश था। जिनका सारा जीवन आदर्श रहे, उनका हृदय भी सहज ही आदर्श दर्पण रूप हो, यह पूर्ण स्वाभाविक है। उनकी चित्तवृत्ति में अनेक बातें स्वयमेव प्रतिबिम्बित हुआ करती थी।

प्रतिमाजी

यह उस समय की बात है जब पूज्यश्री का वर्षायोग जयपुरनगर में व्यतीत हो रहा था। कुड़ची (दक्षिण) के मंदिर के लिए ब्र. बंडू रत्तू पंचों की ओर से मूर्ति लेने जयपुर आए। महाराज के दर्शन कर कहा - "स्वामिन्! पंचों ने कहा है कि पूज्य गुरुदेव की इच्छानुसार मूर्ति लेना।उनका कथन हमें शिरोधार्य होगा।"

महाराज ने कहा - "वहाँ महावीर भगवान् की मूर्ति विराजमान होगी, ऐसा हमें लगता है; किन्तु तुम तार देकर पंचों से पुनः पूछ लो।" महाराज के कहने पर पंचों को तार दिया गया। वहाँ से उत्तर आया - "भगवान पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमाजी लाना।"

महाराज ने कहा - "क्यों! हम कहते थे न कि पंचों का मन स्थिर नहीं है। अच्छा हुआ, खुलासा हो गया। हमने तुमसे महावीर भगवान की मूर्ति के विषय में कहा था। कारण, हमें वहाँ के मंदिर में महावीर भगवान की प्रतिमा दिखती थी।"

शिल्पी ने कुछ समय बाद भगवान पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा बनादी; किन्तु मूर्ति का फण खंडित हो गया। यह समाचार जब कुड़ची के पंचों को मिला, तब उन्होंने तार भेजकर लिखा जो मूर्ति तैयार मिले, उसे ही भेज दो। तदनुसार मूर्ति रवाना की गई। वह मूर्ति महावीर भगवान की ही थी, जिसमें सिंह का चिह्न था।

दिव्यज्ञान

मूर्ति को देखते ही सबको आश्चर्य हुआ कि आचार्य महाराज ने पहले ही कह दिया था कि हमें तो महावीर भगवान की मूर्ति दिखती है। ऐसे ही ज्ञान को दिव्यज्ञान कहते हैं।

हमारी कर्तव्य-विमुखता

आज के राजनीतिक प्रमुखों की क्षण-क्षण की वार्ता जिस प्रकार पत्रों में प्रगट होती है, वैसी यदि सूक्ष्मता से इन महामना मुनिराज की वार्ताओं का संग्रह किया गया होता, तो वास्तव में विश्व विस्मय को प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। इस पापप्रचुर पंचमकाल में सत्कार्यों के प्रति बड़े-बड़े धर्मात्माओं की प्रवृत्ति नहीं होती है। वे कर्तव्य-पालन में भूल जाते हैं।

कई वर्षों से मैं प्रमुख लोगों से, जैन महासभा के कार्यकर्ताओं आदि से, पत्र द्वारा अनुरोध करता था कि आचार्य महाराज के उपदेशों को रेकार्ड किया जाना चहिए; किन्तु आज करते हैं, कल करते हैं, ऐसा करते-करते वह आध्यात्मिक सूर्य हमारे क्षेत्र की अपेक्षा अस्तंगत हो गया, यद्यपि उस सूर्य का उदय स्वर्गलोक में हुआ है।

रिकार्ड भाषण

आचार्य महाराज का २६ वें दिन मंगलमय भाषण रेकार्ड हो सका, उसकी भी अद्भुत कथा है। नेता बनने वाले लोग कहते थे, अब समय चला गया। महाराज इतने अशक्त हो गए हैं कि वाणी का रेकार्ड तैयार करना असंभव है।

मैंने कहा - "सचमुच में उपदेश नहीं मिलेगा, ऐसा ९९ प्रतिशत समझकर भी यंत्र तो लाना चाहिए। शायद एक प्रतिशत की संभावना सत्य हो जाय।" कुछ भाइयों के प्रयत्न से रिकार्ड की मशीन लेकर इंजीनियर आ गया। उस समय महाराज के पास पं. मक्खनलालजी मुरैना और मैं पहुँचे। उनसे कुछ थोड़े से शब्दों में सारपूर्ण बात कहने की प्रार्थना की।

उस समय महाराज के थके शरीर से ये शब्द निकले - "अरे! पहले लाये होते, तो दसों उपदेश दे देते।"

इन शब्दों का क्या उत्तर था। मस्तक लज्जा से नत था। सचमुच में ऐसी भूल का क्या इलाज हो सकता है। धर्म प्रभावना के महत्त्वपूर्ण कार्यों में ऐसी अज्ञतापूर्ण चेष्टाएँ हुआ करती हैं।

मन में आया देखो! पूज्यश्री की जयंती मनाने में, उनके लिए गजट का विशेषांक निकालने में धार्मिक संस्था जैन महासभा ने पैसे को पानी मानकर खर्च किया; किन्तु इस दिशा में जगाए जाने पर भी समर्थ भक्तों के नेत्र न खुले। यथार्थ में देखा जाय, तो इसमें दोष किसी का नहीं है। जब दुर्भाग्य का उदय आता है, तब हितकारी और आवश्यक बातों की तरफ ध्यान नहीं जाता है।

अमर संदेश

मैंने महाराज से कहा था - "महाराज! दो चार मिनिट ऐसा उपदेश रिकार्ड हो जाए, जिसमें लोगों के मन में धार्मिक भावना जगे।" महाराज ने कहा - "यंत्र लाओ।" यंत्र लाया गया।

महाराज ने नेत्रों को बन्द किया। आँखें बन्द किये हुए उन महापुरुष ने २२ मिनिट पर्यन्त ऐसा उपदेश दिया उसमें जिनागम का सार आ गया और अनुभव के स्तर पर कल्याण की सब बातें आ गईं। उस महत्त्व की बेला में महाराज की कुटी में उनके सामने की तरफ बैठने का मुझे सुयोग मिल गया था। उस समय महाराज की वीतरागता उसवाणी द्वारा बाहर आ रही थी। ऐसा लगता था, मानों हम किन्हीं ऋद्धिधारी महर्षि के मुख से उद्‌गत अमृत वाणी का रसपान ही कर रहे हों। बोलते-बोलते महाराज कुछ क्षण रुक जाते थे।

आज के युग के वक्ता भाषण देते-देते पानी पिया करते हैं। महाराज का यम-सल्लेखना व्रत था। वह उपवास का छब्बीसवाँ दिन था। वे अपने क्षीण तथा शुष्क कण्ठ में बल लाने को 'ॐ सिद्धाय नमः' रूप जिनवाणी का अमृतपान कर लेते थे। और अपना विवेचन जारी रखते थे।

ॐ सिद्धाय नमः

महाराज की कुटी में बहुधा जब कभी महाराज के मुख से कोई शब्द सुनाई पड़ता था, तो वह ॐ सिद्धाय नमः ही था। सिद्ध बनने के सत्संकल्प वाले सत्पुरुष के

मुख से सिद्धों को प्रणामांजलि अर्पित करने वाली वाणी ही पूर्णतया उपयुक्त थी। जब महाराज ने सर्व प्रकार का आहार छोड़ दिया, तब उनकी दृष्टि ज्ञानसुधा रस पान करने वाले अशरीरी सिद्धों की ओर रहना स्वाभाविक थी।

सिद्धलोक में आत्मा का ध्यान

वे एक बार कहते थे, हम तो अनंत सिद्धों के साथ बैठकर सिद्धलोक में अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं। उनकी दृष्टि से सिद्ध भगवान ही तो सर्वत्र दिखेंगे। बाह्यदृष्टि से उन्होंने सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरि को समाधि का आश्रमस्थल बनाया था।

सल्लेखना के लिए उपयुक्त क्षेत्र

मैंने एक दिन पूज्य गुरुदेव से कहा था - "महाराज! आपने कुंथलगिरि को अपनी अमर सल्लेखना का स्थान चुना, इसका कारण मुझे यह लगता है कि देशभूषण, कुलभूषण भगवान बालब्रह्मचारी थे। आप भी उनके समान रहे हैं। आप के जीवन में तो हमें दोनों प्रभुओं का समन्वय प्रतीत होता है। आप देश के भूषण हैं और सम्यक्त्वी जीवों के कुल के भूषण हैं। आपकी समाधि के कारण इस क्षेत्र को नवीन प्राण प्राप्त हो गया। आप के चरणों का सान्निध्य पाकर हमारा जीवन धन्य है।" मैंने यह भी कहा था - "महाराज! जिनेन्द्र भगवान से हमारी प्रार्थना है कि आप सदृश सद्गुरु के चरणों का शरण भव-भव में प्राप्त हो।"

महाराज ने कहा था - "तुम्हारे मन में भक्ति है। इससे तुम ऐसा बोलते हो।"

अप्रतिम साधुराज

वास्तव में विचार किया जाय,तो यह बात प्रत्येक विचारक सोचेगा कि इस काल में ऐसे सद्गुरु का अब दर्शन सचमुच में दुर्लभ है। पंचमकाल के कलुषित वातावरण में प्राचीन साधुओं की तपस्या तथा पवित्रता को अपनी जीवनी द्वारा बताने वाले महाराज शांतिसागरजी के समकक्ष होने की सामर्थ्य किसमें हो सकती है। सचमुच में अलंकार शास्त्र की भाषा में शांतिसागर महाराज शांतिसागर महाराज सदृश थे।" ऐसा कहना ही पूर्ण सत्य होगा, जिस प्रकार पूज्यपाद स्वामी कहते हैं - "स्वर्ग में देवताओं का सुख, स्वर्ग में देवताओं के समान है - "**नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव।**"

-इष्टोपदेश (५)

युग के श्रेष्ठ मानव

इस युग ने राजनैतिक क्षेत्र में जगत् को प्रभावित करने वाला गांधी सदृश तेजस्वी पुरुष दिया। काव्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ समान विश्व कवि दिया, तो अध्यात्म के क्षेत्र में साधु-समाज के शिरोमणि महाराज को दिया, जिनकी पुण्यकथा विश्वविदित है।

विविध मनो-विकल्प

कुंथलगिरि में भारत के कोने-कोने से पंद्रह-बीस हजार तक लोगों का समुदाय इन साधुराज के पावन दर्शन को इस जंगल की पहाड़ी पर आता जाता था। सब आकुलित थे कि अब इस अपूर्वसूर्य का दर्शन आगे न होगा। भौतिक सूर्य जाने के बाद पुनः दर्शन देता है; किन्तु यह धर्म सूर्य पुनः यहाँ दर्शन नहीं देगा।

कल्पना

सल्लेखना की वेला में उन साधुराज की चर्चा स्वर्गलोक में अवश्य हो रही होगी। सौधर्मेन्द्र अपनी सुधर्मा सभा में बैठकर चर्चा कर रहे होंगे कि इस काल में उत्कृष्ट तप और इंद्रिय विजय करने वाला महासाधु शांतिसागर के रूप में भरतखंड में जिनधर्म की प्रभावना करता रहा है। अब हमारे स्वर्गलोक की वह शीघ्र ही श्रीवृद्धि करेगा। वह सुर समाज बड़ी सजधज से इन अप्रतिम साधुराज के स्वागत के लिए हृदय से तैयारी कर रहा होगा। सचमुच में संसार की दशा निराली है। पूर्णिमा की रात्रि को चंद्रमा अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना से विश्व को धवलित करता है। प्रभात होते ही वह अस्तंगत होता है और प्रताप पुंज प्रभाकर उदित होता है। विश्व में भाग्यचक्र इस प्रकार बदलता रहता है। अब १८ सितम्बर १९५५ के प्रभात से सुर समाज का भाग्य जागा कि मध्यलोक की विभूति स्वर्गलोग में पहुँच गई।

स्वर्ग में साथी

स्वर्ग में वे अनेक महापुरुषों के साथी हो गए, जिन्होंने पूर्व में उनकी ही तरह जिनदीक्षा लेकर जिनधर्म की उज्ज्वल आराधना की थी। महर्षि कुंदकुंद, समंतभद्र, अकलंक, जिनसेन, गुणभद्र आदि महापुरुषों ने रत्नत्रय की समाराधना द्वारा देव पदवी प्राप्त की होगी, इसमें संदेह की क्या बात है। संयम और समाधि के प्रसाद से आचार्य शांतिसागर महाराज भी उन श्रेष्ठ आत्माओं की मधुर मैत्री का रसास्वाद करते होंगे। उन्होंने तो सीमंधर स्वामी आदि विद्यमान बीस तीर्थंकरों के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य

प्राप्त किया होगा। वहाँ से च्यव कर वास्तव में वे धर्मतीर्थ के प्रवर्तक होंगे। इस सम्बन्ध में दृढ़तापूर्वक कथन तो प्रत्यक्षवेदी मुनियों का ही हो सकता है। हम लोग तो अनुमान प्रमाण के आधार से ही सोच सकते हैं।

संयमी का महत्त्व

आचार्य महाराज की दृष्टि में संयम तथा संयमी का बड़ा मूल्य रहा है। एक दिन वे अपने क्षुल्लक शिष्य से कह रहे थे - "तेरे सामने मैं चक्रवर्ती की भी कीमत नहीं करता। लोग संयम का मूल्य समझते नहीं हैं। जो पेट के लिए भी दीक्षा लेते हैं, वे तप के प्रभाव से स्वर्ग जाते हैं, तूने तो कल्याणार्थ संयम धारण किया है। तू निश्चय से स्वर्ग जायगा, इसमें रत्ती भर शंका मत कर।"

प्रिय शिष्य को हितोपदेश

एक बार महाराज अपने एक भक्त गृहस्थ को समझा रहे थे - "तुम घर में रहते हुए भी एकान्त में रहा करो। जहाँ भीड़ हो, वहाँ नहीं रहना। ध्यान, स्वाध्याय करना। दीक्षा लेना। घर में नहीं मरना। मनुष्य भव बार-बार नहीं मिलता है। मोह ने जीव को पछाड़ दिया है । अब उस मोह को पछाड़ना चाहिए। अतः सल्लेखना लेकर ही मरण करना।"

मोह मल्ल को पछाड़ने की कला के ज्ञाता

आचार्य महाराज के भक्त ब्रह्मचारी जिनदास भरड़ी (बेलगाँव) वाले वहाँ कुंथलगिरि में भी आये थे। वे ब्रह्मचारीजी नामांकित पहलवान रहे हैं। राजदरबारों के समक्ष भी कुश्ती में वे यशस्वी हुए हैं। मैंने पूछा - "ब्र.जी! अब कुश्ती नहीं लड़ते।" वे बोले - "अब हमने मेहनत करना बंद कर दिया। अब हमारे गुरु शांतिसागर महाराज हैं। हम उनके पास कुंथलगिरि आए हैं। वे हमें कर्मों से कुश्ती लड़ने का दांव पेंच सिखावेंगे। कारण, आचार्य महाराज मोहमल्ल को पछाड़ने की कला में अत्यन्त दक्ष हैं।"

महान् आध्यात्मिक उद्योगपति

आचार्य महाराज आध्यात्मिक उद्योगपति थे। आज का उद्योगपति वह होता है, जिसके तत्त्वावधान में बड़े-बड़े कारखाने चलते हैं। महाराज का उद्योग पुद्गल के बंधन काटने का था। वे मोहारि-विजय के उद्योग में निरन्तर उद्यत रहते थे। उनके जीवन में विविधता थी। वे आत्मचिंतक थे; किन्तु जिनेन्द्र के पुण्य नाम स्मरण करने में भी वे

असाधारण थे। सल्लेखना लेने के पूर्व वे अपने पंच परमेष्ठी वाचक विशिष्ट मंत्र की १८ कोटि जाप पूर्ण कर चुके थे।

भयंकर ज्वर में भी जाप

उनका जाप का कार्यक्रम निर्बाध गति से चला करता था। भयंकर ज्वर चढ़ा है। थर्मामीटर के हिसाब से ज्वर १०४ या १०५ डिगरी को पहुँच चुका है; किन्तु ये मनोबली मुनिराज अपने जाप के काम में निमग्न रहते थे। एक बार महाराज फलटण से लोणंद गए थे, कारण फलटण के हीरक जयंती के समय से महाराज को ज्वर आने लगा था। उस समय की स्थिति का ज्ञान होने से मैंने पूज्यश्री से पूछा था - "महाराज ! ऐसी ज्वर की भीषण स्थिति में तो आपका जप कार्य स्थगित होता होगा?"

महाराज - "उस समय भी हम बराबर जाप करते थे। उस समय भी जाप में बाधा नहीं पड़ती थी।"

धर्मवृक्ष की छाया

शरीर के श्रान्त होते हुए भी उनका मन धार्मिक प्रवृत्तियों के विषय में सदा नव-स्फूर्ति पूर्ण रहता था। आदत मनुष्य के दूसरे स्वभाव (Second nature) सदृश मानी जाती है। जिनेन्द्र भगवान को हृदय में विराजमान कर उनकी जन्मजन्मांतर से की गई आराधना का ही यह सुफल रहा है कि वे आत्मकल्याणकारी कार्यों में सदा सफल रहे। इस धर्मवृक्ष की शरण को ग्रहण करने वालों को सदा कल्पनातीत सुफल मिले हैं तथा आगे मिलते रहेंगे।

उपवासों की संपत्ति

उनके द्वारा जीवन में किए गए उपवासों की गणना करना कठिन है। कोई न कोई व्रत चलता ही जाता था। एक उपवास, एक भोजन तो उनके लिए बहुत ही सामान्य बात थी। वह क्रम प्रायः चलता था।

महाराज एक दिन कहते थे - "उपवास से शरीर में प्रमाद नहीं रहता। और समय यदि हम दस मील चलते, तो उपवास के दिन शरीर हल्का रहने के कारण सहज ही पंद्रह मील चले जाते थे।" उनको हमने कभी भी प्रमादपूर्ण अवस्था में नहीं देखा। यथार्थ में प्रमत्त गुणस्थानवर्ती होते हुए भी उनकी चेष्टाएँ सदा अप्रमत्त थीं।

उनकी एक पुस्तक से ज्ञात हुआ कि उन्होंने तीस-चौबीसी भगवान के ७२० उपवास किए थे। ३०×२४ = ७२० उपवास तीस-चौबीसी व्रत में होते हैं। व्रतों के

१२३४ उपवास हुए थे। सोलहकारण व्रत को १६ वर्ष किया। उसमें उनका एक उपवास, एक आहार का क्रम चलता रहता था। सिंहविक्रीड़ित सदृश कठोर तप उन्होंने किया। आष्टाह्निक व्रत, दशलक्षण व्रत, कवलचांद्रायण व्रत, कर्मदहन व्रत, श्रुतपंचमी व्रत आदि उन्होंने किये थे। गणधरों के चौदहसौ बावन उपवास करने का क्रम चल रहा था, उसमें दो सौ उपवास हो पाए थे। तपस्या के द्वारा मन की मलिनता दूर होती है। आत्मा विशुद्धता प्राप्त करती है। महान् तपस्या के कारण विपत्ति की स्थिति में उनका मन उनकी आज्ञा के आधीन रहता था। सच्चा साधुत्व तो तभी है, जब विपत्ति के समय वह अपनी प्रतिज्ञा से न डिगे। संकट के समय भी महाराज में अद्भुत स्थिरता, आत्मविश्वास तथा दृढ़ता का दर्शन होता था। कवि का यह कथन सत्य है -

भक्ति भाव भादों नदी, सबै चली घहराय।
सरिता सोई जानिए, जेठ मास ठहराय॥

धर्मसूर्य

महाराज का जीवन तपोमय था। उन्होंने धर्म का सूर्य बनकर स्व तथा पर का प्रकाशन किया। जिस प्रकार प्रभापुंज भास्कर भी कुछ जीवों की दर्शन शक्ति में बाधक बन जाता है, इसी प्रकार ऐसी भी आत्माएँ मिलेंगी, जो इस तेजोमय विभूति के महत्त्व को स्वीकार करने में अक्षम हों। जिन जीवों को कुयोनियों में परिभ्रमण करना है, उनकी आत्मा सत्कार्यों से द्वेष करती है। अच्छी बातों के बारे में अनुभूति की क्षमता उनमें नहीं रहती है, जैसे पक्षाघात लकवा पीड़ित व्यक्ति के अंगों में सप्राणता की शून्यता आ जाती है।

आश्चर्यप्रद योगीश्वर

महाराज कोगनोली में क्षुल्लक के रूप में थे। वे मंदिर में बैठे थे। वहाँ एक बड़ा सर्प आया। उसने उस पाट को घेर लिया, जिस पर वे बैठे थे। वह १२ बजे से ३ बजे दिन तक वहाँ रहा आया। महाराज भी आसन पर चुपचाप बैठे रहे। उपाध्याय वहाँ आया, तो महाराज ने उसे पास में आने से मना किया। कारण साँप पास में फिर रहा था। महाराज शांत थे, इनमें ऐसी महानता थी। ये महान् साधु बने, महाव्रती हुए, आचार्य हुए, चारित्र चक्रवर्ती हुए, इनकी गहराई और ऊँचाई को कौन नाप सकता है? आज का समुद्र अधिक से अधिक पाँच मील गहरा कहा जाता है और सबसे ऊँचा कहा जाने वाला हिमालय भी पाँच मील के लगभग है; किन्तु आचार्य महाराज इतने उन्नत और गम्भीर

रहे हैं कि उनका माप नहीं किया जा सकता। एक शास्त्रकार का कथन है कि महापुरुष मेरु से भी अधिक उन्नत और सागर से भी अधिक गम्भीर होते हैं। यह उक्ति आचार्यश्री के पूर्ण जीवन को देखते हुए अत्युक्ति नहीं लगती है।

आचार्यश्री का प्रभाव

कूपजल - आचार्य महाराज कटनी चातुर्मास के पश्चात् जबलपुर आते समय जब बिलहरी ग्राम पहुँचे, तो वहाँ के लोग पूज्यश्री की महिमा से प्रभावित हुए। वहाँ के सभी कुए खारे पानी के थे। एक स्थान पर आचार्य महाराज बैठे थे। भक्त लोगों ने उसी जगह कुआ खोदा। वहाँ बढ़िया और अगाध जल की उपलब्धि हुई। आज भी गाँव के लोग इन साधुराज की तपस्या को याद करते हैं।

बालक सुरक्षित - पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने बताया कि कटनी की जैन शिक्षासंस्था के २० फुट ऊँचे मंजिले पर एक ३ वर्ष का बच्चा बैठा था। एक समय और बालकों ने आचार्य महाराज का जयघोष किया। वह बालक भी मस्त हो महाराज की जय कहकर उछला और नीचे ईंट, पत्थर के ढेर पर गिरा। सुयोग की बात जिस कोने पर वह गिरा, उस जगह पत्थर आदि का अभाव था। सब कह बैठे यह आचार्य महाराज के पुण्यनाम का प्रभाव है।

वृक्ष का चमत्कार - कटनी में एक प्राणहीन सरीखा आम का वृक्ष था। वह फल नहीं देता था। एक बार उस वृक्ष के नीचे आचार्यश्री का पूजन हुआ। तब से वह डाल फल गई, जिसके नीचे साधुराज विराजमान हुए थे। इस घटना से सभी कटनीवासी परिचित हैं।

सिंह की दृष्टि तत्त्व पर रहती है। वह लाठी प्रहार करने वाले या बन्दूक मारने वाले पर प्रहार करता है। इसी प्रकार महाराज संकट के समय दूसरों को दोष न देकर, अपने कर्मों को ही उस विपत्ति का कारण मानते थे। दूसरों पर दोष रखकर अपने को उज्ज्वल बताने की लौकिक प्रवृत्ति उनमें नहीं पाई जाती थी।

संवेग भावना

एक बार महाराज, नेमिसागर महाराज तथा ब्र. बंडू रत्तू सांगली की तरफ जा रहे थे। मार्ग में तीन हरिजन स्त्रियों ने इन मुनियुगल को देखा और तिरस्कारपूर्वक इन दिगम्बर साधुओं का महान् उपहास किया। उस समय महाराज ने आपस में चर्चा करते

हुए कहा - "हमने अनादिकाल से संसार भर की हँसी की। अब हमारी हँसी हो रही है, यह उसका ही तो फल है। इसमें हमारा क्या नुकसान है?"

कुछ समय के पश्चात् कुछ मुसलमान आ गए। उनकी डाँट से वे नीच नारियाँ चुपके से चली गईं।

मुनियों के अकेले रहने से हानि

साधुओं को अपने मन को सदा सावधान रखना आवश्यक है। न जाने कब इन्द्रिय रूपी डाकू आक्रमण कर उनकी संयमनिधि को लूटने को तैयार हो जाँय? आचार्यश्री सदा कहा करते थे कि मुनियों को संघ में रहना चाहिए। शत्रु भी यदि साधु बने, तो उसे भी संघ में विहार करने को कहना चाहिए।

आज मुनियों में स्वतन्त्र विहार की प्रवृत्ति बढ़ रही है। आचार्य महाराज की दृष्टि से मुनियों का कल्याण तथा धर्म संरक्षण इसमें है कि वे संघ बनाकर रहें। ऐसे प्रसंग पर जब मनुष्य का पतन दुर्बलतावश होता है या दुष्टों का समागम होता है, तब संघस्थ साधु सुरक्षित रहता है और उसे अपनी धार्मिक मर्यादा में स्थिर रहने की बहुत प्रेरणा मिलती है।

बालक का समाधान

आचार्य महाराज सन् १९५३ में बारसी में विराजमान थे। उत्तर भारत का एक बालक अपने कुटुम्बियों के साथ गुरुदेव के दर्शन को आया। वह बच्चा लगभग ५ वर्ष का था। उसने पहले महाराज का साँपयुक्त चित्र देखा था। इससे वह महाराज से बोला - "तुम्हारा साँप कहाँ है?" महाराज बच्चे के आशय को समझ गए। वे मुस्कराते हुए बोले - "वह साँप अब यहाँ नहीं है। वह तो चला गया।"

महान् जिनेन्द्रभक्ति

कुंथलगिरि में आचार्यश्री की इच्छानुसार मैसूरराज्य से एक १५ फुट ऊँची प्रतिमा लाने का विचार चला था। बाहुबली स्वामी की एक सुन्दर मूर्ति मिल गई है। उस प्रतिमा की फोटो आचार्यश्री के समक्ष एक सितम्बर १९५५ को दिखाई गई। वह उपवास का १९ वाँ दिन था। फोटो देखते ही उनके नेत्रों से आनंदाश्रु की धारा प्रवाहित हो गई। महाराज बोले - "मेरी इच्छा पूर्ण हो गई।" सच्चे सम्यक्त्वी को जिस प्रकार वीतराग की छवि आनंद देती है, उसी प्रकार का आनंद इन साधुराज का था। महाराज को विश्वास दिलाया गया था कि शीघ्र ही मूर्ति कुंथलगिरि आ रही है; किन्तु उनके दिवंगत होने के बाद भी वह मूर्ति नहीं आ पाई। इसका रहस्य क्या है, यह अज्ञात है।

इन्द्रियों का गुलाम दुःखी है

एक व्यक्ति ने महाराज के समक्ष प्रश्न किया - "महाराज! आपके बराबर कोई दुःखी नहीं है। कारण, आपके पास सुख के सभी साधनों का अभाव है।" महाराज - "वास्तव में जो पराधीन है, वह दुःखी है। जो स्वाधीन है, वह सुखी है। इंद्रियों का दास दुःखी है। हम इंद्रियों के दास नहीं हैं। हमारे सुख की तुम क्या कल्पना कर सकते हो?"

विशुद्ध जीवन का प्रभाव

आचार्यश्री ऐसे निरीह और निस्पृह तपस्वियों में थे, जो अपने तप के द्वारा प्राप्त फल या विशेष सामर्थ्य के विषय में पूर्णतया निरपेक्ष रहते थे; फिर भी कुछ लोगों ने साधुराज के उज्ज्वल व्यक्तित्व द्वारा लाभ उठाया है।

मस्तक पीड़ा निवारण

वेडणी ग्राम के एक धनिक बंधु विपुल द्रव्य खर्च करते-करते थक गए थे; किन्तु उनके सिर की पीड़ा नहीं जाती थी। उसने आचार्य महाराज के चरणों में नम्र भाव से विनती की और अपनी दारुण व्यथा सुनाई। दयार्द्र भाव से आचार्यश्री ने उस व्यक्ति के सिर पर अपनी पिच्छी रख दी। तत्काल वह हमेशा के लिए उस पीड़ा से छूट गया। वास्तव में जड़ प्रयोग जहाँ हार जाते हैं, वहाँ पर योगियों का चमत्कार जगत् को चकित कर देता है।

सर्पदंश का जीवन-रक्षण

फलटण के श्री तलकचंद देवचंद गांधी के यहाँ के दस वर्ष के बालक को साँप ने काट लिया। आचार्य महाराज के समक्ष वह बालक लाया गया। उसे ध्यान से देखकर महाराज ने कहा - "चिन्ता मत करो। यह ठीक हो जायगा।" इसके पश्चात् वह बालक निर्विष हो गया।

कुष्ठ रोगी

नसलापुर में एक व्यक्ति पापोदय से गलित कुष्ठ की बीमारी से दुःखी हो रहा था। वह महाराज की सेवा में पहुँचा। उसने बहुत अनुनय-विनय की। गुरुदेव ने उसे ब्रह्मचर्य व्रत देते हुए कहा - "तू छहमाह के भीतर ठीक हो जायगा।" महाराज की वाणी के अनुसार वह स्वस्थ हो गया।

मृगी रोगी

एक व्यक्ति मृगी के रोग के कारण अपार व्यथा पा रहा था। सभी लोगों को ऐसा लगता था कि वह व्यक्ति न जाने कहाँ गिरकर मृगी के कारण मर जायगा। उसने महाराज की सेवा में रहकर बहुत दिन गुरुदेव के प्रसादार्थ प्रार्थना की। एक समय महाराज बाहर जा रहे थे। वह उनके पीछे लग गया और अपनी विनय स्वामी की सेवा में सुनाई।

आचार्यश्री ने कहा - "तू पूजन किया करना। थोड़े समय में ठीक हो जायगा।" थोड़े समय में वह उस भीषण व्याधि के कुचक्र से बच गया। महाराज के हृदय से निकली हुई वाणी का अद्भुत प्रभाव देखा गया है।

वानर वृन्द पर प्रभाव

शिखरजी की तीर्थ वंदना से लौटते हुए महाराज का संघ सन् १९२८ में विंध्यप्रदेश में आया। विंध्याटवी का भीषण वन चारों ओर था। एक जगह संघ पहुँचा, वहाँ ही आहार बनाने का समय हो गया। श्रावक लोग चिन्ता में थे कि इस जगह वानरों की सेना का स्वच्छन्द शासन तथा संचार है, ऐसी जगह किस प्रकार भोजन तैयार होगा और किस प्रकार इन साधुराज की शास्त्रानुसार आहार की विधि संपन्न होगी? उस स्थान से आगे चौदह मील तक ठहरने योग्य जगह नहीं थी।

संघपति सेठ गेंदनमलजी जवेरी आचार्यश्री के समीप पहुँचे। उन्होंने कहा- "महाराज! यहाँ तो बंदरों का बड़ा कष्ट है। हम लोग किस प्रकार आहारादि की व्यवस्था करेंगे।"

महाराज बोले -"तुम लोग शीरा, पूड़ी उड़ाते हो। बंदरों को भी शीरा पूड़ी खिलाओ।" इसके बाद वे चुप हो गए। उनके मुख मंडल पर स्मित की आभा थी। वहाँ संघ के श्रावकों ने कठिनता से रसोई तैयार की; किन्तु डर था कि महाराज के हाथ से बंदर ग्रास लेकर न भागें, तब तो अंतराय आ जायगा। इस स्थिति में क्या किया जाय? लोग चिंतित थे।

अस्तु, चर्या का समय आया। शुद्धि के पश्चात् आचार्य महाराज जैसे ही चर्या के लिए निकले कि सैकड़ों बंदर स्वयमेव अत्यन्त शान्त हो गए और चुप होकर महाराज की चर्या की सारी विधि देखते रहे। बिना विघ्न के महाराज का आहार हो गया। इसके क्षण भर पश्चात् बंदरों का उपद्रव पूर्ववत् प्रारंभ हो गया। गृहस्थ बंदरों को रोटी खाने को देते जाते थे और स्वयं भी भोजन करते जाते थे। ऐसी अपूर्व दशा महाराज के आत्म-विकास तथा आध्यात्मिक प्रभाव को स्पष्ट करती है।

आत्मध्यान का उपाय

एक दिन आर्यिका विशालमती अम्मा ने पूज्य गुरुदेव से पूछा - "महाराज! आप आत्मा का ध्यान करो, यह कहते हैं। किस प्रकार आत्मा का ध्यान किया जाय?"

महाराज ने सूत्ररूप में एक महत्त्व की बात कही - "गप बसाला सीखा - पूर्ण चुपचाप रहना सीखो।" इन थोड़े सारपूर्ण शब्दों में योगिराज ने योगविद्या का रहस्य कह दिया। चुप बैठकर अंतर्जल्प बन्द करना सामान्य बात नहीं है।

अनुभवपूर्ण कथन

इस विषय को समझाते हुए महाराज ने कहा था - "स्त्रियों को अपने हृदय में स्फटिक की मूर्ति विराजमान करके उसका ध्यान करना चाहिए। पुरुषों को अपने शरीर में विद्यमान आत्मा के भीतर ही देखना तथा विचारना चाहिए। कायगुप्ति, वचन गुप्ति तथा मनगुप्ति पालन करना चाहिए। अंतर्जल्प को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करते-करते मुक्ति मिलेगी।"

योगिराज का अपूर्व अनुभव

उन्होंने यह अनुभव की बात कही थी - "सबेरे आठ बजे सूर्य की तरफ पीठ करके खड़े हो जाओ। कायोत्सर्ग होकर १५ मिनिट पर्यन्त आत्मा का ध्यान करो। कुछ अभ्यास के बाद तुमको शरीर बराबर स्फटिक की मूर्ति दिखाई पड़ेगी।"

शिक्षण के विषय में आदर्श विचार

आचार्य महाराज की आदत रही है कि जो भी काम किया जाय, वह श्रेष्ठ हो। वे संख्या (quantity) के स्थान पर गुण (quality) को महत्त्व देते थे। श्रीशांतिसागर अनाथाश्रम शेडवाल के संचालक महोदय को महाराज ने कुंथलगिरि में कहा था - "शेडवाल आश्रम में पाँच छात्र रहें, तो भी अच्छी तरह उसे चलाना। अधिक संख्या का मोह मत करना। कार्य अच्छा होना चाहिए।"[१]

---

१. विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'विश्वभारती' विद्यालय में पहले केवल पाँच ही विद्यार्थी थे। उनमें एक कविवर का पुत्र था; "During the first year Rabindranath had only five pupils, one of whom was his own son"। कविवर के समक्ष एक विशेष आदर्श था। संख्या का मोह न था। आज वह संस्था विश्वविद्यालय बनकर अत्यन्त समृद्ध स्थिति में है। जो लोग संख्या की ममता के बीमार हैं, उनको आचार्य महाराज तथा लौकिक-जगत् में विख्यात कवीन्द्र रवीन्द्र की दृष्टि से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए।

-Rabindranath Tagore by Sykes, page 52

शिक्षण के विषय में महाराज की दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट थी कि विद्यार्थी को ऐसा ज्ञान दिया जाय, जिससे वह आत्मा का कल्याण करते हुए अपने नरभव को सफल बना सके। जिसके द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण न कर सके, ऐसी पढ़ाई, ऐसे तत्त्वदर्शी मुनिनाथ को कैसे पसन्द आ सकती थी? जिन महात्मा ने संसार-सुखों का परित्याग करके परमार्थ की सिद्धि में जीवन लगा दिया, उन पुरुषरत्न की दृष्टि विषयासक्त साक्षरों से भिन्न होना स्वाभाविक है।

महाराज के विचारानुसार धार्मिक समाज के विपुल धन द्वारा पोषित बड़े-बड़े विद्यालय तक योग्य चरित्रनिष्ठ विद्वान बनाने के क्षेत्र में पिछड़े हुए हैं। आज संस्थाओं से जो छात्र विद्वान बनने का प्रमाण-पत्र लेकर बाहर आते हैं, उनमें बहुतों का संयम से तनिक भी प्रेम नहीं रहता, न संयमियों की सेवा-भक्ति के लिए उनके मन में सद्भावना रहती है।

जिनेन्द्र-भक्ति को भी वे समाज के सपूत विपत्ति मानते हैं। ऐसे स्वच्छन्द ज्ञाताओं की, चरित्रभ्रष्ट कथित त्यागियों तथा धनिकों से खूब पटती है। इससे अधर्म की ओर लोगों का झुकाव होता है। इस कारण आचार्यश्री उस शिक्षा को कल्याणप्रद कहते थे, जो 'चारित्तं खलु धम्मो' की हृदय से प्रतिष्ठा करती है। ऐसी पाप-पोषिणी-विद्या, जिसे सीखकर पश्चात् जन्मान्तर में जीव नरक या तिर्यंच पर्याय की शोभा बढ़ावे, धर्मगुरु को कैसे इष्ट हो सकती है?

कर्णधारों का कर्त्तव्य

आज वास्तव में समाज के कर्णधारों का कर्तव्य है कि अपने ज्ञानकेन्द्रों की बारीकी से जाँच करके उनको इस रूप में चलावें कि आचार्यश्री के दृष्टिकोण से उसकी अनुकूलता हो।

महान् आचार्य जिनसेन स्वामी ने बताया है कि आदिनाथ भगवान ने अपने परिवार के बालक-बालिकाओं को विविध शास्त्रों में निपुण बनाया था; किन्तु उनकी दृष्टि से लोकविद्या के साथ परमार्थ विद्या का भी शिक्षण आवश्यक है। आदिपुराण के ये शब्द विशेष हितप्रद हैं -

> **राजविद्यापरिज्ञानादैहिकार्थे दृढा मतिः।**
> **धर्मशास्त्र-परिज्ञानमतिर्लोकद्वयाश्रिता॥ पर्व ४२-३४**

-राजविद्या के ज्ञान से लौकिक वस्तुओं के विषय में बुद्धि सुदृढ़ बनती है; किन्तु धर्मशास्त्र के परिज्ञान से उभय लोकों के विषय में बुद्धि को दृढ़ता प्राप्त होती है।

(१) "आचार्य यतिवृषभ कहते हैं कि आगम के अध्ययन से 'अण्णाणस्स विणासो - 'अज्ञान का विनाश, "णाण-दिवायरस्स उप्पत्ती" ज्ञान दिवाकर की उत्पत्ति, "देवमणुस्सादीहि-संततमब्भाच्चप्पयाराणि" - देव तथा मनुष्यों के द्वारा सदा पूजा एवं "पडिसमय-असंखेज्ज-गुणसेढिकम्मणिज्जरणं" प्रति समय उत्पन्न होने वाली असंख्यात गुणश्रेणि रूप कर्मनिर्जरा का प्रत्यक्ष लाभ होता है। आगामी काल में श्रेष्ठ अभ्युदय तथा सिद्धत्व की प्राप्ति होती है।

परमार्थ ज्ञान

लौकिक ज्ञान का सिंधु परमार्थ ज्ञान के बिन्दु की महत्ता को भी नहीं प्राप्त कर सकता है। इस भोगप्रधान युग की दृष्टि अनर्थ के जनक अर्थ की आराधना में अत्यधिक संलग्न पाई जाती है, इससे तीर्थंकरों की पुण्य संस्कृति का अवबोध कराने वाली विद्या की भी दृष्टि अर्थ की समाराधना में तत्पर पाई जाती है। यथार्थ में जगत् का कल्याण अर्थ की अन्ध आराधना में नहीं है। संपत्ति सत्पात्रों का अनुगमन करती है। लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम हुए बिना द्रव्य की उपलब्धि नहीं होगी। वादीभसिंह सूरि ने लिखा है - "पात्रतां नीतमात्मानं स्वयं यान्ति हि संपद:" - जो आत्मा अपने को सत्पात्र बनाता है, उसके समीप संपत्ति स्वयमेव आती है।

ज्ञानधन के विषय में पंडित टोडरमल जी

जिन विद्याप्रेमियों की दृष्टि लक्ष्मी की चकाचौंध से चकित हो उठी हो, उन्हें पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी सचेत करते हुए कहते हैं - "रे पापी! धन किछू अपना उपजाया तो न हो है। भाग्यतें होय है; सो ग्रन्थाभ्यास आदि धर्मसाधन तें जो पुण्य उपजै ताही का नाम भाग्य है। बहुरि धन होना है, तो शास्त्राभ्यास किए कैसे न होगा? अर न होना है, तो शास्त्राभ्यास न किये कैसे होगा? तातैं धन का होना न होना उदयाधीन है। शास्त्राभ्यासविषैं काहे कौं शिथिल हूजें। बहुरि सुन, धन है सो तौ विनाशीक है, भयसंयुक्त है, पापतैं निपजै है, नरकादिक का कारण है। अर यहु शास्त्राभ्यास रूप ज्ञान-धन है जो अविनाशी है, भयरहित है; धर्म रूप है, स्वर्ग मोक्ष का कारण है। सो महन्त पुरुष तो धनादिकको छोड़ शास्त्राभ्यास विषै लगे हैं, सो तू पापी शास्त्राभ्यास कौ छुड़ाय धन उपजावने की बड़ाई करे है।"

शास्त्रज्ञ की महत्ता

वे आगे यह भी लिखते हैं - "बहुरि तैं कह्या धनवान के निकट पंडित भी आनि प्राप्त होइ, सो लोभी पंडित होहु अर अविवेकी धनवान होहि तहाँ ऐसे हों है। अर शास्त्राभ्यास वालों की तो इंद्रादिक सेवा करैं हैं। इहाँ भी बड़े-बड़े महन्त पुरुष दास होते देखिये हैं, तातैं शास्त्राभ्यास वालों तैं धनवान को महंत मति जानों।" उनका यह कथन भी चिरस्मरणीय है - "देखो, शास्त्राभ्यास की महिमा; जाकौं होते परंपरा आत्मानुभव दशा कौं प्राप्त होइ सो मोक्षमार्ग रूप फल निपजै है, सो तो दूर ही तिष्ठौ; तत्काल इतने गुण हो हैं, क्रोधादिक कषायन की मन्दता होय है। पंच इन्द्रियन की विषयनि विषैं प्रवृत्ति रुकै है अति चंचल मन भी एकाग्र होय है। हिंसादि पंच पाप न प्रवर्तै हैं, हेयोपादेय की पहिचान होय है, आत्मज्ञान सन्मुख होय है।" जिनवाणी का अभ्यास और उसके परिशीलन के विषय में उपर्युक्त कथन भ्रम भाव को दूर किए बिना नहीं रहेगा।

लौकिक शास्त्रों का अभ्यास

आत्म-कल्याण-कारिणी विद्या के अभ्यास के साथ प्रतिभाशाली गृहस्थ के लिए अन्य लौकिक शास्त्रों का अध्ययन भी उचित कहा गया है। महापुराणकार भगवज्जिनसेन स्वामी ने, उपासकाचार एवं अध्यात्म शास्त्र के साथ शब्दविद्या, अर्थशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, गणितशास्त्र, छंदशास्त्र, शकुनशास्त्र आदि का अभ्यास भी उपयोगी बताया है।

वीरसागर की देशना

शिक्षा के सम्बन्ध में आचार्य वीरसागर महाराज का यह कथन भी तत्त्वचिंतकों के लिए माननीय है - "जैनधर्म के महत्त्व को बढ़ाने के लिए हमें गुरुकुल चाहिए, जो हमारे पूर्णतया स्वाधीन हो। वहाँ जैनधर्म के ज्ञाता सच्चरित्र विद्वान् तैयार किये जावें,जो यह बतावें कि जैनधर्म कितना महत्त्वपूर्ण है। आज लोग अपनी संस्थाओं को सरकार के आधीन करदेते हैं। सरकार का स्वामित्व रहता है। उनकी ही शिक्षा रहती है। हमारी स्वाधीनता कहाँ रही, हमारी संस्था तो पूर्णतया हमारे स्वाधीन रहनी चाहिए।"

अत: धन की लोलुपतावश संस्थाओं का भाग्य अनुभव-शून्य धनिकों की इच्छा पर न छोड़कर सद्गुरु के कल्याणकारी संकेत के अनुसार प्रवृत्ति होनी चाहिए। बहुत विद्यार्थियों के बदले चरित्रवान श्रद्धालुधार्मिक थोड़े भी छात्र संस्कृति-संरक्षण की दृष्टि से हितकारी होंगे। धर्म और संस्कृति के संरक्षणार्थ विद्वानों का अभाव बढ़ने लगा

है, अत: इस प्रश्न को सुलझाने की ओर धार्मिक बंधुओं का गंभीर ध्यान जाना उचित है, आवश्यक भी है।

सेवा द्वारा सुफल लाभ

आचार्य महाराज तो वीतराग भाव वाले मुनि रहे हैं; किन्तु उनकी शरण में आने वालों को समृद्धि मिली है और उनसे विमुख होने वालों को विपत्ति। महाकवि धनंजय ने कहा है - "हे जिनेन्द्र! आपके उन्मुख रहने वाला सुख पाता है। और विमुख बनने वाला कष्ट भोगता है। आप दर्पण के समान उन दोनों के समक्ष एक रूप में रहते हैं।" -दर्पण के समक्ष जैसा मुख व्यक्ति का रहता है, वैसा वह दिखता है। वह मुख को अच्छा बुरा नहीं बनाता है। महान् आत्माओं की ऐसी ही कीर्ति सुनी जाती है। उनसे रूठने वाला अहंकारी व्यक्ति कष्ट भोगा करता है।

आचार्य महाराज की सेवा में संलग्न रहने वाले अनेक व्यक्ति यदि अपनी-अपनी कथा लिखें, तो एक पुराण बन जाय, जिससे यह पता चलेगा कि किस प्रकार हीन या मध्यम परिस्थिति से वे संपन्न तथा समृद्ध हुए। अजैनों ने भी महाराज की भक्ति और सेवा से आनंद लिया है। धर्म और धार्मिक का शरण लेने वाला यथार्थ में सुख को प्राप्त करता है।

भक्त-अभक्त

नसलापुर में एक मुसलमान था। वह महाराज के दर्शन के पश्चात् ही शुद्ध भोजन करता था। उस भक्त की बहुत उन्नति हुई। वहाँ एक दर्जी भी था, जो द्वेष भाव धारण करता था। एक वर्ष में ही उसका बहुत पतन हुआ। ऐसी ही अनेक स्थानों की बातें सुनी जाती हैं।

वास्तव, में प्रशममूर्ति आचार्यश्री महान् आध्यात्मिक विभूति थे। उपनिषद् में जिसे पराविद्या कहा है, उसके वास्तव में आचार्य थे। यथार्थ में वे इस भौतिकवादी युग में लोकोत्तर महामानव थे।

श्रमणों के संस्मरण

***

तपोमूर्ति महामुनि
श्री वर्धमानसागर महाराज के संस्मरण

(स्वर्गीय वर्धमानसागर महाराज आचार्य शांतिसागर महाराज के जयेष्ठ बंधु थे)

बाहुबली क्षेत्रदर्शन

इन परमपूज्य साधुराज का दर्शन १५ फरवरी सन् १९५७ को ८ बजे सुबह बाहुबली क्षेत्र (कुम्भोज ग्राम जिला कोल्हापुर) में शुक्रवार के दिन हुआ था। उस दिन जिनेन्द्र पंचकल्याणक में जन्मकल्याणक का महोत्सव हो रहा थाा इनका शरीर सुडौल, गेंहुआवर्ण युक्त था। ज्येष्ठ सुदी दशमी शक संवत् १७८५ ईसवी सन् १८६३ में इनका जन्म हुआ था। ६४ वर्ष की जिनकी अवस्था हो, दिगम्बर शरीर और मन भी जिनका दिगम्बर हो ऐसे साधुराज के दर्शन से बड़ी शान्ति मिली।

वर्धमान भगवान के शासनकाल में वर्धमान वय वाले सकल संयम की साधना में अत्यन्त वर्धमान, वर्धमान स्वामी के दर्शन से अन्तः करण का आनन्द भी वर्धमान हुआ। उनकी स्थिरता निर्मलता और सर्वाङ्गीण साधुता का परिचय पाकर मन आनन्दित होने के साथ चकित भी होता था। अधिक वृद्ध व्यक्ति से चला नहीं जाता, शरीर अपना वीभत्स रूप दिखाता है और वह तो अर्धमृतक (मृतप्राय) सा लगता है, उस शरीर में श्रावक के सामान्य संयम का अभ्यास भी आज दिन शक्य नहीं होता। मृत्यु के पास पड़ा हुआ वह वृद्ध औषधियों आदि के द्वारा जीता हुआ मरणप्राय प्रतीत होता है; किन्तु ९४ वर्ष की अवस्था में इस हीन काल में असंप्राप्तासृपाटिका संहनन वाले शरीर में विद्यमान वर्धमान वयवाले वर्धमान सागर जी सचमुच में आज के भोगी युग के लिये आश्चर्य की वस्तु थे। उनके मुखमण्डल पर विलक्षण तेज था। अद्भुत शान्ति से सुसज्जित उनका शरीर, अंग प्रत्यंग तथा आत्मा थी। यदि कोई देखता, तो उसे लगता मानों वह सचमुच में शान्ति के सागर शान्तिसागर महाराज के पादपद्मों के पास पहुँच गया है। आचार्य महाराज की स्वर्गयात्रा के पश्चात् गुरुदर्शन न होने से व्यथित मन को इनके पास ऐसा लगा मानों जीवनप्रद सामग्री मिल गई।

मैंने उन्हें प्रणाम किया और कुछ उच्च स्वर से उनके पास कहा - "महाराज! सुमेरुचन्द्र दिवाकर अपने गुरु के चरणों को प्रणाम करता है।" मेरे शब्द सुनते ही उन्होंने बड़े ध्यान से मेरी ओर देखा और उनके मुख मण्डल पर एक गहरी प्रसन्नता आ गई।

वे बोले - "बड़ा अच्छा हुआ आ गये। हमने तो बहुत पहले तुम्हारे आने का समाचार सुना था। बहुत दिन तक प्रतीक्षा भी की, फिर सुनने में आया कि तुम जापान चले गये और अब एकदम तुम हमारे पास आ गये। हमें ऐसा लगता था कि शायद बड़े महाराज के स्वर्गगमन के बाद तुम हमें भूल गये होगे।"

मैंने कहा - "महाराज! आपको कैसे भूल सकता हूँ? प्रतिदिन अभिषेक तथा पूजा के समय आपके पवित्र चरणों का स्मरण कर परोक्ष रूप से आपको अर्घ दिया करता था। आज आपको साक्षात् देखकर मेरे नेत्र धन्य हो गये। भारत के बाहर जापान आदि देशों में, मैं अवश्य गया था; किन्तु आप सदृश गुरु के चरण मुझे वहाँ भी याद आते थे। अनेक जापानी मित्रों को - भाइयों और बहिनों को, आपकी फोटो बतलाता था और कहता था कि सौ के समीप वय वाले वर्धमान महाराज की अप्रतिम, नैसर्गिक सौन्दर्य सम्पन्न छवि को देखो। लोग देखकर हर्षित होते थे। उनके चेहरे पर विस्मय का भाव आ जाता था। इतनी अवस्था में वस्त्र आदि साधनों से रहित चौबीस घण्टे में एक बार खड़े होकर अपने हाथों की अंजुलि में विशेष नियमों के साथ आहार ग्रहण करने वाले ऐसे नररत्न आज जगत् में विद्यमान हैं, यह सचमुच में बड़े अचरज की चीज दिखती है।

मैंने शिमजू नगर जापान की विश्वधर्म परिषद् के केन्द्र को सन् १९६५ में **चारित्र चक्रवर्ती** ग्रन्थ भेंट किया था, उसमें आपका चित्र था। उसे देखकर किन्हीं को ऐसा लगता था कि यह कोई मूर्ति का चित्र है, जिसमें कारीगर ने ज्ञान, वैराग्य और तपस्या का अपूर्व भाव केन्द्रित कर दिया है।

कुछ भ्रान्त भाइयों को मैंने कहा था - "अरे भाई! यह तस्वीर नहीं है। यह शिल्पी की कृति नहीं है। यह हमारे गुरुदेव स्वर्गीय आचार्य शान्तिसागर महाराज के विद्यमान ज्येष्ठ बन्धु की असली फोटो है, जिन्होंने श्रीमन्त परिवार में जन्म धारण किया; किन्तु आत्म-विकास के लिए तृष्णा और दुःख के बीज भोगों को छोड़कर दिगम्बर मुद्रा धारण की है।" महाराज! आपको इस जन्म में क्या शायद जन्मान्तर में भी न भूलूँ।

इसके पश्चात् मैंने उनसे कहा - "आचार्य शान्तिसागर महाराज के स्वर्गवास होने के पश्चात् मेरे हृदय में अनेक बार अवर्णनीय पीड़ा और वेदना उत्पन्न हुआ करती थी; क्योंकि अब उन महामुनि के सान्निध्य और सम्पर्क का सौभाग्य सदा के लिए समाप्त हो गया। कभी मन में आता था, अनेक शास्त्रों को पढ़ कर मैं अज्ञान के अन्धकार में डूबा हूँ। जिनका जीवन समाधिमरण की अत्यन्त जाज्वल्यमान ज्वाला में जलने के कारण अत्यन्त निर्मल, शुभ्र और महाधवल बन चुका; उन क्षपकराज का चिन्तन कर चित्त में सन्ताप आना अशोभन कार्य है; अमंगल की बात है, अभद्र चेष्टा है; किन्तु क्या किया जाय? मन में प्रायः प्रतिदिन अनेकबार गुरुदेव के स्मरण के साथ इस प्रकार की व्यथा उत्पन्न हुआ करती थी।

महापुराण का आख्यान

मैं एक दिन महापुराण पढ़ रहा था। उसमें एक मार्मिक वर्णन आया। उसे पढ़कर मेरे व्यथित मन को बड़ी शान्ति मिली। महाकवि जिनसेन स्वामी ने लिखा है कि - कैलाश पर्वत पर आदितीर्थंकर वृषभनाथ भगवान विराजमान हैं। सयोगी-जिन के बाद वे अयोगी जिन हुए और क्षणभर में लोक के अग्रभाग में जा अनन्त सिद्धों की समिति में पहुँच गये। उस अवसर पर देवों ने, देवेन्द्रों ने, नरों ने, नरेन्द्रों ने, सभी ने हर्ष और उत्साह से निर्वाण कल्याणक मनाया।

सौधर्मेन्द्र सोचता था, आज का दिन धन्य है! आज के सदृश अवसर कब आयगा, जब कि मोह कर्म का नाश करने वाले वृषभनाथ भगवान ने विकार भाव का अभाव किया और अब वे नित्य, निरंजन, निराकार, विशुद्ध सिद्ध बन गये। चारों ओर आनन्द का सिन्धु उद्वेलित होरहा था। सचमुच में वह दिन अन्वर्थ रूप में स्वाधीनता (स्व+अधीनता) दिवस था। एक आत्मा अनादिकाल से सम्बन्ध रखने वाले पर-पदार्थों का त्याग कर स्वाधीन बनी। अब वह पराधीन नहीं रही। ज्ञानवान के लिए अवर्णनीय आनन्द का वह दिन था। भक्तजन आज भी उस मंगल दिवस को कालमंगल मानकर हर्षित होते हैं और उसे पूज्य मानते हैं।

उस समय एक कल्पनातीत आश्चर्यप्रद घटना हुई। तत्त्वज्ञानियों का शिरोमणि, षट्खंड का स्वामी, चक्रवर्ती, नहीं-नहीं आध्यात्मिक जगत् का चूड़ामणि भरतेश्वर, जो प्रभात में प्राची के प्रांगण में उषा के आगमन पर लालिमा को देखकर वृषभनाथ प्रभु के चरणों को स्मरण करता था, प्रभापुंज प्रभाकर को उदित होते हुए देखकर कवि जगत् के द्वारा वर्णित प्राची वधूटी का रत्नदीप न सोचकर, उसे वृषभनाथ भगवान के कैवल्य सूर्य

की प्रतिकृति विचारता था। वह महाज्ञानी भरत, प्रभु की निर्वाण बेला में साश्रुनेत्र हो रहा है। उसका मन बड़ा दुखी है। ज्ञानी भरत की व्यथा को आनन्द सिन्धु में निमग्न सुरेन्द्र नहीं समझ पा रहे हैं। वे आश्चर्य में हैं। आज भरत क्यों शोकसिन्धु में डूबा है? आज बुद्धिमान् भरत क्यों पागलसा बन गया है? भरत विचारवान थे। उन्हें लगता था कि अब भगवान चले गये। अब उनके दर्शन नहीं होंगे। अपने पिता वृषभदेव को, नहीं-नहीं, भगवान आदिनाथ को मैं कहाँ पाऊँगा? अब उनकी कहाँ पूजा करूंगा? अब उनकी दिव्य-ध्वनि सुनकर अपने मोहाकुल मन को कैसे नवजीवन प्रदान करूंगा? ऐसे विचारों से भरत बड़ा दुखी था। सब ने समझाया लेकिन किसी की भी बात भरत के मन को प्रभावित न कर सकी।

भरत के बन्धु, मुनियों के चूड़ामणि, सकल मुनिसंघ के नायक वृषभसेन गणधर ने भरतेश्वर को समझाते हुए कहा - "अरे भरत, आज तुम्हें क्या हो गया है? 'तोषे विषाद: कुत:' - इस आनन्द की बेला में, खेद क्यों करते हो। अरे! भगवान अपने पास तो सदा हैं। तुम इस भ्रम में क्यों हो कि भगवान यहाँ से चले गये और अब उनका दर्शन नहीं होगा। मैं तो उनका अभी भी दर्शन कर रहा हूँ और सदा दर्शन करता रहूँगा। भरत! थोड़ा विचार से काम लो। उन्हें चर्म चक्षुओं से मत देखो। सिद्धि के नाथ वृषभनाथ अब चर्म चक्षुओं से देखने योग्य नहीं हैं। अब वे सिद्ध भगवान बन गये हैं। उन्हें ज्ञान नेत्रों से देखो।" वृषभसेन गणधर के ये शब्द बड़े महत्त्व के हैं- "अब वे ध्यानगम्य-ध्यानगोचर हो गए हैं।"

य: प्रागक्षिगोचर: सम्प्रत्येष चेतसि वर्तते।
भगवान् तत्र क: शोक: पश्यैनं तत्र सर्वदा ॥४७-५८९॥

-जो भगवान पहले चर्मचक्षुओं के द्वारा देखे जाते थे, अब वे अन्त:करण में विराजमान हैं, इसलिए तुम क्यों शोक करते हो? जब जी चाहे,तब उनका दर्शन कर सकते हो।

इस गुरुवाणी ने भरत के शोकाश्रुओं को आनन्दाश्रुओं के रूप में परिणत कर दिया। ऐसी अलौकिकता उनमें न होती, तो वे आदिजिनेन्द्र के सकल श्रमण-संघ के शिरोमणि प्रथम गणधर कैसे बनते? वे चार ज्ञान के स्वामी थे।

मैंने वर्धमानस्वामी से कहा - "महाराज! वह श्लोक मेरे लिए बड़ा शान्तिदाता बन गया। मैं सोचने लगा, कुंथलगिरि में चर्मचक्षुओं की दृष्टि से शान्तिसागर महाराज

की सल्लेखना हुई है; किन्तु मेरे मनमन्दिर में मेरे आराध्यदेव शान्तिसागर महाराज विराजमान हैं। वे तो विद्यमान ही हैं, इसलिए अब मुझे शान्तिसागर महाराज का स्मरण कर अशान्ति नहीं, शान्ति ही मिलती है।"

मार्मिक बात

गहरी साँस लेते हुए, वर्धमानसागर महाराज ने कहा - "अरे पंडितजी! महाराज तो गये। प्रत्यक्ष और परोक्ष दर्शन में बड़ा अन्तर है। क्या महाराज का प्रत्यक्ष दर्शन होता है ? वह तो गया। उन्होंने गजब की तप:साधना की थी।"

सन्देश

प्रश्न - "आचार्य महाराज ने सल्लेखना के काल में आपको कोई विशेष संदेश भेजा था? प्रार्थना है कि उस पर थोड़ा प्रकाश डालें।"

उन्होंने कहा - "महाराज ने कहा था कि निरन्तर आत्मा का ध्यान करना। आर्तध्यान मत करना। इसी प्रकार आत्म-चिन्तन में लगे रहना, जैसे भरत महाराज उसमें लगे रहते थे। आत्मा का दर्शन करो। लगातार आत्मा का ध्यान होगा नहीं, इसलिए शुभ कार्यों में भी लगे रहना। महाराज ने एक बात कही थी कि आत्मा का चिंतन करो। मन को फिरने मत दो। आत्मा में लीन होओ। यह बात हमने अच्छी तरह पकड़ ली और अब इसी में लगे रहते हैं। कभी-कभी मन बाहर भी घूमता है। हम उसको पकड़ कर जबरदस्ती आत्मा की ओर लगाते हैं।"

उन्होंने बताया कि एकाग्रचित्त होने पर शरीर की कुछ खबर नहीं होती। अब हमारा शरीर बहुत कमजोर हो गया है। उसमें शक्ति नहीं रही है; किन्तु वृद्ध शरीर में स्थित आत्मा में शक्ति है। कभी-कभी सारी रात ध्यान में बीत जाती है। तीन घंटे तक तो सहज ही ध्यान में बैठ जाता हूँ। यह आत्मशक्ति का फल है।

प्रश्न - "महाराज! आप ध्यान कब करते हैं? मेरा अभिप्राय रात्रि के समय से है।"

उत्तर - "हम रात को १२ बजे ध्यान को बैठ जाते हैं और करीब तीन घंटे तक आत्मचिंतन तथा आत्मध्यान में संलग्न रहते हैं।"

प्रश्न - "महाराज! शरीर आपको कष्ट देता है या नहीं?"

उत्तर - "व्यवहार दृष्टि से यह कष्ट देता है, निश्चय से वह हमारा क्या बिगाड़

सकता है? अब हम आत्मशक्ति से ही काम लेते हैं, अन्यथा बाहर शौच को जाने की शक्ति भी अब शरीर में नहीं है।"

प्रश्न - "महाराज! आजकल लोग व्यवहार को अहितकारी कहते हैं। निश्चय को ही कल्याणकारी कहते हैं। शास्त्रों के स्वाध्याय और अनुभव के आधार पर आपका मनोगत जानने की इच्छा है।"

उत्तर - "व्यवहार दृष्टि से पाप विष का कुम्भ है और पुण्य अमृत का कुम्भ है; किन्तु शुद्ध उपयोग की स्थिति में पाप और पुण्य दोनों विष के कुंभ हैं। प्रारम्भ की अवस्था में पुण्य अमृत-कुंभ है और पाप विष-कुम्भ है; इसलिए उन्होंने कहा - "बाबा! एकान्त नको - अरे भाई, एकान्त पक्ष नहीं पकड़ना। एकान्त का पक्ष पकड़ लिया, तो 'मिथ्यात्वी झाला' - मिथ्यात्वी हो गये।" कितना सुन्दर समन्वय उन्होंने किया। प्रारम्भिक अवस्था में पाप के मार्ग से हटकर पुण्यपथ में लगो। इसके पश्चात् आत्मभाव के जागृत होने पर अशुभ के समान शुभ को छोड़ शुद्ध में लग जाओ। जो व्यवस्थित रूप से सीढ़ियों पर पैर रखे बिना एकदम उछल कर उच्चतम स्थल पर पहुँचना चाहते हैं, वे चपल बालक सदृश भूतल पर गिरकर अपने प्रमाद और अतिरेक के कारण दुःखी होते हैं और हाथ पैर टूटने से कष्ट भी पाते हैं। महाराज ने सूत्र रूप में कह दिया, 'एकान्त नको' - एक पक्ष पकड़ने की जिद्द छोड़ो। स्वामी समन्तभद्र ने श्रावकाचार में पाप-निरोध को महत्त्व दिया है। वहाँ पुण्य-निरोध की चर्चा नहीं की है। उनके शब्द हैं -

यदि पापनिरोधोन्य-संपदा किं प्रयोजनम्?
अथ पापास्रवोस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनम्?

जन्म कल्याणक

कुछ समय चर्चा के उपरान्त महाराज भगवान के जन्म कल्याणक महोत्सव के लिए चले। वे वृद्ध पितामह सदृश साधुराज ईर्यापथशुद्धि पूर्वक बहुत धीरे-धीरे बड़ी सावधानी से पैर उठाते हुए दो सौ गज की दूरी पर स्थित विशाल पण्डाल में पहुँचे। जन्मकल्याणक का पावन दृश्य देखकर भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आगत जनता हर्षित हो रही थी। चार दिगम्बर मुनिराज वहाँ थे। क्षुल्लक एवं आर्यिका आदि उच्च त्यागी समुदाय पचास से अधिक संख्यामें उस पावन प्रसंग पर विद्यमान था। कोल्हापुर मठ के स्वामी क्षुल्लक जिनसेन महाराज तथा श्री भट्टारक लक्ष्मीसेन महाराज भी थे, जिनके तत्त्वावधान में पंचकल्याणक का कार्य हो रहा था। मैं भी शास्त्र में वर्णित जिनेन्द्र पंचकल्याणक और

मेरु पर किये गये प्रभु के अभिषेक आदि के पावन प्रसंग को अपने स्मृति पटल में लाकर देखता था। मैं वर्धमानसागर महाराज के चरणों के पास ही बैठा था। बार-बार आँखें उनके मनोज्ञ वीतराग मुखमण्डल पर जाती थीं। एक प्रश्न मन में आया। कुछ देर तक तो मैंने उसे दबाया; किन्तु तीव्र इच्छा होने पर मैंने वर्धमानसागर महाराज से निवेदन किया।

प्रश्न - "भगवान के जन्म कल्याणक का वैभव गृहस्थ आदि लौकिक जनों को स्वभावतः अच्छा लगेगा। आप परम तपस्वी हैं, इसलिए तपकल्याणक आपको प्रिय होना था, जन्मकल्याणक में आने से आपको क्या लाभ हुआ?"

पहले तो मैं सोचता था कि मेरा प्रश्न कहीं अर्थ का अनर्थ न कर दे; क्योंकि कभी-कभी कई विचित्र बुद्धिमान् लोग ऐसा करके अमृत को विष बनाने में आनन्द लेते हैं; किन्तु यहाँ मुझे कोई भय नहीं था। कारण, मैं महाराज को जानता था कि वे शान्ति के सागर गुरुदेव के छोटे नहीं, बड़े भाई हैं। वे मुझे भी जानते थे, इसलिए मेरा प्रश्न महाराज ने बड़े प्रेम से सुना।

प्रश्न - "उन्होंने मुझ से पूछा, यह बताओ हम जगत् में हैं या जगत् के बाहर हैं?"

उत्तर - मैं गहरे विचार में पड़ गया कि महाराज क्या पूछ रहे हैं? मेरा प्रश्न कुछ और है और उस पर प्रतिप्रश्न कुछ विलक्षण है। क्या उत्तर दूँ? सोचकर मैंने कहा - "महाराज! आप जगत् में हैं।"

तब उन्होंने कहा - "ठीक बात है, हम जगत् में हैं। तब जिनेन्द्र भगवान के जन्म होने पर सुर, असुर, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी,नारकियों को भी सुख और शान्ति मिली; सभी जीवों को आनन्द मिला, तो बताओ हमको क्यों नहीं आनन्द मिलेगा?" उनके उत्तर को सुनकर मैं तो आनन्द विभोर हो गया और मैंने उनकी साधुत्व से प्रेरणाप्राप्त प्रतिमा को प्रणाम किया। औरों को भी यह उत्तर सुनाया। सुनते ही सब बड़े प्रसन्न हुए।

तप कल्याणक के दिन मैं महाराज के पास बैठा था। सोच रहा था, कुछ प्रश्न पूछूँ। लेकिन कोई बात मेले की भीड़ में पूछने योग्य चित्त में नही आ रही थी। मैं उनके चरणों को क्षण भर धीरे-धीरे देखने लगा। उस समय मुझे एक प्रश्न सूझा। मैंने कहा - "महाराज! आपके चरण बहुत अच्छे लगते हैं।"

उत्तर - "अरे! पाँव चमड़े का है; इसमें क्या अच्छापन है?"

मैंने कहा - "महाराज! इसमें हमारे देवता रहते हैं।"

उत्तर - "अरे बाबा, यह शरीर चमड़े का है। भक्ति करो तो देवता है, नहीं तो कुछ नहीं है। इसे ध्यान में रखो, जैसा भाव होता है, वैसा पदार्थ प्रतीत होता है।"

अपूर्व केशलोंच

ता. १८ फरवरी सन् १९५७ को उन्होंने केशलोंच किया। दूर-दूर से हजारों स्त्री-पुरुष केशलोंच देख रहे थे। मैंने देखा कि आधे घण्टे के भीतर ही उन्होंने केशलोंच कर लिया। किसी की सहायता नहीं ली। चेहरे पर किसी प्रकार की विकृति नहीं थी। धीरता और गंभीरता की वे मूर्ति थे। जैसे कोई तिनका तोड़ता है उस तरह झटका देते हुए सिर तथा दाढ़ी के बालों को उखाड़ते जाते थे। लो! केशलोंच हो गया। उन्होंने पिच्छी हाथ में लेकर जिनेन्द्र को प्रणाम किया। तीर्थंकरों की वन्दना की।

अब उनका मौन नहीं है, ऐसा सोचकर धीरे से मैंने पूछा - "महाराज! अभी आप केशलोंच कर रहे थे, उस समय आपको पीड़ा होती थी कि नहीं?"

उत्तर - "अरे बाबा! रंचमात्र भी कष्ट नहीं होता था। लेशमात्र भी वेदना नहीं थी। हमें ऐसा नहीं मालूम पड़ता था कि हमने अपने केशों का लोंच किया है। हमें तो ऐसा लगा कि मस्तक पर केशों का समूह पड़ा था, उसे हमने अलग कर दिया। बताओ, हमने और क्या किया? देखो एक मर्म की बात बताते हैं। शरीर पर हमारा लक्ष्य नहीं रहता है। केशलोंच शुरू करने के पहिले हमने जिन भगवान का स्मरण किया और शरीर से कहा - अरे शरीर! हमारी आत्मा जुदी है, तू जुदा। 'का रड़तोस' - अरे! क्यों रोता है? हमारा तेरा क्या सम्बन्ध? बस केशलोंच करने लगे। हमें ऐसा नहीं मालूम पड़ा कि हमने अपना केशलोंच किया है।"

उनकी अंत:करण की बातें सुनकर यह समझ में आता था कि ये विशुद्ध वाक्य, यह पीयूषगर्भिणी वाणी, आत्मामृत का रस पान करने वाली सुरेन्द्र वन्दित अन्तरात्मा की है। जो बहिरात्मा, अंतरात्मा का अभिनय करते हुए विषयों में आसक्त हो अध्यात्म की आकर्षक शब्दों में स्तुति करते हैं और लोगों से प्रशंसा का प्रशस्ति-पत्र प्राप्त करते हैं, उनकी कथा, उनका चरित्र और इन अन्त:बाह्य दिगम्बरत्व को धारण करने वाले साधुराज में इतना ही अन्तर है जितना कि काक और कोकिला में, पीतल और स्वर्ण में, चूना और दूध में, आकाश और भूतल में है। उनका उत्तर सुनकर मुझे स्मरण आ गया वह क्षण, जब मैं १९५५ के सितम्बर में सल्लेखना के ३५ वें दिन क्षपकराज

श्रीशान्तिसागर महाराज की कुटी में करीब तीन घण्टे बैठा था, उन वीतराग वाणी की श्रद्धा से परिपूर्ण लोकोत्तर आत्मा के समीप। उसी जाति की श्रद्धा इन महाराज की भी प्रतीत हुई। माता सत्यवती ने ये दोनों विलक्षण आध्यात्मिक रत्न विश्व को दिये जिससे जैन संस्कृति कृतार्थ हुई। अद्भुत निःस्पृहता और वीतरागता उनमें विद्यमान थी।

पंचकल्याणक महोत्सव में रहते हुए यह इच्छा बनी रहती थी कि वर्धमानसागर महाराज के पास पहुँचकर कोई-न-कोई निधि प्राप्त करलूँ। एक बड़ी कठिनता मेरे मार्ग में थी। उन्हें कन्नड़ भाषा बोलने का अच्छा अभ्यास था। मराठी भी वे बोलते थे। हिन्दी भाषा से उनका बहुत कम परिचय था। इसलिए अपने प्रश्न को साफ तौर पर अपने शब्दों में पहुँचाने में बड़ी विषम समस्या उपस्थित होती थी। अनुवादक-दुभाषिया सज्जन की कृपा और कुशलता द्वारा मेरा भाव गुरुदेव जानते थे। कभी-कभी कोई सज्जन मेरे प्रश्न को बिना समझे ही विघ्न रूप बन जाते थे। वे कहते थे - पण्डितजी! महाराज थके हैं; अभी प्रश्न रहने दीजिये, फिर कभी पूछना। इस तरह अनेक बार मनोकामना पूर्ण नहीं होती थी। एक बार मैंने विघ्नकर्ता से कहा - "मेरे पूछने में आप विघ्न रूप क्यों बनते हैं?"

मेरे शब्दों को सुनकर महाराज बोले - "हमारी कोई परवाह न करो। तुमको लाभ मिलता है, तो ले लो। हमारा इसमें क्या नुकसान है? हम जानते हैं, तुम बड़ी दूर से, बड़े प्रेम से और भक्ति से आए हो।" इससे मेरे मार्ग का विघ्न ढीला हो गया।

प्रश्न - "महाराज! मैं तो आचार्य महाराज के बारे में कुछ जानना चाहता हूँ। यह तो बताइये कि स्वप्न में उनका दर्शन होता है या नहीं?"

उत्तर - "जागृत अवस्था के भाव स्वप्न में आते हैं। अनेक बार उनका दर्शन होता है। वे यही कहते हैं - अपने व्रत में स्थिर रहकर आत्मचिन्तन करो।"

रुद्रप्पा की समाधि

उन्होंने आचार्य महाराज के गृहस्थ अवस्था के मित्र लिंगायंत धर्मावलम्बी श्रीमन्त रुद्रप्पा की बात सुनाई। सत्यव्रती रुद्रप्पा वेदान्त का बड़ा पंडित था। वह अत्यन्त निष्कलंक व्यक्ति था। वह अपने घर में किसी से बात न कर दिन भर मौन बैठता था। कभी-कभी हमारे घर आकर आचार्य महाराज से तत्त्वचर्चा करता और उनका उपदेश सुनता था।

एक समय की बात है, भोज ग्राम में प्लेग हो गया। हम सब अपने माता-पिता के साथ अपने मामा के यहाँ यरनाल ग्राम में पहुँचे। प्लेग भीषण रूप धारण कर रहा था। सुनने में आया कि रुद्रप्पा को प्लेग हो गया। प्लेग की गाँठ उठ आई। उस समय प्लेग से लोग इतने घबराते थे कि बिरला व्यक्ति ही कुटुम्बी होते हुए भी बीमार के पास जाता था। जैसे कोई व्याघ्र से दूर भागता है, ऐसे बीमार से दूर रहा करते थे।

आचार्य महाराज ने रुद्रप्पा की बीमारी का समाचार सुना। वे चुपके से रुद्रप्पा के पास चले गये। भय क्या चीज है, इसे वे जानते ही नहीं थे। उनका जीवन आदि से अन्त तक निर्भय भावों से भरा रहा है। मित्र रुद्रप्पा के पास पहुँचकर उन्होंने देखा कि उसकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। उन्होंने सोचा, ऐसे जीव का कल्याण करना मेरा कर्तव्य है।

आचार्य महाराज ने कहा - "रुद्रप्पा, अब तुम्हारा समय समीप है। अब समाधिमरण करो। शरीर से आत्मा जुदी है। शरीर का ध्यान छोड़ो। रुद्रप्पा 'अरहंता' बोलो। अब रुद्रप्पा के मुख से 'अरहंता' निकलने लगा। इनकी वाणी सुनकर उसे लगा कि जैन धर्म ही खरा धर्म है। जैनगुरु ही सच्चे गुरु हैं। जैनशास्त्र ही सच्चे शास्त्र हैं। इसकी महिमा को कोई नहीं समझता। उसके मन में श्रद्धा जगी। मिथ्यात्व की अँधियारी दूर हुई। उस समय उसका भाग्य जगा, ऐसा मालूम होता है; तभी तो वह जिनेन्द्र के नाम से प्यार करने लगा। अब उसके मुख पर अन्य नाम के लिए स्थान नहीं है। वह अरहंता कहता है। वाणी क्षीण हो गई है। वह शब्दों का उच्चारण नहीं कर सकता। ओष्ठों का स्पन्दन मात्र होता है। महाराज कहते हैं - "रुद्रप्पा ध्यान दो। शरीर और आत्मा जुदे-जुदे हैं। 'अरहंत' का स्मरण करो।" इतने में शरीर चेष्टाहीन हो गया। अब रुद्रप्पा वहाँ नहीं है। समाधिमरण के प्रेमी शान्तिसागर महाराज ने अपने मित्र को सुपथ पर लगा दिया? सचमुच में उसकी सद्गति करा दी। ऐसी मैत्री आज कौन दिखाता है। आज तो भवसिन्धु में डुबानेवाले यार दोस्त मिलते हैं। मोक्ष के मार्ग पर लगानेवाले सन्मित्र का लाभ दुर्लभ है।

प्रश्न - "आचार्य महाराज स्वर्ग गये या विदेह? आपका क्या अनुमान है?"

उत्तर - "हमारे अवधिज्ञान नहीं है, अतः हम कुछ नहीं कह सकते। शास्त्र में जैसा बताया है, वैसा ही कह सकते हैं।" कितने मर्यादित शब्दों में उन्होंने उत्तर दिया। इस उत्तर में ही उनकी महत्ता छुपी है।

प्रश्न - "महाराज! जिनवाणी के ग्रन्थ तो सभी अच्छे हैं; किन्तु यह बताइये कि किस शास्त्र पर आपका विशेष प्रेम है?"

धवल शास्त्र

उत्तर - "जिस ग्रन्थ द्वारा मेरा कल्याण हो, वही प्रिय है। हमें आत्मकल्याण की बात बतानेवाले शास्त्र सुनकर आनन्द आता है। समयसार अच्छा ग्रन्थ है, अन्य ग्रन्थों में आनन्द आता है; किन्तु धवल ग्रन्थ सुन कर बहुत आनन्द आता है। उसका सूक्ष्म वर्णन जब हम सुनते हैं, तब उसमें मन खूब लगता है। उस भगवद् वाणी को सुनकर हृदय अत्यन्त हर्षित होता है।" उन्होंने यह भी बताया - "बाल्यकाल से ही भक्तामर पर हमारा बड़ा विश्वास रहा है, प्रारम्भ से ही उसमें आनन्द आता था।"

उन्होंने कहा - "हमारे परिवार के लोग रात्रि-दिन धर्मकार्य में मग्न रहते थे। कोई निर्ग्रन्थ आते, तो उपाध्याय आकर हमारी मातुश्री को कहता था - "आइ (माँजी) साधु महाराज आये हैं। वे हमारे घर की तरफ आते, तब हमारी माता सदा उनको आहार दिया करती थी।"

आत्मीयतापूर्ण दृष्टि

वहाँ बाहुबली में मैंने देखा, अपार जन समुदाय वर्धमानसागर महाराज के दर्शनों को आता था। आसपास के सैकड़ों गाँवों से लोग उनके समीप बड़े प्रेम, भक्ति और आत्मीयता से आते थे। उनको देखकर महाराज ने हम से कहा - "यह सब हमारे मित्र, प्रेमी लोग हैं। आसपास के लोग हमसे मिलने आये हैं। ये हमारे मित्र हैं। इससे यह नहीं समझना कि हमारा इनके प्रति मोह है। ये ही क्यों, सारा जगत् हमारा बन्धु है। प्राणी मात्र हमारे मित्र हैं। बताओ! शत्रु कौन है? हमारे शत्रु तो आठों कर्म हैं। उनके सिवाय सारे जगत् में सब हमारे बन्धु हैं, मित्र हैं।"

कुछ लोग उनसे बातें करते थे तब उनके कोई हितचिंतक चाहते थे कि वे लोग चुप रहें। महाराज बोले - "हमें कष्ट पड़ता है, इसकी कोई चिन्ता नहीं है। लोगों का समाधान होना चाहिए।" अनेक लोग जब एक साथ बोलते थे, तब महाराज कहते थे - "अरे भाई! मुख तो एक है, किस-किस से बोलें?" फिर भी वे सब को सान्त्वना देते थे। मधुर शब्द बोलते थे। कहते थे - "देखो! बेचारे बड़ी भक्ति से आते हैं, प्रेम से बोलते हैं; उनको कठोर बात कैसे कहूँ?"

इनका स्वभाव सदा से बड़ा मृदुल रहा है। बालमंडली का इन पर बड़ा प्रेम रहता था। अपनी माता से भी अधिक इनके प्रति बच्चों का प्रेम रहता था। सब इनके पास आकर प्रसन्न रहा करते थे। इनके पास आने वाला हर्षित ही होता था।

दीक्षा की चर्चा

वे कहते थे - "मुझ पर सब का बड़ा प्रेम था; किन्तु मैंने जिस दिन घर छोड़ा, तो कुटुम्ब परिवार की तरफ फिर दृष्टि नहीं दी। छोटा भाई कुमगोड़ा रोता था। वह तो मूर्छित हो गया था। बहिन कृष्णाबाई जोर-जोर से रो रही थी। मैंने वैराग्य में प्रवेश करते समय पीछे नहीं देखा। एक झटका देकर सारे प्रेम के बन्धन को तोड़ दिये।"

मार्मिक उपदेश

२० फरवरी को वर्धमानसागर महाराज का बड़ा मार्मिक उपदेश हुआ। वैसे वे उपदेश कम देते थे। कारण, आचार्य महाराज ने उन्हें आत्म-रत रहने को कहा था; अत: वे आत्मा के ध्यान में सदा सावधानी रखते थे। अनुराग शरीर पर नहीं था। या तो आत्मरत थे, या परमात्मरत थे। मेरे निवेदन पर उन्होंने उपदेश देना स्वीकार किया और कहा - "भव्य जीवो! इस पंचकल्याणक में आकर तुमने पुण्य का बन्ध किया। यह जीव चौरासी लाख योनियों में भटकता रहा है। कभी पुण्य किया, कभी पाप कमाया। पाप तो पाप है ही, परमार्थ से पुण्य भी उसी प्रकार है। दोनों एक रूप हैं। अपनी आत्मा का कल्याण करो। आत्मा का चिंतन किये बिना पाप का नाश नहीं होता। आत्मध्यान करने से मोक्ष मिलेगा। बाबा! हमारा कहना है कि मोक्ष को जाने का प्रयत्न करो। जब आत्म-ध्यान न बने तो धर्मध्यान करने का उद्योग करो।"

प्रश्न - "महाराज! कृपाकर बताइए, क्या आपका मन लगातार आत्मा में स्थिर रहता है या वह अन्यत्र भी जाता है?"

उत्तर - "हम आत्मचिंतन करते हैं। कुछ समय के बाद जब ध्यान छूटता है, तब मन को फिर आत्मा की ओर लगाते हैं। कभी-कभी मोक्षगामी त्रेसठ शलाका पुरुषों का चिंतवन करता हूँ। कभी-कभी बुरा भी चिंतवन हो जाता है। उस समय मैं मन को कहता हूँ, अरे बिना कारण बुरे ध्यान में क्यों रहता है, शुभ ध्यान में रह। इससे मन फिर ठिकाने पर आ जाता है। मैंने भला बुरा सब कुछ आप से कह दिया।"

अपने अन्त:करण का कितना निर्मल, सच्चा और प्रामाणिक वर्णन इन साधुराज ने किया, यह विचारवान ही सोच सकता है। उनके जीवन में कृत्रिमता तथा कुटिलता का

जरा भी संबंध नहीं था। जनसाधारण के लिए जटिल बातों का निरूपण करना, ऐसी बातें कहना जो उनकी समझ में न आये, और वे भ्रम भँवर में फँस जाँय, यह बात वे ठीक नहीं समझते थे। उन्होंने कहा था - "**सर्व साधारण को सीधा रास्ता बताओ। धीरे-धीरे प्रयत्न करने पर कठिन मार्ग भी साध्य हो जाता है।**"

प्रश्न - "महाराज! आपके जाप का क्या क्रम रहता है?"

उत्तर - "प्रभात में अठारह माला, मध्याह्न में ५ माला, संध्या के समय ३६ माला, मध्यरात्रि में ५ माला फेरता हूँ और अन्य समय में मैं आत्मा का ध्यान करता हूँ।"

जो लोग सोचते हैं, आत्मा की बातें करो, संयम में क्या धरा है, शरीर को खूब माल खिलाओ। जगत् का वैभव, जड़ पुद्गल का रागरंग देखो, और आत्मा का आनन्द लूटो, वे लोग असली तत्त्व के समीप नहीं पहुँच पाये। वर्धमानसागर महाराज के जीवन का निकट से निरीक्षण करने पर यह ज्ञात हुआ कि असंयमी जीवन को छोड़कर संयम की शरण को ग्रहण करनेवाला विचारवान व्यक्ति आत्मा को विषयों की दासता से निकालकर अपने स्वरूप के उन्मुख बनाने का सुअवसर प्राप्त करता है। परिग्रह का पिशाच सहज चंचल मन को और शैतान बना देता है। अब तो लोग उस शैतान मन के समर्थन में शास्त्रों का आधार खोजते फिरते हैं। यह मार्ग ठीक नहीं है। संयम से जीवन को समलंकृत करनेवाला साधु किस प्रकार निराकुल हो आत्महित में संलग्न हो जाता है, यह बात ऐसे सद्गुरु के जीवन को देखने से भली प्रकार समझ में आ जाती थी।

बाहुबली क्षेत्र में पंचकल्याणक के पश्चात् महाराज लोगों के आग्रह पर समीपवर्ती कुम्भोज ग्राम में गये। जाते समय एक धर्मात्मा विद्वान् महाराज के समीप लाये गये, जिनके अधोभाग को लकवा (पक्षाघात) ने बेकाम बना दिया था। उन्होंने उन साधुराज को प्रणाम किया। महाराज ने कहा - "तुमने पहिले पुण्य किया था, तो तुमको धन-वैभव सभी कुछ मिला; किन्तु तुमसे कोई पाप बन गया, जिससे तुम्हारे आधे अङ्ग में पक्षाघात का कष्ट हो गया। अब तुम सदा धर्म का ध्यान रखना।"

उद्बोधक चर्चा

महाराज काष्ठ के आसन पर अवस्थित थे। उनके निकट एक घड़ी रखी थी। घड़ी को देख मैंने उनसे मधुर उत्तर पाने की लालसावश पूछा - "महाराज! यह घड़ी आपकी है?"

उत्तर - "यह घड़ी मेरी कैसे? पास में बैठा हुआ क्षुल्लक इसमें चाबी देता है। अँधेरे में यह चमकती है। जिनसेन भट्टारक ने यह घड़ी लाकर दी थी। पहिले यह घड़ी आचार्य महाराज के यहाँ थी। इसका हमारा क्या सम्बन्ध है?"

प्रश्न - "महाराज! यह घड़ी आपकी नहीं है, हम तो आपके हैं न?"

उत्तर - सस्मित वदन से वे बोल उठे - "आप भी हमारे हो, तो हमारे साथ चलो। हमारे साथ क्यों नहीं रहते? अरे बाबा! इस जगत के मध्य में यह शरीर भी माझा नाहीं, मेरा नहीं है। कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है। 'अन्तकाले कोणी नाही, जासी एकला' - अन्तकाल में जीवका कोई साथी नहीं है, वह अकेला जायगा।"

एक साधारण से प्रश्न पर कैसी ज्ञान भरी बातें वर्धमानसागरजी के मुख से मिलीं। इन्हीं गुणों के कारण तो इनके नाम में सागर शब्द है। संसार-प्रसिद्ध सागर में खारा पानी रहता है; किन्तु इस सागर में प्रेम भरा मधुर जल विद्यमान है, जिसका पान करने से संसार की तृषा मिटती है। वर्धमानसागर महाराज आचार्य शान्तिसागर महाराज के बड़े भाई थे। दोनों समान दिखते ही नहीं थे, वरन् दोनों के अन्तःकरण में भी समानता का दर्शन होता था। मैं सोचता हूँ, इस काल में मुमुक्षुओं के लिए शान्तिसागर महाराज सूर्य थे, तो वर्धमानसागर महाराज चन्द्र सरीखे लगते थे।

नांद्रे में चातुर्मास

भादों सुदी पंचमी २९ अगस्त सन् १९५७ के प्रभात में नांद्रे जनपद दक्षिण सातारा जिला में वर्षाकाल व्यतीत करने वाले महामुनि आचार्यकल्प १०८ श्री वर्धमान सागर महाराज के चरणों की अभिवंदना करने का मुझको पुनः परम सौभाग्य मिला। उनके मुख पर दिव्य आभा थी। शरीर सतेज था। ९५ वर्ष की अवस्था में भी उनका शरीर पूर्णतया नीरोग देख आश्चर्य हुआ। आजकल लगभग ६० वर्ष की अवस्था वाला व्यक्ति पर्याप्त वृद्ध दिखने लगता है; किन्तु ९५ की आयु में निर्ग्रन्थ-शिरोमणि वर्धमानसागर महाराज की शरीर-स्थिति आश्चर्य उत्पन्न करती थी। निर्दोष रीति से महाव्रतों के पालन द्वारा उनकी आंतरिक स्वस्थता अपूर्व थी। ऐसी अलौकिक पूज्य आत्मा के सान्निध्य से अवर्णनीय शांति मिली। लम्बे प्रवास का कष्ट तो उनके दर्शन से तथा उनके मंगलमय आशीर्वाद से तत्काल दूर हो गया।

मैं वर्धमानसागर महाराज के पास एक विशिष्ट उद्देश्य से गया था। स्व. आचार्य शान्तिसागर महाराज के तपोमय उज्ज्वल जीवन के विषय में उनसे कोई बात ऐसी मिल

जाय, जो स्व-पर कल्याण की महत्त्वपूर्ण सामग्री रूप हो तथा वर्धमानसागर जी के जीवन को निकट से देखने पर यह पता चलेगा कि माता सत्यवती ने कैसे विलक्षण पुत्रों को जन्म दिया कि जिनकी आंतरिक विभूति की समता करने वाला समस्त जगत् में कोई नहीं है। दो सगे भाइयों का इस हीन संहनन तथा चंचल चित्तवाले काल में निर्दोष दिगम्बर योगिराज का जीवन व्यतीत करना सचमुच में अद्भुत बात है। वर्धमानसागर महाराज को देखकर भी आचार्यश्री की महत्ता का अनुमान किया जा सकता है।

वर्धमानसागर महाराज की मातृभाषा कानड़ी है। उस प्रांत में यह एक विलक्षण बात है कि जैन लोगों की घरेलू बोली कानड़ी है; किन्तु जब वे अन्य लोगों से बातचीत करते हैं, तो मराठी भाषा का प्रयोग करते हैं। उस प्रांत में रहनेवाले, जैनों तथा हिन्दू आदि जैनेतरों की संख्या की दृष्टि से अनुपात उत्तर प्रांत की अपेक्षा विपरीत है। बहुत से ऐसे ग्राम हैं, जहाँ ८० प्रतिशत, ९० प्रतिशत संख्या जैनों की पाई जाती है। शेष संख्या इतर संप्रदाय वालों की है।

करुणापूर्ण हृदय

मेरे प्रणाम करने पर महाराजश्री ने अपना मंगलमय पवित्र आशीर्वाद देते हुए घर में सबका कुशल वृत्तान्त पूछा। मैंने विनयपूर्वक कहा - "महाराज! आज दशलक्षण पर्व का प्रारम्भ है। मैंने आज उपवास का निश्चय किया है।"

वे बोले - "तुम हजार-आठ सौ मील की दूरी से अनेक कष्टों तथा असुविधाओं को सहन करते हुए यहाँ आए हो, आजका उपवास ठीक नहीं है। तुम्हें शास्त्र वाचन का भी परिश्रम उठाना है।"

मैंने कहा - "महाराज! कल संध्या को बारामती के पास लासुर्णा ग्राम में १०८ तपस्वी गुरु धर्मसागर महाराज का दर्शन हुआ था। उन्होंने कहा - पंचमी महापर्व का प्रारंभिक दिन है, इसलिए उपवास करना चाहिए।" मैंने उनसे कहा था - "आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।" मेरी यह बात सुनकर वर्धमान महाराज का करुणापूर्ण हृदय प्रभावित हुआ।

वे बोले - "पंचमी महापर्व का प्रथम दिवस है; किन्तु अन्य बातें भी विचार योग्य हैं। आचार्य धरसेन स्वामी के पास जब भूतबलि-पुष्पदंत दो मुनिराज सुदूर प्रदेश से यात्रा करते हुए पहुँचे थे, तब आचार्य ने उन शिष्यों को भी दो दिन विश्रान्ति का समय दिया था।"

चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज

वयबुद्धिवृद्ध वर्धमान महाराज
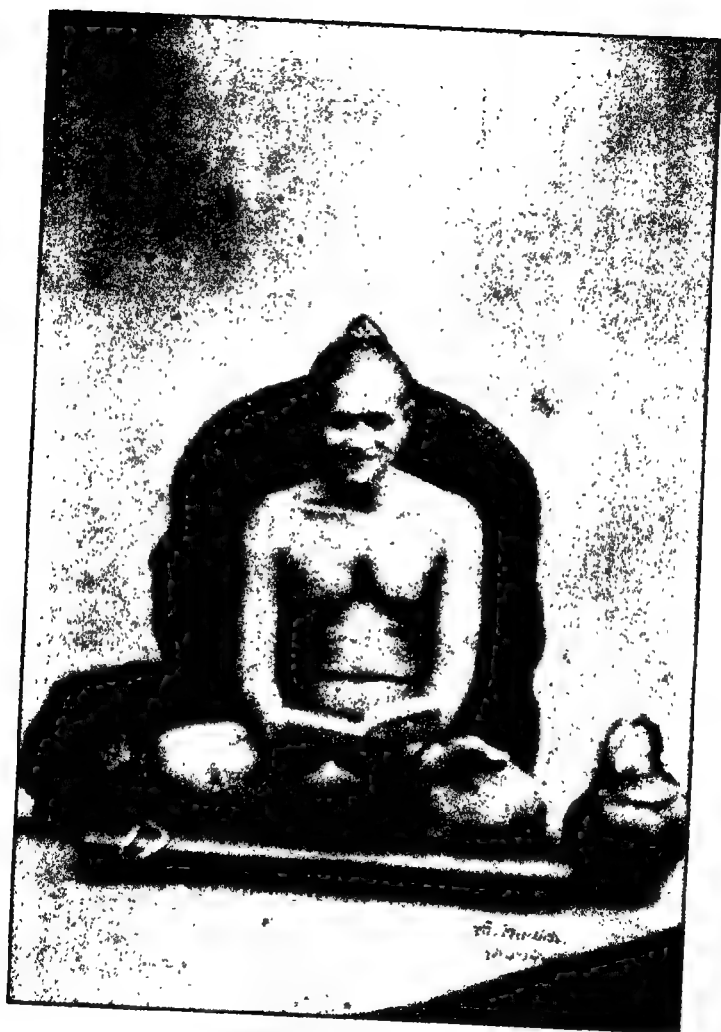
आचार्य धर्मसागरजी महाराज

परम कारुणिक नेमिसागर महाराज

पायसागर महाराज आहार ले रहे हैं

वैराग्यमूर्ति पायसागर महाराज

तपोधन धर्मसागर महाराज

योगिराज पूज्य देशभूषण महाराज

आचार्य धर्मसागर महाराज
लेखक के पूज्य पिताश्री कुंअरसेन जी को सम्बोधित करते हुए

मैं चुप हो गया। कुछ न कहकर मैं अन्य चर्चा में लग गया। मैंने प्रतिज्ञानुसार उपवास किया ही। यह एक छोटी सी बात है; किन्तु इससे वर्धमानसागर महाराज के परम कारुणिक अंत:करण की एक झलक प्राप्त होती है।

महाभिषेक

कुछ समय के पश्चात् वर्धमान महाराज जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के दर्शनार्थ उठे। बड़े वैभव से जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक हुआ। महाराज बड़े ध्यान से देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक देख रहे थे। महाराज की ओर देखने से कभी-कभी ऐसा लगता था कि कहीं हम आचार्यश्री शांतिसागर महाराज के समीप ही तो नहीं बैठे हैं। विशेषकर जब वर्धमान महाराज गर्दन झुकाकर भगवान को प्रणाम करते थे, तब ऐसा लगता था, मानों शांतिसागर महाराज का ही दर्शन हो रहा हो। यहाँ भगवान के अभिषेक में दूध से परिपूर्ण घड़ों का उपयोग होता था। दही, घी, इक्षु रस आदि से पूर्ण घड़ों से प्रभु का अभिषेक होता था।

पंथभेद से परे

उत्तर प्रान्त के कुछ बंधु कहते हैं कि यह पद्धति दक्षिण के जैनों ने प्रचलित की है। आगम से इसका कोई संबंध नहीं है। कोई-कोई कहते हैं कि यह तो बीस-पंथ की मान्यता है। हमारे तेरा-पंथ में ऐसा नहीं बताया। एक बार मैंने महामुनि धर्मसागर महाराज से पूछा था - ''महाराज आप तो दक्षिण के निवासी हैं, अत: आप बीस-पंथ को मानते हैं या तेरा पंथ को।'' वे कहने लगे - ''हमने सारा संसार का प्रपंच छोड़ा। पंथभेद से या प्रांतीयता से हमारा क्या प्रयोजन है? हम तो आगम में कही बात को मानते हैं। आर्ष परंपरा को शिरोधार्य करना ही हमारा पंथ है।'' कुंदकुंद स्वामी ने लिखा है -

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खु सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥ प्रवचनसार - २३४

- साधु का नेत्र आगम है। सर्व जीवों के नेत्र चक्षु इन्द्रिय रूप हैं। देवों के अवधिज्ञान रूप नेत्र हैं। सिद्ध भगवान के सर्वत्र नेत्र हैं।

आगम पंथी

इस प्रसंग में आचार्य वीरसागर महाराज की एक मधुर उक्ति स्मरण आती है। जयपुर में अप्रेल सन् १९५७ में उन्होंने मुझसे कहा था - ''हम तो तेरा-पंथी हैं। तुम

जितने गृहस्थ हो सभी बीस-पंथी हो। मोक्ष तेरा-पंथी का होता है। बीस-पंथी का मोक्ष नहीं होता; उसे स्वर्ग मिलता है।"

यह सुनकर मैं आश्चर्य में पड़ गया। तेरा-पंथ के केन्द्र में बैठकर ये साधुराज कट्टर तेरा-पंथियों को भी बीस-पंथी कहते हैं, यह बात इनके सत्य महाव्रत के कहाँ तक अनुकूल है? मैंने कहा - "महाराज आपका भाव क्या है, बराबर समझ में नहीं आया।"

उन्होंने कहा - "पंचसमिति, महाव्रत पंचक तथा गुप्तित्रय रूप त्रयोदशविध चारित्र को पालने वाला दिगम्बर मुनि तेरा-पंथी है। वह मोक्ष को प्राप्त करता है। अष्ट मूलगुण, पंचअणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत रूप बीस व्रतों को पालने वाला गृहस्थ होता है; अतः गृहस्थ धर्म में संलग्न लोग बीस-पंथी हैं।" महाराज के स्पष्टीकरण को सुनते ही श्रावक मंडली अत्यन्त हर्षित हुई। महाराज ने यह भी कहा था-

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायंति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः॥

ओंकारं को 'मोक्षदं' - मोक्ष का दाता कहा है तथा 'कामदं' - कामनाओं को पूर्ण करनेवाला भी कहा है। ओंकार में दोनों बातें कैसे सुघटित होती हैं? उन्होंने कहा था - "तेरा-पंथी को ओंकार मोक्षदाता है और बीस पंथी को स्वर्गादि सुख को देता है।" इस कथन के प्रकाश में तेरा-पंथ, बीस-पंथ का रहस्य युक्तिसंगत प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में आज के युग में समाज के विचारकवर्ग के लिए यह उचित है कि आर्ष परम्परा से आगत आगम की आज्ञा को निःसंकोच भाव से शिरोधार्य करे।

स्मरणीय

स्व. आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश आगम की आज्ञा को माननेवाला विशुद्ध श्रद्धावान् कौन होगा, जिन्होंने आगम के आदेश को ध्यान में रखकर अपने सुदृढ़ शरीर को समाधिमरण की अग्नि में समर्पित कर दिया था। वे गुरुदेव कुंथलगिरि में सल्लेखना के आत्मचिंतन एवं आत्मविशुद्धि के अपूर्व काल में प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर में जाकर देशभूषण, कुलभूषण भगवान का पंचामृत द्वारा किया गया वैभवयुक्त अभिषेक देखकर विशेष शांति प्राप्त करते थे। एक दिन तो महाराज ने प्रबन्धकों से कहा था - "तुम लोग अभिषेक की बोली में दो-दो हजार, ढाई-ढाई हजार रुपया तक लेते हो; किन्तु अभिषेक की सामग्री में क्यों कमी करते हो?" महाराज के उलाहना देने पर दूसरे दिन से घड़ों दही-दूध से भगवान का अभिषेक होने लगा। महाराज बड़े ध्यान से

जिनेन्द्र का अभिषेक देखते थे। वह उपवास का २८ वाँ दिन था। जब मैं महाराज के ठीक समीप खड़ा था। मैंने निकट से देखा कि वे अभिषेक को अत्यन्त तल्लीनता से देख रहे थे। उससे स्पष्ट होता था कि इन निर्ग्रन्थराज को सल्लेखना की उत्कृष्ट तपोमयी वेला में भी इस महाभिषेक दर्शन से महान् लाभ होता था, अतः गृहस्थों को तो यह अभिषेक अनन्त कल्याणदाता अवश्य होगा। इस सम्बन्ध में पक्ष का मोह छोड़कर हमें आगम से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए।

आगम और पंचामृत अभिषेक

कोई-कोई स्वाध्यायप्रेमी भाई कहते हैं, आगम में दूध, दही, रस आदि से अभिषेक नहीं लिखा है। उन बंधुओं के लिए हम अपने मान्य ग्रन्थों के दो चार प्रमाण देते हैं।

हरिवंश पुराण आचार्य जिनसेन स्वामी रचित है। वे महाज्ञानी एवं आगम के मर्मज्ञ दिगम्बर जैन आचार्य हुए हैं। उनके हरिवंश पुराण के बाईसवें सर्ग में कहा है कि वासुपूज्य भगवान के जन्म से पुनीत चंपापुरी में वसुदेव ने गंधर्वसेना के साथ फाल्गुन के अष्टाह्निका महापर्व में जिन मंदिर में जाकर बड़े हर्ष से क्षीर, इक्षु रस, दधि, घृत, जलादि के द्वारा जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक किया। उन्होंने हरिचंदन की गंध, शालि तंदुल, नाना प्रकार के पुष्प, निर्दोष नैवेद्य, दीपक, धूप से भगवान की पूजा की थी। ग्रन्थ के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं -

क्षीरेक्षुरस-धारोघै-र्घृतदध्युदकादिभिः।
अभिषिच्य जिनेन्द्रार्चामर्चितां नृसुरासुरैः ॥२१॥

हरिचंदन-गंधाद्यै गंधशाल्यक्षताक्षतैः।
पुष्पैर्नानाविधैरुद्धैर्धूपैः कालागरूद्भवैः ॥२२॥

दीपैर्दीप्त-शिखाजालै-र्नैवेद्यैर्निरवद्यकैः।
तावानर्चतुरर्चां तामर्चना-विधिकोविदौ ॥२३॥

पूजा के अंत में वसुदेव ने अढ़ाई द्वीप के १७० धर्मक्षेत्रों में त्रिकाल सम्बन्धी जिनेन्द्रादि की इन भव्य शब्दों द्वारा वंदना भी की थी -

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु स-सप्ततिशतात्मके।
धर्मक्षेत्रे त्रिकालेभ्यो जिनादिभ्यो नमोस्त्विति ॥१७॥

समाज का अत्यन्त आदरणीय ग्रंथ पद्मपुराण भी इस विषय में हरिवंशपुराण का समर्थन करता है -

राम के वनवास के पश्चात् भरत शासन करते थे। भरत ने द्युति नाम के महान् आचार्य के समीप नियम लिया कि "पद्मदर्शनमात्रेण करिष्ये मुनिताम्" - राम के दर्शन मात्र से ही मुनिव्रत धारण करूंगा। उस समय आचार्य द्युति महाराज ने कहा था, कि इसके पूर्व तुमको श्रावकों के व्रत धारण करना चाहिए। उन्होंने उपदेश में कहा था - "अर जो रात्रि कूँ आहार का त्याग करै सो गृहस्थ पद के आरंभ विषै प्रवृत्तै है तो हू शुभ गति के सुख पावै। जो पुरुष कमलादि जल के पुष्प तथा केतकी मालती आदि पृथ्वी के सुगंध पुष्पनिकरि भगवान कूं अरचे सो पुष्पक विमान कूं पाय यथेष्ट क्रीडा करै।"

(दौलतराम जी की भाषा टीका पृ. ३०८ पर्व ३२)

रविषेणाचार्य रचित मूल पद्मपुराण के वाक्य ध्यान देने योग्य हैं -

यः करोति विभावर्यामाहारपरिवर्जनम्।
सर्वारंभप्रवृत्तोपि यात्यसौ सुखदां गतिं॥ सर्ग ३२-१५७॥

सामोदैर्भूजलोद्भूतैः पुष्पैर्योजिनमर्चयति।
विमानं पुष्पकं प्राप्य स क्रीडति यथेप्सितम्॥१५९॥

इस आगम के प्रकाश में पुष्पों द्वारा भी भगवान की पूजा का निषेध नहीं होता है। जिस सिद्ध पूजा को श्रावक लोग बड़े चाव से पढ़ते है, उसमें भी मंदार, कुंद, कमल आदि वनस्पति से उत्पन्न पुष्पों द्वारा सिद्धचक्र की वंदना की गई है -

मन्दार-कुंद-कमलादिवनस्पतीनाम्, पुष्पैर्यजे शुभतमैर्वरसिद्धचक्रम्॥

अभिषेक का महाफल

पद्मपुराण की भाषा टीका में दौलतराम जी ने लिखा है - "जो नीर कर जिनेन्द्र का अभिषेक करै, सो देवनिकर मनुष्यनितैं सेवनीक चक्रवर्ती होय, जाका राज्याभिषेक देव-विद्याधर करैं। अर जो दुग्ध करि अरहंत का अभिषेक करैं; सो क्षीरसागर के जल समान उज्ज्वल विमान विषै परमकांति धारक देव होय; बहुरि मनुष्य होय मोक्ष पावै। अर जो दधिकर सर्वज्ञ वीतराग का अभिषेक करै, सौ दधि समान उज्ज्वल यशकूं पाय करि भवोदधि कूं तरै। अर जो घृतकर जिननाथ का अभिषेक करै, सो स्वर्ग विमान में महाबलवान देव होय परंपरा अनंतवीर्यकूं धरै। अर जो ईख रसकर जिननाथ का

अभिषेक करै, सो अमृत का आहारी सुरेश्वर होय नरेश्वरपद पाय मुनीश्वर होय अविनश्वर पद पावै। अभिषेक के प्रभाव करि अनेक भव्यजीव देव अर इंद्रनिकर अभिषेक पावते भए, तिनकी कथा पुराणनि में प्रसिद्ध है।" (पृष्ठ ३०९)।

मूल संस्कृत ग्रंथ के ये पद्य पढ़ने योग्य हैं -

अभिषेकं जिनेन्द्राणां कृत्वा सुरभिवारिणा।
अभिषेकमवाप्नोति यत्र यत्रोपजायते ॥१६५॥

अभिषेकं जिनेन्द्राणां विधाय क्षीरधारया।
विमाने क्षीरधवले जायते परमद्युतिः ॥१६६॥

दधि-कुंभैर्जिनेन्द्राणां यः करोत्यभिषेचनं।
दध्याभ-कुट्टमे स्वर्गे जायते स सुरोत्तमः ॥१६७॥

सर्पिषा जिननाथानां कुरुते योभिषेचनम्।
कांतिद्युति प्रभावाद्यो विमानेशः स जायते ॥१६८॥

अभिषेकप्रभावेण श्रूयंते बहवो बुधाः।
पुराणेनंतवीर्याद्या द्युभूलब्धाभिषेचनाः ॥१६९॥

विचारकों को **आचार्य देवसेनकृत भावसंग्रह** की ४४२ गाथा तथा **जटासिंहनंदि आचार्य के वरांगचरित्र** के सर्ग २३ के श्लोक ७७ को देखकर ज्ञात होगा, कि यह परंपरा आगम पर आश्रित है। कल्पना नहीं है।

अत्यन्त पूज्य माने जाने वाले **ग्रन्थराज जयधवला** में तो चंदन लगाना, पुष्प चढ़ाने आदि का वर्णन आता है, जिसे लोग बीस पंथियों की मान्यता कह दिया करते हैं। आगम के विचार करते समय हमें न्याय बुद्धि से अपने पक्ष का मोह छोड़कर आगम की ओर अपनी बुद्धि को लगाना चाहिए। जयधवला टीका की रचना करने वाले आचार्य वीरसेन मूल संघ के महान् आचार्य हुए हैं, जिनकी बुद्धि के कौशल को देखकर सर्वज्ञ के सद्भाव में शंका दूर हो जाती थी। लिखा है -

यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्।
जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥२१॥

(जयधवला प्रशस्ति)

जयधवला टीका का यह कथन ध्यान पूर्वक मनन योग्य है।

शंका – छहकाय के जीवों की विराधना के कारणभूत श्रावक धर्म का उपदेश करने वाले होने से चौबीसों तीर्थंकर सदोष हैं। यथा - दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म हैं। इन चारों में भोजन पकाना, पकवाना, अग्नि सुलगाना, अग्निका जलाना, अग्नि का खूतना, खुतवाना आदि व्यापारों से होने वाली जीव विराधना के बिना दान नहीं बन सकता। उसी प्रकार वृक्ष काटना, कटवाना, ईंट का गिराना, गिरवाना तथा उनको पकाना, पकवाना आदि छहकाय के जीवों की विराधना के कारणभूत व्यापार बिना जिनभवन का निर्माण करना अथवा करवाना नहीं बन सकता।" इसके पश्चात् का यह कथन ध्यान देने योग्य है - "अभिषेक करना, अवलेप करना, संमार्जन करना, चंदन लगाना, फूल चढ़ाना और धूप जलाना आदि जीववध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना नहीं बन सकता।"

(जयधवला पृ. १०० भाग १)

प्रतिशंका – शील का रक्षण करना सदोष कैसे है?

शंकाकार – नहीं, क्योंकि अपनी स्त्री को पीड़ा दिए बिना शील का परिपालन नहीं हो सकता, इससे शील की रक्षा भी सावद्य है।

प्रतिशंका – उपवास सावद्य कैसे है?

शंकाकार – नहीं, क्योंकि अपने पेट में स्थित प्राणियों को पीड़ा दिए बिना उपवास बन नहीं सकता, इसलिए उपवास भी सावद्य (सदोष) है। अथवा स्थावर जीवों को छोड़कर केवल त्रस जीवों को ही मत मारो, इस प्रकार का श्रावकों को उपदेश देने से जिनदेव निरवद्य (निर्दोष) नहीं हो सकते। अथवा अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, वृक्ष के मूल में, सूर्य के आताप में, खुले हुए स्थान में निवास करना, उत्कुटिकासन, पल्यंकासन, अर्धपल्यंकासन, खड्गासन, गवासन, वीरासन, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय ध्यानादि क्लेशों में जीवों को डालकर उन्हें ठगने के कारण भी जिन भगवान निरवद्य नहीं हैं और इसलिए वे वंदनीय नहीं हैं।" ऐसी शंका उठाई गई है।

इस विवेचन के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान ने दान, पूजादि का उपदेश अवश्य दिया है। यह कार्य करने पर भी वे निर्दोष हैं। इसमें यह हेतु दिया गया है कि - "यद्यपि भगवान पूर्वोक्त प्रकार का उपदेश देते हैं, तो भी उनके कर्मबन्ध नहीं होता

है; क्योंकि जिनदेव के तेरहवें गुणस्थान में कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम और कषाय का अभाव हो जाने से वेदनीय कर्म को छोड़कर शेष समस्त कर्मों का बन्ध नहीं होता है।''

उपर्युक्त कथन पर सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करने पर यह ज्ञात होता है कि भगवान के समीप पुष्प चढ़ाना आदि क्रियाएँ जयधवला के रचयिता वीरसेनस्वामी को मान्य थीं। यह उनकी व्यक्तिगत कल्पना नहीं थी। उन्होंने परम्परा से प्राप्त आगम के अनुसार ही कथन किया है। उनकी धवला, जयधवला टीकाओं से स्पष्ट होता है कि जहाँ उनको अनेक परम्पराओं का ज्ञान हुआ है, वहाँ उन्होंने विविध परम्पराओं को जैसा का तैसा बताया है; अतः उनकी प्रामाणिकता पर आशंका करना जिनेन्द्रभक्त को शोभा नहीं देता।

उपर्युक्त संक्षिप्त कथन का भाव यह है कि ऋषि-परम्परा को देखकर हमें अपनी मान्यताओं, प्रवृत्तियों या धारणाओं का संशोधन करना चाहिए। आगम के आदेश का उल्लंघन करना अकल्याणकारी है।

ऋषिवाणी की मान्यता

कहा जाता है कि कुछ प्रसिद्ध पंडित महोदयों ने जो लिखा है, उससे आर्ष परम्परा का समन्वय नहीं बैठता, तब क्या किया जाय? इस शंका का समाधान स्पष्ट है कि **दिगम्बर गुरु परम्परा के अनुकूल कथन को ही प्रमाण मानना चाहिए। पंडितों की वाणी यदि आर्ष-परम्परा के अनुसार है, तो वह आदरणीय है, अन्यथा उसे वीतराग की वाणी न समझकर ग्रहण नहीं करना चाहिए।** निर्ग्रन्थ गुरु की वाणी पूज्य है। परिग्रही व्यक्ति श्रावक है, गुरु नहीं है। वह सत्य महाव्रती नहीं है। मुनि सत्य महाव्रती होते हैं।

रूढ़िवादी न बनो

यह समझना तथा तर्क करना कि दक्षिण के साधुओं ने प्रांत मोह से दक्षिण की ही पद्धति का प्रचार करना ध्येय बनाया है, अयथार्थ है। आचार्य शान्तिसागर महाराजने आगम के प्रकाश में दक्षिण में प्रचलित अनेक मूढ़ताओं का त्याग कराया है। दक्षिण में अनेक आगम विपरीत रूढ़ियाँ प्रचलित थीं, जिनमें आचार्य महाराज के निमित्त से शास्त्रोक्त सुधार हुआ। वे गुरुदेव कहते थे - ''सदा आगम की आज्ञानुसार श्रद्धा तथा आचरण करना चाहिए। धर्मात्मा का प्राण आगम है, रूढ़ि नहीं है।'' इस कथन का

निष्कर्ष इतना ही है कि आज के विविध ज्ञान-अध्ययन-अनुसन्धान के युग में हमें अपने पक्ष का मोह छोड़कर आर्ष-परम्परा के अनुसार श्रद्धान करना चाहिए।

तपस्या द्वारा ज्ञान-विकास

वर्धमान महाराज का अनुभव महान् था। वे शास्त्रों के पंडित नहीं थे; किन्तु अनुभवपंडित तो क्या, उसके वे आचार्य थे। तपस्या के प्रभाव से उनके ज्ञान-चक्षु और विशुद्ध हो गए थे। जिस समय उन्होंने ७० वर्ष की अवस्था में घर छोड़कर क्षुल्लक दीक्षा ली थी, उस समय उनकी स्मरणशक्ति सामान्य वृद्ध पुरुषों के समान क्षीण हो गई थी। क्षण भर की बात याद नहीं रहती थी। उस समय महाराज के छोटे भाई श्री कुमगोड़ा पाटील को खास चिन्ता हुई थी कि इस जराजीर्ण देह के द्वारा महान् तपस्या का भार कैसे उठाया जायगा? किन्तु ९५ वर्ष की वय में उनकी स्मरण शक्ति में आश्चर्यप्रद परिवर्तन दिखाई पड़ता था। उनकी स्मृति में अद्भुत विकास हो गया। यह देखकर आगम की कथनी पर विश्वास होता है कि **ज्ञानावरण के ह्रास और विकास पर स्मृति का विकास और ह्रास निर्भर है।** तपोग्नि द्वारा कर्मों का दाह किए जाने पर आत्मा के गुण जगमगाने लगते हैं। ऐसे तपश्चर्या के धनी गुरुजनों के समीप सद्गुणों का अद्भुत भंडार रहता है। यथार्थ में वे गुरु रत्नकरंड बन जाते हैं।

पत्रों में मुनियों की निन्दा न छापें

वर्धमान महाराज कहने लगे - "आजकल साधु के चरित्र पर पत्रों में चर्चा चला करती है। उनके विद्यमान अथवा अविद्यमान दोषों का विवरण छपता है। इस विषय में उचित यह है कि अखबारों में यह चर्चा न चले, ऐसा न करने से अन्य साधुओं का भी अहित हो जाता है। मार्ग-च्युत साधु के विषय में समाज में विचार चले; किन्तु पत्रों में यह बात न छपे। इससे सन्मार्ग के द्वेषी लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।" उन्होंने यह भी कहा था कि - "किसी भी साधु का आहार बन्द नहीं करना चाहिए।" यथार्थ बात यह है कि इस सम्बन्ध में खून की तेजी वाले युवकों को नेतृत्व न देकर धार्मिक, शान्त, ज्ञानी एवं अनुभवी व्यक्तियों से परामर्श कर कार्य करना चाहिए। साधु के सम्बन्ध की बात बहुत गम्भीर है। दिगम्बर मुनि का पद खिलवाड़ नहीं है।

मुनिपद की कठिनता

महाराज ने कहा था - "मुनि धर्म फार (बहुत) कठिन है। मुनि होकर पैर फिसला, तो भयंकर पतन होता है। नेत्रों को जागृत रखना चाहिए। ज्ञान आदि की बातों

में चूक हो गई, तो उतनी हानि नहीं होती, जितनी संयमपालन में प्रमाद करने पर होती है। तलवार की धार पर सम्हालकर पैर रखा, तो ठीक; नहीं तो पैर नियम से कट जाता है। मुनिपद में चारित्र को बराबर पालना चाहिए।"

निर्मोही गृहस्थ

मैंने चर्चा की - "महाराज! आचार्य समंतभद्र स्वामी ने कहा है - निर्मोहः गृहस्थः मोक्षमार्गस्थः, मोहवान् मुनिः न मोक्षमार्गस्थः।"

महाराज ने कहा - "यदि मोहवान् मुनि है, तो वह नरकादि कुगति का पात्र है। मुनि यदि मोही बना, तो महापाप होता है। वह पाप वज्रलेप होता है। स्वच्छ वस्त्र का दाग सबको दिखता है। शीघ्र दूर नहीं होता है।" कुन्दकुन्द स्वामी ने रयणसार में कहा है, जो पूर्व आचार्य परम्परा के विपरीत कथन करता है वह व्यक्ति मिथ्यादृष्टि है। इस काल में सम्यक्त्वी मुनि और श्रावक थोड़े हैं, मिथ्यात्वी सुलभ हैं। (गाथा ३ तथा ५९)

मुनि बनने की तैयारी

उनका आत्मध्यान का अभ्यास बहुत विलक्षण रहा है। इसके लिए उन्होंने बहुत कठिन परिश्रम उठाया था। जब वर्धमान महाराज जयसिंगपुर (मिरज के समीप) में रहते थे, तब वे बस्ती से दूर जाकर पार्क के मैदान में मध्याह्न की तेज धूप में दिगम्बर मुद्रा में बैठकर ध्यान का अभ्यास करते थे।

वैराग्य का जागरण

उन्होंने कहा था - "आचार्य शांतिसागर महाराज संघ सहित जब शिखरजी के लिए रवाना हुए, तब हमारे मन में वैराग्य के भाव विशेष बढ़े और हमने महाव्रती बनने हेतु अभ्यास आरंभ किया था।" अतः उनकी आत्मा अत्यन्त विकसित तथा सुसंस्कृत हो गई थी। इस निष्कर्ष का आधार निम्नलिखित चर्चा है।

समन्वय वचन

दशलक्षण पर्व ता. ८ सितम्बर को पूर्ण हो चुका था। मैंने प्रभात में गुरुदेव से कहा - "महाराज! आपके चरणों के समीप पर्व सानंद पूर्ण हो गया।"

महाराज बोले - "तुम्हारे आने से लोगों का बड़ा हित हुआ। मिथ्यात्व का त्याग हुआ। धर्मबुद्धि बढ़ी।" मैंने कहा - "मुझे तो आपके दर्शन का अपूर्व लाभ

मिला।" महाराज बोले - "अच्छा दोनों का लाभ हुआ। तुम्हारा तथा लोगों का भी।" मैंने कहा - "बिल्कुल ठीक बात है।"

महाराज बोले - "हम खोटी बात क्यों बोलेंगे?" कितना सुन्दर, मधुर तथा यथार्थ उत्तर था उनका।

उच्च ध्यानी

मैंने पूछा - "महाराज, कल रात्रि को आपकी कुटी के अत्यन्त समीप मेरा दो घंटे के लगभग भाषण हुआ था। विषय था 'ब्रह्मचर्य धर्म।' क्या आपने सुना था?"

महाराज - "मैं ध्यान में बैठा था। मुझे तुम्हारे व्याख्यान का कुछ भी पता नहीं चला। ध्यान में बैठने पर पास में तुम नक्कारा भी बजाओ, तो पता नहीं चलता है। नदी या तालाब के जल में डुबकी लगाने पर बाहर का पता नहीं चलता। मैं आत्मचिंतन में निमग्न था। उस समय बाहर का कुछ भी ज्ञान नहीं था। हम जैसा होता है, वैसा बताते हैं।"

मैं आश्चर्य में पड़ गया। महाराज के अति समीप उच्च स्वर में दिए गए लम्बे भाषण का भी उनको आत्मचिंतन काल में पता नहीं चला। धन्य है ऐसी आत्मध्यान की अपूर्व क्षमता। स्व. आचार्य शान्तिसागर महाराज भी अपने ध्यान के विषय में ऐसा कहते थे कि - "हम बीच बाजार में बैठकर आत्मा का ध्यान कर सकते हैं। आत्मा में निमग्न होने पर बाजार क्या बाधा उत्पन्न करेगा।" इस कथन का प्रत्यक्षीकरण वर्धमान स्वामी में हमने देख लिया। भेदविज्ञानी साधु अभ्यास के द्वारा असंभव बातों को संभव कर लिया करते हैं।

संसार का खेल

व्रतों की द्वादशी को मन्दिरजी के चौक में स्थानीय श्राविकाश्रम की छोटी-छोटी बालिकाओं ने कुछ खेल दिखाए। उसे देखते हुए महाराज ने मुझसे कहा - "यह तो बच्चों का खेल है; किन्तु यह संसार ही एक खेल है, आत्मा इस खेल से पृथक् है। इसको हम नहीं भूलते हैं। संसार में जीव मोह के कारण नाचते-कूदते हैं।" वास्तव में स्वतत्त्व की जिनको उपलब्धि हो चुकी है, उनकी दृष्टि, उनकी वाणी, उनकी चर्या में एक विलक्षण ज्योति, मधुरता, सरसता तथा सजीवता का दर्शन होता है।

विनम्रता

एक दिन प्रभात काल में महाराज कहने लगे - "नाम सोनूबाई और पास में सुवर्ण न हो, उसी प्रकार मैं सामान्य स्थिति का हूँ और लोग मुझे बड़े-बड़े नामों से पुकारते हैं। कोई मुझे 'चारित्र चूड़ामणि' कहता है, कोई 'आचार्य' कह बैठता है। अरे बाबा! ये बहुत बड़े पद हैं। मैं इतना महान् नहीं हूँ।"

मुनिपद का रहस्य

८ सितम्बर को आहार के उपरान्त महाराज ने कनड़ी में मुझसे कुछ कहा। मैंने पूछा - "महाराज, आपने यह क्या कहा?"

उन्होंने कहा - "बैठ जाओ, यह कहा है।" बैठने के पश्चात् उन्होंने हम से पूछा - "बताओ, हमने घर छोड़कर मुनि का पद क्यों धारण किया? क्या भोजन के लिए? लज्जा छोड़कर दूसरे के घर में खड़े भिक्षावृत्ति से आहार के लिए क्या मुनिपद लिया? क्या हमारे घर में कमी थी, जो ऐसा किया?"

मैं प्रश्न सुनकर चुप था। क्या उत्तर देता। मैंने कहा - "महाराज! आप ही इस प्रश्न का समाधान कर सकते हैं।"

उन्होंने कहा - "हमने आत्मकल्याण के लिए यह पद ग्रहण किया है। आगमानुसार प्रवृत्ति के लिए यह मुद्रा धारण की है। आचार्यों ने कहा है २८ मूल-गुणों का पालन करते हुए आत्मकल्याण करो, इससे मैं ऐसा करता हूँ। यश, मान, सम्मान के लिए यह पद अंगीकार नहीं किया है। यश तथा सम्मान में क्या है? आहार के पश्चात् तुमने पूजा स्तुति की या नहीं की, इसमें क्या है? आगम कहता है - मुट्ठी भर अन्न खा और जा। इससे आत्मकल्याण की साधना के एक मात्र उद्देश्य से हमने दिगम्बर मुद्रा धारण की है।"

कितना मार्मिक तथा वास्तविकता से परिपूर्ण यह उत्तर था। जिनका जीवन मायाजाल में उलझा रहता है, उनके पास ऐसा उत्तर नहीं मिलता। उलझा व्यक्ति सुलझी बात कैसे करेगा? सुलझे साधु के पास जाने से बड़े-बड़ों की जीवनगुत्थी सुलझ जाती है। इस सम्बंध में एक महत्त्वपूर्ण घटना देने योग्य है।

सांगली नरेश को कल्याणकारी उपदेश

नांद्रे में मानस्तम्भ पूजा उस वर्ष सन् १९५७ के ज्येष्ठ मास में वर्धमान स्वामी के

समक्ष बड़े आनन्दपूर्वक सम्पन्न हुई। उस मङ्गल प्रसङ्ग पर सांगली नरेश नांद्रे पधारे और महाराज के दर्शनार्थ गए। सामायिक के उपरांत महाराज का दर्शन सांगली नरेश ने किया। वर्धमान स्वामी के मुख पर तपस्या तथा आत्म-साधना का अद्भुत तेज था। योगदर्शन में प्रतिपादित योगी के भाव महाराज में स्पष्ट प्रतिभासित हो रहे थे। दर्शन से तृप्त होकर सांगली नरेश ने गुरुदेव से कुछ अमृत उपदेश की प्रार्थना की। वर्धमान महाराज ने कहा - "राजन्! हमें भली प्रकार पता है कि आपने अच्छी तरह शासन करके प्रजा को सुखी रखा है। अब स्वराज्य होने से आप पर से शासन-संचालन का भार दूर हो गया है और कोई चिन्ता का कारण नहीं है, अतएव हमारा यही कहना है कि आप आत्मकल्याण का मार्ग अंगीकार करें। आप प्रतिदिन कुछ समय आत्मचिन्तन में भी लगाया करें।"

राजा पर गहरा प्रभाव

वर्धमान महाराज की वाणी सुनते ही सांगली सरकार को बहुत शांति मिली। अत्यन्त सन्तोष प्राप्त हुआ। उनके नेत्रों में अश्रु आ गए। वे बोले - "स्वामिन्! हमें हजारों बड़े-बड़े साधु मिले; किन्तु आज तक किसी ने ऐसा मधुर, आत्मा की ओर आकर्षित करनेवाला उपदेश नहीं दिया।" इसके पश्चात् दिगम्बर मुद्राधारी इन ऋषिराज के चरणों पर सांगली नरेश ने अपना मस्तक रख दिया और प्रार्थना की - "प्रभो! आप सदृश साधुराज का हमें ऐसा ही आशीर्वाद प्राप्त हो कि मैं आत्मकल्याण में लग जाऊँ।" इसके अनन्तर वर्धमान महाराज ने एक अध्यात्मशास्त्र की प्रति सांगली सरकार के पास स्वाध्याय हेतु भिजवाई। उसे पाकर वे अत्यन्त हर्षित हुए थे।

पवित्र मनोवृत्ति

कुछ बहिनों ने महाराज की स्तुति पढ़ी और "आचार्य वर्धमान सागर महाराज की जय" ऐसा कहा। यह सुनकर वर्धमान स्वामी हर्षित नहीं हुए। वे गम्भीर मुद्रा धारण कर कहने लगे - "क्या करें, ये लोग सुनते ही नहीं। मुझे आचार्य कहती हैं। आचार्य पद के ३६ मूलगुण बहुत बड़े हैं। मैं आचार्य नहीं हूँ। इनको कहाँ तक समझाया जाय?" इनके इस उत्तर में ही उनकी उच्चता तथा महानता स्पष्ट होती है। क्षुद्र प्रकृति के लोग गौरव की बात सुनकर हर्षित होते हैं; किन्तु सत्य महाव्रती महात्मा मिथ्या प्रशंसा से भ्रम में नहीं फँसते। जब वे महापुरुष मुनियों के शिरोमणि गौतमस्वामी, जम्बूस्वामी आदि श्रेष्ठ आत्माओं की सर्वांगीण विकसित मुनिपदवी का स्मरण करते हैं, तब उन्हें यह लगता है कि उनकी तुलना में हमारी क्या स्थिति है? हम तो अत्यन्त लघु हैं। इसी दृष्टि को सजग रखने वाले महर्षि श्री शांतिसागर महाराज ने हमसे कहा था - "हम तो 'लास्ट

नम्बर' (जघन्य श्रेणी) के मुनि हैं। तुम हमारा जीवन-चरित्र लिखने में क्यों शक्ति नष्ट करते हो?'' सचमुच में जहाँ ऐसी वीतरागता की नींव पर मुनित्व की इमारत खड़ी होती है, वहाँ देवताओं की भी वंदना करने की भावना उत्पन्न होती है। आचार्य महाराज को दक्षिण के हमारे स्नेही एक बन्धु 'जीवंत देव' कहते थे; अतः निस्पृहता तथा वैराग्य भावना से साधु का जीवन समलंकृत रहना कल्याणकारी है। आचार्य अकलंक देव लिखते हैं - ''**यस्य मोक्षे हि नाकांक्षा, स मोक्षमधिगच्छति**'' - जिसके मोक्ष के प्रति भी आकांक्षा दूर हो चुकी है, वह महाभाग मोक्ष को प्राप्त करता है।

यशोलिप्सा

आज के युग की बीमारी 'प्रसिद्धि की लालसा' बढ़ रही है। कुछ लोग तो प्रसिद्धि मात्र की कामना से मृत्यु से आलिंगन करानेवाले कार्यों को करते हैं। नरभव महान् है। यह पुनः दुर्लभ है, इसका ध्यान वहाँ नहीं रहता है। साधुता के उज्ज्वल पथ पर स्थित साधु की उतनी-उतनी अधिक उन्नति होती है, जितनी जितनी वह यश की लोलुपता को त्यागता है। देखा जाता है कि आजकल किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों में २८ मूलगुण भी पूर्ण नहीं रहते हैं, उनका कोई संघ भी नहीं रहता, फिर भी वे आचार्यपदवी को धारण करते हैं। आगम के विरुद्ध स्वेच्छानुसार जिसने प्रवृत्ति की, उस जीव का त्रिकाल में भी हित सम्भव नहीं है। इससे उच्च श्रेणी के मुनि लोकरुचि, लोकप्रतिष्ठा आदि के स्थान पर जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को प्राणों से भी अधिक महत्त्व देते हैं। एक दिन आचार्य शान्तिसागर महाराज ने कहा था - ''हमारा प्राण इस शरीर में नहीं है। हमारा प्राण यह शास्त्र समुदाय है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी है।''

निमग्नता

३१ अगस्त को मैंने वर्धमान महाराज से कहा - ''महाराज! आप शास्त्र में तीन-तीन घंटे से अधिक काल तक एक आसन बैठे रहते हैं। कभी-कभी तो आपको एक ही आसन में मध्याह्न से सायंकाल तक देखते हैं। ९५ वर्ष की अवस्था में ऐसी क्षमता का क्या कारण है?''

शरीर का ध्यान नहीं

महाराज ने कहा - ''हमारा ध्यान शास्त्रचर्चा तथा तत्त्वचिंतन में लगा रहता है, इससे शरीर की खबर नहीं रहती।''

धन्य है, आत्मा के विषय में ऐसी लोकोत्तर स्थिरता। जहाँ बुढ़ापा मनुष्य को देह का दास बनाता है, और आत्मचिंतन असंभव बन जाता है, वहाँ अत्यन्त वृद्धावस्था वाले मुनि वर्धमान महाराज आत्मचिंतन तथा आत्म-विचार में इतने व्यस्त रहा करते थे कि शरीरादि की खबर तक नहीं रहती थी। ऐसा दिखता है कि मछली को पानी में तैरने में कोई कष्ट नहीं होता, इसी प्रकार वर्धमान महाराज की आत्मध्यान रूप सरोवर में स्थिति होती है। इस कथन की पुष्टि एक घटना से भी होती है।

महत्त्वपूर्ण घटना

एक दिन श्रीवालगोंडा पाचोरे ने महाराज से प्रार्थना कर आचार्य शांतिसागर महाराज के संबंध की कुछ विशेष वार्ता पूछने के लिए एक बजे दिन का समय निश्चित कराया। दो बजे तक महाराज कुटी में ही रहे आए। पश्चात् शास्त्र का समय हो गया। महाराज से चर्चा का अवसर नहीं मिला। श्री पाचोरे ने महाराज से संध्या के समय कहा - "पंडितजी का आज का दिन चला गया। ८०० मील से आपके पास आए हैं। कम से कम इनको आधा घंटा विशेष चर्चा को कल से अवश्य दीजिए।"

ध्यान में रस

इस पर वर्धमानसागर महाराज के उद्‍गार ध्यान देने योग्य हैं - "अरे! क्या बताऊँ, भूल हो गई। मैं ध्यान में लग गया। इससे ऐसा हो गया। कल समय अवश्य दूंगा।"

जो आत्मध्यान हमारे लिए बड़ा विकट दिखता है, वह उन साधुराज के लिए अत्यन्त सरल रहा है। हमें आत्मध्यान शब्द तो अत्यन्त सरल दिखता है; किन्तु उसका अभ्यास आरंभ करते समय अत्यन्त कठिनता का अनुभव होता है। कुंदकुंदस्वामी ने समयसार में लिखा है कि इस जीव ने काम तथा भोग संबंधी कथा का अनंत बार अनुभव किया है, उसे सुना है। अखण्ड एकत्व युक्त आत्मा का परिचय नहीं हुआ, अतः वह इसे अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। पूज्यपाद ऋषिराज का कथन ध्यान देने योग्य है, कि योग-ध्यान की प्रारंभिक अवस्था में बड़ी कठिनता का अनुभव होता है। इस स्थिति में बाहर सुख प्रतीत होता है और अंतरंग में स्थिति दुःखद लगती है; किन्तु सम्यक् अभ्यास होने पर स्वरूप में अवस्थिति आनंदप्रद होती है और स्वरूप से च्युत होकर बहिर्मुख होना अप्रिय लगता है।"

आत्म-निमग्नता का उपाय

ऐसी स्थिति में प्राय: सभी लोग पूछते हैं कि आत्मा में किस प्रकार लीनता हुआ करती है? मन की चंचलता क्षण भर दूर नहीं होती। उस चंचलता को कैसे दूर किया जाय? इस प्रश्न का सुन्दर समाधान वर्धमानसागर महाराज के पास से मुनिदीक्षा लेने वाले १०८ पूज्य समंतभद्र महाराज के उस कथन से हो जाता है, जो उन्होंने भद्र परिणामी फ्रांस के विद्वान् लियोन वेंनसाइमन को बाहुबली क्षेत्र में आने पर दिया था।

कषाय निग्रह

समंतभद्र महाराज ने कहा था - "मानसिक शांति का एक मात्र उपाय कषायों -क्रोधादि विकारों की मंदता है। इन कषायों की मंदता केवल इच्छा करने से नहीं होती; किंतु दैनिक अभ्यास द्वारा संपन्न होती है। प्रति दिन का संस्कार आवश्यक है। इन क्रोध मान, माया तथा लोभ रूप कषायों से ही आत्मशुद्धि में विकृति उत्पन्न होती है और मन क्षुब्ध होकर अशांत बनता है। वह चित्त को सम और संतुलित नहीं रहने देता; प्रत्युत् विचार, वाणी तथा आचार त्रयी की सुसंगति को नष्ट करके विरोध उत्पन्न करता है। विसंवाद का निर्माण करता है। जीव के सारे दु:खों तथा विफलताओं का मूलकारण यही है। अत: जितने अंश में कषाय को दूर किया जाता है, उतने अंश में मनुष्य सुख और शांति पाता है। मानवीय मन से जहाँ कषाय दूर हुए कि इस मानव का अन्तर्देव ईश्वर हो चमकता है; अत: यदि सुख-शांति चाहते हो, तो सब से पहले कषायों को जीतो। जैनधर्म का साररूप संदेश यही है।"

"अंतर्मुखी दृष्टि (Introvert) करके आत्म-स्वरूप का चिंतवन करने से मन व्यर्थ के कल्पना जाल में नहीं फँसता। ज्यों-ज्यों दृष्टि अंतर्मुखी होगी, त्यों-त्यों निरर्थक विचार न्यून होंगे और मन स्वयं स्वस्थ होगा।"

"स्वाध्याय द्वारा भी निरर्थक विचार रुकते हैं। मनुष्य का मन बंदर जैसा चंचल है, सदा भटकता रहता है। जिधर लक्ष्य हुआ, उधर ही मन दौड़ जाता है, अतएव मन को अच्छे स्थान पर लगाना चाहिए। यदि अंतर्मुख होकर आत्मचिंतन का अभ्यास नहीं होता, तो धर्मचर्चा तथा स्वाध्याय में मन को लगाना श्रेयस्कर है। स्वाध्याय में लगे रहने से मन में निरर्थक विचार उठने का अवसर ही नहीं रहता।"

"अन्य प्रकार का बाह्य उत्कर्ष कितना भी हो, उस पर आत्मविकास निर्भर नहीं है। आत्मविकास के लिए परिणामों में विशुद्धि आवश्यक है। विकारी मानव कितना

ही बड़ा और मान्य हो, अध्यात्मक्षेत्र में वह अबोध बालक ही है। वहाँ उसकी कुछ भी महत्ता नहीं है। वह विकार के वश में है, जिसका मुख्य कारण मन की निर्बलता और वस्तु-स्थिति का अज्ञान है। जिसका मनोबल बढ़ा है तथा जिसको वस्तुतत्त्व का वास्तविक ज्ञान है, वह सहसा विकार के आधीन नहीं होता। प्रबल कर्मोदय से कदाचित् विकार उत्पन्न होवे, तो भी वह तत्त्वज्ञान के बल से उस पर अधिकार प्राप्त करता है। इसके विपरीत यदि अंतरंग शक्ति व ज्ञान का विकास नहीं हुआ है, तो छोटे छोटे कारणों से ही मनुष्य विकार के वश होकर पतनोन्मुख होता है। अत: आत्म विकास की इच्छा करनेवालों को तत्त्वाभ्यास द्वारा मनोबल को बढ़ाने का प्रयत्न करना उचित है।''

आचार्य शांतिसागर महाराज कहते हैं, जिस प्रकार बार-बार रस्सी की रगड़ से कठोर पाषाण में गड्ढा पड़ जाता है, इसी प्रकार अभ्यास द्वारा इंद्रियाँ वशीभूत होकर मन में चंचलता नहीं उत्पन्न करती हैं। एक बार मैंने आचार्य महाराज से पूछा था कि - ''आप सतत स्वाध्याय करते हैं, क्या मन रूपी बंदर की चंचलता दूर करने को यह कर रहे हैं।'' महाराज ने कहा था - ''हमारा मन हमारे आधीन है। वह चंचल नहीं है।'' अतएव आत्मचिंतन के विषय में ऐसे योगियों का अनुभव ही जन-साधारण का मार्गदर्शक बन सकता है। पूज्यपाद स्वामी का कथन है - ''रागद्वेषादि की लहरों से जिनका मन रूपी जाल चंचल नहीं है, वे आत्मतत्त्व का दर्शन करते हैं।'' अतएव सच्चा आत्मचिंतन का अभ्यास सराग मार्ग का आश्रय छोड़ वीतराग के चरणों का शरण अंगीकार करने से प्रारंभ होता है। अनेक लोग आत्मचिंतन तथा ब्रह्मदर्शन की लम्बी चौड़ी बातें हाँका करते हैं; किन्तु यथार्थ बात यह है कि सर्वज्ञ, वीतराग भगवान के मार्ग में चलने वाले जीव को ही यह सौभाग्य मिलता है, अन्य को नहीं। मंद कषायजन्य शांति को लोग ब्रह्मदर्शन कहा करते हैं। आत्मानंद मिथ्यात्वी को नहीं होता।

एक बात यह भी है कि पुरुषार्थी तथा उद्योगी व्यक्ति ध्येय को सिद्ध करता है। प्रमादी तथा विषयों का दास बड़ी-बड़ी बातें बनाया करता है। उसे सफलता कभी नहीं मिलती। वर्धमानस्वामी की आत्मा उच्च तथा सुसंस्कृत स्वयं सरलता से नहीं बन गई है, इस कार्य के लिए उन्होंने बहुत पुरुषार्थ भी किया था।

उपसर्ग की चर्चा

मैंने २ सितम्बर को कहा - ''महाराज! कहते हैं आचार्य शांतिसागर महाराज के समान आप पर भी सर्पादि का उपसर्ग आया था।''

महाराज बोले - "तुम्हें कैसे मालूम? किसने कहा?"

मैं चुप हो गया, महाराज गम्भीर थे। मैंने कहा - "महाराज! आत्मदेव ने कहा है।" वे शांत हो कहने लगे - "हम क्षुल्लक दीक्षा लेने के पश्चात् दक्षिण के बाहुबली भगवान की वन्दना निमित्त कुछ श्रावकों के साथ दक्षिण कर्नाटक प्रान्त की तरफ गए थे। सब श्रावक एक जगह १० बजे ठहर जाते थे। उस समय हम एकान्त स्थान को देखकर ११ बजे से १ बजे दिन तक ध्यान करते थे। २ बजे वापिस आकर आहार करते थे। हुम्मच पद्मावती के स्थान पर हम पहुँचे। वहाँ हम दोपहर को एक पहाड़ी पर चढ़े। वहाँ चार-पाँच हाथ लम्बा बड़ा मोटा सर्प मिला। मुख से वह फुस-फुस शब्द करता था। वह हमारे पास आया। एक गज की दूरी पर था वह। हमें देखता रहा था। उसने शरीर का स्पर्श नहीं किया। कुछ समय बाद वह मन्दिर में चला गया। हम उस पहाड़ी पर आगे बढ़े। वहाँ पर एक व्याघ्र मिला था किन्तु हमें कोई बाधा नहीं हुई। इसके पश्चात् हम नीचे आ गए।"

उष्ण परीषह

महाराज ने दावणगिरि की यह घटना सुनाई थी। एक बार महाराज वापसी में दावणगिरि आए। अपने क्रम के अनुसार वे एक पहाड़ी पर चढ़ गए। ऊँचा पहाड़ था। भीषण गर्मी थी। पहाड़ी पर एक जगह बैठकर ध्यान करने लगे। भीषण उष्णता के कारण इनको चक्कर आ गया। आँखों से दिखना बन्द हो गया। ये मूर्छित हो गए। गिर जाने से इनका मस्तक एक चट्टान से टकरा गया। रक्त की धारा वेग से बहने लगी। इनको कुछ भी पता नहीं था। कुछ समय पश्चात् हवा के लगने से होश आया। उस समय इनके संघ का एक भक्त श्रावक इनको खोजता हुआ सुयोग से वहाँ आ गया। महाराज के मस्तक को तथा आसपास की भूमि को रक्तरंजित देखकर वह बहुत दुःखी हुआ। सामायिक का काल पूर्ण होने पर वह महाराज को नीचे लाया तथा योग्य परिचर्यादि का कार्य किया गया।

इस प्रकार के विकट प्रसंग इन महामुनि के जीवन में अनेक बार आए; किन्तु उनका विवरण सुनने को नहीं मिल पाया। उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में उनके उग्र तपोमय जीवन की झलक मिलती है। मुनि जीवन की कठिनाइयों की भोगी विषयांध गृहस्थ क्या कल्पना कर सकता है?

आगम के अनुसार ये सदा सावधानीपूर्वक कार्य किया करते थे। एक दिन चर्चा चली कि दुष्ट कल्की राजा मुनिराज के हाथ का प्रथम ग्रास कर के रूप में ग्रहण करता है?[१]

मैंने पूछा - "महाराज! प्रथम ग्रास यदि टैक्स के रूप में चला गया, तो दूसरा ग्रास मुनिराज ने क्यों नहीं लिया? राजा ने प्रथम ग्रास टैक्स रूप में इससे लिया था कि वह जूठा नहीं था।"

अन्तराय

इस पर महाराज बोले "आगमानुसार प्रथम ग्रास छिन जाने पर अंतराय हो जाता है।" उन्होंने अपने जीवन की एक घटना बताई - "वे चर्या को निकले थे। एक गृहस्थ के घर में विधि मिल गई। वे आहार को खड़े हो गए। एक महिला ने हाथ में दूध डाला। उस दूध में गाढ़ी मलाई आ गई। महाराज ध्यान से देखने लगे कि इसमें कहीं कोई अशुद्धि तो नहीं है? उनको शोधते देख उस स्त्री के मन में अद्भुत भाव उत्पन्न हुए; उसने तुरन्त वह मलाई अंजुली में से बाहर निकाल ली। ऐसा होने पर महाराज तुरन्त बैठ गए। उन्होंने आहार नहीं किया और उसे अंतराय रूप में माना।" इस घटना से पता चलता है कि सतत सावधान रहने वाले प्रमादरहित साधु के जीवन में सदा कष्ट, अंतराय आदि आपत्तियाँ आया करती हैं। बात यह है कि तप-बल से यह आगामी उदयावली में आने वाले अंतरायादि कर्मों की उदीरणा भी करते हैं। इससे विविध उपसर्ग इन वीतराग साधुओं का पीछा नहीं छोड़ते। आज का हीन काल है। संहनन भी हीन है, फिर भी सच्चे जैन मुनि अपनी अलौकिकता से आज भी जगत् को चकित करते हैं।

दीर्घ जीवन का रहस्य

वर्धमान महाराज से मैंने पूछा - "महाराज! आजकल दिन-रात भक्ष्याभक्ष्य का बिना विचार किए लोग शरीर की सतत सेवा में संलग्न रहते हैं; फिर अल्प अवस्था में भयंकर रोगों से आक्रान्त हो काल के गाल में समा जाते हैं। आप कठोर संयमी होते हुए भी ९५ वर्ष की अवस्था में पूर्ण स्वस्थ हैं। बाह्य तथा अंतरंग नीरोगता आपको प्राप्त हुई है। इसका क्या रहस्य है? आपकी जीवनचर्या किस प्रकार की रही है?"

महाराज ने बताया - "संयमी जीवन दीर्घायुष्य का विशेष कारण है। हम रात को ९ बजे के पूर्व सो जाते थे और तीन बजे सुबह जाग जाया करते थे। ३५ वर्ष की

---

१. तेषां पाणिपुटे प्राच्यः पिण्डः शुल्को विधीयताम् - उत्तरपुराण।

अवस्था में हमने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। हमारे शरीर में कभी रोग नहीं हुआ। गृहस्थ-अवस्था में हम एक दिन में ४५ मील बिना कष्ट के सहज ही चले जाते थे। २५ वर्ष की अवस्था में हम भोज से ५ ॥ बजे सबेरे चलकर शाम को ४५ मील दूरी पर स्थित तेरदाल ग्राम में जाकर भोजन करते थे। पहले हमारे शरीर का चमड़ा इतना कड़ा था कि शरीर में अलग से चमड़ा नहीं खिंचता था। लेकिन अब तो वृद्ध-अवस्था आ गई है।'' आज के विटेमिन भक्तों तथा डाक्टरों के उपासकों को साधुराज के दिव्य जीवन से शिक्षा लेना चाहिए। नीरोगता का बीज परिश्रम, ब्रह्मचर्य परिमित आहार-विहार है। महाराज ने बताया था कि वे स्नान के पश्चात् देवाराधना के अनन्तर भोजन करते थे। एक बार संध्या को भी भोजन करते थे। बार-बार भोजन की आदत नहीं थी।

मैंने पूछा - ''महाराज! आपके मन में वैराग्य भाव जगाने में क्या आचार्य महाराज शान्तिसागर कारणरूप हुए?''

महाराज ने कहा - ''यथार्थ में आचार्य महाराज के दीक्षित होने का हमारे मन पर बड़ा असर पड़ा।''

आचार्यश्री की विरक्ति का क्रम

मैंने कहा - ''आचार्य महाराज की विरक्ति तथा आत्म-साधना पर कुछ प्रकाश डालिए। आप ही तो इस विषय में प्रामाणिकतापूर्वक कथन कर सकते हैं। वर्धमान महाराज ने कहा - ''घर में कपड़ा की दूकान पर कुमगोड़ा तथा महाराज बैठते थे। मैं खेती का काम देखता था। मैं उपवासादि नहीं करता था। पिता की महाराज ने तथा मैंने सेवा की। उनकी मृत्यु के उपरांत महाराज चार-पाँच वर्ष घर में और रहे, कारण मातुश्री जीवित थीं। महाराज बहुत उपवास करते थे। उनको उपवास करते देख माताजी भी उपवास किया करती थीं।''

स्तवनिधि

माघ मास में माता की मृत्यु होने के पश्चात् महाराज के हृदय में वैराग्य भाव वृद्धिंगत हुआ। भोज से २२ मील दूर स्तवनिधि क्षेत्र है। उन्होंने प्रत्येक अमावस्या को स्तवनिधि जाने का व्रत ले लिया। वे बहिन कृष्णाबाई को साथ में भोजन बनाने को ले जाते थे। स्तवनिधि की यात्रा का आश्रय ले उन्होंने प्रपंच से छूटने का निमित्त ढूँढ निकाला था। वे स्तवनिधि में एक दिन ठहरा करते थे। वे ज्येष्ठ मास पर्यन्त स्तवनिधि गए। इस बीच में उन्होंने बहिन से कहा - ''अक्का! अब हम अकेले ही स्तवनिधि

जायेंगे।" अत: स्वयं भोजन साथ में रखकर ले गए। महाराज ने कुमगोड़ा से कह दिया, मेरा भाव व्यापार का नहीं है।

स्तवनिधि के निमित्त ये घर से गए थे; किन्तु इनका मन वैराग्य से परिपूर्ण हो चुका था। इससे ये समीपवर्ती उत्तूर ग्राम में गए, जहाँ बाल ब्रह्मचारी मुनि देवेन्द्रकीर्ति महाराज, जिन्हें देवप्पा स्वामी कहते थे, विराजमान थे। देवप्पा स्वामी का महाराज पर बड़ा वात्सल्य भाव था, कारण वे भोज में कभी-कभी माह पर्यन्त रहा करते थे। वे सातगोड़ा की विरक्ति तथा धार्मिक प्रवृत्ति से सुपरिचित थे। जब महाराज ने दीक्षा धारण करने का अपना विचार व्यक्त किया, तो देवप्पा स्वामी को अपार खुशी हुई। उन्होंने लोगों से कहा भोजकर पाटील आए हैं। इनकी सब व्यवस्था करो। पाटील ने (महाराज ने) देवप्पा स्वामी से प्रार्थना की, कि अब हमें क्षुल्लक दीक्षा दीजिए।

दीक्षा मंडप की रचना

देवप्पा स्वामी पाटील की परिणति से पूर्ण परिचित थे; अत: उनके इशारे पर उत्तूर में दीक्षा मंडप सजाया गया। पाटील को तालाब पर ले जाकर स्नान कराया गया। पश्चात् वैभव के साथ उनका जुलूस निकाला गया। उन्होंने स्वच्छ नवीन वस्त्र धारण किए थे। गाजे-बाजे के साथ जुलूस दीक्षा मण्डप में आया, जहाँ इनको क्षुल्लक दीक्षा दी गई; तथा इनका नाम शांतिसागर रखा गया।

अब महाराज तो क्षुल्लक हो गए। उन्होंने घर पर कोई समाचार तक नहीं भेजा। भेजते क्यों? जब घर का - द्रव्यघर तथा भावरूप घर का भी त्याग कर दिया, तब वहाँ खबर भेजने का क्या प्रयोजन? किन्तु उत्तूर का समाचार भोज आ ही गया। चिट्ठी में लिखा था कि महाराज ने क्षुल्लक दीक्षा ली है। उनकी दीक्षा ज्येष्ठ सुदी तेरस को हुई थी।

वर्धमान स्वामी ने बताया कि हमें समाचार ज्येष्ठ सुदी चौदस को प्राप्त हुआ। पत्र पहले पोस्टमेन ने भाई कुमगोड़ा के हाथ में दिया। उसे पढ़कर कुमगोड़ा बहुत रोए। वे अकेले थे। सवेरे उनका उतरा चेहरा देखकर अक्का ने (बहिन ने) पूछा - "तुम्हारा मुख उदास क्यों है?" कुमगोड़ा ने कहा - "अप्पा दीक्षा घेतली" - अर्थात् महाराज ने दीक्षा ले ली। जिसको यह समाचार मिले, उसके मोही मन को अपार सन्ताप पहुँचा।

हम, कुमगोड़ा और उपाध्याय के पुत्र को साथ लेकर उत्तूर गये। रात को सौंदलगा ग्राम में मुकाम किया। वहाँ के मराठों ने कहा - "भोज का स्वामी हुआ है।" - दक्षिण में दीक्षा लेने वाले को स्वामी कहते हैं। यथार्थ साधु बनने पर वह व्यक्ति

इन्द्रियों का दास नहीं रहता है, स्वामी बनता है। अतः स्वामी शब्द का प्रयोग औचित्यपूर्ण है।

क्षुल्लक रूप में दर्शन

उत्तूर पहुँचकर महाराज को देखते ही हमारी आँखों में पानी आ गया।

महाराज ने कहा - "यहाँ क्या रोने को आए हो? तुमको भी तो हमारे सरीखी दीक्षा लेनी है। रोते क्यों हो?" हम सब चुप हो गए। हमने रसोई तैयार की। हमारे चौके में महाराज का आहार हुआ। हमने आहार में गोवा चे आम्बे - (गोवा के आम) भी महाराज को दिये थे।

देवप्पा स्वामी ने हमें बताया कि यह छोटा सा ग्राम है, अतः चातुर्मास के लिए तुम शांतिसागर महाराज को निपाणी तरफ ले जाओ। उस समय कुमगोड़ा ने महाराज की दीक्षा समारम्भ में खर्च हुई सामग्री आदि का मूल्य उत्तूर वालों को देकर महाराज के साथ में प्रस्थान किया।

वह अद्भुत युग था। महाराज को देने योग्य कमंडलु तक न था; अतः पास के लोटा में सुतली बाँधकर उससे कमंडलु का कार्य लिया था। देवप्पा स्वामी ने अपनी पिच्छी में से कुछ पंख निकालकर पिच्छी बनाई थी और महाराज को दी थी।

महाराज कापसी ग्राम में ठहरे। कुमगोड़ा ने कहा - "मैं कोल्हापुर जाकर कमंडलु लाता हूँ। आप भोज जाओ।" भूपालप्पा जिरगे ने एक कमंडलु भेंट किया। कुमगोड़ा ने कापसी ग्राम में जाकर महाराज को कमंडलु दे दिया।

"महाराज का प्रथम चातुर्मास कोगनोली में हुआ।"

प्रथम चातुर्मास

वर्धमानसागर महाराज ने बताया कि "घर आने पर महाराज के अभाव में मेरा मन बेचैन हो गया। कुमगोड़ा ने दुकान के सब सामान को तथा कपड़ों से भरी आलमारी को इकट्ठी ही एक मारवाड़ी को बेच दिया। उस समय सबका मन अत्यन्त व्यथित हो रहा था।"

इसके अनंतर वर्धमान महाराज ने बताया :

संयम का अभ्यास

मैं कोगनोली में महाराज के पास गया और दीक्षा मांगने लगा। इस पर महाराज

ने कहा - "दीक्षा लेना कठिन काम है। तुम मेरी तरह घर में ही रहकर पहले संयम का अभ्यास करो।"

घर में आकर मैंने एक बार का आहार रखा। मैं खेती का काम देखता था, तो कुमगोड़ा कहता था - "अण्णा! अब तुम यह काम मत करो।" कुमगोड़ा ने भोज का रहना छोड़कर कोल्हापुर में व्यापार करना प्रारम्भ किया। मैं बहिन कृष्णाबाई के साथ कोल्हापुर आया जाया करता था। कुमगोड़ा अत्यन्त चतुर था। उसने पहले वर्ष साझेदारी में आढ़त की दुकान की; पश्चात् अपना स्वतंत्र व्यवसाय प्रारम्भ किया।

ध्यान-साधना

कुमगोड़ा ने जैसिंगपुर में अपना कार्य जमाया। मैं वहाँ रहने लगा। मैं ११ बजे से १ बजे दिन तक पर्वत पर ध्यान करता था। मन की चंचलता को रोकता था। मैं सात वर्ष जैसिंगपुर में रहकर ध्यान का अभ्यास करता था। महाराज (शांतिसागर जी) कुंभोज-बाहुबली आए। वे निर्ग्रन्थ हो चुके थे। मैं उनके दर्शन को वहाँ गया।

गहरी विरक्ति

वहाँ कलप्पा भरमप्पा निटवे शास्त्री, महाराज के पास बैठे थे। वे मुझे नहीं पहिचानते थे। मुझे देखकर शास्त्री जी ने महाराज से पूछा - "ये कौन हैं?"

महाराज ने यह नहीं कहा कि ये हमारे भाई हैं; किन्तु कहा - "ये भोज के पाटील हैं।" इतनी गहरी विरक्ति तथा अनासक्ति महाराज के मनमें विद्यमान थी।

महाराज संघ सहित जब शिखरजी के लिए रवाना हुए थे, तब बाहुबली से वे जैसिंगपुर भी पधारे थे। उन्होंने सन् १९२७ में शिखर जी के लिए जब प्रस्थान किया, तब हमारे मन में गहरा वैराग्य उत्पन्न हो गया था।

उत्तर भारत में विहार करते हुए जब महाराज का चातुर्मास जयपुर में हुआ तब, कुमगोड़ा तथा ब्र. जिनदास समडोलीकर महाराज के दर्शन को गए। उस समय हमने उक्त दोनों व्यक्तियों को कुछ न कहकर साथ में जाने वाले बालगोड़ा को कहा कि महाराज को नमोस्तु कहकर उनसे मेरी दीक्षा के लिए प्रार्थना करना।

जयपुर जाकर जब महाराज को मेरी प्रार्थना सुनाई गई, तब महाराज बोले - "क्या अब भी उनके मन में वैराग्य का भाव विद्यमान है?" इसके अनन्तर जब महाराज से निवेदन किया गया कि - "वैराग्य का भाव पक्का है। उन्होंने पुत्तूर के स्वामी नेमिसागर

जी निर्ग्रन्थ से दीक्षा माँगी थी; किन्तु वे आपकी आज्ञा के बिना दीक्षा नहीं देते हैं। इससे आपसे ही दीक्षा देने की प्रार्थना करते हैं।" इस पर आचार्य महाराज ने पुत्तूर ग्राम वाले नेमिसागरजी को समाचार दिया कि तुम इनको (वर्धमानसागरजी को) दीक्षा दे सकते हो।

इस प्रसंग में यह बात ज्ञातव्य है कि वर्धमानसागर महाराज ने दीक्षा की स्वीकृति अपने सगे भाई कुमगोड़ा पाटील तथा निकट परिचित ब्र. जिनदासजी के द्वारा प्राप्त न कराकर अन्य व्यक्ति द्वारा कार्य क्यों सम्पन्न कराया?

इसमें एक रहस्य है। ज्ञानार्णव में कहा है - "**बंधवो बंधमूलम्**" - बंधु-बांधव बन्ध के कारण होते हैं; अतः आत्मसाधना के कार्य में उनसे विघ्न की अधिक सम्भावना रहती है। मोहवश इष्ट व्यक्ति जो उपाय बताता है, वह वास्तव में आत्मा के लिए हितकारी नहीं रहता है। इससे वर्धमान महाराज ने अपने बन्धु तथा बन्धुतुल्य व्यक्ति के माध्यम से दीक्षा की अनुज्ञार्थ उद्योग करना उपयुक्त नहीं समझा था।

सत्तर वर्ष की अवस्था में क्षुल्लक दीक्षा

इस समय वर्धमानसागर जी ७० वर्ष के हो चुके थे। अवस्था तो श्रेष्ठ तपस्या के प्रतिकूल प्रतीत होती थी; किन्तु आत्मबल एवं वैराग्य के आश्रय से उन्होंने क्षुल्लक दीक्षा के महान् भार को अंगीकार करने का सुदृढ़ निश्चय कर लिया। मुनि नेमिसागर जी पुत्तूरकर समडोली में विराजमान थे। अतः वे नेमिसागर महाराज के पास दीक्षार्थ गए।

उस समय कुमगोड़ा पाटील के मन में अवर्णनीय सन्ताप हुआ। वे जमीन पर गिर गए, फूट-फूटकर रोने लगे। उस समय का करुण दृश्य इन स्थिर-वैराग्यवाले महापुरुष पर कुछ भी प्रभाव न डाल सका।

विरागी की मनोदशा

उन्होंने ब्र. जिनदास जी को कहा - "इधर मत देखो, आगे बढ़ो।" उस समय वे सोचते थे - "**अहमिक्को णाणमओ**" - ज्ञानमयी मैं अकेला हूँ। "**एक एव जायेहं, एक एव म्रिये, न मे कश्चित् स्वजनः परिजनो वा**" - मैं अकेला उत्पन्न हुआ हूँ। अकेला मरण करता हूँ। मेरा कोई भी कुटुम्बी, बन्धु नहीं है। इस स्थिति में किसका भाई और किसकी बहिन? यह सब मोह तथा अज्ञान का जाल है। उससे जकड़ा जीव पर-वस्तुओं में अपनापन उत्पन्न करता है। अब मेरी आत्मा में सच्चे ज्ञान की ज्योति जगी है। मेरा कुटुम्ब परिवार दूसरा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये मेरे बन्धु हैं। सच्चे कुटुम्बी हैं।

त्रिकाल में भी इनका साथ नहीं छूटता है। लौकिक बन्धु श्मशान तक साथ देते हैं। मेरा हंस अकेला ही कर्मों के अनुसार दूसरी पर्याय धारण करता है। वहाँ इसके अन्य कुटुम्बी तथा इष्ट जन बन जाते हैं। अब मैं इस मोह के प्रतारणापूर्ण मायाजाल में नहीं फँसूँगा। इस प्रकार ज्ञान का निर्मल निर्झर उनके अन्त:करण में बह रहा था।

समडोली में दीक्षा

उनकी क्षुल्लक दीक्षा यथाविधि समडोली में हो गई। चार वर्ष पर्यन्त ये क्षुल्लक रहे।

चातुर्मास गुरु के समीप हुए। पाँचवाँ चातुर्मास डिग्रज ग्राम में हुआ। वहाँ बड़गाँव के धर्मात्मा श्रावक बाबूराव मार्ले आए और मोटर में इनको बैठाकर गजपंथा ले गए। वहाँ आचार्य शांतिसागर महाराज विराजमान थे।

अनुज को प्रणाम

गजपंथा पहुँचकर इन ज्येष्ठ वयवाले बन्धु ने अनुज बन्धु आचार्य शान्तिसागर महाराज को प्रणाम किया। दीक्षा लेने के बाद भाई-बन्धु आदि के कौटुम्बिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। एक प्रकार से यह एक नवीन जन्म तपस्वी के रूप में होता है। कानून में इसे (Civil death) सिविल डेथ (मृत्यु) माना है। अत: गृहस्थावस्था के छोटे भाई सातगोड़ा अब आचार्य शांतिसागर के रूप में हैं, उनका आत्मा ही भाई है, बंधु है, अन्य कोई भाई नहीं है।

इसी कारण वर्धमान महाराज ने आचार्य महाराज को धर्मगुरु के रूप में ही देखा, अनुभव किया तथा उसी रूप में उनके चरणों की वंदना की।

दीक्षा की महत्ता

बड़ी नम्रतापूर्वक गुरुचरणों में उन्होंने प्रार्थना की - "महाराज! क्षुल्लक पद लिये चार वर्ष व्यतीत हो गए। अब ऐलक दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिए।"

आचार्य महाराज बोले - "यह दीक्षा बहुत कठिन है। तुम्हारी अवस्था ७५ वर्ष की हो गई।"

वर्धमान महाराज ने बारंबार विनय कर आचार्यश्री के मन में यह विश्वास उत्पन्न कर दिया कि यदि इनको यह पद दिया गया, तो यह उसे निर्दोष रूप में पालेंगे; फिर भी आचार्य महाराज इनकी दीक्षा के बारे में गम्भीरतापूर्वक विचार करते रहे।

गजपंथा में वर्धमान महाराज को सोने के लिए रात के समय एक चटाई दी गई थी। वे उस पर न सोकर जमीन पर ही निद्रा ले रहे थे।

मध्यरात्रि में उठकर आचार्य महाराज ने देखा कि वर्धमानसागर जी जमीन पर सो रहे हैं। चटाई अलग है। इससे उनके हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि इनके विरागी मन में संयम के प्रति प्रगाढ़ प्रेम है।

ऐलक दीक्षा

गहराई से विरक्तमन की परीक्षा के बाद दीक्षा का निश्चय हुआ। आषाढ़ सुदी त्रयोदशी को गुरुप्रसाद से वर्धमानसागर महाराज क्षुल्लक से ऐलक बन गए। अब इनके पास लंगोटी, पिच्छी और कमंडलु मात्र सामग्री रह गई। भौतिक दृष्टि से इनकी अकिंचनता बढ़ी; किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से ये विशिष्ट संयम-लक्ष्मी के स्वामी बन गए। आचार्य महाराज ने इनको आदेश दिया कि यहाँ से वापिस दक्षिण जाने के पश्चात् फिर कभी मोटर आदि में नहीं बैठना।

ये वहाँ से लौटे। इनके हृदय में बड़ी विशुद्धता थी। अपार आनन्द था। जैसे कोई लखपति करोड़पति बनने पर अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है, इसी प्रकार क्षुल्लक के स्थान में ऐलक पद प्राप्त करके इनके हृदय में हर्ष हुआ था।

धनी व्यक्ति की धनलाभ के बाद तृष्णा जागती है, उसी प्रकार इनके मन में यह भाव उत्पन्न होता था - "हे जिनेन्द्र देव! आपके चरणप्रसाद से मुझको शीघ्र ही दिगम्बर अवस्थापूर्ण निर्वाण मुद्रा धारण करने का सौभाग्य प्राप्त हो।" अंत:करण की सच्ची भावना फलवती होती है। ऐलक अवस्था में एक वर्ष व्यतीत हुआ। दूसरा वर्ष प्रारंभ हुआ।

बारामती में मुनि दीक्षा

चातुर्मास पूर्ण होने के उपरान्त मार्गशीर्ष मास में ऐलक वर्धमानसागरजी महाराज गुरुदेव आचार्य शान्तिसागर महाराज के समीप बारामती पहुँचे और अत्यंत विनयपूर्वक मुनिमुद्रा प्रदान करने की प्रार्थना की। जिनमुद्रा धारणकर निर्दोष रीति से उसके महान् नियमों का पालन करना इस कलिकाल में बहुत कठिन कार्य है। दूसरी बात यह भी है कि वर्धमानसागर महाराज का ७६ वाँ वर्ष चल रहा था। इतनी वृद्धावस्था में महाव्रत का भार आज का बुद्धिजीवी वर्ग सोच नहीं सकता। जगत् तो बूढ़े आदमी का इसी रूप में सर्वत्र चित्र देखा करता है -

अंगं गलितं पलितं मुंडं, दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुंचत्याशा-पिण्डम्॥

- अंग गल गए हैं, मस्तक सफेद हो गया है, मुख दंत-शून्य हो गया है तथा चलने के लिए हाथ में दण्ड है, ऐसा व्यक्ति वृद्ध होने पर भी आशापुंज का परित्याग नहीं करता है।

उद्‌बोधक उत्प्रेक्षा

वर्धमानसागर महाराज के वृद्धत्व के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोष-मालिका का अभाव था। उनके विषय में सोमदेवाचार्य के यशस्तिलक में प्रतिपादित ये वाक्य चरितार्थ होते थे :-

मुक्तिश्रियः प्रणयवीक्षणजाल-मार्गाः।
पुंसां चतुर्थपुरुषार्थतरुप्ररोहाः॥
निः श्रेयसामृतरसागमनाग्रदूताः।
शुक्लाः कचाः ननु तपश्चरणोपदेशाः॥२,१०४॥

- ये केश तुम्हें तपश्चर्या का पाठ सिखाने आए हैं। ये मुक्तिलक्ष्मी के प्रेमपूर्वक दर्शन हेतु झरोखे सदृश हैं। मोक्ष रूप चतुर्थ पुरुषार्थ रूप वृक्ष के अंकुर समान हैं। परम कल्याण निर्वाणमय रूप आनंद रस के आगमनद्योतक अग्रदूत हैं।

अतः ७६ वर्ष की वर्धमान अवस्था में वर्धमान महाराज ने मगसिर सुदी षष्ठी संवत् १८७९ अर्थात् सन् १९३६ में बारामती में मुनिमुद्रा धारण की। ऐसे अवसर पर लोग दोनों आदर्श मुनिबंधुओं की जननी माता सत्यवती और पिता भीमगोड़ा के पवित्र वंश का स्मरण करते थे कि जिनके यहाँ ऐसे त्रिभुवनवंदित और सम्यक् चारित्र समलंकृत दो वीतराग साधुराज उत्पन्न हुए थे। ऐसा सौभाग्य किस वंश को प्राप्त होता है?

आदर्श वैराग्यभाव

मोह का लेश भी उत्पन्न न हो, इससे दीक्षा के पश्चात् गुरु की आज्ञा से वर्धमान मुनिमहाराज दक्षिण तरफ चले गए। दोनों सगे भाई यदि साथ-साथ रहते हैं, तो सम्भव है मन में मोह का भाव कुछ जागृत हो जाय; इसीलिए प्रतीत होता है कि परम अनुभवी तथा गम्भीर विचारक आचार्य महाराज ने वर्धमान स्वामी को अपने पास आश्रय देना उचित नहीं समझा और उन्हें अन्यत्र रहने का आदेश प्रदान किया।

आत्मनिरीक्षण में निपुणता

वर्धमान महाराज उच्चश्रेणी के साधुराज थे और अत्यन्त मृदुल स्वभाव वाले थे। उनमें अहंकार का लेश भी नहीं था। आत्मनिरीक्षण करने का उनका अद्भुत अभ्यास था। इससे वे अपने कार्यों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते थे और जहाँ भी उनको अपनी भूल ज्ञात होती थी, वहाँ उस पर खेद तथा पश्चात्ताप प्रकट करते उनको देर नहीं लगती थी। नांद्रे में दो-एक ऐसे प्रसङ्ग आए कि उनसे वर्धमान स्वामी को ऐसा लगा कि उनके मुख से कुछ कड़े शब्द निकल गए। कुछ क्षण के बाद उन्होंने मुझसे कहा - "पंडित जी! हमारे शब्द ठीक नहीं निकले। मुझे अपने पद को ध्यान में रखकर ऐसी भाषा नहीं बोलना था।" मैंने कहा - "महाराज! आप रंचमात्र भी विकल्प न कीजिए।" पुनः प्रार्थना की, तब उनके मन को शांति मिली। इतना कोमल, मार्दवभाव सम्पन्न उनका मन था कि उसे 'मृदूनि कुसुमादपि' - पुष्प से भी अधिक कोमल कह सकते हैं; किन्तु परीषह सहन करने को वही हृदय 'वज्रादपि कठोराणि' - वज्र से भी कठोर हो जाता था। अनेकान्त तत्त्वज्ञान बताता है कि एक ही पदार्थ में परस्पर विरोधी दिखने वाले धर्म प्रेम से रहते हैं; इसी प्रकार प्रतीत होता था कि महाराज के मन में मृदुत्व तथा वज्रत्व का सद्भाव अविरोध रूप से पाया जाता था।

अंत:शुचिता के प्रेमी

बाह्य शुचिता का प्रेमी क्षण-क्षण में साबुन आदि सौन्दर्य के प्रसाधनों का उपयोग कर स्वच्छता का संरक्षण करता है; इसी प्रकार अंत:शुचिता के परम प्रेमी वे गुरुदेव आलोचना, प्रतिक्रमण आदि अंतरङ्ग शुद्धि के साधनों का निरन्तर प्रमाद रहित हो उपयोग करते रहते थे। मैंने देखा था कि ये मन्दिर में जाकर जिनेन्द्रमूर्ति के समक्ष अपने समस्त कार्यों का कथन इतनी स्वच्छता तथा स्पष्टतापूर्वक गम्भीर तथा उच्च स्वर में करते थे, मानों ये प्रतिमा के समीप नहीं, साक्षात् जिनेन्द्रदेव के समक्ष ही अपने दोषादि का निर्दोष रूप से निरूपण कर रहे हों। ये "**वृषभं त्रिभुवनपति-शतवंद्यं, मंदरगिरिमिव धीरमनिंद्यम्**" स्तोत्र भगवान के समक्ष पढ़ते थे।

अद्भुत मनोविकल्प

एक समय ता. ३१ अगस्त को छोटे भाई कुमगोड़ा के पुत्र जनगोड़ा की पत्नी लक्ष्मीबाई महाराज के पास लगभग १५ मिनिट पर्यन्त कुछ चर्चा करती रही। उस समय महाराज के मन में संभवत: ऐसा विकल्प आया कि अपने गृहस्थावस्था के भतीजे की स्त्री से इतनी देर बात करना ठीक नहीं था। मेरा अब कोई लौकिक कुटुम्बी एवं बंधु नहीं

रहा है। इससे मुझे लक्ष्मीबाई से विशेष वार्तालाप नहीं करना था। आचार्य महाराज तो निर्ग्रन्थ बनने पर मुझे भाई न मानकर भोज का पाटील कहते थे, तब मेरी दृष्टि भी ऐसी ही होनी चाहिए। संभवत: कुछ ऐसे महान् विचार उनके मन में आए। उन्होंने शीघ्र कुटी में जाकर बहुत समय तक आत्म-ध्यान किया। पश्चात् समीपवर्ती विचारवान भक्त गृहस्थ से कहने लगे - "आज बहुत भूल हो गई थी। मैं कहाँ से कहाँ चला गया था? यथार्थ में मेरा कोई नहीं है। मैं भी किसी का कुछ नहीं हूँ।" उस समय मुझे पता चला कि इनका मन स्फटिक सदृश स्वच्छ है।

सरलता की मूर्ति

वे सरलता की मूर्ति हैं। एक दिन मेरे भाई प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकर का पत्र आया। उसमें महाराज को नमोस्तु लिखा था। मैंने सुनाया - "महाराज, छोटे भाई ने आपको नमोस्तु कहा है।" महाराज ने कहा - "उनको हमारा आशीर्वाद लिख देना। तुम्हारे घर में भी सबको आशीर्वाद लिख देना। एक बात और ध्यान में रखना; हमारे लिए जो नमोस्तु लिखे, उसे तुम स्वयं हमारा आशीर्वाद लिख देना; भूलना नहीं।"

मार्मिक उक्ति

मैं शास्त्र पढ़ता था। उस समय महाराज के मुख से समयोचित तथा अनुभवपूर्ण अनेक मार्मिक बातें निकलती थीं, जिससे महाराज का उच्च अनुभव और तपस्या के प्रसाद से वर्धमान क्षयोपशम का सद्भाव सूचित होता था। उन्होंने कहा था - "सिद्ध भगवान लोक के शिखर पर बैठकर संसार का नाटक देखते हैं और सरागी भगवान स्वयं नाटक करते हैं। जैन आगम छोटासा जलाशय नहीं है, वह तो सिन्धु से भी बड़ा है। सम्यक्त्वी जीव अव्रती होते हुए भी अन्य व्रती को देख ऐसा हर्षित होता है, जैसे माता रुक्मिणी चिरवियुक्त पुत्र प्रद्युम्न की भेंट होने पर आनन्दित हुई थी।" वर्धमान महाराज जब किसी कथा को कहते थे तो उसमें स्वाभाविकता तथा चरित्र-चित्रण का अपूर्व माधुर्य पाया जाता था।

उपयोगी जिज्ञासा

भादों सुदी दशमी को आचार्य महाराज के विषय में मैंने एक प्रश्न पूछा - "समाधि लेने के पूर्व आचार्य महाराज शेडवाल, सांगली आदि स्थानों में गए थे। नांद्रे में वे श्री बालगोड़ा के अत्यन्त विशाल, भव्य तथा फलों से लदे हुए रम्य बगीचे में २१ दिन ठहरे थे। उसके पश्चात् वे आगे विहार कर गए। उस समय आपकी और उनकी अंतिम भेंट हुई थी। प्रार्थना है कि उस समय हुई बातचीत का कुछ दिग्दर्शन करें?"

अंतिम वार्तालाप

वर्धमान महाराज ने कहा - "हमने महाराज से पूछा, क्या फिर इधर आवेंगे, हमारी आपकी अब कब भेंट होगी?"

आचार्य महाराज ने उत्तर दिया था - "अब हमारी तुम्हारी भेंट यहाँ नहीं होगी। अब स्वर्ग में ही अपनी भेंट होगी।" इस चर्चा के उपरान्त वर्धमान स्वामी की मुद्रा बहुत गम्भीर हो गई। इससे मैंने पुनः अन्य प्रश्न नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता था मानों वर्धमान महाराज के समक्ष अपने दिवंगत गुरुदेव का चित्र आ गया हो।

तात्त्विक बात

तात्त्विक चर्चा में महाराज ने कहा - "दान-पूजा आदि षट्कर्मों के द्वारा मोक्ष नहीं मिलता, स्वर्ग का सुख प्राप्त होता है। हिंसा, चोरी, लबारी, कुशील सेवनादि से पाप होता है, उसका फल नरक गति, तिर्यंच गति के दुःख हैं। एक दृष्टि से पुण्य अमृतकुंभ है और पाप विषकुंभ है। दूसरी दृष्टि पुण्य-पाप दोनों को विषकुंभ मानती है। शुद्ध दृष्टिमात्र अमृतकुंभ है। गृहस्थ जीवन में षट्कर्म रूपी कृषि, वाणिज्यादि लोहे को धारण करने वाला पुण्यकर्म रूपी सुवर्ण को नहीं छोड़ेगा। उस स्वर्ण का भी त्याग करने वाला आत्म-रत्न की उपलब्धि के हेतु उद्योग करता है। यदि कोई आदमी लोहे का संग्रह करते हुए सुवर्ण के त्याग की बात करता है, तो उसे झूठा मानना चाहिए; इसी प्रकार पाप कर्मों में निमग्न रहने वाला यदि पुण्य रूप सुवर्ण को छोड़ने की चर्चा करता है, तो उसे भी विश्वास योग्य नहीं समझना चाहिये। आत्मा का चिंतन करना कल्याण का सच्चा मार्ग है। जग का चिंतन त्याग कर आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

चोर पर भी करुणा

आचार्य शांतिसागर महाराज के गृहस्थ जीवन की एक घटना पर वर्धमान महाराज ने इस प्रकार प्रकाश डाला था - "एक दिन महाराज, शौच के लिए खेत में गए थे, तो क्या देखते हैं कि हमारा ही नौकर एक गट्ठा ज्वारी का चोरी करके ले जा रहा है। उस चोर नौकर ने महाराज को देख लिया। महाराज की दृष्टि भी उस पर पड़ी। वे पीठ करके चुप बैठ गए। उनका भाव था; बेचारा गरीब है, इसलिए पेट भरने को ही अनाज ले जा रहा है। उस दीन पर विशेष दया भाव होने से महाराज ने कुछ नहीं कहा; किन्तु वह चोर नौकर घर आया और हमारे पास आकर बोला - "अण्णा! भूल से मैं खेत से ज्वार ले रहा था, महाराज ने मुझे देख लिया; किन्तु उन्होंने कुछ नहीं कहा।"

दीनों के बंधु

वर्धमान महाराज ने बताया कि - "सदा से गरीबों पर हमारे परिवार का विशेष ध्यान रहा है। लगभग ८० वर्ष पूर्व भयंकर दुष्काल आया था। अनाज नहीं पका था। गरीब लोग नागफणी के मध्य के लाल भाग तक को खाया करते थे। उस दुष्काल के समय हमारे पिताश्री की आज्ञा से हम ज्वारी की एक बड़ी रोटी तथा दाल सदृश पेय पदार्थ प्रत्येक व्यक्ति को देते थे। वह दुष्काल बड़ा भयंकर था। रोटी बनाने को दो नौकर रखे थे। गरीबों को भोजनदान का काम मैं स्वयं अपने हाथ से करता था।"

आचार्यश्री के घरलू जीवन के संस्मरण

वर्धमान सागर महाराज ने आचार्य महाराज के बारे में इस प्रकार संस्मरण बतलाये -

"मैंने उसे गोद में खिलाया, गाड़ी में खिलाया। वह हमारे साथ-साथ खेलता था। बहुत शांत था। रोता नहीं था। मैंने उसे रोते कभी नहीं देखा, न बचपन में और न बड़े होने पर। उसे कपड़े बहुत अच्छे पहिनाए जाते थे। सब लोग उसे अपने यहाँ ले जाया करते थे। हमारा घर बड़ा सम्पन्न था।"

"एक बार कुमगोड़ा पानी में बह गया था, तब सब काम छोड़कर महाराज ने पानी में घुसकर उसे बचाया था। कुमगोड़ा की रक्षार्थ चौथी कक्षा के बाद इन्होंने पढ़ाई बंद कर दी थी।"

"इनकी शादी की बात आती थी, तब कहते थे - 'मी लग्न करणार नाहीं।' मैं विवाह नहीं करूँगा। कारण शास्त्र में लिखा है, 'संसार खोटा है।' यह बात सुन हमारे माँ-बाप के आँसू आ गये। वे बड़े ही धर्मात्मा थे, इसलिए मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए। शरीर बल में कोल्हापुर जिले में उनकी जोड़ का कोई नहीं था। चाँवल का पूरा बोरा उठाकर अपने कंधे पर रख लिया था। इस पर जब उनको चांदी के कड़े इनाम देने लगे, तो उन्होंने लेने से इंकार कर दिया था।"

जन्म कुण्डली

"उनकी जन्म-पत्री से ही मालूम हो गया था कि वे मुनि हो जायेंगे। सूर्य निकलते समय उनका जन्म हुआ था। उपाध्याय ने जन्मकुंडली बनाई और कहा - यह जगत् में प्रकाश देगा। इससे माता-पिता हर्षित हुए थे।"

शक्ति की परीक्षा

एक बढ़ई ने भोज में आकर शक्ति-परीक्षण हेतु एक लम्बा खूँटा गाड़ा था। वह गाँव में किसी ने न उखड़ा, उसे नागपंचमी के दिन महाराज ने जरा ही देर में उखाड़ दिया था और वे चुपचाप घर आ गये थे, जब खूँटा उन्होंने उखाड़ा तब मैंने कहा था - 'ऐसा काम नहीं करना चोट आ गई तो?' उन्हें कीर्ति नहीं चाहिए थी। उनका मेरे प्रति सबसे अधिक प्रेम था। कुमगोड़ा पर भी प्रेम था।

जब उन्होंने दीक्षा ली थी, तब उत्तूर से पत्र आया था, घर भर के लोग रोने लगे थे। हमारे भी नेत्रों में आँसू आ गये थे, बाद में हम उनके पास गये थे।

सर्पराज का शरीर पर से जाना

"तरुण वय में वे खेत में लेटे थे, उस समय एक बड़ा सर्प उनके गाल को स्पर्श करता हुआ पास के बिल में घुसता और बार बार निकलकर उनको देखता था। वे स्थिर थे। यह बात महाराज ने हमसे कही थी। मैं उन्हें सातगोड़ा कहता था और वे मुझे अण्णा कहते थे। उनकी दृष्टि थी कि यह शरीर नौकर है। नौकर को भोजन दो और काम लो। आत्मा को अमृत पान कराओ।"

भादों सुदी त्रयोदशी को महाराज ने समयसार के प्रवचनकाल में कहा था - "द्रव्यानुयोग के अभ्यास के लिए प्रथमानुयोग सहायक होता है। उसके अभ्यास से द्रव्यानुयोग कठिन नहीं पड़ता।

भोजन लोलुपी की कथा

महाराज ने प्रसंगवश कहा था - "ज्ञानी पुरुष अवमौदर्य तप करता है। भूख से कम आहार लेता है। अज्ञानी पुरुष पेट फटने पर्यन्त भोजन करता है, इससे वह दुःखी होता है।" महाराज ने ८० वर्ष पूर्व की एक घटना बताई - "कोन्नूर में बाबाभट्ट नाम के भोजनलोलुपी ब्राह्मण थे। उन्होंने लोटा भर घी खूब शक्कर मिलाकर खाया। भोजन की तीव्र गृद्धतावश उसने खूब घी भी पिया। पश्चात् वहाँ से चलकर भोज आते समय वेदगङ्गा-दूधगङ्गा नदी के सङ्गम में से घुसकर भोज आया। शीतल जल पेट में लगने के कारण खाया गया सब घी जम गया। इससे वह ब्राह्मण बड़ा दुःखी हो छटपटाने लगा ऐसा दिखने लगा कि अब वह नहीं बचेगा।"

"भोज में एक चतुर वैद्य था। वह बुलाया गया। बाबाभट्ट से शरीर व्यथा का कारण ज्ञात कर वैद्यराज ने एक खाट पर बाबाभट्ट को लिटवाया और नीचे अग्नि रखकर

पेट का खूब सिकाव करवाया। उष्णता से पेट में जमा घी पतला हो गया और उसके बाद विरेचन हुआ। इस प्रकार उसके प्राण बचे, नहीं तो उस ब्राह्मण की आशा नहीं रही थी। उसने भोजन खाया; किन्तु अतिरेक होने से भोजन ही उसे खा रहा था, इसलिए भोजन में गृद्धता को छोड़कर भूख से कम खाना कष्टप्रद नहीं होता है।''

मर्यादित जीवन

गृहस्थ के कल्याण हेतु महाराज ने कहा - ''यदि हम बाल से वृद्ध पर्यन्त सबको ही ब्रह्मचर्य का उपदेश देंगे, तो कार्य कैसे बनेगा? सीढ़ी पर पैर रखते हुए आगे बढ़ना चाहिये। गृहस्थ को विषयसेवन में बहुत मर्यादा रखना चाहिए। अधिक विषय-भोग से शरीर का रक्त नष्ट होता है और आदमी रोगी होकर शीघ्र मरण को प्राप्त करता है।''

आदर्श पथ

वर्धमान महाराज ने बताया था कि ३६ वर्ष की अवस्था में उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। यदि वर्धमान महाराज का आदर्श आज का गृहस्थ स्मरण रखे, तो उसकी संतति-वृद्धि जनित विविध प्रकार की आकुलताएँ अनायास दूर हो जाँय और तब वह मनुष्य अपने जीवन का स्वकल्याणार्थ उपयोग कर सकता है, अन्यथा वह परिवार की सेवा चाकरी में दिनरात व्यतीत कर कोल्हू के बैल के समान अमूल्य जीवन को समाप्त करता है।

वर्धमान महाराज की धर्मपत्नी लगभग १६ वर्ष पर्यन्त जीवित रही थीं। उनसे एक पुत्र बालगोड़ा हुए थे, जो अभी जीवित हैं। वे अत्यन्त भद्र परिणामी हैं। वर्धमान महाराज ने बताया था कि उन्होंने मुनि आदिसागर जी बोरगांवकर से ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया था। वर्धमान महाराज खेती का काम देखा करते थे। नौकर चाकर तथा गरीब इनसे बड़े प्रसन्न रहते थे, कारण ये उनको खाने-पीने को मुक्तहस्त होकर अनाज दिया करते थे। हरिजन आदि गरीबों पर आचार्य महाराज की विशेष दयादृष्टि रहती थी। वे कठोर वाणी नहीं बोलते थे। उनका आहार-पान सामान्य था। उनकी दृष्टि घर में आचार्य शांतिसागर महाराज को अच्छा भोजन कराने की ओर विशेष रहती थी।

सत्यप्रिय जीवन

वे सत्यता और सरलता की तो प्रारम्भ से ही मूर्ति रहे हैं। उन्होंने बताया कि - ''हमारे पिताजी मिथ्या नहीं बोलते थे। मैं भी असत्य भाषण नहीं करता था।'' इस सत्य

पंचमकाल में चतुर्थकाल की छटा बिखेरने वाला पूज्य 108 वर्धमानसागरजी महाराज के संघ का पुण्यदर्शन

भाषण के कारण वर्धमान महाराज को लगभग लाख रुपए की सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ा था। वकील ने कहा था - महाराज! एक शब्द थोड़ा बदलकर बोल देना। मैं सब सम्हाल लूँगा। कोर्ट में आने पर जब न्यायाधीश ने सत्य बोलने की शपथ दिलाई, तो वकील साहब के द्वारा पढ़ाया गया सब पाठ विस्मरण हो गया और उन्होंने ठीक-ठीक बात कह दी। वकील ने महाराज से कहा - गवाही देते समय आप भूल गए। महाराज ने उत्तर दिया - मैं भूला नहीं। मैंने ठीक-ठीक उत्तर दिया है। वास्तव में वे माता सत्यवती के आदर्श आत्मज थे। महाराज की इस सत्यता की अभी भी पुराने लोग उस प्रांत में चर्चा करते हैं।

आज के दम्भप्रधान युग में थोड़े से रुपयों के लिए बड़े-बड़े लोग झूठ बोल देते हैं। सचमुच में वर्धमान महाराज सदृश महापुरुष बिरले ही होते हैं। उनकी धारणा रहती है, 'पुण्यानुसारिणी लक्ष्मी' - पुण्य के अनुसार लक्ष्मी का लाभ होता है। भाग्य का चक्र विचित्र रहता है। इस विषय में महाराज ने कोल्हापुर के राजा शाहू महाराज का एक बड़ा रोचक तथा मार्मिक कथन सुनाया -

कोल्हापुर नरेश का संस्मरण

एक बार कोल्हापुर के राजा शाहू महाराज से उनके राजपंडित ने निवेदन किया - "श्रीमंत सरकार! आप अन्य लोगों को हजारों रुपया दान में दिया करते हैं। मुझ गरीब ब्राह्मण पर भी ऐसी कृपा क्यों नहीं करते?" शाहू महाराज बड़े अनुभवी और विचारशील शासक थे। उन्होंने कहा - "क्या करूँ, आपको अधिक द्रव्य देने का भाव ही नहीं होता।" पंडित की समझ में शाहू सरकार का कथन नहीं आया। अत: पंडित के भाग्य की परीक्षा के हेतु राजाज्ञा से दो ढेर भूसा के लगवाए गए। एक में केवल भूसा था, दूसरे में सुवर्ण रखा था। ऊपर से देखने में दोनों ढेर समान ही दृष्टिगोचर होते थे। शाहू महाराज ने ब्राह्मण से कहा - "जो ढेर तुम्हें पसंद आये, उसे उठा लो।" पंडित महोदय ने भूसा वाला ढेर उठाया। सुवर्ण वाला ढेर उठाने के उनके परिणाम नहीं हुए। इस पर शाहू महाराज ने कहा - "हम क्या करें, आपका दैव ही ठीक नहीं है।"

भर्तृहरि ने कहा है कि जीव पूर्व कर्म के अनुसार संपत्ति प्राप्त करता है। घट लेकर कोई व्यक्ति कुए पर जाता है, पश्चात् उस घट को लेकर समुद्र के समीप पहुँचता है, तो भी समान ही जल प्राप्त होता है; इसी प्रकार अपने पूर्व पुण्य के अनुसार जीव को सम्पत्ति मिलती है। बड़े-बड़े संपत्ति के केन्द्र रूप महानगरों में दीन-हीन भिक्षुकों का अस्तित्व यह बताता है कि पुण्य की संपत्ति जिनके पास है, उनको ही बाह्य भौतिक संपत्ति भी प्राप्त होती है। इस तथ्य को भूलकर मनुष्य छल-कपट द्वारा धनवान बनने की

व्यर्थ चेष्टा करता फिरता है तथा असफल होने पर दुःखी होता है। धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि न्यायोचित मार्ग पर आश्रय लेकर धनोपार्जन करे। पाप का पथ स्वीकार करने पर जीव दुःख के ही बीज बोता है। उचित यह है कि मनुष्य देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति करके आगामी सुख के कारण पुण्य की पूंजी एकत्रित करे। सोमदेव सूरि का कथन है - "देवान् गुरून् धर्मं च उपाचरन् न व्याकुलमतिः स्यात्" - देव, गुरु तथा धर्म की आराधना करने वाला व्यक्ति व्याकुल परिणाम वाला नहीं होता है। वर्धमान महाराज तथा आचार्य महाराज की गृहस्थ जीवन में उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार प्रवृत्ति रहती थी।

शिथिलाचार तथा अज्ञान का युग

वर्धमान महाराज ने बताया था कि जब आचार्य महाराज ने मुनि देवेन्द्रकीर्ति स्वामी से क्षुल्लक दीक्षा ली थी, उस समय देवेन्द्रकीर्ति स्वामी एक बार पंचमुष्टी बनाकर कुछ केशों का लोच करते थे। पश्चात् कैंची से शेष केशों को बनवाते थे। सचमुच में वह अद्भुत अज्ञान का युग था। उस समय उत्तर भारत के लोग तो मुनि पद के अस्तित्व की भी कल्पना नहीं करते थे और दक्षिण में जो निर्ग्रन्थ गुरु थे, उनकी क्रियाएँ अनेक बातों में विचित्र थीं। मुनि जीवन से शिथिलाचार को दूरकर आगमानुसार प्रवृत्ति को पुनः प्रचलित करने का श्रेष्ठ कार्य आचार्य शांतिसागर महाराज ने किया था।

गुरुदेव का महत्त्वपूर्ण संस्मरण

आचार्य महाराज ने भौसेकर आदिसागर मुनिराज से यरनाल ग्राम में मुनि दीक्षा ली थी।

(इस प्रसंग में संघस्थ आर्यिका विशुद्धमतीजी ने जब 'ऐसे थे चारित्र चक्रवर्ती' पुस्तक का लेखन आचार्यश्री के जीवन के सम्बन्ध में उपलब्ध साहित्य के आधार पर किया था, तब पूज्य शान्तिसागरजी महाराज के निर्ग्रन्थ दीक्षादाता गुरु के सम्बन्ध में यह कथन देखकर दिवाकरजी से पत्रव्यवहार किया गया। उत्तर में उनसे प्राप्त पत्र यहाँ ज्यों का त्यों प्रस्तुत है – चे.प्र.पा.)

विद्वत्‌रत्न सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्री
बी. ए., एल एल. बी., धर्म दिवाकर, न्यायतीर्थ

दिवाकर सदन
सिवनी (म. प्र.)
२६-६-१९८२

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

विशेष विज्ञप्ति — पू. माता विशुद्धमति जी ने परम पूज्य १०८ चारित्रशिरोमणि साधुराज आचार्य शांतिसागर महाराज के बारे में मेरे द्वारा लिखी गई रचना चारित्रचक्रवर्ती की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करके यथार्थ उपयोगी कार्य किया है।

यह बात उल्लेखनीय है कि शांतिसागर महाराज को मुनि दीक्षा प्रदाता देवेन्द्रकीर्ति महाराज थे।

निवेदक - सुमेरुचंद्र दिवाकर

शांतिसागर महाराज के निर्ग्रन्थ दीक्षादाता गुरु भोसे ग्रामवासी आदिसागर जी की दीक्षा की अद्‌भुत कथा सुनने को मिली। वर्धमान महाराज ने बताया था कि आदिसागर जी ने मुनिपद ग्रहण कर लिया, पश्चात् उन्होंने कहीं यह सुना कि पंचमकाल में १९ कोटि मुनीश्वर मरण करके नरक जाते हैं। इस बात को ज्ञातकर उनके मन में अद्‌भुत परिवर्तन हुआ। वे सोचने लगे - यदि शास्त्र यह कहता है कि मुनि पदवी धारण करके नरक जाना पड़ेगा, तो मुनिपद का त्याग करना ही अच्छा है। ग्रामवासी उस भोली आत्मा को सत्पथ बतानेवाला कोई न मिला। अपनी विचित्र धुन में मग्न हो उन्होंने घर पर आकर मुनिपद का त्याग करके कंबल ओढ़ लिया और स्त्री से कहा - "भाकरी आण" - खाने के लिए ज्वार की रोटी दे।

बेचारी स्त्री घबड़ा गई। पतिदेव मुनि बने थे। उस पद में तो मांगकर भोजन नहीं होता, ये कैसे मांगकर खाने को तैयार हो गए। उस बाई ने गाँव के पंचों को सूचना दी। सब चिन्ता में निमग्न हो गए। उस गाँव में एक चौगुले नामक चतुर गृहस्थ थे। उन्होंने आदिसागर जी से चर्चा कर सब बातें समझ लीं।

श्री चौगुले ने भद्र परिणामी आदिसागरजी को समझाते हुए कहा कि शास्त्र में लिखा है कि मुनिपद को धारण करके स्वर्ग जावेंगे। शास्त्र में यह भी लिखा है कि यदि कोई मुनिपदवी धारण कर उसे छोड़ेगा, तो वह व्यक्ति नरक जायगा। आगम के अनुसार मुनिपद धारण करने वाला स्वर्ग जायगा, शास्त्र की परवाह न कर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला मुनि नरक जायगा। इस बात को सुनकर उन भोले-भाले आदिसागरजी का भ्रम दूर हुआ और उन्होंने पुनः मुनिचर्या को पालना प्रारम्भ कर दिया। मांगूर ग्राम में उनका स्वर्गवास हुआ था। उन्हें लम्बे समय तक समाधिमरण का उद्योग नहीं करना पड़ा था। एक उपवास पूर्वक उनका मरण हुआ था।

धर्म के विषय में सतर्कता

वर्धमान महाराज ने उपदेश देते समय एक दिन कहा था - "आत्मा शैव नहीं है, बौद्ध नहीं है, यवन नहीं है, बाल नहीं है, वृद्ध नहीं है। आत्मा स्वयंभू है। आत्मा का कल्याण धर्म के द्वारा होता है। खरे-खोटे धर्म की परीक्षा करना चाहिए। तुम बाजार जाते हो। अल्प मूल्य वाले मिट्टी के बर्तन को खरीदते समय उसे बजाकर देखते हो कि कहीं यह फूटा तो नहीं है। नारियल को लेते समय उसे भी बजाकर देखते हो, तब फिर जिस धर्म के द्वारा आत्मा का भविष्य उज्वल बनता है, उसके सम्बन्ध में परीक्षा की दृष्टि नहीं रखना चतुर व्यक्ति का कर्त्तव्य नहीं है।"

किसान का उदाहरण

महाराज ने एक सुन्दर बात कही थी कि एक बार एक किसान अपनी स्त्री से कह रहा था कि अपना छोटा सा परिवार है, थोड़ी सी खेती का काम है, उसकी बहुत आकुलता रहती है, तब बड़े भारी राज्य के स्वामी महाराज भरत को कितनी चिन्ता रहती होगी? चक्रवर्ती को नींद भी दुर्लभ होगी। भरतेश्वर ने अपने अवधिज्ञान से यह बात जान ली।

उन्होंने उस किसान को राज-भवन में बुलवाया। उसके सिर पर एक घड़ा पानी रखवाया और उसे राजमहल के सुन्दर दृश्य देखने का आदेश दिया। आसपास नृत्य होता था। अनेक प्रकार उत्सव होता था। सम्राट् ने अपने सिपाही को प्रगट रूप में आज्ञा दी कि यदि इस किसान के घड़े से पानी की एक बूँद भी गिरी, तो तलवार से इसका शिरच्छेद कर देना। अलग बुलाकर सिपाही से भरतेश्वर ने यह भी कह दिया कि यह आदेश किसान के मन में भय पैदा करने को दिया गया है। इसका उपयोग नहीं करना है। इसके पश्चात् उस किसान को राजमहल में सुन्दर दृश्य बताए गए। मधुर-मधुर गीत सुनाए गए।

अन्त में भरतेश्वर ने उस किसान से पूछा - "तुमने क्या-क्या देखा?"

वह किसान बोला - "महाराज! मैं कुछ भी नहीं देख सका। पानी की बूँद गिरने पर सिर कटने का जो दण्ड आपने बता दिया था, उससे मैं डर गया था। मेरा ध्यान पानी के घड़े पर ही था। मैं कुछ भी दृश्य नहीं देख सका।"

भरतेश्वर ने कहा - "जिस प्रकार प्राण जाने के डर से तुम सब दृश्य समक्ष होते हुए भी उनको नहीं देख सके, इसी प्रकार मेरा भी ध्यान है। सारे राज्य वैभव के मध्य रहते हुए भी संसार के दु:खों का स्मरण करने के कारण मेरा ध्यान अपनी आत्मा के बाहर नहीं जाता है।"

इस उदाहरण के द्वारा चक्रवर्ती की विरक्ति का भाव स्पष्ट होता है।

महाराज ने कहा - "जिस समाधि में शरीर का मोह नहीं रहता, आत्मा के सिवाय अरहंत भगवान का भी ध्यान नहीं रहता, वही सच्ची समाधि है। आत्मा के स्वरूप में निमग्न होने वाले को बाहर का पता नहीं चलता है। यहाँ तुम बोलते हो, तो हमारा उपयोग तुम्हारे कथन पर रहता है; इसी प्रकार आत्मा पर लक्ष्य रहने पर बाहर का ध्यान नहीं रहता है। उस ध्यान के समय हमें आने-जाने वालों का भी पता नहीं रहता है।

महाराज की आगम भक्ति

वर्धमानस्वामी ने बताया - "आचार्य महाराज को क्षुल्लक पद प्रदान करने वाले मुनि देवप्पा स्वामी के समय में मुनि पद में बहुत शिथिलता थी। उस समय देवप्पा स्वामी आहार को जाते थे, पश्चात् दातार से सवा रुपया लेते थे। आचार्य महाराज ने क्षुल्लक पद में भी ऐसा नहीं किया। इस पर देवप्पा स्वामी कहते थे - तुम रुपया लेकर हमें दे दिया करो। आगमप्राण आचार्य महाराज को यह बात अनिष्ट लगी, अतः महाराज ने देवप्पा स्वामी का साथ छोड़ दिया था।"

आगम की सर्वोपरि मान्यता

आचार्य महाराज आगम के समक्ष लोकाचार को कोई महत्त्व नहीं देते थे। आचार्य महाराज ने मुनि जीवन में नवीनता लाकर उसमें सच्चा प्राण उत्पन्न किया था। पहले ऐसा होता था कि मुनिराज शरीर पर एक चादर ढांककर उपाध्याय के द्वारा निर्धारित घर में मार्ग से जाते थे। उस घर में पहुँचने के बाद इनकी वैयावृत्य होती थी, स्नान होता था, पश्चात् वस्त्र त्यागकर आहार ग्रहण किया जाता था। आहार के समय घण्टा या बर्तन बजाया जाता था, जिससे अंतराय का कारण बनने वाला शब्द कर्णगोचर ही न हो। आहार के बाद मुनिराज दक्षिणारूप में सवा रुपया लेते थे। आचार्यश्री के प्रतिभाशाली मस्तिष्क ने मुनिपद में आगत विकार को ज्ञात कर उसे शुद्ध करने का अपूर्व कार्य किया था। स्व. आचार्य वीरसागर महाराज ने कहा था - "आचार्य शांतिसागर महाराज ने मुनि धर्म के भीतर उत्पन्न भयंकर शिथिलाचार को दूरकर अनंत उपकार का कार्य किया था। उनके उपकार का वर्णन करने के लिए हमारे पास शब्द नहीं हैं।"

उद्दिष्ट त्याग का परिपालन

आचार्य महाराज क्षुल्लक अवस्था में स्तवनिधि के पास के सोलापुर नाम के ग्राम में पहुँचे। वहाँ एक ही श्रावक का घर था। वहाँ रात्रि को निवासकर आहार बिना किए वे विहार कर गए, कारण उद्दिष्ट त्याग रूप नियम की रक्षा नहीं हो सकती थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि क्षुल्लक या अन्य ऊंची पदवी वाला व्यक्ति यदि एक ही जगह प्रतिदिन आहार लेता है और वहाँ दूसरा चौका नहीं है, तो वह अपनी आहारचर्या को निर्दोष नहीं पालन करता है।

आचार्य महाराज की दृष्टि में लोकहित, लोकप्रशंसा आदि का मूल्य नहीं था। वे एक ही बात देखते थे कि इस विषय में आगम का विरोध तो नहीं है। भगवान की वाणी

को वे प्राणों से भी अधिक महत्त्व देते रहे हैं। ऐसी महान् आत्मा के आदेश, उपदेश तथा जीवन प्रवृत्ति को अपने लिए हितकारी समझने में तथा यथाशक्ति पालन करने में हमारा कल्याण है।

पक्षी समुदाय

मैंने देखा - वर्धमान महाराज के पास आकर अनेक पक्षी चुपचाप बैठ जाते थे। चिड़िया भी उनसे नहीं डरती थी। कभी-कभी चिड़िया सिर पर, कंधे पर बैठ जाती थी। मैंने इसका कारण पूछा।

महाराज ने कहा - "पक्षी आता है, तुम उसे भगाते हो, वह बेचारा डरकर भाग जाता है। हम उनको नहीं भगाते हैं। किसी को कष्ट क्यों दें? इससे वे बेचारे हमारे पास आते हैं, बैठते हैं। उनको डर नहीं लगता है।"

उत्तर की यात्रा

सन् १९२७ में वर्धमान स्वामी गृहस्थावस्था में कुमगोड़ा के साथ शिखरजी की यात्रा को गए थे। सोनागिरि गए थे। अजमेर की नसियां का दर्शन किया था। नागपुर के पास के अतिशय क्षेत्र रामटेक भी गए थे।

प्राणायाम

वर्धमान महाराज क्षुल्लक की अवस्था में मोटर द्वारा ऐलक दीक्षा लेने कोल्हापुर के श्रावकों के साथ गजपंथा आचार्य महाराज के पास गए थे। मोटर कितने वेग से चलती थी इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया था कि मील का खम्भा देखकर कभी-कभी हम श्वास रोकते थे, तो दूसरे मील का खम्भा आने पर हम श्वास छोड़ते थे। इस विषय को लिखने का हमारा उद्देश्य इतना ही है कि पाठक देखें कि साधु बनने वाले सत्पुरुषों के कार्य ऐसे अद्भुत हुआ करते हैं कि उनके बारे में अन्य साधारण व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

अन्तिम दर्शन

पर्युषण पूर्ण होने पर नांद्रे से कोल्हापुर के लिए प्रस्थान करते समय मैंने वर्धमान महाराज से आशीर्वाद की प्रार्थना की, तो आशीर्वाद देते हुए महाराज ने कहा - "पुरुषार्थ भी करो। हमारा आशीर्वाद तो है ही। हमारा तुम्हें आशीर्वाद है कि तुम जहाँ भी जाओ जैन-धर्म की ध्वजा को सदा ऊँचा रखना। एक बात और ध्यान में रखना कि यहाँ से जाने

के बाद हमारा पता लेते रहना और जब समाधि का समय निकट रहे, उस समय अवश्य आना।"

अन्तिम प्रयाण वेला

इसके पश्चात् ऐसा अद्भुत कर्मोदय आया कि फिर वर्धमानस्वामी का दर्शन नहीं हुआ। उनकी कुशलता के समाचार, पत्रों तथा तार द्वारा प्राप्त करता था। दुर्भाग्यवश २६ फरवरी १९५९ को सायंकाल के समय १०८ वर्धमानसागर महाराज की प्रकृति अकस्मात् बिगड़ गई। उसके पहले गुरुदेव उस गुरुवार को अनेक लोगों के साथ धार्मिक चर्चा करते रहे। थोड़ा-सा ज्वर-मात्र था। सन्ध्या को अधिक मल-विसर्जन होने से क्षीणता वृद्धिंगत होने लगी। रात्रि भर शरीर क्षीण होता चला गया। शुक्रवार के प्रभात में सामायिक के लिए बैठते-बैठते शरीर अत्यन्त शिथिल हो गया। परलोक प्रयाण का सूचक श्वास चलना प्रारम्भ हुआ। पंच-नमस्कार का जाप चल रहा था कि ६ बजे साम्यभाव पूर्वक पूर्व के देवगोड़ा नामधारी वर्धमानसागर महाराज नामवाली ज्योतिर्मयी वीतराग परिणति विभूषित आत्मा ने ९७ वर्ष वाली देहरूपी जीर्ण कुटी को त्यागकरके देवपर्याय प्राप्त की। संयम के माध्यम से देवगोड़ा ने देवेन्द्र पदवी प्राप्त की होगी। आचार्य शांतिसागर महाराज ने सकल संयम की समाराधना द्वारा प्रभात में प्राणों का परित्याग किया था। आगम के प्रकाश में देखा जाय, तो अब ये दोनों मुनिबन्धु दिव्यलोक में जाकर अवश्य मिले होंगे।

समाधिमरण की वेला में इन महामुनि साधुराज की सेवा का उज्ज्वल सौभाग्य १०८ मुनि नेमिसागर महाराज (दक्षिण), ऐलक कुलभूषण जी, क्षु. सन्मतिसागर जी, क्षु. जयसेन जी तथा ब्र. जिनदास जी समडोलीकर को प्राप्त हुआ था। ब्र. जिनदासजी को कुंथलगिरि में योगिराज शांतिसागर महाराज की अन्तिमसेवा का भी श्रेष्ठ सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके विशेष सहयोग तथा परिश्रम के फलस्वरूप ही हम आचार्यश्री की जीवन सामग्री एकत्रित कर सके। वे कन्नड़, मराठी तथा हिन्दी जानते थे। अतः वे हमारे लिए दुभाषिये के रूप में बड़े उपकारी तथा उपयोगी रहे। हम उनके अत्यंत कृतज्ञ हैं।

भोज निवासी साधुराज का प्राणोत्क्रमण कुंभोज ग्राम के जिनालय के बाहर के कमरे में हुआ था। २॥ बजे दिन तक हजारों लोग वहाँ आ गए। विमान में मङ्गलमय सकलसंयमी का शरीर विराजमान किया गया। श्रीविमान चार बजे बाहुबली क्षेत्र पर पहुँच गया। श्रीमती सरस्वतीबाई आरवाड़े ने ९०१ रु. देकर उस पवित्र शरीर की अन्तिम अभिषेकादि विधि सम्पन्न की। १०८ मुनि नेमिसागर महाराज तथा ऐलक कुलभूषण

महाराज के तत्त्वावधान में योग्य रीति से सर्व कार्य सम्पन्न हुआ। पंद्रह सहस्र से अधिक धार्मिक जन-समुदाय उस समय एकत्रित हुआ था। ऐलक कुलभूषण महाराज मुनिरूप में सन् १९८० के लगभग शिखर जी से लौटते हुए सिवनी पधारे थे। नागपुर में उनका चातुर्मास हुआ था।

समाधि स्थान का दर्शन

वर्धमान महाराज का स्वर्गारोहण कुंभोज ग्राम में हुआ था। उनकी समाधि के स्थल का दर्शन करना आवश्यक था। श्री गणपति रोटे, शाहपुरी कोल्हापुर बहुत सज्जन, गुरुभक्त तथा स्नेही व्यक्ति के पास हम ठहरे थे। उन्होंने अपनी मोटर द्वारा हमारा कार्य अल्पकाल में सम्पन्न करा दिया। हम कुंभोज ग्राम गए। मंदिरजी में प्रवेशकर भगवान के दर्शन किए। इसके बाद उस स्थान पर गए, जहाँ वर्धमान महाराज विराजमान रहते थे; किन्तु हमें वर्धमान महाराज नहीं मिले। वे महामुनि, वे अलौकिक साधुराज इसी कमरे में रहे थे; किन्तु अब वे यहाँ नहीं हैं। यहाँ ही यमराज उनके पास आया था। समतापूर्वक उनका समाधिमरण यहाँ ही हुआ था। उस कमरे में विविध विचार पैदा होते थे।

स्मृतियाँ

उनके पुण्य जीवन की स्मृति सजग हो उठी। ९७ वर्ष की अवस्था में भी शांतिभाव से तथा निर्दोष रीति से दिगम्बर मुद्रा धारण कर केवल दिन में करपात्र द्वारा आहार ग्रहण करना, स्वाध्याय करना, आत्मचिन्तन करना उनकी चर्या थी। वे सारी दुनियाँ में एक थे। उनकी आत्मा सजीव अध्यात्म शास्त्र थी।

हमें यह ज्ञातकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि सोनगढ़ के सत्पुरुष अपने विशाल संघ सहित बाहुबली आए थे। वहाँ से करीब २ मील की दूरी पर कुंभोज ग्राम है, जहाँ अध्यात्म की विभूति वर्धमान महाराज थे। संघ ने विविध स्थानों को देखा था; किन्तु वे कुंभोज नहीं गए। लोगों ने कहा भी कि कुंभोज में महान् विभूति विद्यमान है; किन्तु 'आत्मार्थी सत्पुरुषों' का चित्त वहाँ जाने का नहीं हुआ। अध्यात्म-मूर्ति, सकल संयमी साधुराज के दर्शन के परिणाम न होना, उस ओर से विमुख होना, क्या यह नहीं सूचित करता कि आत्मा का नाम लेना, आत्मदेव की लम्बी चर्चा करना तथा आत्मा की उपलब्धि में महान् अन्तर है। यह बात विचारक स्वयं सोच सकता है।

उस कमरे में वर्धमान महाराज के भौतिक-शरीर का दर्शन नहीं हुआ; किन्तु स्मरण द्वारा उनका पुण्य जीवन समक्ष आ गया। सफल समाधिमरण द्वारा नरभव रूपी

भवन पर सुवर्ण कलश लगाने वाले उन गुरुदेव को मैंने प्रणाम किया। वाह रे यमराज! तू किसी को नहीं छोड़ता। ऐसे अच्छे साधुराज को भी तू ले गया। अच्छा! तेरी कृति का यह फल होगा कि थोड़े समय में वे ही साधुराज अपनी रत्नत्रय रूपी तलवार द्वारा तेरा ध्वंस करके 'मृत्युंजय' बनेंगे।

समाधि के संस्मरण

वहाँ मंदिर में क्षुल्लक जयसेन जी विराजमान थे। वे वर्धमान महाराज के अंत पर्यन्त उनके समीप रहे थे। उन्होंने बताया - "वर्धमानसागर महाराज की मृत्यु के पूर्व दिन संध्याकाल पर्यन्त शास्त्र चर्चा चलती रही थी। उसमें महाराज उपस्थित रहे। रात्रि को उनकी प्रकृति कुछ बिगड़ी। मुनि नेमिसागर जी, क्षु. सन्मतिसागर जी, मैं तथा ब्रह्मचारी जिनदास पास में थे। कोई भीषणता नहीं थी। यह रात्रि महाकाल रात्रि रूप है, ऐसी कल्पना तनिक भी नहीं होती थी। रात को १२ बजे अपने सदा के क्रमानुसार वे उठे और ध्यान में बैठ गए। दो घंटे के पश्चात् वे कुछ समय लेटे। उस समय वे बहुत शान्त थे। घबड़ाहट का नाम भी नहीं था।"

परलोक प्रयाण

"सबेरे चार बजे उनकी सामायिक प्रारंभ हो गई। सवा छह बजे शरीर चैतन्यशून्य हो गया। हम देखते ही रह गए। महाराज तो चले गए। उनको कुटी से बाहर लाया गया। नेत्र, मुख सभी बराबर थे। देखने पर ऐसा लगता था मानों वे सामायिक ही कर रहे हों। कह नहीं सकते, कैसे प्राण गए?"

शरीर और आत्मा एक नहीं हैं, जुदे-जुदे हैं, ऐसी बात उस समय प्रत्यक्षगोचर होती थी। क्षणभर पूर्व चैतन्यमूर्ति आत्मा शरीर में थी। अब शरीर शून्य हो गया। शरीर और चैतन्य एक होते, तो चैतन्य के साथ शरीर भी चला जाता। 'शरीरे तदवस्थेपि जीवे विकृतिदर्शनात्'। शरीर तदवस्थ था, जीव में विकृति हो जाती है, ऐसी आर्षवाणी प्रत्यक्षगोचर हो रही थी।

क्षुल्लकजी ने कहा - "ऐसी अद्भुत, शांतिपूर्ण, कष्टरहित, सावधानीयुक्त समाधि नहीं देखी। यमराज ने उन पर आक्रमण किया हो, ऐसा एक भी चिह्न नहीं दिखता था। शरीर जैसा का तैसा ही प्रतीत होता था।"

ध्यान के सागर

क्षुल्लक जी ने बताया - "मैं आचार्य शांतिसागर महाराज के साथ जाना चाहता था। आचार्य महाराज ने नांद्रे में कहा था - तुम वर्धमानसागर के पास रहो। मेरे साथ क्या चलते हो? इससे मैं वर्धमान स्वामी के समीप ही रहा। वर्धमान महाराज का अध्यात्म रस का प्रेम अपूर्व था। आत्मचर्चा और आत्मध्यान में उनकी महान् रुचि थी। वास्तव में वर्धमानसागर महाराज ध्यान के सागर थे। उनकी सरलता अद्भुत थी। उनका भाव एक दिन पूर्व आहार को नहीं जाने का था। सबने प्रार्थना की - महाराज! आहार को अवश्य जाना चाहिए। उस समय पुण्यमूर्ति महाराज ने कहा - तुम्हारी सबकी मरजी है, तो आहार को चले जायँगे।"

वास्तव में विचार किया जाय, तो जैसे शांतिसागर महाराज की समाधि अलौकिक तथा चिरस्मरणीय रही, उसी प्रकार उनके ज्येष्ठ बन्धु अथवा शिष्य वर्धमान स्वामी की समाधि भी अपूर्व रही। 'भोज' के स्वामी की समाधि 'कुंभोज' में हो गई; किन्तु उनके अन्तिम संस्कार बाहुबली क्षेत्र की छोटी सी पहाड़ी पर किए गए थे।

बाहुबली पर्वत

मैं बाहुबली पहुँचा। पहाड़ी पर चढ़ते समय भगवान बाहुबली स्वामी की अप्रतिष्ठित विशाल मूर्ति भूतल पर पड़ी हुई थी। उस मूर्ति को प्रतिष्ठित किए जाने आदि की योजना चल रही थी। अब वह मूर्ति खड़ी हो गई है और अत्यन्त मनोज्ञ तथा प्रभावक वह मूर्ति प्रतिष्ठित भी हो गई। आगे बढ़ने पर वह भूतल का खण्ड आ गया, जहाँ सुरेन्द्र-पूज्य, संयम-पालक वर्धमानसागरजी का शरीर लाया गया था और उस पौद्गलिक शरीर का दाह-संस्कार हुआ था। अग्नि के द्वारा भस्म किया गया शरीर असंयुक्त हो गया। पवनादि की सहायता से उस पावन देह का पुद्गल विश्वव्यापी हो गया। उस जगह आकर मन में अन्तर्वेदना हुई। वहाँ लगा, कि हमारे महाराज का पौद्गलिक शरीर यहाँ ही पर्यायान्तर को प्राप्त हुआ था। जब शरीर में चैतन्य का वास था, तब प्राणपण से भी उसकी रक्षा के लिए सभी भव्य भक्त तैयार थे। चैतन्य चले जाने के बाद इसी पहाड़ पर हजारों भक्तों ने उसी शरीर को भस्म कर दिया। पदार्थ का स्वरूप अद्भुत है। अनुप्रेक्षा की ये पंक्तियाँ स्मरणपथ में आती हैं :-

जनमै मरै अकेला चेतन सुख-दुख का भोगी।
और किसी का क्या, इक दिन यह, देह जुदी होगी॥

कमला चलत न पैंड, जाय मरघट तक परिवारा।
अपने-अपने सुख को रोवे, पिता पुत्र दारा॥

ये शब्द भी बड़े मर्मस्पर्शी हैं -

ज्यों मेले में पंथीजन मिल नेह धरे फिरते।
ज्यों तरुवर पै रैन बसेरा पंछी आ करते।

कोस कोई, दो कोस कोई उड़ फिर, थक-थक हारे।
जाय अकेला हंस, सङ्ग में कोई न पर मारे॥

सच्चा हंस

मरनेवाली आत्मा को पक्षी की उपमा देते हुए कहते हैं - प्राणपखेरू उड़ गए। कवि ने हंस रूप आत्मा के परलोक प्रयाण की बात कही है। सूक्ष्मता से विचार करें, तो प्रत्येक आत्मा को हंस नहीं कहेंगे। जो बहिरात्मा है, पुद्‌गल में आसक्त है, आर्तरौद्रध्यान में निमग्न है, परिग्रहानंद रूप महापंक का कीड़ा है, वह हंस नहीं है। उसमें विकार को त्यागकर आत्मस्वरूप रूपी क्षीर पान की योग्यता कहाँ है? वह तो काक, बक या गिद्ध के समान जीवन वाला होने से कुगति को जाता है। सच्चे हंस तो वर्धमानसागर महाराज सदृश सत्पुरुष हैं, जो जीवन भर आत्मरस का पान करते रहे तथा अपने ब्रह्म स्वरूप का दर्शन करते हुए शान्तिपूर्वक परलोक को चले गए।

पर्वत का संदेश

बाहुबली का स्थान मुमुक्षुओं तथा आत्म साधकों को सदा यह कहेगा कि - "आत्मबली, ९७ वर्ष की अवस्था में भी निर्दोष रीति से रत्नत्रय की साधना करनेवाली आत्मा के शरीर का अन्तिम संस्कार मुझ पर हुआ था। अरे विषयान्ध! भोगप्रिय मानव! यहाँ आकर कुछ आत्म-संस्कार की वस्तु लेता जा। अब मैं सामान्य पाषाणपुञ्ज नहीं हूँ, अब मैं पावन स्थल बन गया हूँ। आत्मज्योति जगा ले। ब्रह्मदर्शन के महान् कलाकार महात्मा के तपोपुनीत शरीर से यह स्थान कृतार्थ हुआ है।" अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा तपस्वियों के पितामह तुल्य वर्धमान महाराज का स्मरण कर हमने उनको प्रणामांजलि अर्पित की। धन्य था उनका जीवन। उनकी स्मृति भी सच्चे आत्मार्थियों के लिए मङ्गल दीप समान है।

आचार्य महाराज की मंगल भावना

पर्वत से उतर कर हम नीचे आए। बाहुबली गुरुकुल की भव्य संस्था को देखा। वहाँ आचार्य महाराज का महत्त्वपूर्ण संस्मरण सुनने का सुयोग प्राप्त हुआ। गुरुकुल के स्नेही बन्धुओं ने बताया - आचार्य शांतिसागर महाराज सन् १९५५ के अप्रेल मास में यहाँ (बाहुबली) पधारे थे। समीप के खेत में वे विराजमान थे। उनकी आत्मा में धर्म तथा संस्कृति के रक्षणार्थ एक भव्य भावना उत्पन्न हुई।

उन्होंने कहा - "मेरी एक इच्छा है, उसकी पूर्ति करने का विचार हो तो मैं यहाँ ठहरता हूँ।" यह विचार सायंकाल में व्यक्त किए गए। पूज्य १०८ मुनि समंतभद्र महाराज के समीप एकत्रित होकर विचार चला। आश्रम के बुद्धिमान तथा विवेकी व्यवस्थापकों ने प्रभात में गुरुदेव के समीप विनयपूर्वक निवेदन किया - "महाराज! आपकी आज्ञानुसार हम सेवा को तैयार हैं। क्या अभिलाषा है आपकी?" महाराज ने कहा - "शास्त्र में कहा है दक्षिण में धर्म रहने वाला है। इस वचन पर विश्वास करो। यहाँ पच्चीस फुट ऊँची बाहुबली की मूर्ति विराजमान कराना चाहिए।" धर्ममूर्ति आचार्य परमेष्ठी की वीतराग भाव को जगाने वाली उज्ज्वल अभिलाषा की पूर्ति का अभिवचन दिया गया। उसी समय सब प्रकार की योजना बन गई। धन की व्यवस्था भी तत्काल हो गई।

मूर्तिरूपी कल्पवृक्ष

आचार्य महाराज के श्रीमुख से अनमोल बोल निकले थे - "मैं यहाँ बाहुबली की मूर्तिरूपी कल्पवृक्ष का बीजारोपण कर रहा हूँ। इस प्रतिमारूपी कल्पवृक्ष के सानिध्य में हजारों विद्यार्थी आकर अपना जीवन मंगलमय बनावेंगे।"

वर्धमान महाराज की चर्चा चलने पर आश्रम वालों ने बताया कि दो मील से भी कम दूरी पर रहने वाले हम आश्रमवासियों को महाराज की बीमारी या अस्वस्थता का पता नहीं चला। सवेरे अचानक यह भयावह वार्ता सुनी कि महाराज का स्वर्गवास हो गया।

पन्द्रह बीस हजार जनता के साथ उनका पवित्र शरीर अन्तिम संस्कार हेतु यहाँ लाकर पर्वत पर रखा गया। उस शरीर के पीछे कोई आश्रय नहीं था। वह पद्मासन मुद्रा में था। स्वाश्रयी शरीर को अर्धनिमीलित नेत्रों सहित देखकर ऐसा लगता था कि वर्धमानसागर महाराज अपने प्रिय निर्ग्रन्थ शिष्य समंतभद्र महाराज के आश्रम में आकर आज पर्वतपर बैठकर ध्यान कर रहे हैं। प्राणहीन शरीर जीवितसा लगता था, तब सप्राण अवस्था के प्रभाव की मुमुक्षुजन कल्पना कर सकते हैं।

सार्थक विनोद

श्री गणपति रोटे दि. जैन श्रावक के साथ हम कोल्हापुर लौट रहे थे, उस समय उन्होंने वर्धमान महाराज का संस्मरण सुनाया - "आठ दिन पूर्व मैं सपरिवार वर्धमान महाराज के पास कुंभोज आया था। मेरे चिरंजीव अजित ने महाराज की पिच्छी पकड़ ली। वह उसे छोड़ता नहीं था। उस तीनवर्ष के बालक से महाराज कहने लगे - "बेटा! अभी पिच्छी लेने के लिए कुछ अवधि शेष है। अभी समय नहीं आया है।" यह कहकर वे हँसने लगे। यथार्थ में महाराज का विनोद मधुर होने के साथ अर्थपूर्ण था। आठ वर्ष अंतर्मुहूर्त के उपरान्त मनुष्य को दीक्षा लेने का अधिकार है, उसके पहिले पात्रता नहीं रहती है। इस आगमोक्त आज्ञा को ध्यान में रखकर महाराज ने उपर्युक्त मधुर बात कही थी।

मुनि नेमिसागरजी का संस्मरण

वर्धमान महाराज के समीप दक्षिण के १०८ मुनि नेमिसागर जी अंत तक रहे। उनको मुनिदीक्षा वर्धमान महाराज ने दी थी। ये कुड़ची वाले महातपस्वी नेमिसागर महाराज से भिन्न हैं जो शांतिसागर महाराज से दीक्षित हुए थे। उनको मुनि हुए तीस वर्ष से अधिक काल हो गया। इन नेमिसागर जी की दीक्षा उसी वर्ष वैशाख में हुई थी। ये नेमिसागर महाराज किनी में विराजमान थे। मैं पाँच अक्टूबर सन् १९५९ को उनके पास पहुँचा। वहाँ क्षु. सन्मतिसागर जी भी विराजमान थे। उन्होंने वर्धमानसागर जी की अन्त तक सेवा की थी।

मुनिदीक्षा प्रदान

वर्धमान महाराज के विषय में उन मुनि महाराज ने कहा - "वर्धमान महाराज ने मेरा बड़ा उपकार किया। उन्होंने शक सम्वत् १८८० वैशाख सुदी नवमी को मुझे दिगम्बर दीक्षा दी। दीक्षा के सभी संस्कार दुधगाँव में हुए थे। मेरे केशों का लोच वर्धमान महाराज ने ही किया था। दीक्षा के पूर्व मैंने उनसे प्रार्थना की थी - "महाराज! मुझे निर्ग्रन्थ दीक्षा दीजिये। संसार-समुद्र से पार कीजिए।"

वर्धमान महाराज ने कहा था - "अच्छा है, दीक्षा ले लो। ऐसा समय पुनः प्राप्त नहीं होगा। अपना नरजन्म सार्थक करो। एक बात स्मरण रखो, पंच महाव्रतों का पालना बहुत कठिन कार्य है। इनके सम्हालने की शक्ति हो, तब ही निर्ग्रन्थ दीक्षा लेना।"

नेमिसागर जी ने पुनः कहा - "महाराज! प्राण जाते तक महाव्रतों की रक्षा करूँगा। मेरी पूरी तैयारी है। तब उन्होंने मुझे दीक्षा दी। मेरी दीक्षा होने पर महाराज को अपार आनन्द आया। वे बड़े प्रसन्न दिखे। जैसे किसी को उसका सगा-सम्बन्धी मिलने पर हर्ष होता है, उस समय उनको भी ऐसी ही खुशी हुई थी।"

मुनि नेमिसागर जी महाराज ने कहा - "आचार्य शांतिसागर महाराज जब नांद्रे पधारे थे, तब मैंने उनसे मुनिदीक्षा के लिए प्रार्थना की थी। उस समय आचार्य महाराज ने कहा था - "तुम वर्धमानसागर से दीक्षा ले लेना, मैं अब दीक्षा नहीं देता।" उसके पूर्व शेडवाल में ब्र. बालगोड़ा शेडवाल वालों की मुनिदीक्षा हुई थी। आचार्य महाराज की आज्ञानुसार वर्धमान महाराज ने उनको दीक्षा दी थी और आदिसागर नाम रखा था। मैंने भी दीक्षा मांगी थी; किन्तु उस समय उन्होंने कहा था, कुछ दिन के पश्चात् दीक्षा लेना। दुधगाँव में मेरा भाग्योदय हुआ, तब वर्धमान महाराज ने मुझे दीक्षा देकर कृतार्थ किया।"

आनंदमयी मूर्ति

मैंने वर्धमानस्वामी को सदा आनंदमयी मूर्ति के रूप में देखा। वे आत्मचिन्तन तथा शास्त्र-स्वाध्याय में संलग्न रहते थे। हमेशा धर्मध्यान युक्त उनकी परिणति रही है। आचार्य शांतिसागर महाराज के समान ये भी आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान रूप परिणामों से जुदे रहते थे। शरीर अत्यन्त वृद्ध था। बुढ़ापे में शरीर किस प्रकार के कष्ट देता है, यह वह वृद्ध व्यक्ति ही जानता है। देहस्थिति में अनेक कारणों से गड़बड़ी होने पर भी उन महामना गुरुदेव की आत्मसाधना निश्चल रहती थी।

९७ वर्ष की अवस्था होते हुए भी वे प्रमाद तथा शिथिलता से रहित थे। एक आसन से बैठकर उनके चार पाँच घंटे सहज ही व्यतीत हो जाते थे।

उनकी प्रेरणा

"बाहुबली क्षेत्र में विशाल बाहुबली की प्रतिष्ठा शीघ्र करो" - यह वे बार-बार कहा करते थे। "बड़े महाराज चले गए। देखो! देर करोगे, तो हम भी दर्शन का लाभ नहीं प्राप्त कर सकेंगे। जब ब्र. जिनदास समडोलीकर ने महाराज को चातुर्मास के समय कहा था कि सिवनी से दिवाकर शास्त्री आपके पास आने की भावना करते हैं, इसको ज्ञातकर उनको बड़ा आनन्द हुआ था।"

विपत्ति काल में विचार

जब धर्म पर संकट आता था, अथवा धर्मात्माओं पर विपत्ति आती थी, तो वे कहा करते थे - "यह पंचमकाल है। इसमें ऐसा ही परिणमन हुआ करता है। धर्मात्माओं को घबड़ाकर धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए। धर्म का मूलतः नाश कभी नहीं होगा।"

"उनके जाप का मुख्य मन्त्र अपराजित णमोकार मन्त्र था। रात्रि के समय वे बहुत ध्यान करते थे। ध्यान में चुप बैठकर वे तत्त्वविचार तथा आत्मचिन्तन करते थे। उस समय जप का कार्य नहीं होता था। जब वे एक आसन से बैठकर दो तीन घंटे ध्यान करते थे, तब उनको बाहर का कुछ भी पता नहीं चलता था।"

अवर्णनीय आनन्द

"कभी ध्यान द्वारा अवर्णनीय अमृत रस को पान करके पश्चात् वे कहते थे - "नेमिसागर! आज रात्रि की सामायिक में बहुत आनन्द आया।" हम पूछ बैठते थे - "महाराज! कैसा आनन्द आया?" वे कहते थे - "हम अपना आनन्द तुमको कैसे कहें? बाबा! आनन्द अनुभव की वस्तु है। 'सांगता एत नाहीं' - उसका वर्णन नहीं हो सकता।"

"भक्तामर स्तोत्र पर उनकी बहुत रुचि रही है। वे प्रसिद्धि के तनिक भी प्रेमी नहीं थे। कहते थे - "बाबा! माझी प्रसिद्धी नको - मुझे प्रसिद्धि नहीं चाहिए। उसके होने पर मन में अहंकार उत्पन्न होने लगता है।" उनमें बड़ी बात यह थी कि वे आत्म-प्रशंसा तथा पर-निन्दा से दूर रहते थे। कभी-कभी भी दूसरों की निन्दा नहीं करते थे। अपने को सबसे छोटा संयमी मानते थे। पराक्रमी पुण्यात्मा पुरुषों की कथा कहने में, सुनने में उनको बहुत प्रसन्नता होती थी। पांडव पुराण, हरिवंश पुराण, प्रद्युम्न चरित्र, जीवंधर चरित्र, श्रीपाल चरित्र आदि की कथाएँ उनको खूब याद थीं।"

वर्धमानस्वामी क्षुल्लक दीक्षादाता निर्ग्रन्थगुरु पुत्तूर ग्रामवासी नेमिसागरजी तथा ऐलक-दीक्षा और मुनिदीक्षा दाता आचार्य शांतिसागर महाराज का कृतज्ञतापूर्वक प्रतिदिन स्मरण कर उनको प्रणाम करते थे।

अन्तकाल

"२७ फरवरी सन् १९५९ शुक्रवार को सवा छह बजे उनका स्वर्गवास हो गया था। उस दिन माघ सुदी पंचमी (उत्तर के हिसाब से फाल्गुन वदी पंचमी) थी। अन्तकाल

तक वे सावधान रहे। पौने छह बजे उनको पद्मासन मुद्रा में बिठाया गया था। मैंने पूछा था - 'क्या णमोकार मन्त्र सुनावें?' उन्होंने कहा था। मैं णमोकार मन्त्र पढ़ता था, मेरे साथ क्षु. सन्मतिसागरजी भी पढ़ते थे। महाराज भी हम दोनों के साथ-साथ णमोकार मन्त्र पढ़ते जाते थे। अन्त तक उन्होंने णमोकार का पाठ किया। अन्तिम पाठ के एक मिनिट बाद ही शरीर से श्वास निकल गई, फिर लौटकर वह श्वास नहीं आई। यह उनकी अन्त समय की स्थिति रही थी। वे पूर्ण सावधान थे।"

मैंने पूछा - "रात्रि को शरीर में कुछ कफ आदि की बाधा रही थी या नहीं?" महाराज नेमिसागरजी ने बताया - "खाँसी आदि का कोई विशेष उपद्रव नहीं हुआ। रात को २ बजे के करीब अल्प प्रमाण में खाँसी आई थी। उस समय १०५ डिगरी ज्वर हो गया था। ठंड लगती थी; किन्तु वे स्थिर थे। सामायिक को बैठते समय ज्वर कम हो चला था। ठंड भी कम हो गई थी। शरीर भी कुछ-कुछ ठण्डा पड़ने लगा था। यह सब कुछ होते हुए भी ऐसी अवस्था नहीं थी, जिससे कोई यह अनुमान करता कि अभी ही ये महापुरुष चले जायेंगे।"

क्षुल्लक जी का अनुभव

क्षुल्लक सन्मतिसागर महाराज ने कहा - "क्या बतावें, हमने महाराज से मुनि दीक्षा मांगी थी। हमने सोचा था, अब आगे उनसे मुनि दीक्षा प्राप्त करेंगे। वे चले गए। उन जैसा महान् गुरु कहाँ प्राप्त होगा?"

धन्य है इन संयमी महान् आत्माओं का जीवन। इनकी कथा सुनते ही मुमुक्षुवर्ग, धन्य-धन्य कह बैठता है।

भट्टारक लक्ष्मीसेन जी के विचार

भट्टारक लक्ष्मीसेन स्वामी कोल्हापुर ज्ञानवान, सुसंस्कृत, सुरुचि-संपन्न तथा निरहंकारी मठाधिपति हैं। उनके साथ तत्वचर्चा में बहुत आनन्द प्राप्त होता है। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी है। मार्मिक चर्चा करते हैं। मैं एक अक्टूबर १९५९ को स्वामी जी के मठ में रहा था। चर्चा के प्रसंग में उन्होंने वर्धमान महाराज के विषय में कहा - "मैं कुंभोज दो बार उनके पास गया था। उनको ज्वर आ गया था। वे बीच-बीच में सुन्दर शंका किया करते थे। उनकी शंका प्रमुख रूप से आत्मा से सम्बन्धित रहा करती थी।"

कष्ट में सावधानी

"उनकी पीठ में बहुत दर्द था, फिर भी वे दृढ़तापूर्वक अपने संयम में सावधान

थे। व्यवस्थित सामायिक तथा आत्मध्यान का कार्यक्रम बराबर चलता था। बड़े ध्यानपूर्वक शास्त्र को सुनते थे। उनकी शंका सूक्ष्म तथा मार्मिक रहती थी। उनके साथ चलने वाली चर्चा में उनके आत्मिक अनुभव की गहरी छाप रहती थी। उससे यह स्पष्ट हो जाता था कि उन्होंने अध्यात्म का गंभीर मनन तथा चिंतन के साथ ही गंभीर अनुभव भी किया है। उनकी वाणी मधुर लगती थी। उनकी वाणी से परमागम की प्रगाढ़ श्रद्धा टपकती थी। चर्चा के समय उनमें उत्तेजना नहीं आती थी। उस समय वे शांत, मृदु तथा गंभीर रहते थे। उनका मुझ पर बड़ा अनुग्रह था।"

"कभी-कभी चर्चा के समय वे प्रसंग के अनुकूल मधुर धार्मिक विनोद भी करते थे, उससे चर्चा सजीव तथा सरस बन जाया करती थी। ऐसा ही पवित्र विनोद स्व. आचार्य शांतिसागर महाराज की वाणी में भी प्राप्त होता था।"

मुनिदीक्षा

"वर्धमान महाराज की मुनिदीक्षा के समय मैं भी बारामती में था। उस समय आचार्य शांतिसागर महाराज ने शास्त्रानुसार दीक्षा-विधि सम्पन्न करने की आज्ञा मुझे प्रदान की थी। वर्धमान महाराज तथा बड़े महाराज अपने अन्तरङ्ग की गम्भीर बातों पर मुझ से परामर्श किया करते थे। उन महान् मुनीन्द्रों की मुझ पर बड़ी कृपा थी।

"वर्धमानसागर जी की मुनिदीक्षा की विधि सम्पन्न हो चुकी। उसके अनन्तर आचार्य महाराज ने वर्धमानसागर जी को दूसरी जगह विहार करने का आदेश दिया था। आचार्य महाराज बहुत बड़ी विभूति थे। रागभाव उत्पन्न होने की परिस्थिति तक को भी उत्पन्न नहीं होने देते थे। अपनी पवित्र वृत्ति की रक्षार्थ वे सर्वदा जागृत रहते थे।"

पूर्व परिचय

"वर्धमानसागर महाराज को मैंने सद्‌गृहस्थ रूप में भी देखा था। साधुपदवी स्वीकार करने के उपरान्त उनके गुणों में अपूर्व वृद्धि देखकर मुझे उनका 'वर्धमान' नाम सार्थक लगता था। अत्यन्त वृद्ध होते हुए भी उनकी स्मृति असाधारण थी। उनके समीप सैकड़ों स्थानों के लोग आया-जाया करते थे। आने वाले व्यक्तियों के नाम को लेकर वे उनसे चर्चा तथा वार्तालाप किया करते थे। उनके पास छोटे-बड़े सभी लोग बड़े प्रेम से पहुँचते थे। किसी को भीति नहीं होती थी। वे प्रेम-मूर्ति थे। उनके पास दूर-दूर के तथा समीप के बहुजन समाज को अत्यन्त प्रेम तथा प्रसन्नतापूर्वक आते देखकर ऐसा लगता था, मानों लोग अपने अत्यन्त वृद्ध धर्म पितामह की शरण में आ रहे हों। उनके मुखमण्डल

पर विषाद, चिन्ता, क्रोधादि विकारों का अभाव था। वहाँ सदा प्रसन्नता तथा सौम्यभाव का निवास रहता था।"

चारित्र-चूड़ामणि

"आचार्य महाराज की महिमा तो वर्णन अगोचर है। वे अपूर्व साधु हो गए। ऐसी ही महान् उज्ज्वल आत्मा वर्धमानसागर महाराज की थी। वे भद्र परिणामी, परम शांत, वीतराग, आदर्श तथा उच्चकोटि के निर्ग्रन्थ थे। अत्यन्त वृद्ध अवस्था में महाव्रतों, समिति, गुप्ति आदि मूलगुणों का निर्दोष रीति से पालन करनेवाले वर्धमानसागर महाराज सचमुच में 'चारित्र चूड़ामणि' थे।"

आचार्यरत्न देशभूषण महाराज के विचार

आचार्यरत्न देशभूषण महाराज ने कोल्हापुर में बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें कही थीं। उन्होंने बताया था - "वर्धमान स्वामी शांतिप्रिय थे। समाधान बुद्धि थे। वे उपदेश सुनने के प्रेमी थे। बहुत अनुभवी थे। बहुत कम बोलते थे। मार्मिक वचन कहते थे। वृद्ध होते हुए भी उनकी आत्मरुचि अच्छी थी।"

विनयसम्पन्नता

"मैं उनसे पूर्व दीक्षित था, अतः आगम के अनुसार वे पहले मुझे प्रणाम करते थे। मैं उनको प्रतिवंदना करता था। उनकी प्रिय वस्तु आत्मा की चर्चा थी। दूसरों को वे आत्मरुचि के लिए प्रेरणा प्रदान करते थे। वे वृद्ध साधु थे। मैं उनकी वैयावृत्य किया करता था। पायसागर महाराज वय में छोटे थे; किन्तु संयम की अपेक्षा वृद्ध थे। अपने को संयम की अपेक्षा लघु अनुभव कर वर्धमान स्वामी पायसागर जी सदृश बड़े संयमी की योग्य विनय करने में सावधान रहते थे। उनके बैठने पर पीछे स्वयं बैठते थे। वे विनय गुण की आदर्श मूर्ति थे। उनकी आत्मा में साहस तथा स्थिरता भी थी। पहले अनन्तमती अम्मा उनके पास शास्त्र पढ़ती थी। उस समय उन्होंने कहा था - "जब इस अम्मा को इतना शास्त्र का विषय आता है, तो मुझे क्यों नहीं आयगा? मैं अभ्यास करूँगा, तो मेरी बलवान आत्मा को क्यों न ज्ञान प्राप्त होगा।"

"उनका संयम का प्रेम अपूर्व था। वे सदा संयमी व्यक्ति का सहवास पसन्द करते थे। संयमरहित को पास में नहीं रखते थे।"

भाऊसाहब लाटकर ने - वर्धमान महाराज के विषय में इस प्रकार संस्मरण

सुनाए : - "वर्धमान स्वामी बहुत शान्त, परिमित भाषी, मृदुवाणी वाले तेजस्वी साधु थे। वे कभी भी दूसरों के चित्त को नहीं दुखाते थे। अपने भावों को सदा उज्ज्वल रखने में सावधान रहते थे। मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, यह बात उनकी दृष्टि में सर्वोपरि थी। इस कारण वे अपने जीवन को विशुद्ध रखते थे तथा सबको मनुष्य जन्म को कृतार्थ करने के लिए कहा करते थे।"

"कन्नड भाषा में समझाते हुए वे कहते थे - "तुमको यह मनुष्य जन्म मिला है। उसमें मोक्षदायक जैनधर्म प्राप्त हुआ है। उससे लाभ लेने का प्रयत्न करो। पाँचों इंद्रियों को अनुकूल विषय प्रदान करने के कार्य में तुम्हारी कितनी शक्ति जाती है, कितना समय व्यतीत होता है। इस कार्य में तुम महान् कष्ट उठाते हो। बाबा! थोड़ासा कष्ट अगर अपनी आत्मा के लिए उठाओ, तो तुम्हारा जीवन सदा के लिए सुखी बन जायगा।"

"उनकी सदा यह भावना रहती थी कि किस प्रकार समस्त प्राणियों का कल्याण किया जाय? वे बहुधा कहा करते थे, यह काल बड़ा कठिन है। इसमें धर्म में स्थिर रहना विशेष आत्मबल की अपेक्षा रखता है।"

रोग पर विचार

"मृत्यु के दो माह पूर्व वे बहुत बीमार हो गए थे। उस समय कहते थे - यह रोग पूर्व में बाँधे गए कर्मों के फल रूप है। यह असाता कर्म फल देकर निर्जरा को प्राप्त हो रहा है। इससे कर्मभार दूर होने से आत्मा हल्की हो रही है। इस कारण रोग को क्यों कष्टप्रद मानना? हमने ही कर्म बाँधे थे, किसी दूसरे ने तो कर्मों का बंध नहीं किया था; अतएव हमें ही अपने बाँधे गए कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। इस स्वाभाविक कार्य-कारण भाव को सोचकर अशुभ कर्म के विपाककाल में हमें खेद नहीं करना चाहिए। खेद करने में कोई लाभ नहीं है। खेद करने में बहुत हानि है; क्योंकि आगामी कष्ट परम्परा की पुनः जड़ जम जाती है। इस प्रकार वे जागृत रहा करते थे।"

धन से निस्पृहता

"उनकी दृष्टि बड़ी स्वच्छ थी। वे लेन-देन के चक्कर से दूर रहते थे। जो त्यागी होकर ऊँचे पद को धारण करते हैं; किन्तु जिनका रुपया पैसा का लेन-देन कार्य चला करता है, उनके बारे में वे कहा करते थे - "एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहती हैं। ऐसे ही आत्महित में संलग्न साधु की दृष्टि धन-संचयादि के कार्यों से पृथक् रहती है। जिनकी दृष्टि धन की ओर उन्मुख रहती है, उनका ध्यान आत्मा की ओर नहीं रहता; अतएव

उनका आदेश था कि त्यागी व्यक्ति को धन के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। अपना संयम जिस प्रकार निर्मल रहे उस प्रकार का काम करना चाहिए। संयम की रक्षा न होती हो, तो प्राणों की परवाह नहीं करनी चाहिए। मोक्ष का मार्ग और बंध के मार्ग जुदे-जुदे हैं। मोक्षाभिलाषी को धन का अभिलाषी नहीं होना चाहिए। मोक्ष का मार्ग सरल नहीं है। मोह के आश्रय से मोक्ष का कपाट कभी भी नहीं खुलेगा।

श्री धर्मपाल पाटील नांद्रेकर ने वर्धमानसागर महाराज के पास नांद्रे चातुर्मास में रहने के कारण उनके जीवन का निकट से निरीक्षण किया था। बाहुबली क्षेत्र में भी उनके सत्संग का लाभ लिया था।

मार्मिक उपदेश

श्री धर्मपाल ने कहा - "वर्धमान महाराज के करकमलों से बाहुबली भगवान की मूर्ति की शिलान्यास विधि हुई। उस समय वर्धमान स्वामी ने बड़ी मधुर तथा अर्थपूर्ण बात कही थी। - "कितने भाग्य की बात है कि आचार्य महाराज ने इस मूर्ति की कल्पना की थी, किन्तु वे मूर्ति का दर्शन न कर सके और चले गए। अब इस प्रकार वह दिन भी आएगा, जब हम चले जाएँगे; किन्तु इस मूर्ति की छत्र-छाया में हजारों जीव अपना उज्वल जीवन बनाते रहेंगे। यह क्षेत्र अध्यात्म की भूमि है। यहाँ तपस्या करने वाले बाहुबली मुनिराज भी आध्यात्मिक व्यक्ति हुए हैं।"

ऐसे कार्य का संचालन आध्यात्मिक दृष्टि वालों के नेतृत्व में होना हितप्रद तथा उचित है। भोगियों के बदले त्यागियों के हाथ में यहाँ की बागडोर हितकारी रहेगी।"

"वर्धमान महाराज का मन बाहुबली की मूर्ति की ओर बहुत समय से लगा हुआ था। वे नांद्रे ग्राम में विराजमान थे। यह विशालकाय मूर्ति जयपुर से चली। मिरज स्टेशन को आते समय रास्ते में नांद्रे रेलवे स्टेशन पड़ता है। उस समय मूर्ति के दर्शन की भावना से वर्धमान महाराज स्टेशन तक गए। स्टेशन पर मालगाड़ी के ठहरने की योजना नहीं थी।"

न्यायपूर्ण दृष्टि

"लोग प्रयत्नशील थे; किन्तु वर्धमान स्वामी ने स्टेशन मास्टर से कहा - "यदि गाड़ी रोकने से तुम्हारा नुकसान होता हो, तो गाड़ी मत रोको। हमारा ख्याल मत करो। कायदे के अनुसार काम करो, जिससे तुम्हारी नौकरी को धक्का न लगे। हमें क्या है? मूर्ति सामने से गाड़ी में रखी गई चली गई, इतनी कल्पना से भी हमें सन्तोष होगा।

हमें कोई आकुलता नहीं है। सहज ही दर्शन हो जायगा, इस विचार से हमारा यहाँ आना हो गया और कोई बात नहीं है।"

मूर्ति-दर्शन से अपार आनंद

"वर्धमान महाराज के वचनों को सुनकर स्टेशन मास्टर की आत्मा द्रवित हो गई। उसने अपने अधिकार से पर्याप्त समय तक गाड़ी रोक ली। लगभग तीस फुट लम्बी सफेद सङ्गमरमर की मूर्ति को देखकर वर्धमान स्वामी को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ।"

बाहुबली की बड़ी मूर्ति को रेलवे स्टेशन से बाहुबली क्षेत्र तक ले जाना बड़ा कठिन कार्य था। भगवान जिनेन्द्रदेव की भक्ति कल्पनातीत फलदायिनी है। इस श्रद्धा से प्रेरित हो कुछ लोगों ने एक सूचना छपा दी - वर्धमानसागर महाराज की आज्ञा है कि मूर्तिस्थापना के कार्य में विघ्न-निवारणार्थ प्रत्येक जैन को णमोकार का स्मरण करना चाहिए। सवालाख णमोकार के जाप की योजना भी की गई है। यह छपी सूचना वर्धमान महाराज को दिखाई गई। उस समय महाराज ने कहा - "ऐसा आदेश हमने कब दिया था। आदेश छपाने के पश्चात् तुम हमारी स्वीकृति माँगते हो।" लोगों ने कहा - "सद्भावनावश तथा सत्कार्य की सिद्धि को लक्ष्य में रखकर हमने ऐसा किया है। आपके नाम का प्रभाव रहेगा, इससे हमने आपका नाम छाप दिया। आप की आज्ञा के बिना हमने जो कार्य किया उसके लिए हम क्षमा प्रार्थना करते हैं।" इस पर महाराज ने कहा "हमारा सब पर सदा क्षमा भाव है। क्रोध का भाव नहीं है। क्षमा माँगने का क्या प्रयोजन? तुम पर सर्वदा क्षमा भाव है।" ऐसा मधुर स्वभाव तथा पवित्र मनोवृत्ति उनकी थी।"

अजातशत्रु

"यथार्थ में अपनी प्रवृत्ति, वाणी, सरल व्यवहार आदि के कारण वर्धमान स्वामी अजातशत्रु रहे। उनका कोई भी विरोधी नहीं। वे भी किसी के विरोधी नहीं रहे। उनका विरोध कर्मों के प्रति अवश्य रहा है। उसी कर्म-शत्रु को नष्ट करने के लिए उन्होंने रत्नत्रय रूपी तलवार हाथ में ली है। निश्चय से वे शीघ्र ही कर्मों का क्षय कर अपने सच्चे घर मुक्ति मंदिर में पहुँच जायेंगे।"

"एक दिन उनकी प्रकृति बहुत बिगड़ गई। उष्णता का जोर था। कंठ सूख गया। श्वास लेना भी कठिन हो चला। उस समय एक वैयावृत्य करने वाले भक्त ने पानी में कपड़ा भिगोकर गले पर रख दिया। महाराज विचारमग्न थे। उनको पता नहीं चला।

शीघ्र ही नींद की एक झपकी सी आ गई। कुछ क्षणों के उपरान्त वे सावधान हो गए। उनको भान हुआ कि शरीर पर कुछ है। उन्होंने पूछा - गर्दन में क्या लगाया है? और कहा "बाबा! यह महाव्रत है। इसमें ऐसी गड़बड़ी नहीं चलती।" यह कहकर उन्होंने वह पट्टी दूर कर दी। पश्चात् प्रायश्चित्त के रूप में वे महामंत्र का जाप करने लगे। उनको अपने व्रतों की शुद्धता का बड़ा ध्यान रहता था।"

सामान्यतया आहार में वे दूध चाँवल लेते थे। ९६ वर्ष की अवस्था वाले दिगम्बर मुनिराज खड़े खड़े बिना किसी के सहारे के अपने हाथों में आहार लेते थे। हाथ कंपित होते थे। दूध का बहुभाग गिर जाता था। थोड़ा सा उनके काम में आ पाता था। अल्प आहार लेने के पश्चात् कभी-कभी वे कहते थे - मेरे शरीर को जितना आवश्यक है, उतना आहार मेरे हाथ में रह जाता है। अनावश्यक भाग अपने आप नीचे चला जाता है। आहार धैर्यपूर्वक होता था। आहारदाता को तनिक भी आकुलता नहीं होती थी। उनका आहार भी अपूर्व शान्तिपूर्वक तथा निराकुलतापूर्वक होता था।

वृद्धों के मध्य में

वर्धमान महाराज के समवयस्क दक्षिण के कुछ वृद्धजन उनके पास आकर बैठ जाते थे। उन सात-आठ वृद्धों से घिरे हुए वर्धमान महाराज अपूर्व लगते थे। कहाँ संयम तथा वय-वृद्ध ये तपोमूर्ति साधुराज और कहाँ वे वयोवृद्ध असंयमी गृहस्थ?

श्री भाऊसाहब पाटील द्वारा मार्मिक चित्रण

आचार्य शांतिसागर महाराज के चचेरे भाई श्री भाऊसाहब देवगोड़ा पाटील भोज ग्रामवासी से कोल्हापुर में मैंने आचार्य महाराज अथवा वर्धमानसागर महाराज के विषय में कुछ सामग्री देने का अनुरोध किया। उन्होंने कहा - "आचार्य महाराज तो निसर्ग से महान् थे, वर्धमानसागरजी भी अत्यन्त सरल थे।" आचार्य महाराज का नाम सातगोड़ा था, वर्धमानसागर जी का नाम देवगोड़ा था। इससे पाटील महाशय ने पुराने घरेलू नाम को लेते हुए कहा - "सातगोड़ा फार ज्ञानी, आणि शहाणा, देवगोड़ा भोला आणि मृदु" - शांतिसागर महाराज महान् ज्ञानी तथा बुद्धिमान् थे। वर्धमान महाराज भोले तथा दयालु स्वभाव के थे। भोज ग्राम में लिंगायतों के बड़े-बड़े विद्वान् आते थे। ब्राह्मणों के भी प्रमुख पण्डित लोग आते थे। शांतिसागर महाराज के साथ उनकी खूब चर्चा चला करती थी। वेदान्त की चर्चा चलती थी। उस समय महाराज के द्वारा जैन तत्त्वज्ञान का सुन्दर तथा मार्मिक निरूपण होता था, उसे सुनकर बड़े बड़े अन्य धर्मियों को संतोष होता था, उनका मुख बंद हो जाता था।"

सच्चे वैराग्यवान मुनि

वर्धमान महाराज के विषय में पाटील सा. ने कहा - "वर्धमान महाराज का स्वभाव देवता सदृश था। देवगोड़ा देवता समान उज्ज्वल प्रकृति के थे। उनको मनुष्यों का देवता कहें, तो कोई अत्युक्ति की बात नहीं है। वे प्रेम, विनय, माधुर्य तथा शांति की मूर्ति थे। वे बहुत दयावान थे। जब मैं उनके पास जाता था, तब गाँव के सब लोगों की कुशल-वार्ता पूछते थे। अपने परिवार के बारे में कभी भी नहीं पूछते थे। वे सच्चे वैराग्यवान मुनि थे।"

मैंने कहा - "उनके परिवार में क्या अभी कोई है?"

पाटील साहब ने बताया - "बालगोड़ा नामके उनके पुत्र हैं। उनकी अवस्था ६५ वर्ष के करीब है। बालगोड़ा के तीन पुत्र तथा तीन कन्याएँ हैं।"

उन्होंने कहा - "वर्धमान महाराज का गृहस्थावस्था में आत्मध्यान का प्रेम था। मुनि होने पर वह आत्मध्यान का प्रेम वर्धमान हुआ।"

साध्वीद्वय का अनुभव

नातेपुते में अजितमती अम्मा के साथ जिनमती अम्मा का भी चातुर्मास होने से उन दोनों के द्वारा १०८ वर्धमानसागर महाराज के पुण्य जीवन के बारे में महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात हुईं।

वर्धमान महाराज आचार्य महाराज के ज्येष्ठ बन्धु थे, यह बात उतनी महत्त्व की नहीं है, जितनी कि संयमी बनकर भी बन्धुत्व का सम्बन्ध अविच्छिन्न रखने की थी। पहले भाई का सम्बन्ध था, पीछे गुरु शिष्य का सम्बन्ध हो गया था। वर्धमान महाराज हों या अन्य महाराज हों, आचार्य महाराज के शिष्य होने की दृष्टि से उन शिष्यों के पवित्र जीवन के भीतर आचार्यश्री की पवित्र जीवनी ही प्रतिबिम्बित होती हुई विचारगोचर होती थी।

वर्धमान महाराज की प्रवृत्ति

जिनमती अम्मा ने बताया - "वर्धमानसागर महाराज कहते थे, मैं रात को १२ बजे ध्यान करता हूँ। मैं विचार करता हूँ मेरी आत्मा ज्ञायक स्वभाव है। यह सब प्रकार के विकल्पों से रहित है। ऐसा विचार करते-करते हम स्वयं में स्थिर हो जाते हैं। इसमें हमको बहुत आनन्द मालूम पड़ता है।" वे महान् सरल परिणामी थे। हमसे पूछते थे - "ध्यान का कथन ठीक है। कुछ फर्क तो नहीं है।"

एक माह पूर्व उन्होंने कहा था - "हम आहार लेने के बाद दूसरे दिन तक सल्लेखना ले लेते हैं। हमने भी आचार्य महाराज के समान १२ वर्ष की सल्लेखना का व्रत लिया है। उस समय उनका आहार कम होने लगा था। इससे उन्होंने सोचा कि अब हमारे दिन नजदीक हैं। दूध और ज्वार का आहार लेते थे; पाव भर दूध और छटाँक भर ज्वार। इतना अल्पआहार हो गया था। बाहुबली में एक दिन उन्हें चक्कर आ गया था। उनके पेट में भी पीड़ा हो रही थी। कहने पर भी वे नहीं लेटते थे। शास्त्रसभा में दो बजे से पाँच बजे तक एक आसन में बैठते थे। भट्टारक लक्ष्मीसेन जी से चर्चा करते थे।"

शास्त्र-चर्चा का रस

लोगों ने विनय की, कि आपका शरीर कमजोर है, उसमें पीड़ा है इसलिए चुप बैठने की प्रार्थना है; तब वे कहते थे - "शास्त्र का विषय है, उसे सुनकर चर्चा किए बिना चुप नहीं रहा जाता।" वे कहते थे कि - "नांद्रे में सिवनी के पंडित दिवाकर जी आए थे। उनके साथ बड़ी अच्छी चर्चा होती थी।" बाहुबली से महाराज कुंभोज आ गए। वहाँ के मन्दिरजी में एक योग्य स्थान पर ठहरे थे। उनके पास पन्द्रह त्यागी आकर इकट्ठे हो गए थे। अन्त समय पर नवदीक्षित मुनि नेमिसागर जी, ऐलक कुलभूषण जी, क्षुल्लक सन्मतिसागर जी, क्षुल्लक जयसेन जी तथा शांतिमती अम्मा वहाँ थी। नेमिसागरजी को महाराज ने दुधगाँव में निर्ग्रन्थ बनाया था।"

"अन्त समय पर हमें उनकी सेवा का सौभाग्य नहीं मिला। उनके पास से फलटण पंचकल्याणक में जाने के लिए जब पूछा, तब उन्होंने हमें आज्ञा दी थी और कहा था, "अभी प्रकृति ठीक है।"

हमने कहा - "आपकी तबियत कमजोर है, इसलिए आपका साथ छोड़ने की इच्छा नहीं होती। अभी हम आपके पास रहेंगे।"

वे बोले - "हम तो अकेले जाने वाले हैं, लेकिन यह शरीर यहाँ ही पड़ा रहेगा।"

उनके पास दूर-दूर से लोग दर्शन के लिए आते थे। हम लोग महाराज से कहते थे - आप चुप रहिए तो ठीक होगा। वे दया भाव से कहते थे कि लोग दूर-दूर से आए हैं, उनको दो शब्द भी नहीं बोलेंगे, तो उनको कैसे शांति होगी? हमारे चार शब्द कहने से उनको शांति हो जाती है।

क्या सीखा?

एक दिन वे कहने लगे - "बाबा मैंने कुछ नहीं सीखा। तुम लोगों ने तो खूब बातें सीखी हैं। मैंने तो एक बात सीखी है कि अनात्म भाव में नहीं आना चाहिए, अपने स्वभाव में अपने को रखना चाहिए 'या सिवाय मला काही एंत नाहीं, बाबा तुमीं सगड़े सीखला।'

वे कहते थे - "हम तो लघु मुनि हैं, हम क्या समझते हैं?"

सुन्दर शास्त्र-ज्ञान सम्पादन करने के पश्चात् भी उनकी वाणी इतनी अहंकार-रहित होती थी।

आत्मरूप में स्थिति

उन्होंने एक दिन भट्टारक लक्ष्मीसेन जी से कहा था - "तुम मुझको आत्मध्यान की बातें सुनाते हो, मैं भी सुनता हूँ। जब मैं अपने रूप में स्थिर रहता हूँ तब खरा (सच्चा) ध्यान होता है।" उनसे बाहुबली में अधिक समय तक ठहरने के लिए कहा कि सोनगढ़ के कानजी आने वाले हैं, आप ठहरिये। वे बोले - "बाबा कोई भी आए हमें द्वेष नहीं, प्रेम नहीं। हमें क्या करना है, हम तो अपने में रहने वाले हैं।"

उनको आत्मा की चर्चा करने में बड़ा आनन्द आता था। उनमें आत्म-स्थिरता बहुत थी। मुनि समंतभद्रजी ने उनसे कहा कि - "आप बाहुबली में ही रहिए। आपकी देह यहाँ ही पड़ना चाहिए। यहाँ ही समाधि हो।"

वर्धमान महाराज ने कहा - "जहाँ देह का पतन होना होगा, वहाँ ही होगा। हम क्या कह सकते हैं?"

प्रश्न - अब आप वृद्ध हो गए, अधिक इधर-उधर न जाकर यहाँ ही रहिए।

आत्मशक्ति का विश्वास

वे बोले - "त्यागी के शरीर में जब तक शक्ति है, तब तक उसे नदी के समान गमन करते ही रहना चाहिए। अभी मेरी आत्मा में शक्ति है। शरीर मात्र क्षीण हुआ है। मैं तुमको थका सा दिखता हूँ; किन्तु मेरी आत्मशक्ति बढ़ी है, न्यून नहीं हुई है।"

बाहुबली क्षेत्र में बाहुबली भगवान की विशाल मूर्ति के आने पर वे बहुत आनंदित हुए और कहने लगे, "आचार्य महाराज के उपदेश से कितनी महान् और

सुन्दर मूर्ति आ गई और उस पर पानी की तरह रुपयों की वर्षा होने लगी। सचमुच में आचार्य महाराज का पुण्य अपूर्व था। उनके बचनों से ऐसा हो गया।''

शेडवाल की श्रावक मंडली महाराज के पास शेडवाल चलने की प्रार्थना करने को आई। श्रावक समुदाय ने प्रार्थना की - ''महाराज! शेडवाल में चलिए; वहाँ समाधि के योग्य स्थान है।'' वर्धमान महाराज ने कहा - ''हमें कहीं भी समाधि लेनी है। हमें स्थान का मोह नहीं है।''

महाराज को देखने के लिए डाक्टर आया, तब वर्धमान महाराज ने विनोदपूर्ण भाषा में कहा - ''जब इस जड़ शरीर को ठीक नहीं कर सकते, तब मेरी आत्मा के रोग को दूर कर उसे कैसे रोग-मुक्त बना सकोगे?''

कार्कल में सर्प का आगमन

वर्धमान स्वामी ने किनी में कहा था - ''मैं क्षुल्लक अवस्था में कार्कल गया था। मैं बाहुबली की मूर्ति के पास एक शिला पर सामायिक के लिए बैठा था। वहाँ एक बहुत मोटा सर्प फण ऊँचा उठा कर फुस्-फुस् शब्द करता हुआ सामने आया। मेरी सामायिक समाप्त हो चुकी थी। मैं स्तुति पाठ कर रहा था। मैंने उसे देखा मेरे चित्त में भय नहीं उत्पन्न हुआ। भय क्यों उत्पन्न हो? वह मेरा क्या करेगा? शरीर को कुछ करेगा, तो शरीर मेरा नहीं है। यह विचार कर मैं नेत्र बंद करके ध्यान में बैठ गया। पाँच बजे शाम तक मैं ध्यान में बैठा रहा। आँखें खोलने पर देखा, तो सर्प वहाँ नहीं था। वह चला गया था।''

वे कहते थे - ''प्रारम्भ में मुझे शास्त्र का अल्प-बोध था। एकान्त में बैठकर ध्यान करने की रुचि थी। एकान्त में जाना तथा कठोर तप करने की बहुत इच्छा रहती थी।'' बाबूराव मार्ले, अंतूबाई पाटील किनी, क्षु. सन्मतिसागरजी तथा मुनि नेमिसागरजी ने वर्धमान महाराज की खूब सेवा की।

सन्मतिसागरजी ने वर्धमान महाराज से मुनि दीक्षा मांगी, तब महाराज बोले - ''पहले मुझे पार लगादो, फिर दीक्षा लेना।''

ग्रामवास

वर्धमान महाराज बहुधा ग्राम में निवास करते थे। उनके पास बच्चे आकर बड़े प्रेम से इस प्रकार बैठ जाते थे, जैसे वे अपने माता-पिता के समीप स्नेहवश बैठते हैं।

समडोली चातुर्मास के पश्चात् महाराज कुंभोज पहुँचे। उस समय बाहुबली आश्रम से अनेक लोग उनके पास गए और बाहुबली क्षेत्र पर चलने की प्रार्थना की।

मार्मिक उद्‌गार

वे बोले - "समंतभद्र वहाँ ही हैं। वे आश्रमरूपी तंबू के मुख्य स्तंभ हैं और आप लोग उसकी खूंटी हो। खूंटी पक्की होनी चाहिए। रस्सी भी मजबूत रहना चाहिए। तुम लोग आश्रम की खूँटी हो। खूँटी ढीली पड़ी, तो खम्भा क्या करेगा? तुम लोगों ने आश्रम को जीवन दिया है। अपने चारित्र में अच्छे रहना और धर्म का उद्धार करना।" लोग धर्म का उद्धार करना चाहते हैं; किन्तु स्वयं के चारित्र को उज्वल रखने की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। वर्धमान महाराज की दृष्टि में यह महत्त्व की बात थी कि पहले अपने को सच्चरित्र बनाओ, पश्चात् धर्म की उन्नति करो।

ऐलक कुलभूषणजी वर्धमानसागर महाराज के अन्त समय तक उनके समीप थे। उन्होंने बताया कि - "वर्धमान महाराज अन्त तक पूर्ण सावधान थे। वे अत्यन्त सरल तथा पवित्र वृत्ति के सत्पुरुष थे।"

वास्तव में, वे अलौकिक महापुरुष हो गए। उनको प्रकाश तथा अन्त:प्रेरणा आचार्य शांतिसागर महाराज से मिली थी। वे धन्य थे।

आचार्य वीरसागर महाराज

मुझे सात अप्रैल १९५७ के प्रभात में जयपुर की खजांची की नसिया में ८२ वर्ष की वय वाले महातपस्वी निर्ग्रन्थ गुरु तथा स्वर्गीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी के उत्तराधिकारी आचार्य वीरसागर महाराज के पुण्यदर्शन का सौभाग्य मिला। वयोवृद्ध होते हुए भी उनके सारे शरीर में विशेषतया मुख पर एक विशेष दीप्ति दिखाई पड़ती थी, जो उच्च तपस्वियों में पाई जाती है। मैंने उनको प्रणाम किया और उनसे कुछ चर्चा प्रारम्भ हुई। उससे मन को बड़ी शांति मिली, अन्तःकरण को अपूर्व आनंद मिला और विचारों को महत्त्वपूर्ण सामग्री मिली। उनकी आचार्य शांतिसागर महाराज में अगाध भक्ति थी।

मुनिमार्ग के सच्चे सुधारक

वे कहने लगे - "आचार्य महाराज ने हम सबका अनन्त उपकार किया। उन्होंने इस युग में मुनिधर्म का सच्चा स्वरूप आचरण करके बतलाया। उनके पूर्व उत्तर में तो मुनियों का दर्शन नहीं था और दक्षिण में जहाँ कहीं भी मुनि थे, उनकी चर्या विचित्र प्रकार की थी। वे मुनि आहार को उस जगह जाते थे, जहाँ उपाध्याय जाकर पहिले से आहार की पक्की व्यवस्था कर लेता था और आकर कहता था 'वर री स्वामी'-महाराज चलो। लोगों को पड़गाहने की विधि नहीं मालूम थी। उपाध्याय उस समय मुनि को आहार कराता था और स्वयं भी माल उड़ाता था। इस वातावरण को देख शांतिसागर महाराज के मन ने यह अनुभव किया कि यह तो निर्ग्रन्थ मुनि की चर्या नहीं हो सकती। उन्होंने उपाध्याय के द्वारा पूर्व निर्णीत घर में जाना एकदम छोड़ दिया। दिगम्बर मुद्रा धारण कर उन्होंने आहार के लिए विहार करना प्रारम्भ किया। लोगों को विधि मालूम न होने से वे उनको यथाशास्त्र नहीं पड़गाहते थे। इससे महाराज लौट करके चुपचाप आ जाते। शान्त भाव से वह दिन उपवास पूर्वक व्यतीत करते थे। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। धर्मात्मा गृहस्थों में चिन्ता उत्पन्न हो गई। फिर भी वे नहीं जानते थे कि इनके उपवास का क्या कारण है? क्योंकि वे गुरुदेव शान्त थे और किसी से अपनी बात नहीं कहते थे। उनकी चर्या को देखकर कोई भी आदिप्रभु के युग को स्मरण करेगा। ऐसी परिस्थिति के मध्य जब चार दिन बीत गये, तब ग्राम के प्रमुख पाटील ने उपाध्याय को बुलाकर कड़े शब्दों में कहा --"साधूल मारतोस काय? विधि सांगा" साधु को मारता

है क्या? विधि क्यों नहीं बताता?" जब उपाध्याय ने ठीक-ठीक विधि बताई, तब पड़गाहना शुरू हुआ।

वीरसागर महाराज ने जब यह कहा, उस समय गुरु के स्मरण से उनके नेत्रों में अश्रु छलछला पड़े थे - "खरे गुरु वे ही थे। उन्होंने मुनि बनकर मार्ग बताया।"

उस विकट स्थिति में जबकि अन्य अनेक मुनि आगमविरुद्ध वस्त्र धारण कर निर्णीत किये हुए घर में, एक प्रकार से आमंत्रित प्रदेश में आहार करते थे, तब निर्ग्रन्थ गुरु की चर्या के अनुसार प्रवृत्ति करना और मार्ग निकालना, कितना कठिन काम था, इसकी सामान्य मनुष्य कल्पना नहीं कर सकता।

वृत्ति परिसंख्यान तप का आरम्भ

आचार्य महाराज कोन्नूर में विराजमान थे। वहाँ का धार्मिक पाटील महाराज को आहार कराने के लिए निरन्तर उद्योग करता था; किन्तु महीनों बीतने पर भी वह सफलमनोरथ नहीं हुआ। पाटील ने चन्द्रसागरजी से अपनी मनोव्यथा सुनाई। चन्द्रसागर जी ने महाराज से पूछा - "महाराज पाटील के यहाँ योग्य विधि लगने पर भी आपका आहार वहाँ क्यों नहीं होता?" महाराज बोले - "पाटील के घर के चौके से पूर्व योग्य विधि मिलती है, तो उसको छोड़कर आगे कैसे जाँय?" इसके पश्चात् महाराज ने 'वृत्ति-परिसंख्यान तप' के स्वरूप को दृष्टि में रखकर विशेष प्रतिज्ञाएँ लेनी शुरू कीं। इससे अनेक व्यक्तियों को आहार देने का सौभाग्य मिलने लगा।

आगमानुसार प्रवृत्ति

महाराज आहार में दूध और चावल लेते थे। अत्यन्त बलवान और सुदृढ़ शरीर में वह भोज्य पदार्थ थोड़ी ही देर में पच जाता था, फिर भी महाराज ने यह कभी नहीं कहा कि गृहस्थ लोग विचारहीन हैं, एक ही पदार्थ देते हैं। एक दिन चन्द्रसागर जी ने कहा - "महाराज! आप दूध चावल ही क्यों लेते हैं और भोजन क्यों नहीं करते?" कुछ देर चुप रहकर महाराज ने कहा - "जो गृहस्थ देते हैं, वह मैं लेता हूँ। इन्होंने दूध चावल ही दिये, दूसरी चीज दी ही नहीं, इसलिए मैं दूध और चावल ही लेता रहा।" इस प्रकार भेद को जानकर लोगों ने आहार में अन्य भोज्य पदार्थ देना प्रारम्भ किया।

कवि लोग कहा करते हैं - "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्, क्षीणाः नराः निष्करुणाः भवन्ति" भूखा आदमी कौनसा पाप नहीं करता? भूखा आदमी करुणाहीन बन जाता है। ऐसी बातें आचार्य महाराज के विषय में चरितार्थ नहीं होती थीं। क्षुधा की

अपार वेदना को शान्त भाव से सहन करने वाले और आगम की आज्ञा को पालन करनेवाले उन गुरुदेव के मनोबल और उज्ज्वल श्रद्धा की कौन कल्पना कर सकता है? उस समय महाराज दूध चावल लेने के बाद एक उपवास करते थे, फिर आहार और फिर उपवास, इस प्रकार धारणा-पारणा का क्रम चलता रहता था। उस जमाने में अन्य साधुओं को आहार कराने के लिए उपाध्याय को पाँच रुपये फीस देनी पड़ती थी। आचार्य महाराज ने जो पद अङ्गीकार किया, उसमें उपाध्याय का रञ्चमात्र हस्तक्षेप नहीं था।

वीरसागर महाराज ने एक महत्त्व की बात कही थी कि - "वाणी का संयम सुमधुर फल प्रदान करता है।" वे बोले - "समितियों में भाषा समिति, गुप्ति में मनोगुप्ति और महाव्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत श्रेष्ठ है।"

गुरु की शिष्य-वृत्ति

आचार्य महाराज ने देवप्पा स्वामी से सर्वप्रथम क्षुल्लक दीक्षा ली थी; किन्तु दीक्षा के उपरान्त उनके संयमी जीवन की कीर्ति साधु समाज में खूब फैली। उनके गुरु देवप्पा स्वामी तक उनके पुण्य जीवन से प्रभावित हुए। श्रवणवेलगोला में जब आचार्य महाराज गये थे, तब देवप्पा स्वामी भी वहाँ पहुँचे थे। देवप्पा स्वामी ने शांतिसागर महाराज के पास आकर बड़ी नम्रतापूर्वक एक बात कही - "इतने दिन मैं आपका गुरु था, लेकिन अब आप मेरे गुरु हैं। मेरी जीवन-चर्या मुनिपद के अनुरूप नहीं है, इसलिए अब दीक्षा देकर मेरा उद्धार कीजिये।" देवप्पा स्वामी के अत्यन्त आग्रह पर शांतिसागर महाराज ने उन्हें पुनः दीक्षा दी थी।

कितनी अद्भुत बात है, गुरु भी इन साधुराज के समीप आकर शिष्य बनकर इन्हें गुरुदेव मानने लगे।

मैंने अनेक बार देवप्पा स्वामी के बारे में आचार्य महाराज से चर्चा चलाई, तो वे गम्भीर मुद्रा धारण कर चुप हो जाते थे और कुछ नहीं कहते थे; क्योंकि उस वर्णन में स्वप्रशंसा और अपने दीक्षागुरु का अगौरव छिपा हुआ था, इसलिए वे उस चर्चा से विमुख रहते थे।

व्रतदान

आचार्य महाराज का जीवन चुम्बक की तरह मन को आकर्षित करता था। एक दिन पं. धन्नालालजी काशलीवाल बम्बईवाले महाराज के पास गये और बोले -

"महाराज, मुझे ब्रह्मचर्य प्रतिमा दीजिए।" महाराज ने कहा - "इसके लिए मुहूर्त देखेंगे।" पंडितजी ने विनयपूर्वक कहा - "महाराज, आज मैंने आपके चरण पकड़ लिये, मेरे लिए, इससे बढ़कर क्या मुहूर्त होगा।" पंडित जी की तीव्र लालसा देखकर उन्हें उसी समय ब्रह्मचर्य प्रतिमा दी गई। दो माह के पश्चात् पण्डित धन्नालालजी का स्वर्गवास हो गया। व्रतयुक्त उनकी मृत्यु हुई। इस प्रकार महाराज ने बहुत से व्यक्तियों का कल्याण किया।

वीरसागर महाराज ने कहा - "आचार्य महाराज के शरीर पर सर्प लिपटा था; किन्तु उसने कुछ उपद्रव नहीं किया, इसका कारण उन्होंने बताया - "अंतरङ्ग में निर्मलता है, तो बाहर वाले में भी निर्मलता आ ही जाती है, इसलिए वह सर्प अभिभूत हुआ।"

मुनिजीवन में क्या कष्ट हैं?

मैंने कहा - "महाराज, आचार्यश्री ने आपको मुनि बनाकर, आपको कष्ट दिया या आनन्द प्रदान किया? उत्तर देते हुए वीरसागर महाराज बोले - "हमें कौनसी बात का कष्ट है? हम तो तुम्हारी तकलीफ देखते हैं और उसे छुड़ाना चाहते हैं। तुम परिग्रह और आकुलता के जाल में जकड़े हुए हो। तुम्हें क्षण भर भी शान्ति नहीं है।"

"देखो! साधु के परिषह होती है, गृहस्थ भी कम परिषह सहन नहीं करता। जितना कष्ट गृहस्थ उठाता है तथा जितना परिग्रह का ध्यान वह करता है, उतना कष्ट यदि मुनि सहन करे और निज गुण का ध्यान करे, तो उसे मोक्ष प्राप्त करने में देर न लगे। देखो! चिल्हर का व्यापार करने वाला बीच बाजार में बैठता है। हर एक ग्राहक को देता है, लेता है; परन्तु अपने धन कमाने के ध्येय को नहीं भूलता है। कितनी सावधानी रखता है वह?"

"दूसरी बात - गृहस्थ जेठ महीने में दस बजे दूकान पर जाता है। सूर्य की गर्मी बढ़ती जाती है। ग्राहकों की भीड़ लगी हुई है। उस समय नौकर आकर कहता है, पानी ले लो, तो वह सुनता नहीं, बहिरा बन जाता है। पुनः कहता है, तो वह डाँट देता है या उसकी ओर ध्यान नहीं देता है। ध्यान है ग्राहक पर। इस प्रकार वह अपने लाभ की ओर चित्त लगाए हुए रहता है और कष्ट की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। यह दृष्टि का फेर है। आत्मकल्याण में लगने पर साधु आरम्भ क्रियाओं को छोड़ देता है और आत्मकल्याण के कार्यों में आगत विघ्नों को सहज ही सहन करता है।"

साधु द्वारा परोपकार

वीरसागर महाराज के छोटे-छोटे वाक्यों में मार्मिकता और गम्भीरता पाई जाती थी। वे कहने लगे - "शील बड़ा धन है। उस धन के कारण शीलवती दरिद्र रहकर भी रत्नभूषित कुलटा के पद को तुच्छ मानती है। साधु स्वतः के लिए क्षमा धारण करता है, दूसरों के दुःख निवारण के लिए यदि कुछ न करे, तो धर्म की क्या अवस्था होगी? यदि विष्णुकुमार मुनि अकम्पनाचार्यादि सात सौ मुनियों पर उपसर्ग आने पर चुप रहे आते तो क्या होता? उन्होंने परोपकार के लिए वेष छोड़ा, साधुओं की रक्षा की, पश्चात् छेदोपस्थापना की।"

"अयोग्य चिकित्सक के हाथ में जाकर शस्त्र रोगी के विकार को दूर न कर स्वयं चिकित्सक का घात कर बैठता है। इसी प्रकार आज समयसार सदृश महान् शास्त्र, शस्त्र बनाया जा रहा है। वह कर्मों का संहारक है; किन्तु आज वह विलास का विकासक और हित का विनाशक बनाया जा रहा है। समयसार ऐसा नहीं है।"

सरल मनोवृत्ति

प्रश्न - "महाराज! मैंने आपको बहुत कष्ट दिया, अधिक पूछूँ या नहीं?"

उत्तर - "खूब पूछो, गुरु को और माता को सताओ, तब इष्ट वस्तु मिलती है।" उन्होंने कहा - "जैन साधु से क्षमा मत माँगो।"

मैंने पूछा - "क्यों?"

उत्तर मिला - "इसका अर्थ यह है कि उनमें क्रोध है। ऐसी कल्पना भी ठीक नहीं है। उनसे प्रायश्चित्त माँगो।"

वे कहने लगे - "नेत्र सदृश सज्जन नहीं और कान सरीखा दुश्मन नहीं। बैर बढ़ाने वाला कान कच्चा है।" कान का कच्चा नहीं होना। शरीर का दोगला उतना बुरा नहीं, जितना कान का कच्चा है।"

मधुर वाणी

आचार्य महाराज के विषय में वे कहने लगे - "उनकी वाणी में कितनी मिठास, कितना युक्तिवाद और कितनी गम्भीरता थी, यह हम नहीं कह सकते। महाराज जब आलंद (निजाम राज्य में) पधारे, तब उनका उपदेश वहाँ के मुस्लिम जिलाधीश के समक्ष हुआ। उस उपदेश को सुनकर वह अधिकारी और उनके सहकारी मुस्लिम कर्मचारी

इतने प्रभावित हुए, कि उन्होंने महाराज को साष्टांग प्रणाम किया और बोले, "महाराज जैनों के ही गुरु नहीं हैं, ये तो जगत् के गुरु हैं। हमारे भी गुरु हैं।"

आचार्य महाराज समय को देख सुन्दर ढङ्ग से इस प्रकार तत्त्व बतलाते थे कि शङ्का के लिए स्थान नहीं रहता था। मैंने पूछा - "उस भाषण में महाराज ने क्या कहा था?" वे बोले - "आचार्य महाराज ने देव, गुरु तथा शास्त्र का स्वरूप समझाया था।"

उन्होंने कहा था - "जो हमारे ध्येय को पूरा करे वही देव है। जितने ध्येय हैं, उतने देव मानने पड़ेंगे और उनकी पूजा करनी पड़ेगी। कुंजड़ी को देव मानना होगा, तब इष्ट साग आदि की पूर्ति होगी। पूजा का स्वरूप लोगों ने समझा नहीं, पूजा का अर्थ योग्य सम्मान है।"

जैन की दृष्टि

वीरसागर महाराज ने प्रसङ्गवश यह कहा - "माँगने वाला जैन नहीं और जैन माँगने वाला नहीं है। जैन नौकर नहीं है और नौकर जैन नहीं है। नौकर की दृष्टि वेतन पर होती है, काम पर नहीं होती। जैन की दृष्टि कार्य पर होती है, वेतन पर नहीं। जैनों की गौरवपूर्ण स्थिति का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया कि संवत् १९५६ में जो भयंकर दुष्काल आया था, उस समय सबने सरकार का माल खाकर अपने प्राणों की रक्षा की; किन्तु उनमें जैनों का नाम नहीं था।"

"जिसकी पूजा हो, उसे नमस्कार हो, न भी हो। नमस्कार के साथ देवपने का अविनाभाव नहीं है। जो दूसरे को तिरस्कार की दृष्टि से देखे, वह जैन नहीं। सम्यक्त्वी की पहिचान मुख पर है। जिसके मुख में प्रेम भरा हो, वह जैन है। जिसके मुख पर ग्लानि है, वह सम्यक्त्वी नहीं है। वह वात्सल्यांग नहीं रखता है। वात्सल्य के लिए गाय को क्या कुतिया को देखो। बच्चे काटते हैं, तो भी कुतिया उनको पकड़-पकड़ कर दूध पिलाती है।"

वात्सल्य का भण्डार

"आचार्य महाराज में वात्सल्य का अपूर्व भंडार था। कई बार मैंने महाराज से कहा था - महाराज आपकी शान्ति हमारा नाश करती है।"

महाराज कहते थे - "हमारा धर्म ही शान्ति है।"

उपयोगी शिक्षा

महाराज ने कहा था - "गुरु को तीन बातें ग्रहण करनी चाहिए और तीन बातें

छोड़नी चाहिए। उसे ज्ञान में, ध्यान में और तप में संलग्न रहना चाहिए। उसे विषयों को छोड़ना चाहिए, आराम को छोड़ना चाहिए और परिग्रह को त्यागना चाहिए।"

"जिसमें पूर्वापर विरोध नहीं है, वही शास्त्र है,जो शुरू से अन्त तक एक समान हो।"

उन्होंने बताया - "हम शिखर जी गये थे। रास्ते में १००-१५० बैलों का झुंड मिला। चार मस्त बैल भागे; महाराज की तरफ आये और उनकी तरफ मुँह करके प्रणाम करके खड़े रह गये। देखने वालों के नेत्रों में आँसू आ गये। लोग कहने लगे - इन जानवरों को इतना ज्ञान है कि साधुराज को प्रणाम करते हैं और मनुष्य की इसके विपरीत अवस्था है।" वीरसागर महाराज ने कहा था कि उस परिस्थिति में आचार्य महाराज पूर्ण शान्त थे।

कारुण्य मूर्ति

वे बोले - "आचार्य महाराज ने दक्षिण के जैनों का बड़ा उपकार किया है। उन्होंने पत्थर को रत्न बनाया है। किसी-किसी जगह जैन लोग बलिदान में सम्मिलित होते थे। आचार्य महाराज ने उस समय यह नियम किया था कि जो जीवहिंसा का त्याग करेगा, मिथ्यात्व का त्याग करेगा और पुनर्विवाह का त्याग करेगा, उसके हाथ का ही आहार लेंगे।"

"एक समय की बात है, छिपरी गाँव का पाटील बलिदान संपर्क छोड़ नहीं रहा था। उस समय महाराज ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक यह नियम नहीं करेगा, तब तक मेरे अन्नजल का त्याग है।" स्मरण रहे कि यह उस समय की बात है, जब गाँधीजी के पास सत्याग्रह रूपी हथियार नहीं पहुँचा था। उन्होंने जीवहित के लिए जिस मार्ग को अपनाया था, उसे आजकी दुनिया सत्याग्रह कहती है। "पहिले दिन पाटील पर कोई असर नहीं हुआ। आज महाराज का उपवास है, केवल इसलिए, कि ग्रामनायक ने हिंसा-संपर्क का त्याग नहीं किया। दूसरा दिन आया, फिर भी महाराज आहार को नहीं उठे; क्योंकि पाटील का मन पत्थर की तरह कड़ा है और वह परिवर्तन को तैयार नहीं है। जीवदया से प्रेरित अन्त:करण और पाटील के उद्धार करने में दृढ़प्रतिज्ञ वे साधुराज और कड़े हो गये। सारी बस्ती में गहरी चिन्ता छाई हुई थी। ऐसे अवसर पर वह पाटील चुपके से कोल्हापुर भाग गया। "तीसरा दिन आया, फिर भी महाराज का आहार नहीं हुआ, तब तो सारे ग्रामवासी बेचैन हो गये। कोल्हापुर जाकर लोग पाटील को पकड़कर लाये

और बोले - क्या साधु के प्राण लेना है? क्यों नहीं नियम लेता है। वह वज्रहृदय कोमल बन गया। महाराज के चरणों को प्रणाम कर उसने सर्वदा के लिए पाप का त्याग किया, तब महाराज आहार को उठे। वीरसागर महाराज बोले - "आचार्यश्री के जीवन की ऐसी अनमोल अनेक घटनाएँ हैं। वे अपने ढंग के एक ही थे, उन सदृश श्रेष्ठ आत्मा का दर्शन कहाँ होगा?"

शिष्य बनो

वीरसागर महाराज बोले - "जो अपने को गुरु मानता है, वह उन्नति नहीं कर पाता। शिष्य बनोगे तो तुम्हारा हित होगा। शिष्य बनने पर अपनी गलती मालूम पड़ती है। गुरु बनने पर कैसे पता लगेगा?"

प्रश्न - "आचार्य शांतिसागर महाराज में गुरुपना था या शिष्यपना।"

उत्तर - "हमारे लिए तो वे गुरु थे; किन्तु स्वयं को गुरु नहीं मानते थे। अपने को गुरु मानने वाले का कल्याण नहीं है।"

जैनधर्म अनुभवपूर्ण है

मैंने कहा - "महाराज! आप बड़ी गहरी बात करते हैं?"

महाराज बोले - "जैनधर्म में कौन बात गहरी नहीं है? यदि अनुभव करो, तो पता चले। **जैनधर्म अनुभव की ही तो वस्तु है। वह वाणी का या बुद्धि का वैभव नहीं है। यह अनुभव के रस से भरा है। लोग आज आगम को बुद्धि के अनुकूल बनाते हैं, बुद्धि को आगम के अनुकूल नहीं बनाते, यही बड़ी भूल है।"**

रोग के विषय में अपूर्व दृष्टि

प्रश्न - "महाराज, आपका स्वास्थ्य खराब रहता है, इससे चिन्ता होती है।" उत्तर में महाराज ने यह महत्त्व के शब्द कहे - **"त्यागी को रोग वैराग्य के लिए होता है और भोगी को रोग रोने के लिए होता है।"** इसके सिवाय उन्होंने और कुछ नहीं कहा। ऐसी बात सुनकर समझ में आया कि आचार्य शान्तिसागर महाराज ने इनको अपना उत्तराधिकारी बनाकर कितना उचित कार्य किया। आचार्य महाराज ने किसी के कहने से इन्हें आचार्य नहीं बनाया। उन्होंने मेरे समक्ष कहा था कि "हम अपने स्वतः के संतोष से वीरसागर को आचार्य पद देते हैं।" आचार्य महाराज के पवित्र अन्तःकरण ने वीरसागर महाराज को रत्न रूप में परख लिया था; इसलिए उन्होंने उनको श्रमण संघ के शिरोमणि की प्रतिष्ठा दी थी।

स्वप्न में गुरुदर्शन

प्रश्न - "आचार्य महाराज का कभी स्वप्न में दर्शन होता है क्या?"

उत्तर - "मनींवसे स्वप्नींदिसे - जो बात मन में जमी रहती है, स्वप्न में उसका दर्शन होता है। इस नियमानुसार गुरुदेव का स्वप्न में अनेकबार दर्शन होता है। हमारी उनसे बातचीत भी हुआ करती है।"

शत्रु पर प्रेम

उन्होंने कहा - "आचार्यश्री का जीवन अनमोल था। उनका अनुभव-ज्ञान अद्भुत था।" उन्होंने बताया कि "राजाखेड़ा में जब ५०० गुण्डों के साथ छिद्दी ब्राह्मण आक्रमण के लिए शस्त्रों से सज्जित होकर आने की तैयारी कर रहा था, उस समय आचार्यश्री की अंतरात्मा को विलक्षण प्रकाश मिला। ठंड के दिन थे, गगनमण्डल में कुछ बादल देख उन गुरुदेव ने आदेश कर दिया कि संघ के त्यागी आज कोठरी के भीतर ही ध्यान करेंगे। १५ मिनिट बाद ही उपद्रव आरम्भ हुआ; किन्तु उपद्रवकारी विफल रहे। वे जिन साधुओं पर उपसर्ग करना चाहते थे, वे तो कमरे के अन्दर थे, इसलिए उनकी दुर्भावनाएँ मन की मन में रह गईं। उस समय पुलिस का अधिकारी महाराज के पास आकर बोला - "इस छिद्दी को क्या करना चाहिए? आज्ञा दीजिए।" महाराज ने कहा " मेरी मानोगे क्या?" पुलिस कप्तान ने कहा - "आपकी आज्ञा का हम परिपालन करेंगे।" महाराज बोले - "छिद्दी को छोड़ दो।"

इस प्रकार प्राण लेने वाले पर भी प्रेम का भाव धारण करनेवाले गुरुदेव सचमुच में शान्ति के सागर ही थे।

अचिंत्य आत्मबल

आचार्यश्री में एक दूसरी विशेषता उन्होंने बतलाई, वह था उनका आत्मबल। उनका आत्म-विश्वास अचिन्त्य था। जिनवाणी पर श्रद्धा रखकर आत्मबल के आश्रय से वे अपना मार्ग निर्धारण करते थे। उस समय उनके विरुद्ध यदि सारा संसार हो, तो भी उन्हें उसका भय नहीं था।

शिक्षा

वीरसागर महाराज ने जैनधर्म के महत्त्व की चर्चा करते हुए कहा था - "जैनधर्म का महत्त्व बढ़ाने के लिए हमें गुरुकुल चाहिए, जो हमारे पूर्ण स्वाधीन हो। वहाँ जैनधर्म

को समझने वाले विवेकी सच्चरित्र विद्वान् तैयार करो जो यह बतावें कि जैनधर्म कितना महत्त्वशाली है।" उन्होंने कहा - "हमारा माल खरा है, जिसे लेना है, परीक्षक बन कर ले, परीक्षक बनने की योग्यता साथ में अवश्य चाहिए।" वे कहने लगे - "अपनी संस्थाओं को हम शासन के आधीन कर देते हैं, सरकार स्वामी बनती है। शिक्षा उनकी रहती है। हमारी स्वाधीनता कहाँ रही? हमारी संस्था पूर्णतया हमारे आधीन रहनी चाहिए।"

ऐसे ही विचार स्वर्गीय शान्तिसागर महाराज ने शेडवाल में हमें सुनाए थे। आजकल धार्मिक विद्यालय सरकार से सम्बन्धित होकर कार्य की दृष्टि से जैनत्व रहित होकर नाम के लिए जैन संस्था रह जाते हैं। यदि यही ढंग रहा, तो जिनशासन के ज्ञाताओं का सहसा अभाव हुए बिना न रहेगा। संस्कृति के संरक्षण तथा धर्म प्रभावना के लिए ऐसे त्यागी, परोपकारी और निस्पृही व्यक्तियों को ज्ञान देना चाहिए, जो अपनी वाणी और जीवनी के द्वारा तीर्थङ्करों की शिक्षा को बता सकें।"

अद्‍भुत दृष्टि

वीरसागर महाराज ने कहा - "संतोष के सब गुण गाते हैं; किन्तु हमारा कहना है, जिसके संतोष है, वह सम्यक्त्वी नहीं है।"

प्रश्न - "यह तो बड़ी अद्‍भुत बात आपने कही।"

उत्तर - "पर-पदार्थों के विषय में सन्तोष चाहिए, जो भी वस्तु मिली उसमें संतुष्ट रहना चाहिए; किन्तु ऐसा संतोष आत्मोन्नति के विषय में नहीं रहना चाहिए। आत्मा की उन्नति में यदि संतोष कर लिया, तो सम्यक्त्वी का उपवृंहण अंग नहीं बन सकता।"

"सम्यक्त्वी के भय नहीं रहता; किन्तु देखा जाय, तो संसार का भय उसके पास रहता है। सीता को मरण का भय नहीं था। हरण किये जाने पर मन्दोदरी ने सीता को अबला जान डराना चाहा और कहा कि रावण बड़ा बलवान और वैभवशाली है। उस समय सीता ने निर्भय होकर मन्दोदरी से कहा था -

"तुमने यहाँ आकर कुट्टिनी का काम किया, यह तुम्हारे योग्य नहीं था। तुमने राजा मय के उज्ज्वल वंश को कलंक लगाया।"

उनका तत्त्व-निरूपण बड़ा सुन्दर रहता था। आचार्य शांतिसागर महाराज

कुंथलगिरि में हजारों के द्वारा हल्ला मचने पर भी शांत थे। मैंने कहा था - "महाराज! हल्ला बहुत होता है, इससे आपके ध्यान में विघ्न आता होगा? इस पर उन गुरुदेव ने कहा था - "भीतर शांति है, तब बाहर का हल्ला क्या करेगा?" इसी प्रकार के विचार वीरसागर महाराज की अनुभवपूर्ण वाणी से निकले। वे कहने लगे - "हमारा एकान्त हमारे हृदय में है, बाहर का पदार्थ हमारा क्या कर सकता है? दुर्बल मन वालों के लिए बाहर जाने की आवश्यकता पड़ती है।" वीरसागर महाराज का आध्यात्मिक जगत् का अनुभव भी लगभग ४० वर्ष का हो गया, इसलिए उनकी जीवनी और अनुभव मुमुक्षु के बड़े काम के हैं, उनका हृदय बड़ा विशाल था।

मार्गदर्शन

जयपुर में दस अप्रैल सन् १९५७ में अध्यात्मप्रेमियों के आराध्य तथा असंयमप्रेमी स्वामी जी पधारे थे। उनका भाषण मैंने सुना। भाषण की चर्चा वीरसागर महाराज के समक्ष मैंने चलायी। मैंने कहा - "महाराज! मुझे तो भाषण में रस नहीं आया। 'समझ में आया', शब्द की सैकड़ों बार आवृत्ति मन को बड़ी अप्रिय लगती थी। उनकी 'पिप्पली' का उदाहरण बारबार सामने आता था।" और भी जो बात मुझे ठीक नहीं लगी, मैंने हृदय खोलकर उनके सामने रखदी, जिस प्रकार कोई शिष्य अपने गुरु को अपना हृदय सुना देता है। मेरी दृष्टि किसी भक्त को ठीक न लगे; किन्तु वह मेरी दृष्टि है। जो मुझ पर प्रभाव पड़ा, मैंने गुरुदेव को सुना दिया।

मेरी बात सुनकर वे गम्भीर स्वभाव वाले साधुराज कहने लगे - "पण्डितजी! शास्त्र में स्थितीकरण और उपगूहन दो अंग बतलाए हैं, उनका ध्यान हमेशा रखना चाहिए। सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है कि साधर्मी की बात देख कर उपगूहन अंग को न भूले।"

मेरे कथन से उनके वीतराग मन में प्रसन्नता नहीं हुई। मेरी समझ में आया कि सचमुच में ये साधारण पुरुष नहीं हैं। किसी महापुरुष को २ मिनिट में नहीं समझा जा सकता - 'सोना जानिए कसे, आदमी जानिए बसे' यह सूक्ति अपना गहरा अर्थ रखती है। मुझे एक विद्वान्, वीरसागर महाराज के बारे में अपना अल्पकाल का ऐसा अनुभव सुना रहे थे, जिससे मेरा मन उनके विषय में उज्ज्वल भावों से शून्यसा बन गया था; किन्तु निकट से उनके सर्वांगीण जीवन को देखने पर ऐसा लगा, कि मैं सचमुच में एक महान् आत्मा के चरणों के पास बैठा हूँ। वहाँ सुनने में आया कि वीरसागर महाराज को उष्णता के कारण बहुधा चक्कर आ जाया करते हैं। उसी मूर्छा की स्थिति में भी उनकी अंगुली जाप करती हुई मालूम पड़ती है। ओठ भी पंचपरमेष्ठी के नाम की आराधना करते हैं।

हितशत्रु

उनके एक भक्त-विद्वान्-त्यागी के समक्ष मैंने महाराज से कहा, "आपके सिर में ब्राह्मी तैल सदृश कोई औषधि अवश्य लगना चाहिए।" वे बोले - "हमें अपने शरीर की अवस्था मालूम है। ये हमारे हितैषी बनकर आपको बातें सुनाते हैं। मैं तो इनको अपना हित-शत्रु समझता हूँ।" हितैषी के लिए हित-शत्रु शब्द को सुन कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, इसलिए मैंने पूछा - "आपने यह कैसे कहा?" उत्तर - "ये बताते हैं हित और करते हैं हमारे हित का घात। प्रमाद को बढ़ाने वाले कार्यों की ओर मुझे ले जाना चाहते हैं। उनसे मेरा घात होता है। इसलिए मैंने सोच-समझकर इन्हें शत्रु कहा है।" इसके पश्चात् वे कहने लगे - "दिवाकरजी! मेरे पास एकान्त नहीं है, मैं अनेकान्त दृष्टि से सोचता हूँ।"

पिच्छी की प्रतिष्ठा

आचार्य वीरसागरजी ने पिच्छी धारण करने वाले उच्च त्यागियों को दृष्टिपथ में रखते हुए कहा - "साधु को अपने पदस्थ का हमेशा ध्यान रखना चाहिए।" पिच्छी हाथ में लेकर उन्होंने मुझसे पूछा - "हमारे हाथ में क्या है?" फिर बोले -"इस पिच्छी को हाथ में लेकर जिसने करुणा नहीं की, उसने क्या किया।"वे बोले "हमारा तो यह कहना है, पिच्छी को लजाओ मत।"

इस सूत्र में बड़ा रहस्य भरा हुआ दिखता है। वास्तव में उच्च संयम की श्रेणी पर चढ़कर करुणा के प्रतीक और उपकरण पिच्छी को हाथ में लेने वाले सत्पुरुषों को महाराज की बात सदा दृष्टिपथ में रखनी चाहिए, कि वे ऐसा कोई काम न करें, जिससे पिच्छी की प्रतिष्ठा को धक्का लगे। उसका धारण करना सचमुच में खिलवाड़ नहीं है। साधु का स्वभाव पिच्छी में लगे हुए मयूर पंख के समान कोमल, मृदुल तथा मधुर होना चाहिए।

प्रश्न - "क्या आचार्य शान्तिसागर महाराज सामायिक के पूर्व वीतराग स्तोत्र पढ़ा करते थे।"

उत्तर - "हमारे लिए तो सभी स्तोत्र वीतराग स्तोत्र हैं।"

उनकी वीतराग भक्ति अपार थी। प्रतिदिन अस्सी माला णमोकार मंत्र की जपा करते थे। तीन बजे रात से इनके जप का कार्य प्रारम्भ होता था। शील, संयम, तप, जिनभक्ति तथा आत्मचिंतन की पवित्र सामग्री के द्वारा उनका जीवन निर्मल होता जा रहा था, इसीलिए उनकी बातों में बड़ा रस आता था। उन्हें लोक का भी बड़ा अनुभव था।

वे कहने लगे - "अपने हानि-लाभ का विचार करने वाला बनिया सबसे चतुर होता है। मुमुक्षु को अपने आत्म-हित के बारे में इसी प्रकार सोचना चाहिए।" उन्होंने कहा - "बनियों से स्याना अजब दीवाना।" पश्चात् बोले - "बनिया प्रारम्भ से चतुर रहता है और जाट पीछे समझदारी पाता है।" उनके शब्द थे -"बनियो मूल में स्यानों, जाट आखीर में स्यानों।"

गृह में मूर्ति

मैंने कहा था "महाराज - हमारे पिता जी बहुत वृद्ध हो गये, शरीर शिथिल हो गया, घुटनों में दर्द रहने के कारण जिनमन्दिर जा नहीं सकते, क्या उनकी धर्मसाधना के हेतु घर में जिन भगवान की मूर्ति ला सकते हैं?"

उत्तर में उन्होंने कहा - "अवश्य मूर्ति विराजमान करो।" बाद में उन्होंने एक मराठी की कहावत सुनाई - "ज्याच घरी नाहीं जिना च दर्शन। जनावे श्मशान घर त्याचे - जिनके घर में जिन भगवान की मूर्ति नहीं, वह घर तो श्मशान तुल्य है।"

आगमानुसार प्रवृत्ति

मन्दिर में प्रवेश करते समय प्रत्येक विचारवान गृहस्थ "नि:सही" उच्चारण करता है, उसका लक्ष्य यह है कि जिन भगवान की वन्दनार्थ यदि कोई देवता आया हो, तो वह सूचना पाते ही सामने से अलग होकर पूजक को स्थान दे दे। इस सम्बन्ध में वीरसागर महाराज ने कहा कि - आप लोग तो एक ही समय नि:सही कहते हो और हमें तो अनेक बार नि:सही बोलना पड़ता है।

प्रश्न - "यह कैसे?"

उत्तर - "हम यदि बाहर जाते हैं, लघु या दीर्घशङ्का निमित्त, तो वहाँ हमें नि:सही कहना पड़ता है कि उस स्थल पर यदि कोई देवता हो, तो वह अलग हो जावे। कार्य पूर्ण हो जाने पर हमें "असही" कहना पड़ता है, जो इस बात का सूचक है कि हमारा कार्य पूर्ण हो गया। इस प्रकार आगम की आज्ञानुसार हमें बहुधा इस शब्द का प्रयोग करना पड़ता है।"

उन्होंने कहा - "प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि, अपने पद के अनुसार क्रिया करना चाहिए। अपने पद के अनुसार आचरण करते हुए मृत्यु अच्छी है, अपने पद को छोड़कर जीवन धारण करना योग्य नहीं है।"

इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा – "इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्य शांतिसागर महाराज ने सल्लेखना ली थी; क्योंकि नेत्रों की ज्योति नष्ट होने पर महाव्रती साधु का दयामय जीवन असंभव था। एषणा आदि समितियों का पालन हो नहीं सकता था। जीवन रक्षा करते, तो पद का गौरव नहीं था; इसीलिए जीवन के मोह को धारण कर पद को छोड़ने के बदले इन्होंने पदयुक्त हो सल्लेखना का ग्रहण किया।"

प्रश्न – "महाराज, यदि उच्च त्यागी मोटर, रिक्शा आदि का उपयोग करें, तो उसमें क्या दोष है?"

उत्तर – "मोटर रिक्शा आदि का उपयोग व्यक्ति को पराधीन बनाता है। जैनधर्म स्वाधीनता का संदेशवाहक है। वह 'पर' की अधीनता छुड़ाकर 'स्व' की अधीनता को स्वीकार करने का मार्ग सुझाता है।"

प्रश्न – "सन्ध्या के समय यदि शास्त्र का स्वाध्याय किया जाय, तो क्या दोष है?"

उत्तर – "अकाल में अध्ययन करना आगम में निषिद्ध है। सन्ध्या का काल भगवान की दिव्यध्वनि की बेला है। भगवान ने क्या कहा, यह सोचने का समय है, पढ़ने का समय नहीं।"

मन्त्र चर्चा

भक्तामर स्तोत्र पर इनका प्रारम्भ से ही ममत्व रहा है। वे कहने लगे – "भक्तामर में बहुत लालित्य है, उसका एक-एक काव्य स्वयं मंत्ररूप है। मन्त्र की सिद्धि के लिए मुद्रा आदि का ध्यान रखना भी उपयोगी है।"

प्रश्न – "महाराज, मुद्रा में क्या तत्त्व है?"

मुद्रा

उत्तर – "मुद्रा में बहुत कुछ है। हाथ उठाकर पाँचों अँगुली किसी के सिर के सामने रखने पर उसे आशीर्वाद मुद्रा मानकर वह व्यक्ति सन्तोष प्राप्त करता है; किन्तु यदि उनके स्थान में एक तर्जनी को ही उठाया जावे या दिखाया जावे, तो वह धमकी का द्योतक बनती है। ऐसा करना बैर का कारण बन जाता है। इससे मुद्रा का महत्त्व नहीं भूलना चाहिए।"

प्रश्न – "महाराज! णमो अरहंताणं अच्छा लगता है या 'अरिहंताणं'?"

अरहंताणं

उत्तर - "अरि शब्द, मोह का वाचक है। उसके नाश करने वाले जिनेन्द्र का द्योतक अरिहंताणं है। अरहंत में आगत 'अ' शब्द अरि रूप मोहनीय का द्योतक है और र शब्द अन्तराय (रहस्य), ज्ञानावरण, दर्शनावरण का द्योतक है। इस प्रकार अरहंत में चार घातिया कर्म के नाश करने वाले जिनेन्द्र का स्वरूप कहा गया है।"

अनादि मूलमन्त्र

प्रश्न - "कुछ लोग कहते हैं, यह णमोकार मन्त्र तो पुष्पदन्त आचार्य ने बनाया, क्या यह ठीक है?"

उत्तर - "यह अनादि मूलमन्त्र है। साधुओं के प्रतिक्रमण आदि में णमोकार मन्त्र का निरन्तर उपयोग होता है। सामायिक प्रकीर्णक का मङ्गलाचरण यह णमोकार मन्त्र है। सामायिक दंडक के प्रारम्भ में भी यह मन्त्र है। और भी कारणों से इसे अनादि मूलमन्त्र मानना चाहिए।" 'अनादिमूलमंत्रोऽयं'

सम्यक्त्व खेल नहीं है

प्रश्न - "महाराज! आज सम्यक्त्व का बाजार बड़ा गरम है। उसका हर जगह नाम सुनाई पड़ता है सो क्या बात है?"

उन्होंने उत्तर में सूत्र रूपसे ये शब्द कहे - "सम्यक्त्व खेल नहीं है, वह बहुत बड़ी चीज है।"

प्रश्न - "आज हरएक आदमी कहने लगता है, अमुक साधु में इस प्रकार दोष हैं, उसको ठीक करना समाज का कर्त्तव्य है। इस विषय में आपका क्या कहना है।"

उत्तर - "पहिले एक बार एक विकट प्रसङ्ग आ चुका है, मुनि का बहिष्कार कौन कर सकता है? मैंने कहा था - "मुनि के बहिष्कार करने का तुमको, मुझको अधिकार नहीं है। राजा को या आचार्य शांतिसागर जी को (जो उस समय जीवित थे) इस विषय में अधिकार है।"

अतिरेक

वे कहने लगे - "आजकल लोग अतिरेक में लग गये हैं। हर बात में अतिरेक होने से ही गड़बड़ी पैदा हो गई है। कोई किसी की नहीं सुनता, सब अपनी-अपनी सुनाना चाहते हैं।"

प्रश्न - "ऐसी स्थिति में सत्पुरुष का क्या कर्त्तव्य है?"

उत्तर - "ऐकावे जना चे, करावे मना चे" - लोगों को सुनो और अन्त: करण के अनुसार करो। गाँधीजी भी तो अन्तरात्मा की आवाज को बहुत महत्त्व दिया करते थे।

प्रमोद तथा प्रमाद में अन्तर

महाराज कहने लगे - "आप लोगों को देखकर हमारे मन में प्रमोद पैदा होता है, प्रमोद प्रेम का कारण है। प्रमाद और प्रमोद में थोड़ा ही अन्तर है - प्रमोद उत्कर्ष तथा उन्नति कराता है, प्रमाद बला है।" इस प्रकार उनकी वाणी में नई-नई बातें निकलती थीं।

पशु बलिदान के विषय में उन्होंने कहा था कि - "जरा से शब्द के हेरफेर से यह गड़बड़ी हुई। शास्त्र कहता था 'माष द्वारा बलि' - अर्थात् पूजन करे। माष का अर्थ था धान्य। इस मूर्धन्य षकार ने दन्ती सकार का रूप धारण कर लिया और उसका अर्थ बन गया मांस से बलि। इस प्रकार इस जरा से 'ष' के 'स' परिवर्तन ने अवर्णनीय अनर्थ कर दिया।

वृद्ध

वृद्धों की सङ्गति आत्मकल्याण के लिए मङ्गलदायिनी होती है। महाराज ने कहा - "जो ज्ञान में, गुण में, तप में तथा वय में वृद्ध हो उसे वृद्ध कहना चाहिए।" उनके ये शब्द अर्थपूर्ण हैं - "बगला सा माथा वाला श्वेत केशयुक्त पुरुष वृद्ध नहीं है।"

सम्यक्त्वी पुरुषार्थ मूर्ति है

उन्होंने कहा - "गुणग्राहकता धारण करो। छोटी वस्तु में भी बड़े-बड़े गुण रहते हैं। कुत्ते को ही लो - स्वामी की भक्ति, संतोष का सद्भाव तथा ईमानदारी आदि गुण उसमें हैं। दूसरे के दोषों को सदा मत देखो, अपने दोषों को देखो। दूसरों के दोषों को देखने वाला उन्नति नहीं करता।"

"सम्यक्त्वी अपने दोषों को देखता है।" महाराज ने कहा - "सम्यक्त्वी में यह गुण पाये जाते हैं। वह भोगों से उदासीन रहता है। धर्म के कार्यों में उत्साह रखता है। संसार से भीरुता धारण करता है, वह पुरुषार्थ की मूर्ति रहता है।"

विचित्र प्रश्न

"एक बार एक सांप्रदायिक गेरुआ वस्त्र धारण कर आचार्य महाराज के पास आया और उसने आचार्य महाराज से एक विचित्र प्रश्न पूछा - 'सब वस्त्र त्यागकर आप नग्न क्यों बने हैं?' इस प्रश्न को सुनकर आचार्य महाराज पूर्ण शांत रहे। उन्होंने कहा था; "भाई! यह तो बताओ, आपने गेरुआ वस्त्र क्यों धारण किया?" उस विद्वान् ने कहा - "हमारे शास्त्र की आज्ञा है कि साधु को गेरुआ वस्त्र रखना चाहिए।"

आचार्य महाराज ने कहा - "आपका शास्त्र गेरुआ वस्त्र रखने की आज्ञा देता है; किन्तु हमारा शास्त्र दिगम्बर मुद्रा धारण करने की बात बताता है। आपका शास्त्र आपके लिए मान्य है, हमारा शास्त्र हमारे लिए मार्गदर्शन है।" इस उत्तर से महाराज वीरसागरजी ने सुनाया कि वे विद्वान् अवाक् हो गये और उनके मन में महाराज के प्रति आदर का भाव जगा।

मार्मिक समाधान

आचार्य महाराज के बारे में उन्होंने बताया, "एक बड़े जैन विद्वान् मुनिपद धारण के प्रतिकूल धारणा वाले थे। वे शांतिसागर महाराज के पास आये। उस समय वे विद्वान् अपनी अश्रद्धा व्यक्त करते हुए मुनिपद के विरुद्ध अनेक बातें कहने लगे। शान्तमूर्ति आचार्य महाराज ने कहा - "पं. जी! आप एक वर्ष के लिए मुनि की चर्या पाल लो। उसको पालन करने के बाद अनुभव के आधार पर आप जो भी बात कहेंगे, उसे हम पालन करने को तैयार रहेंगे।" उनके इस उत्तर को प्राप्तकर वे पंडितजी नतमस्तक हो चुप हो गये।"

वीरसागर महाराज कहने लगे - "आचार्य महाराज की तपस्या की बात मत पूछो। उन्होंने कठोर से कठोर संयम की साधना की थी। उन्होंने सिंहविक्रीड़ित नाम का तप किया। सब रसों का त्याग कर दिया था। उनका सारा जीवन उज्ज्वल संयम की साधना में संलग्न रहता था।

अलौकिक प्रभाव

वीरसागर महाराज ने बताया - "उनका प्रभाव अलौकिक था। मैंने और खुशालचन्दजी पहाड़े (चन्द्रसागर जी) ने उनके कोन्नूर में दर्शन किये थे। उन्हें देखते ही हम दोनों के मन पर क्या प्रभाव पड़ा, हम नहीं कह सकते। उन्हें देखकर हमारा मन यही बोला कि ऐसे गुरु को छोड़कर अब नहीं जाना चाहिए। उनके दर्शन से अपने आप हमारे

परिणाम संयम की ओर वृद्धिंगत हुए। उन्होंने हमें प्रेरणा तक नहीं की किन्तु उनका आध्यात्मिक प्रभाव अन्तःकरण को प्रबल प्रेरणा प्रदान करता था।"

अद्भुत परिवर्तन

महाराज के लोकोत्तर प्रभाव का उल्लेख करते हुए वीरसागर महाराज ने बताया; 'एक स्त्री बड़े भीषण स्वभाव की और उद्दण्ड प्रकृति की थी। उसने आचार्य महाराज को देखा। उसका जीवन इनकी तपः पुनीत मुद्रा से महान् प्रभावित हुआ और उसके भावों में बड़ी शान्ति आ गई। उसने क्षुल्लिका के व्रत धारण कर लिये थे।"

चन्द्रसागरजी का संस्मरण

अपने और चन्द्रसागर जी के सम्बन्ध में वीरसागर महाराज ने एक मधुर बात सुनाई कि "चर्चा के समय पर हम दोनों में खूब विवाद चलता था; किन्तु पश्चात् हम दोनों बड़े स्नेह से बातें करते थे। चन्द्रसागरजी से मैंने कहा था, मेरी दृष्टि बन गई है कि मैं गुरु के विरुद्ध कुछ भी नहीं बोलूँगा। गुरु की आज्ञा चारित्रपालन की है। चारित्र के विषय में जो कुछ वे कहेंगे, वह मैं करूँगा। यदि वे कहें कि पीछी रख दो,तो इसके लिए भी मैं तैयार हूँ।" उन्होंने बताया - "आचार्य समन्तभद्र ने रोगाक्रान्त शरीर होने पर गुरु की आज्ञा से पीछी रख दी थी। गुरु का आदेश मिलने पर प्रश्न नहीं करना चाहिए।" इस प्रकार गुरु के प्रति उनकी अपार भक्ति रही। उनकी भक्ति सचमुच में विलक्षण थी।

जब कभी कोई मुनि वीरसागर जी को आचार्य कह देता था तो उनके नेत्रों में अश्रु आ जाते थे और वे कहने लगते - "मेरे पिता सदृश गुरु विद्यमान हैं, तब मुझे आचार्य कैसे कहते हो? क्या मेरे गुरु के विषय में तुम अनिष्ट कल्पना करते हो? उनके जीवन काल में मैं आचार्य नहीं हो सकता। स्वयं विशाल संघ के संचालक होते हुए भी उन्होंने अपने को गुरु नहीं माना, तो प्रकृति का ऐसा सुयोग मिला कि शांतिसागर महाराज ने उन्हें ही गुरुपद पर आसीन कर दिया।

गुरुजी बन गए

इस प्रसङ्ग में एक बात और ज्ञातव्य है। वीरसागर जी को गृहस्थ अवस्था में लोग 'गुरुजी' कहकर पुकारा करते थे। इनका नाम हीरालाल था। इन्होंने ऐलक पन्नालाल जी से ब्रह्मचर्य दीक्षा ली थी। यह भी आचार्य महाराज की तरह बालब्रह्मचारी थे। कैसी अद्भुत बात थी, जिन्हें नामनिक्षेप से गुरुजी कहा जाता था, वे भावनिक्षेप से सचमुच में विशाल जैन संघ के द्वारा वन्दनीय गुरुजी बन गये थे।

स्वतंत्रता

एक दिन मैंने पूछा - "महाराज! देश को स्वतन्त्रता मिली है। धर्म के विषय में आपको स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहिए।"

वीरसागर महाराज ने कहा - "जितनी स्वतन्त्रता जैन धर्म में है, उतनी अन्यत्र नहीं। यह तो स्वतन्त्रता से परिपूर्ण धर्म है। इसका कथन सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने किया है। उन्होंने त्रिकाल के जीवों को लक्ष्य करके तत्त्व का प्रतिपादन किया है। भगवान ने वर्तमान काल को लक्ष्य करके कहा है कि इस काल में पाँच प्रकार के मुनियों में से दो प्रकार के ही मुनि होते हैं। पुलाक और बकुश जाति के मुनि ही पाये जाते हैं। निर्ग्रन्थ, स्नातक, आदि भेदरूप मुनि नहीं पाये जाते।

भगवान ने यह भी कहा है "कि इस काल में मोक्ष जाने वाले साधु नहीं होंगे।" भगवान का कथन कभी मिथ्या नहीं होता। उन्होंने यह भी कहा कि जैन मुनि अपनी बात नहीं कहता। जो अपने मन की बात कहता है, वह जैन साधु नहीं है। जैन मुनि अपनी बात नहीं, जिनेन्द्र भगवान की बात कहता है।"

प्रश्न - "महाराज! आजकल अन्य लोगों को जैनधर्म में रुचि नहीं है, इसका क्या कारण है?"

उत्तर - "जौहरी की दूकान में बहुत थोड़े ग्राहक रहते हैं, फिर भी उसका अर्थलाभ विपुल मात्रा में होता है। सागभाजी बेचनेवाले की दूकान पर बड़ी भीड़ लगी रहती है, फिर भी उसे बहुत थोड़ी ही आमदनी होती है। इसी प्रकार वीतराग भगवान का धर्म है। बिना निर्मल परिणाम हुए उसे पालन करने को लोगों की तबियत नहीं होती।"

सार्व धर्म

प्रश्न - "जैनधर्म सार्वधर्म है, तो सबको पालन करने का अधिकार मिलना चाहिए। यदि सबको जैनी नहीं बनाते हो, तो जैनधर्म सार्वधर्म नहीं बनेगा। ऐसी स्थिति में सार्वधर्म माने जाने वाले जैनधर्म वालों के मन्दिर में शूद्रों का प्रवेश क्यों रोकते हैं?"

उत्तर - "कोई नहीं रोकता। जैन बनने की रोक-टोक कहीं नहीं है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि मन्दिर अजायबघर नहीं, वह धर्म का आयतन है। जैनधर्म को माननेवाला उसमें जायगा। अपनी योग्यता के अनुसार प्रत्येक को आना चाहिए।"

प्रश्न – "शूद्र की कितनी योग्यताएँ हैं?"

शूद्र की योग्यता

उत्तर – "शूद्र की बात तो दूसरी, वह तो मनुष्य है। पशु पर्यायवाला मेंढक तक जैन माना गया है, उसको जैन बनने से किसी ने रोका क्या? वह फूल मुख में रखकर भगवान के दर्शन को जा रहा था। ऐसा तुम नहीं कर सकते। जैनधर्म का कथन व्यवस्थित और नियमानुसार है।

पहिले जैन बनो और देखो जैन कानून तुम्हारे विषय में क्या आज्ञा देता है। आचार्य शांतिसागर महाराज ने अनेक शूद्रों को जैनी बनाया था। वे जिनमन्दिर में प्रवेश न करके जिनमन्दिर के दर्शन करके प्रसन्न थे। वे मन्दिर के भीतर नहीं गये और कहते थे कि पूर्व भव में महान् पाप कर हमने यह अवस्था पाई है। अब यदि जिनभगवान की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करेंगे, तो आगे हमारी क्या गति होगी?इसलिए अपनी मर्यादा के भीतर प्रवृत्ति करना चाहिए।"

ज्ञान मत बेचो

वीरसागर महाराज गृहस्थ जीवन में ब्र. हीरालालजी कहलाते थे। उस समय वे अवैतनिक रूप से धर्मशिक्षण का कार्य करते थे। उनके पूर्व विद्यार्थी चिंतामणि जैन जालना ने बताया कि वीरसागर महाराज ने फुलेरा में मुझसे कहा था - "तुम पूजा, विधान आदि कराते हो, तुम्हें उसका मूल्य नहीं ठहराना चाहिए। जो भेंट श्रावक देवे, उसमें ही आनन्द मानना चाहिए। अपनी अनमोल विद्या की कीमत नहीं करना चाहिए। तुमने कहा इतने लेंगे, इसका अर्थ है तुमने विद्या बेच दी। ऐसा नहीं करना चाहिए।"

इसलिए आवश्यक है कि आज पवित्र आदर्शों की ओर व्यक्ति तथा समाज का ध्यान जाना चाहिए।

आचार्य वीरसागर महाराज प्रात:स्मरणीय सत्पुरुष हो गये।

चारित्र चूड़ामणि नेमिसागर महाराज

आचार्य महाराज तपोमूर्ति थे। उनके शिष्य नेमिसागर महाराज भी बहुत सरल तथा तपःपुनीत जीवन समलंकृत हैं। कहते हैं, हजारों लोगों की दृष्टि के समक्ष ही अपने अद्भुत प्रदर्शनों द्वारा जादूगर बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी चकित कर दिया करता है। आध्यात्मिक जादूगर के रूप में आचार्य महाराज ने जिनेन्द्र शासन से पूर्ण विमुख नेमण्णा नाम के कुड़ची के व्यापारी की जीवनी को बदल दिया। वे ही आज परम श्रद्धालु, श्रेष्ठ तपस्वी, अद्वितीय गुरुभक्त १०८ परम पूज्य नेमिसागर महाराज के रूप में मुमुक्षुवर्ग का कल्याण कर रहे हैं। उन्हें आचार्य महाराज से मुनि दीक्षा लिये ४४ वर्ष हो गए। एक उपवास, एक आहार का क्रम प्रारंभ से चलता चला आ रहा है। इस प्रकार नर जन्म का सत्ताईस वर्ष का समय उपवासों में व्यतीत हुआ। इस के ८८५५ दिन होते हैं। तीस चौबीसी व्रत के ७२० उपवास किये। कर्मदहन के १५६ तथा चारित्रशुद्धि व्रत के १२३४ उपवास हुए। दशलक्षण में पाँच बार दस-दस उपवास हुए। अष्टाह्निका में तीन बार आठ-आठ उपवास हुए। इस प्रकार २४ उपवास किये। लौणंद में महाराज नेमिसागर जी ने सोलहकारण के सोलह उपवास किये थे।

इस प्रकार उनकी तपस्या अद्भुत है। दो, तीन, चार उपवास तो जब चाहे तब करते हैं। अज्ञानी विषयासक्त संसार खाने-पीने में मजा मानता है। चारित्र-चूड़ामणि नेमिसागर महाराज को उपवास में आनंद आता है। बिना आत्मानंद के कौन अपने ५४ वर्ष के साधु जीवन के बहु भाग को उपवासों में व्यतीत करता? अन्य साधुओं में भी उपवास की प्रवृत्ति पाई जाती है; किन्तु उन लोगों में भी विश्व की दृष्टि से सोचा जाय, तो नेमिसागर महाराज के सामने खड़ा होने वाला एक भी व्यक्ति न मिलेगा। तपस्या के क्षेत्र में दिगम्बर जैन साधुओं में इस समय ये ही शिरोमणि हैं। भौतिक विकास के कारण अहंकार के ज्वालामुखी पर नग्न-नर्तन करने वाले देशों के समक्ष भारत, नेमिसागर महाराज सदृश विभूति को ही उपस्थित कर सकता है और पूछ सकता है कि तुम्हारे पास ऐसी ज्योतिर्मयी मूर्ति है क्या? कौन उत्तर देगा? जड़वाद के राक्षस के पादार्चन करने वाले राष्ट्र क्या उत्तर देंगे? भारत में भी अन्य लोग अपने हृदय पर हाथ रखकर सोचें कि उनमें शांत भाव, आत्मचिंतन, पवित्र साधना पूर्वक दस हजार से भी अधिक उपवास करने वाली नेमिसागर महाराज सदृश निष्कलंक चरित्र कोई अन्य विभूति है क्या? कौन उत्तर देगा? कोई हो, तो उत्तर मिले। नेमिसागर महाराज तपस्या के क्षेत्र में सब को निरुत्तर

बनाते हुए अनुत्तर है। महापुराण में लिखा है - 'तपः सूते महत्फलम्' यह तपस्या महान् फलों को उत्पन्न करती है। इससे महान् निर्जरा होती है, तथा श्रेष्ठ पुण्य बंध होता है। आज नेमिसागर महाराज का नाम सार्थक लगता है। तपस्या के क्षेत्र में भगवान नेमिनाथ तीर्थंकर का जीवन भी लोकोत्तर ही नहीं लोकोत्तम रहा है। उनका नाम धारण करने वाली निर्ग्रन्थ मुद्राधारी आत्मा का जीवन भी आध्यात्मिक सुवास-संपन्न है।

महातपस्वी साधुराज श्री १०८ नेमिसागर महाराज के पास बम्बई में सन् १९५८ तथा १९५९ के दशलक्षण पर्व में पहुँचकर अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात कीं। उनसे तत्त्वाभ्यासी वर्ग को विशेष लाभ होगा, कारण नेमिसागर महाराज उच्चकोटि की साधना में संलग्न तपस्वी हैं। १७ सितम्बर १९५८ को मैंने उनके दर्शन किए थे। आचार्य शांतिसागर महाराज के जीवन संबंधी सामग्री को लक्ष्य कर मैंने उन गुरुदेव से चर्चा प्रारंभ की।

आचार्य महाराज से परिचय

उन ७६ वर्ष के वृद्ध साधुराज ने ये महत्त्वपूर्ण शब्द कहे थे - "हमारा और आचार्य महाराज का ५० वर्ष पर्यन्त साथ रहा। चालीस वर्ष के मुनि जीवन के पूर्व मैंने गृहस्थावस्था में भी उनके सत्संग का लाभ लिया था। आचार्य महाराज कोन्नूर में विराजमान थे। वे मुझ से कहते थे - 'तुम शास्त्र पढ़ा करो। मैं उसका भाव लोगों को समझाऊंगा।" वे मुझे और बंडू को शास्त्र पढ़ने को कहते थे। मैं पांच कक्षा तक पढ़ा था। मुझे भाषण देना नहीं आता था। शास्त्र बराबर पढ़ लेता था, इससे महाराज मुझे शास्त्र बांचने को कहते थे। मेरे तथा बंडू के शास्त्र बांचने पर जो महाराज का उपदेश होता था, उससे मन को बहुत शांति मिलती थी। अज्ञान का भाव दूर होता था। हृदय के कपाट खुल जाते थे। उनका सत्संग मेरे मन में मुनि बनने का उत्साह प्रदान करता था। मेरा पूरा झुकाव गृह त्यागकर साधु बनने का हो गया था।"

पिताजी से चर्चा

एक दिन मैंने अपने पिताजी से कुड़ची में कहा - "मैं चातुर्मास में महाराज के पास जाना चाहता हूँ।"

वे बोले - "तू चातुर्मास में उनके समीप जाता है, अब क्या वापिस आता है?" "पिताजी मेरे जीवन को देख चुके थे, इससे उनका चित्त कहता था कि आचार्य महाराज का महान् व्यक्तित्व मुझे संन्यासी बनाये बिना नहीं रहेगा। यथार्थ में हुआ भी ऐसा।"

जीवनधारा में परिवर्तन

"चार माह के सत्संग ने मेरी जीवनधारा बदल दी। मैंने महाराज से कहा - "महाराज! मेरे दीक्षा लेने के भाव हैं। अपने कुटुम्ब से परवानगी लेने का विचार नहीं है। घरवाले कैसे मंजूरी देंगे? मुफ्त में नौकर मिलता है, जो कुटुम्ब की सेवा करता रहता है, तब फिर परवानगी कौन देगा?"

महाराज ने कहा - "ऐसा शास्त्र में कहा है कि आत्मकल्याण के हेतु आज्ञा प्राप्त करना परम आवश्यक नहीं है।"

"मेरे दीक्षा लेने के भाव अठारह वर्ष की अवस्था में ही उत्पन्न हो चुके थे। उसके पूर्व की मेरी कथा बड़ी अद्भुत थी।"

पूर्व जीवन

नेमिसागर महाराज का पूर्व जीवन सचमुच में आश्चर्यप्रद था। उन्होंने यह बात बताई थी - "मैं अपने निवास स्थान कुड़ची ग्राम में मुसलमानों का बड़ा स्नेह पात्र था। मैं मुसलिम दरगाह में जाकर पैर पड़ा करता था। सोलह वर्ष की अवस्था तक मैं वहाँ जाकर ऊदबत्ती जलाता था। शक्कर चढ़ाता था।"

"जब मुझे अपने धर्म की महिमा का बोध हुआ, तब मैंने दरगाह आदि की तरफ जाना बन्द कर दिया। मेरा परिवर्तन मुसलमानों को सह्य नहीं हुआ। वे लोग मेरे विरुद्ध हो गए और मुझे मारने का विचार करने लगे।"

स्थान परिवर्तन

"ऐसी स्थिति में अपनी धर्म-भावना के रक्षण निमित्त मैं कुड़ची से चार मील की दूरी पर स्थित ऐनापुर ग्राम में चला गया। वहाँ के पाटील की धर्म में रुचि थी। वह हम पर बहुत प्यार करता था। इससे मैंने ऐनापुर में रहना ठीक समझा।"

रामू के साथ खेती

"अपने जीवन निर्वाह के लिए मैंने, रामू ने (जो बाद में कुंथुसागर महाराज के रूप में प्रसिद्ध हुए) तथा एक और व्यक्ति ने मिलकर ठेके पर जमीन ली।"

"आचार्य महाराज नसलापुर में थे। मैं उनके पास एक माह रहा था। उसके पश्चात् महाराज चातुर्मास के हेतु ऐनापुर पधारे। मैं हमेशा महाराज के पास रहता था।

खेती का कुछ भी ध्यान नहीं था। उनके पास मन ऐसा लग गया था कि मुझे अपने भविष्य का कुछ भी ध्यान नहीं था। मेरी सारी स्थिति से महाराज परिचित थे।''

वे बोले - ''तुमने बिना कारण खेती में पैसा डाल दिया। ऐसा क्यों किया?'' ''मैं और रामू महाराज के पास अधिक समय देते थे। हमारा भाव दीक्षा लेने का हो गया था, इससे संसार में फँसाने वाले आरंभ की ओर हमारा चित्त नहीं लगता था।''

रामू (कुंथुसागरजी) के साथ शर्त

''चातुर्मास के पश्चात् महाराज को हमने और रामू ने शेडवाल पर्यन्त पहुँचाया। उस समय शेडवाल में दिगम्बर जैन महासभा का उत्सव होने वाला था। मैंने और रामू ने एक दूसरे के हाथ पर हाथ मारकर यह शर्त की थी कि छह माह के भीतर अवश्य दीक्षा लेंगे।''

मैंने नेमिसागर महाराज से पूछा - ''आचार्य महाराज की ऐसी कौनसी बात थी, जिससे आपका मन ममता के एक मात्र केन्द्र गृह तथा परिवार के परित्याग के लिए तैयार हो गया? साधु का जीवन पुष्प-शय्या नहीं है। वह कठिन तपस्या परिपूर्ण है।''

आचार्य महाराज की वाणी

नेमिसागर महाराज ने बताया - ''आचार्य महाराज ने निर्ग्रन्थ दीक्षा नहीं ली थी। वे क्षुल्लक थे। मैं और बंडू उनके पास तेरदाल में रहे थे। बंडू शास्त्र पढ़ता था। मैं सुनता था। भगवती आराधना, तत्त्वार्थसार आदि ग्रंथों का स्वाध्याय हो चुका था।

''तेरदाल से बिहार कर महाराज कुड़ची ग्राम में आए। उनका आहार हमारे घर में हुआ। आहार के उपरान्त वे बोले - ''तुम्हारी भक्ति, पूजा, अर्चा आदि कार्य गज के स्नान तुल्य हैं? देखो! पूजा आदि सत्कार्यों के द्वारा तुमने निर्मलता प्राप्त की। यह तो स्नान हुआ। इसके पश्चात् तुमने आरंभ के कार्यों में पड़कर पाप का संचय किया। इसके द्वारा तुमने अपने ऊपर फिर से मिट्टी डाल दी। ऐसा गृहस्थ का जीवन होता है।'' यथार्थ में गृहस्थ की अवस्था में सावधानी रखते हुए भी प्रमाद होता है, इसी कारण सर्व परिग्रह त्यागी दिगम्बर अवस्था धारी मुनि पदवी प्राप्त किए बिना सच्चे सुख का लाभ असंभव कहा गया है।'' आत्मानुशासन में कहा है -

सर्वं धर्ममयं क्वचित् क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकम्।
क्वाप्येतत् द्वयवत् करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि॥

तस्मादेव तदंध-रज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा।
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हित: गेहाश्रम: सर्वथा ॥४१ ॥

गृहस्थ जीवन में कभी-कभी पूर्णतया धर्ममय कार्य होते हैं, कभी-कभी प्राय: पापपूर्ण कार्य हुआ करते हैं। कभी-कभी धर्ममय और पापमय कार्यों की मिश्र अवस्था बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुषों की पाई जाती है। अत: यह कार्य अंधे की रस्सी बटने सदृश है, जिसकी बटी हुई रस्सी को बकरी चरती जाती है। यह गज-स्नान समान है अथवा यह मत्त तथा पागल व्यक्ति की चेष्टा के समान कार्य है। यथार्थ बात यह है कि गृहस्थावस्था में सच्चा हित नहीं बन पाता।[१] आचार्य का भाव यह है कि पूर्ण अविनश्वर सुख का मार्ग मुनिपदवी को धारण करना है। उन्होंने यह कहा था - "नंदिमित्र की कथा का मेरे जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह मुझे बहुत प्रिय लगती थी। उससे मेरे भावों को बहुत प्रेरणा प्राप्त हुई।"

नंदिमित्र की कथा से प्रभावित

पुण्यास्रव कथाकोष में नंदिमित्र के सम्बन्ध में यह बताया है, कि जिन सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी की शरण में मुनिदीक्षा ली थी, वे ही पूर्वभव में नन्दिमित्र थे। अवधिज्ञानी मुनिराज ने चंद्रगुप्त को पूर्वजन्म की कथा इस प्रकार बताई थी - "पलासकूट ग्राम में देविल वैश्य के घर पुण्यहीन पुत्र नंदिमित्र ने जन्मधारण किया। माता-पिता ने उसे घर से निकाल दिया। वहाँ से चल कर वह अवन्ति देश में विद्यमान वैदेश नगर में पहुँचा। उसने नगर के बाहर एक काष्ठकूट नाम के लकड़ी बेचनेवाले को देखा।

नन्दिमित्र ने काष्ठकूट से कहा कि - तुम लकड़ी का जितना बोझा बाजार में ले जाते हो उससे चौगुना बोझा प्रतिदिन मैं लाकर दूँगा। यदि तुम मेरे परिश्रम के बदले में मुझे भोजन दिया करोगे, तो मैं उक्त काम करने को तैयार हूँ।

काष्ठकूट ने नंदिमित्र से लकड़ी का बोझा ढोने का काम कराना प्रारम्भ कर

---

1. The household stage makes the life of even those, who are rich in wisdom, sometimes all meritorious, sometimes all sinful and sometimes both; it is thus like the making of a rope by the blind or the bathing of an elephant or the act of a mad man. It is not wholly beneficial.

Eng. Trans. of Atmanushashan by Justic J.L. Jaini

दिया। काष्ठकूट के आदेशानुसार उसकी स्त्री जयघंटा नंदिमित्र को थोड़ा-सा भोजन दिया करती थी। अभागा नंदिमित्र इस प्रकार जीवन व्यतीत कर रहा था। स्त्री ने सोचा कि इस बेचारे नंदिमित्र के परिश्रम के कारण बहुत आमदनी हो रही है; किन्तु हमने इसे एक दिन भी पेट भर भोजन नहीं दिया। यह ठीक नहीं है। इस भावना से प्रेरित हो जयघंटा ने नंदिमित्र की इच्छानुसार उसे उस दिन घी, दूध आदि से निर्मित भरपेट भोजन कराया। यह बात जब पतिदेव कृपणराज काष्ठकूट को ज्ञात हुई, तब उसे अपार क्रोध आया। उसने जयघंटा को खूब पीटा।

नंदिमित्र ने देखा कि उसके कारण बेचारी जयघंटा को महान् कष्ट प्राप्त हुआ, इसलिए वह वहाँ से निकल गया। दूसरे दिन वह लकड़ी का भारी गट्ठा लेकर बाजार में पहुँचा। पापोदय से अभागे नंदिमित्र के गट्ठे की ओर कोई देखता ही नहीं था। अन्य लकड़ी बेचनेवालों के छोटे-छोटे गट्ठे तो बिकते जाते थे; किन्तु नंदिमित्र से उसके गट्ठे के बारे में किसी ने बात भी नहीं पूछी। क्षुधा जनित व्याकुलता बढ़ती जाती थी। वह किंकर्तव्य विमूढ़ था। इतने में एक विशेष बात हुई।

विनयगुप्त मुनिराज

महातपस्वी मासोपवासी दिगम्बर मुद्राधारी विनयगुप्त मुनिराज आहार लेने के लिए वहाँ से जा रहे थे। मंदबुद्धि नंदिमित्र ने सोचा कि यह व्यक्ति तो मुझसे भी अधिक निर्धन है, क्षीण शरीर है। इसके पास तो लज्जा निवारण हेतु वस्त्र भी नहीं हैं। चलो; देखें तो सही, यह कहाँ जा रहा है और क्या करता है? नंदिमित्र ने अपना वजनदार लकड़ी का गट्ठा वहीं छोड़ दिया और वह मुनिराज के पीछे हो लिया।

उस दिन वैदेशपुरी के नरेश ने भक्तिपूर्वक उन महामुनि को आहार कराया। मासोपवासी विनयगुप्त साधुराज का निरन्तराय आहार होने से देवताओं ने पंचाश्चर्य किये। नंदिमित्र मुनिराज के साथ में गया था; इसलिए राजा ने सोचा कि यह कोई श्रावक है, जो इन मुनीश्वर के साथ रहता है।

नंदिमित्र को सम्मानपूर्वक श्रेष्ठ भोजन प्राप्त हुआ। उसके आनन्द की सीमा नहीं थी। वह मुनिराज के पीछे-पीछे जंगल में चला गया।

नंदिमित्र ने मुनिराज से कहा - "नाथ! मुझे अपने समान बना लीजिए।" मुनिराज ने सोचा कि यह भव्य है और अल्पायु वाला है। उन्होंने उसके कल्याण को सोचकर उसे पंचनमस्कार मंत्र सिखाकर मुनि दीक्षा दे दी।

जब ये नवीन मुनि नंदिमित्र आहार के हेतु निकले, तो श्रावकों ने बड़ी भक्ति पूर्वक इनसे भोजन-पान के हेतु प्रार्थना की। लोगों का अपने प्रति आश्चर्यप्रद आकर्षण देख नंदिमित्र ने सोचा - "यदि आज मैं उपवास करूँ, तो मेरा और प्रभाव बढ़ेगा।" इस विचार से नंदिमित्र मुनि बिना आहार ग्रहण किए अपने स्थान पर लौट आए। इसके बाद नंदिमित्र अन्य दिन आहार को निकले, तब बड़े-बड़े लोगों ने आहार हेतु प्रार्थना की। नंदिमित्र ने अपने बढ़ते हुए प्रभाव को ध्यान में रखकर उस दिन भी उपवास किया। इन उपवासों के कारण इन नंदिमित्र की कीर्ति शहर भर में फैल रही थी। दूसरे दिन महारानी अंत:पुर के साथ उस उद्यान में गई, जहाँ विनयगुप्त मुनि के साथ नंदिमित्र मुनि थे। नंदिमित्र ने सोचा, मेरे उपवास से आकर्षित होकर स्वयं रानी यहाँ आई है। मैं आज भी उपवास करने की शक्ति संपन्न हूँ, अतएव आज और उपवास करूंगा। कल जब राजा आएगा, तब ही पारणा करूंगा। यह विचार कर उसने गुरु से कहा - भगवन्! मैं आज भी उपवास करूंगा। गुरु की आज्ञा प्राप्त कर नंदिमित्र पंचनमस्कार मंत्र के चिंतन में संलग्न हो गया।

रात्रि के अंतिम प्रहर में श्रीगुरु ने कहा, "नंदिमित्र! तेरी आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रही है, इसलिए तू संन्यास धारण कर। उस भद्र आत्मा ने गुरु की आज्ञानुसार समाधिमरण करके सौधर्म स्वर्ग में सुर पदवी प्राप्त की। स्वर्ग के सुख भोगकर वह देव चंद्रगुप्त के रूप में उत्पन्न हुआ। चंद्रगुप्त महान् प्रतापी सम्राट् हुए। उन्होंने मुनि दीक्षा धारणकर देव पदवी प्राप्त की। **तिलोयपण्णत्ति** में लिखा है -

मउडधरेसुं चरिमो जिणदिक्ख धरदि चंदगुत्तो य।
तत्तो मउडधरा दु प्पव्वज्जं णेव गेण्हंति ॥४-१४८१॥

-मुकुटबद्ध राजाओं में अंतिम चंद्रगुप्त ने जिनदीक्षा धारण की। इसके पश्चात् मुकुटधारी प्रव्रज्या अर्थात् निर्ग्रन्थ दीक्षा को ग्रहण नहीं करते।[१]

वास्तव में, संयम की अपूर्व सामर्थ्य है। हतभाग्य नंदिमित्र ने उपवास का आश्रय ले, स्वर्ग पाया तथा वहाँ से चयकर सम्राट् चन्द्रगुप्त का वैभव पाया। इससे उन लोगों को अपना कर्तव्य सोचना चाहिए, जिनका जीवन अनेक आपत्तियों से घिरा हुआ है। थोड़ा भी व्रत जीव को सुख प्रदान करता है।

---

१. महावीर निर्वाण के बाद पाँच श्रुतकेवलियों का आगम में कथन है। दूसरे श्रुतकेवली का नाम नंदिमित्र था। नंदिमित्र श्रुतकेवली से चंद्रगुप्त रूप में जन्म धारण करने वाली नंदिमित्र नाम की आत्मा भिन्न थी।

लोग यह सोचा करते हैं, कि प्रथमानुयोग शास्त्रों में कोई सार नहीं है। असली सार की बात आध्यात्मिक ग्रंथों में है, ऐसी एकान्त धारणा वालों की दृष्टि का निवारण स्वयं नेमिसागर महाराज की उक्त जीवन घटना द्वारा स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में पुराण-साहित्य में वर्णित कथानकों के स्वाध्याय द्वारा आत्मा को प्रकाश प्राप्त होता है तथा व्यक्ति कलंकपूर्ण प्रवृत्तियों से विमुख बनता है।

कुंथुसागरजी के संस्मरण

आचार्य महाराज ने कुंथुसागरजी (रामू) को पहले दीक्षा नहीं दी थी। इस सम्बन्ध में नेमिसागर महाराज ने बताया - "महाराज ने रामू से कहा था, पहले कुछ पढ़ो। उसके पश्चात् दीक्षा देंगे। रामू मूडबिद्री गया। वहाँ रामू ने उगाय ग्रामवाले पायसागर स्वामी से दीक्षा लेने का अपना मनोभाव मुझे सूचित किया। यह ज्ञातकर मैं गोवा गया। वहां से जहाज पर बैठकर मंगलूर मूडबिद्री के लिए रवाना हुआ। नौका के हिलने डुलने से मेरी प्रकृति बिगड़ गई थी। अनेक बार वमनादि होने से शरीर शिथिल हो गया था। मूडबिद्री पहुँचने पर सब ठीक हो गया। रामू (कुंथुसागर जी) को क्षुल्लक दीक्षा मिल गई। उसके पश्चात् ज्ञान प्राप्ति के लिए रामू काशी, कारंजा सोलापुर आदि भी गए थे।"

सर्व प्रथम ऐलक दीक्षा प्राप्ति

नेमिसागर महाराज ने बताया - "आचार्य महाराज जब गोकाक पहुँचे, तब वहाँ मैंने और पायसागर ने एक साथ ऐलक दीक्षा महाराज से ली थी। उस समय आचार्य महाराज ने मेरे मस्तक पर पहले बीजाक्षर लिखे थे। मेरे पश्चात् पायसागर के दीक्षा के संस्कार हुए थे।"

निर्ग्रन्थ दीक्षा

"दीक्षा के दस माह बाद मैंने समडोली में निर्ग्रन्थ दीक्षा ली थी। वहाँ आचार्य महाराज ने पहले वीरसागर के मस्तक पर बीजाक्षर लिखे थे, पश्चात् मेरे मस्तक पर लिखे थे। इस प्रकार मेरी और वीरसागर की समडोली में एक साथ मुनि दीक्षा हुई थी। वहाँ चंद्रसागर ऐलक बने थे।"

सोनागिरि में दीक्षा समारोह

उन्होंने यह भी बताया - "मेरी ऐलक दीक्षा के पाँच, छह माह के पश्चात् चंद्रसागर और वीरसागर ने कुंभोज के पहाड़ पर क्षुल्लक दीक्षा ली थी। वीरसागर ने क्षुल्लक दीक्षा के पश्चात् मेरे साथ निर्ग्रन्थ दीक्षा ली थी। पायसागर, चंद्रसागर, नमिसागर, कुंथुसागर, इन चारों की मुनि-दीक्षा सोनागिरि में हुई थी।"

चंद्रसागर महाराज के विषय में

उन्होंने चंद्रसागरजी के विषय में अपना अनुभव इस प्रकार प्रगट किया - "चंद्रसागर क्रिया पालने में बहुत दृढ़ थे। वे बहुत धैर्यवान थे। उन को किसी की भी परवाह नहीं थी, चाहे राजा हो या और कोई हो। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी। ब्र. पंडित गौरीलालजी के पास चंद्रसागर ने जैनेन्द्र व्याकरण कण्ठ कर ली थी। उनका अच्छा अभ्यास हो गया था। मुझे भी जैनेन्द्र के सब सूत्र याद हो गए थे। ब्र. नंदनलालजी शास्त्री (मुनि सुधर्मसागर महाराज) के पास मैंने तथा क्षुल्लक यशोधर (मुनि श्री धर्मसागर महाराज) ने कांतत्र व्याकरण सीखी थी।"

उन्होंने कहा था - "जब पायसागर ने महाराज से ब्रह्मचर्य व्रत मांगे, तब ब्र. जीवराज सोलापुर ने कहा - "यह सप्तव्यसनी है, इसे व्रत मत दो। उस समय एक सेठ जमानतदार बना था, तब महाराज ने पायसागर को ब्रह्मचर्य व्रत दिया था।"

घर की बातें

इनके पिता का नाम अण्णा था। घर में नेमिसागरजी को नेमण्णा कहते थे। नेमिसागर महाराज के एक भाई की पैदा होते ही मृत्यु हुई। दूसरे भाई की मृत्यु सात-आठ वर्ष की अवस्था में हुई थी। नेमण्णा ज्येष्ठ थे। माता की मृत्यु के समय इनकी अवस्था लगभग बारह वर्ष की थी। माता की धर्म-रुचि बहुत थी। माता सरल परिणामी, परोपकार-रत साधु स्वभाव वाली थी। दीनजनों पर माता का बड़ा प्रेम था।

पिता

इनके पिता अण्णाजी बहुत बलवान थे। पाँच छै गुंडी पानी का हंडा पीठ पर रखकर लाते थे।

नेमिसागर महाराज की मुनिपद धारण की रुचि बाल्यकाल से ही थी। उन्होंने बताया -"हमारी १५ वर्ष की अवस्था में ही मुनि बनने की इच्छा थी। हम ज्योतिषी से पूछते थे कि हमारी इच्छा पूर्ण होगी या नहीं?"

नेमिसागर नाम का हेतु

इनकी माता का नाम शिवदेवी ज्ञातकर मैंने कहा - "महाराज! भगवान नेमिनाथ तीर्थंकर की माता का नाम शिवदेवी था। आपकी माता का भी यही नाम था। यह समता महत्त्वपूर्ण है।"

इस पर नेमिसागर महाराज ने कहा - "मेरा नाम नेमण्णा था। गोकाक के मंदिर में हमारी ऐलक दीक्षा का संस्कार हुआ था। वहाँ मूलनायक नेमिनाथ भगवान थे। इस कारण आचार्य महाराज ने हमारा नाम नेमिसागर रखा था।" इस प्रकार नेमिनाथ भगवान के सान्निध्य में शिवदेवी के पुत्र नेमण्णा को ऐलक दीक्षा देते समय नेमिसागर नाम रखना आचार्य महाराज की विशिष्ट दृष्टि को सूचित करता है।

ऐलक दीक्षा का रहस्य

नेमिसागर महाराज ने कहा - "मैंने महाराज से मुनि दीक्षा मांगी थी; किन्तु उन्होंने कहा थोड़े दिन ऐलक बनो। कुछ समय बाद मुनि दीक्षा देंगे।" वे यह भी कहते थे - "हमारा क्या जाता है, दीक्षा लेना है, तो ले लो।" ऐलक दीक्षा देने का उनका अभिप्राय था कि मुनि पद का पूर्व अभ्यास हो जाय। स्वयं मुनि बनने के पूर्व महाराज क्षुल्लक रह चुके थे। स्व. वर्धमानसागर महाराज को मुनि बनने के पूर्व उन्होंने ऐलक दीक्षा दी थी। उसके पहले वे क्षुल्लक रह चुके थे।

सारगर्भित उद्‌गार

आचार्य महाराज के इन शब्दों में विशेष रस है - "हमारा क्या जाता है, दीक्षा लेना है, तो ले लो।" संयमदाता जब असंयमी को संयम की ज्योति प्रदान करता है, तब उस संयमी के संयम-धन में कोई न्यूनता नहीं आती। दूसरा व्यक्ति अपने विकारी भाव को छोड़कर स्वभाव की ओर आता है। संयम लेते समय ऐसा दिखता है कि मुमुक्षु ने कुछ लिया है। सूक्ष्मता से विचार किया जाय, तो कहना होगा कि उसने कुछ नवीन वस्तु नहीं ली है, किन्तु विकार मात्र का त्याग किया है। दर्पण की मलिनता दूर होती है, तब उसकी स्वयं की निर्मलता प्रकाश में आती है, ऐसी ही स्थिति असंयम त्याग पूर्वक संयम की अवस्था को प्राप्त करने में होती है।

संयम और ज्ञान की मैत्री

आचार्य महाराज संयम-दान के साथ सम्यक्ज्ञान की भी योजना को ध्यान में रखते थे, कारण शास्त्र का उचित परिचय न रहने से न तो मानसिक निर्मलता बनती है और न संयम की समुचित रक्षा ही हो पाती है। कभी-कभी लोग आहार के त्याग पूर्वक लम्बे उपवास ले लेते हैं; किन्तु उनका समय धर्म ध्यान के अमृत संचय के स्थान में आर्त-रौद्र ध्यान के कार्यों में लगता है। ऐसी अवस्था में जैसा लाभ होना चाहिए, वैसा नहीं होता। इस कारण आचार के साथ सम्यक्ज्ञान का मधुर संगम आवश्यक है। जो

लोग आचार का गौरव गाते हुए ज्ञान का तिरस्कार करते हैं, वे यह ध्यान नहीं देते कि "ज्ञानं अर्च्यं तपोंगत्वात् - तप का कारण होने से ज्ञान समादरणीय है।" ज्ञान का मुख संयम की ओर हो और संयम की दृष्टि ज्ञान की ओर हो, तो जीवन महत्त्वपूर्ण बनता है। वर्तमान संयमी समुदाय का ध्यान उपरोक्त सत्य की ओर जाना हितकारी है। कोई-कोई व्यक्ति सोचते हैं कि हमारी अवस्था अधिक हो गई, हम क्या कर सकते हैं? उनको यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि भूमि को खोदते-खोदते जैसे पानी मिलता है, ऐसे ही अभ्यास तथा परिश्रम द्वारा ज्ञान की भी प्राप्ति होती है। संयम पूर्वक शास्त्र का अभ्यास अपूर्व फल देता है। इस तत्त्व पर आचार्य महाराज की दृष्टि थी, इसलिए उन्होंने अपने संघ के साधुओं के अभ्यास की व्यवस्था की थी।

नेमिसागर महाराज ने बताया था - "कटनी के चातुर्मास में महाराज ने हम सब के अध्ययन की व्यवस्था करने की योजना बनाई। ललितपुर चातुर्मास में शिक्षण का क्रम शुरू हो गया था।"

मार्मिक विनोद द्वारा शिक्षा

आचार्य महाराज मधुर विनोद की चाशनी में कर्तव्य पालन की औषधि दिया करते थे। नेमिसागर महाराज ने बताया - "एक दिन सामायिक करते समय मुझे तंद्रा आ गई, तब महाराज ने सामायिक के उपरान्त कहा - "नेमिसागर! तुम सामायिक बहुत अच्छी करते हो।" इस प्रकार आचार्य महाराज शिष्यों के जीवन को उज्ज्वल बनाते थे।"

निद्रा का कारण

नेमिसागर महाराज ने एक अनुभवपूर्ण बात कही - "विचार चालू रहने पर निद्रा नहीं आती। विचार बंद होते ही निद्रा सताती है।" एक बार की सामायिक का हाल नेमिसागर महाराज ने इस प्रकार बताया - "हम मुजफ्फरनगर में सामायिक को खड़े हुए थे। न जाने क्यों, हम तत्काल धड़ से जमीन पर गिर पड़े थे।"

घुटनों के बल पर आसन

नेमिसागर महाराज घुटनों के बल पर खड़े होकर आसन लगाने में प्रसिद्ध रहे हैं। मैंने पूछा - "इससे क्या लाभ होता है।" उन्होंने बताया - "इस आसन के लिए विशेष एकाग्रता लगती है। इससे मन का निरोध होता है। बिना एकाग्रता के यह आसन नहीं बनता है। इसे 'गोडासन' कहते हैं। इससे मन इधर उधर नहीं जाता है और काय-

क्लेश-तप भी पलता है। दस बारह वर्ष पर्यन्त मैं वह आसन सदा करता था, अब वृद्ध शरीर हो जाने से उसे करने में कठिनता का अनुभव होता है।"

दृढ़ तपस्या

मैंने पूछा - "महाराज! गोडासन करते समय घुटनों के नीचे कोई कोमल चीज आवश्यक है या नहीं।"

वे बोले - "मैं कठोर चट्टान पर भी आसन लगाकर जाप करता था। भयंकर से भयंकर गर्मी में भी गोडासन पाषाण पर लगाकर सामायिक करता था। मेरे साथी अनेक लोगों ने इस आसन का उद्योग किया; किन्तु वे सफल नहीं हुए। ध्यान के लिए सामान्यतः पद्मासन, पल्यंकासन और कायोत्सर्ग आसन योग्य हैं। अन्य प्रकार का आसन कायक्लेश रूप है। गोडासन करने की प्रारम्भ की अवस्था में घुटनों में फफोले उठ आए थे। मैं उनको दबाकर बराबर अपना आसन का कार्य जारी रखता था।"

ग्रीष्म परीषह जय

उन्होंने यह भी बताया - "शिखरजी से लौटता हुआ संघ वैशाख मास में इलाहाबाद आया था। वहाँ मैं छत पर खड़े होकर कायोत्सर्ग करता था, उस समय बम्बई वाले संघपति आए। उन्होंने चटाई रखी और उस पर खड़े होकर मेरे ऊपर छाता लगा दिया। उस समय क्या सामायिक बनती? मैंने आठ दस णामोकर की माला फिराई। इस तरह सामायिक पूरी हुई। उसके पश्चात् आचार्य महाराज के पास यह खबर पहुँची, तब वे बोल उठे - "नेमिसागर तो अग्निकाय का जीव है।" मुझे भीषण गर्मी में भी कष्ट नहीं होता। हमारा शरीर जाड़े को ढीला है।"

उग्र तपस्या

नेमिसागर महाराज महान् तपस्वी हैं। लोणंद चातुर्मास में उन्होंने आचार्य महाराज के समक्ष सत्रह उपवास किये थे। उस समय वे बराबर भगवान के दर्शनार्थ तीन चार फर्लांग प्रतिदिन चला करते थे। सम्पूर्ण क्रियाओं में पूर्ण सावधान थे। कई लोग तो एक उपवास में व्याकुल हो जाते हैं; किन्तु ऐसी व्याकुलता का उनमें लेश भी न था। ऐसे महान् तपस्वी साधुराज के पास अनुभव की अपूर्व सामग्री का भण्डार है। यह सोचकर मैंने पूछा - "महाराज! अब तक आपने लगभग आठ दस हजार उपवास किये हैं; और भी यह क्रम चलता जा रहा है। आप अपने स्वयं के अनुभव के आधार पर कुछ ज्ञानप्रद सामग्री दीजिए।"

शांति का उपाय

मेरा छोटा सा प्रश्न है - "शांति का क्या उपाय है?"

उन्होंने कहा - "संकल्प-विकल्प त्यागने से शांति मिलती है। इससे कर्मों का क्षय होता है। परिणामों में जितनी-जितनी विशुद्धता होगी, उतनी-उतनी शांति की उपलब्धि होगी। मलिन परिणामों से शांति दूर होती है और अशांति की जागृति होती है। परिणामों की निर्मलता के लिए सत्संगति चाहिए। विषयभोग की सामग्री का त्याग भी आवश्यक है। संगति के योग्य सज्जन पुरुषों का समागम दुर्लभ रहता है। सत्समागम न मिले, तो अच्छे अच्छे शास्त्रों का स्वाध्याय मनन करें। ग्रन्थों का अभ्यास भी सत्समागम ही तो है। प्रत्येक ग्रन्थ के भीतर महान् ज्ञानी, संयमी, सत्पुरुष बैठे हैं। इस दृष्टि से जिनवाणी के स्वाध्याय का बड़ा महत्त्व है।"

त्याग में आनन्द

"त्याग के द्वारा मन शांत बनता है। त्याग में सुख है। भोग में दुःख है। यदि शक्ति अल्प है, तो थोड़ा त्याग करो। इंद्रियों ने जीव को दास बना रखा है। इन्द्रियों के दास न बनकर इन्द्रियों को दास बनाना हितकारी है। मन के भीतर की खराबी दूर करना चाहिए। अंतर्दृष्टि होने का प्रयत्न करते जाना चाहिए। परिश्रम पूर्वक पढ़ने वाला अज्ञानी भी विद्वान् बन जाता है। आत्मा की ओर रुचि होने पर तुम्हारा मन दूसरी ओर नहीं जावेगा। कारण, मन की उधर ही प्रवृत्ति होती है, जहाँ उसकी रुचि पाई जाती है। भोगों में अरुचि तथा आत्म तत्त्व में रुचि होने पर परिणामों में शांति उत्पन्न होती है।"

मार्मिक पद्य

सामायिक पाठ का यह पद्य नेमिसागर महाराज को प्रिय है। एक धार्मिक सज्जन कहते थे, कुंथुसागर महाराज को भी यह पद्य प्रिय रहा है। इस प्रकार दोनों पुराने साथी साधु इस पद्य द्वारा आनन्द लेते थे -

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः।
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः॥
चिन्तामणिं चिंतितवस्तुदाने।
त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि॥[1]

---

१. "हे देवी सरस्वती! इच्छित पदार्थ को प्रदान करने में चिन्तामणि समान तुम्हारी वंदना करने वाले मुझको बोधि, समाधि, परिणामशुद्धि, आत्मस्वरूप की प्राप्ति तथा मोक्षसुख की उपलब्धि हो।"

वासना छोड़ो

वे कहने लगे - "श्वास का रोकना समाधि नहीं है। मन का बाल-बच्चे, धनधान्य, मकान आदि की ओर नहीं जाना तथा स्वोन्मुख बनना समाधि है। बाह्य पदार्थ न हों; किन्तु उस ओर मन दौड़ा, तो समझना चाहिए कि बाह्य पदार्थ पास में ही हैं।" उनके ये उद्‌गार अनमोल हैं - "वासना है, तो पदार्थ हैं ही।"

शुभ चिह्न

उन्होंने बताया - "आचार्य महाराज के पैरों में ध्वजा का चिह्न था। उन्होंने धर्म की ध्वजा फहराकर उस चिह्न की सार्थकता द्योतित की। उनके पाँव में चक्र भी था। इससे वे सदा भ्रमण किया करते थे।"

रोग में अपूर्व दृढ़ता

एक दिन नेमिसागर महाराज की पीठ में बहुत दर्द हो गया। उन्होंने दवा नहीं लगाने दी। जब मैंने आग्रह किया, तो कहने लगे - "आदमी को रोग न होगा, तो क्या पत्थर को होगा। 'मन चंगा, तो कठौती में गंगा।" हमारे शरीर में अनेक रोग होते हैं, हम परवाह नहीं करते। रोग आओ या जाओ। साधारण बीमारी से डरने लगे, तो क्या होगा? रोग को भोजन नहीं मिलेगा, तो वह नहीं टिकेगा। भोजन न मिलने पर मेहमान कितने दिन रहेगा? पैसा पास में रहता है, तो बीमारी में डाक्टर, वैद्य, बम्बई, कलकत्ता सब याद आते हैं। पैसा नहीं है, तो कहाँ का बम्बई, कहाँ का कलकत्ता और कहाँ का डाक्टर? शरीर के एक अंगुल क्षेत्र में ९६ रोग कहे गए हैं। किस-किस रोग की फिकर करना? इससे हम रोग की चिन्ता नहीं करते।"

वीरसागरजी की दृष्टि

आचार्य वीरसागर महाराज रोग के विषय में कहते थे - "भोगी को रोग आकुलता का कारण होता है, योगी को वही रोग वैराग्य का कारण होता है। भोगी और योगी इन दोनों की दुनियां निराली है, दृष्टि जुदी-जुदी है।"

सनत्कुमार मुनि का आदर्श

सनत्कुमार चक्रवर्ती के दिगम्बर दीक्षा लेने के उपरान्त असाता ने उनको घेर लिया। शरीर कुष्ठ आदि महाव्याधियों से आक्रान्त हो गया था। उस समय दो देवों ने उनकी परीक्षा लेने के उद्देश्य से वैद्य का रूप बनाकर महामुनि श्री सनत्कुमार स्वामी ने

कहा - "आपके रोग की हम चिकित्सा कर सकते हैं।" उस पर मुनि सनत्कुमार महाराज ने कहा था - "यदि वैद्यौ भवन्तौ संसारव्याधिं निराकुरुत" - "यदि आप वैद्य हैं, तो संसार में जन्म-जरा-मरण रूप महारोग है, उसको दूर कीजिए।" वे देव उनके चरणों में नतमस्तक हो गए और कहने लगे - "भगवन्! इस रोग की औषधि तो रत्नत्रय धर्म है। वह औषधि आपके ही पास है।"

स्याद्वाद-दृष्टि

इस विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि साधु सर्वथा औषधि का त्याग करते हैं या गृहस्थों को औषधिदान नहीं देना चाहिए। एकान्त पक्ष ग्रहण करना कभी भी आनंदप्रद नहीं होता। आत्म सामर्थ्य, क्षेत्र, कालादि का विचारकर विवेकपूर्वक कार्य करना चाहिए। नेमिसागर मुनिराज के कथन में मनस्वी साधु की आत्मनिर्भरतापूर्ण निर्मल चित्तवृत्ति प्रतिबिम्बित होती है।

विदेश जाने वाले छात्र को उपदेश

नेमिसागर महाराज के पास एक जैन तरुण आया, जो विदेश जा रहा था। महाराज ने उससे कहा था - "तुम अच्छे कुल के हो। अपने कुल की लाज रखना। अभक्ष्य भक्षण नहीं करना।"

वृद्ध व्यक्ति से मार्मिक प्रश्न

सत्तर वर्ष के एक धार्मिक सेठ महाराज के पास आए। नेमिसागर महाराज ने कहा - "सेठजी! अंग्रेज लोग तीस वर्ष की नौकरी के बाद पेंशन दिया करते थे, अब तुम सत्तर वर्ष के हो गए। घर गृहस्थी की जिम्मेदारी से कब पेंशन लोगे?"

महाराज का प्रश्न बड़ा मार्मिक है। आज के राजनीतिज्ञ अपना एक पैर यम मंदिर में रखते हुए भी राजनीति के प्रपंच में फँसे रहते हैं। गृहस्थ यह बात भूल गया है कि गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम भी है। उनकी विस्मृति का ही परिणाम है कि जीव शहद में गिरी हुई मक्खी के समान छटपटा कर मरण करता है और असमाधि पूर्ण मृत्यु के कारण नरभव को यों ही गमा देता है।

जैनों की न्यूनता का कारण

लोगों के समक्ष यह प्रश्न उत्पन्न हुआ करता है कि जैन धर्म सच्चा है, तो उसके पालन करने वालों की संख्या बहुत कम क्यों है?

इस संबंध में नेमिसागर महाराज ने यह उत्तर दिया था - "जैनधर्म को सत्यता पूर्वक पालने वाले बहुत थोड़े हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। संसार में अच्छी वस्तु थोड़ी है। भलाई अल्प मात्रा में है। बुराई की सीमा नहीं है।" यथार्थ बात यह है आज का मानव उस पथ को अपनाता है, जिसमें उसके स्वच्छंद जीवन का पोषण होता है, जहाँ विषयभोगों के सेवन करने में किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है।

जैनधर्म की आधारशिला ही त्याग है, संयम है, इन्द्रिय-जय है। इन्द्रियों को जीतनेवाला ही तो जैन कहलाता है। अतएव आज का भोगी मानव इस धर्म को संकटपूर्ण सोचकर उस ओर प्रवृत्त होता है, जहाँ उसके विलासी जीवन को कोई भी धक्का नहीं लगता। भिन्न-भिन्न धर्मों में भी संयम को स्थान दिया गया है। लोग अपने-अपने धर्म के अंकुश को दूर कर निरंकुश बन रहे हैं। निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय, तो जगत् धर्म से दूर होता जा रहा है। स्वार्थी जीवन को ही लोगों ने अपना धर्म बना लिया है। इस स्वार्थ के विष-पानवश समाज शिथिल, अशक्त तथा दुःखी दिखाई पड़ता है।

महत्त्वपूर्ण विचार

एक दिन नेमिसागर महाराज ने बड़े महत्त्व के विचार प्रगट किए थे। उन्होंने कहा था - "अनुभव, शास्त्र (आगम) तथा व्यवहार - इन तीनों को ध्यान में रखकर कार्य करना चाहिए।" उनकी यह शिक्षा बहुत उपयोगी है - "पूर्व में उपार्जित पुण्य कर्मोदय से सुखी, समृद्ध तथा वैभववान को देखकर लोगों को नहीं जलना चाहिए। उससे गुण लेना चाहिए कि इस जीव ने पूर्व में पुण्य द्वारा ऐसी सुन्दर सामग्री प्राप्त की है। हमें भी ऐसा पुण्य का संचय करना चाहिए। जलते रहने से या निन्दा करने से हित नहीं होता। बिना पुण्य के कोई धनवान तथा सुखी नहीं बनता। जो कहते हैं कि गरीबों का शोषणकर, उनका धन लूटकर, धनवान समृद्ध बने हैं; वे यह बतावें कि धनवान बनने से उनको किसने रोका है? पुण्यवान व्यक्ति धन तथा वैभवहीन अवस्था को त्यागकर अल्प प्रयत्न से विभूतिवान बनते हैं।"

"आजकल सब बातों का क्रम विपरीत हो रहा है। पहले का सुख, निराकुलता तथा शांति अब नहीं है। पृथ्वी की उपज भी घट रही है। आगे अच्छे दिन नहीं आवेंगे। शास्त्रकथित बातें प्रत्यक्षगोचर हो रही हैं। लक्ष्मी हीनकुलों में जाएगी, उच्चकुल में लक्ष्मी का वास घटेगा, यह शास्त्र का कथन दृष्टिगोचर हो रहा है।"

इन्द्रियजनित सुखों के विषय में महाराज का उपदेश बहुत गंभीर तथा मार्मिक

है - "हमने इस विषय में गहराई के साथ विचार किया है कि खाने-पीने, देखने आदि विषयों के उपभोग में सुख मानना बड़ी भारी भूल है। इंद्रियों के द्वारा कोई सुख नहीं मिलता। सोचो! स्त्री, पुत्रादि, धन-धान्यादि के द्वारा क्या सुख मिलता है? कषाय के आधीन होकर तुम देश-विदेश में चक्कर लगाते हो। लोभ के कारण तुम्हें शरीर की भी फ़िकर नहीं रहती। तुम अपने सुख का ध्यान नहीं रखते हो। मोह के कारण तुम कहते हो कि विषय भोग नहीं छूटते हैं। यथार्थ बात यह है कि तुम स्वयं उनका त्याग करने को तैयार नहीं हो।

दृष्टांत

एक लोटे के भीतर चने रखे हैं। लोभी बंदर उसके भीतर हाथ डालता है। मुट्ठी में चने भरता है, इससे वह भरी मुट्ठी लोटे से निकल नहीं पाती। वह चना छोड़ने को जब तक तैयार नहीं होता है, तब तक उसका हाथ लोटे में फँसा रहता है। ऐसी ही अवस्था भोगी तथा विषयासक्त जीव की है। दूसरे को दोष देना वृथा है।"

विनय द्वारा विकास

महाराज की यह शिक्षा सर्व साधारण के लिए बहुत उपयोगी है -

"बड़प्पन अपने आप नहीं आता। छोटों की सेवा द्वारा बड़प्पन मिलता है। विनयवान सुखी रहता है। नम्र चींटी तिजोड़ी के भीतर भी रखे हुए मिष्ट पदार्थ को खाती है। हाथी को बड़ा होने पर भी गन्ना खाने को नहीं मिलता है। यदि हाथी गन्ने के खेत में जाता है, तो उसकी पीठ पर लट्ठ प्रहार होता है। विनयवान चींटी के समान सदा नम्र उद्योग द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है।

आचार्य महाराज एक उदाहरण देते थे - यदि एक ऊँचे खंभे के शिखर पर सुई लगाकर उसके ऊपर एक अमरूद का फल रख दिया जाय, तो भी छोटीसी चींटी उस खंभे का चक्कर लगाती हुई ऊपर पहुँचती है; धीरे-धीरे वह उस फल को खाकर पोला करती है, इससे वह फल जमीन पर गिर जाता है, इसी प्रकार उद्योगी विनयवान मोक्ष प्राप्त करता है। शूरवान व्यक्ति भी अल्पकाल में मुक्त होता है। अंजनचोर ने साहस करके अपना जीवन सुधारा और वह पवित्र बन मोक्ष गया।"

तोते का आदर्श

पक्षियों में तोता एक विलक्षणता धारण करता है, वह उड़ता जाता है और वृक्ष के फल धान्यादि को खाता जाता है। अन्य पक्षी की तरह उसे बैठने को स्थान नहीं

लगता। तोते की तरह विषयों में अनासक्त होकर, जीवन व्यतीत करने वाला शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करता है।

उपयोगी शिक्षा

बुराई अपने आप आती है। उसे दूर करने में उद्योग लगता है। जैसे धन कमाने में परिश्रम करना पड़ता है, पर धन के खोने में कोई कोशिश नहीं करनी पड़ती।

भाषण का अभ्यास

नेमिसागर महाराज ने बताया - "पहले मुझे बोलना नहीं आता था। आचार्य महाराज ने मुझे और पायसागर को भाषण देने को कहा था। पहले बोलते नहीं बनता था, इससे मैं दु:खी होकर जंगल में जाता था। वहाँ क्या प्रयोजन सिद्ध होता? इससे मैंने दस बीस पुस्तकें इकट्ठी कीं। उनमें से उपयोगी बातों का संग्रह एक कापी में किया। मैं उच्चारण करके उस पाठ को पढ़ा करता था, धीरे-धीरे बोलते बनने लगा।"

क्षमा याचना

एक दिन नेमिसागर महाराज भक्तिपाठ पढ़ रहे थे; पश्चात् प्रतिक्रमण पढ़ते समय अपने दोषों की क्षमा मांगने का पाठ पढ़ते थे। मैंने कहा - "महाराज! आप बड़े हैं। छोटे से क्षमा याचना करने में आत्मा में क्या लघुता नहीं आती?"

उन्होंने कहा - "क्षमा मांगना, प्रणाम करना नहीं है। मन में निर्मलता आने पर क्षमा मांगने के भाव होते हैं। तीर्थंकर भगवान एकेन्द्रियादि जीवों से क्षमा मांगते हैं। मलिन मन क्षमा नहीं मांगता, वह क्रोध करता है। क्षमा मांगने पर बदला लेने के दूषित भाव दूर हो जाते हैं। बदला लेने के दूषित भावों के द्वारा कर्मों का बंध होता है। इससे क्षमा मांगना मुमुक्षु मानव का भूषण है, कर्तव्य भी है।"

मैं सन् १९५८ के पर्यूषण पर्व में १०८ महातपस्वी नेमिसागर महाराज के चरणों के निकट बैठकर दशलक्षण पूजा कर रहा था। उसमें मैंने तप का पाठ पढ़ा -

तप चाहें सुरराय, कर्म शिखर को वज्र सम।
द्वादश विधि सुखदाय, क्यों न करें निज सकति सम॥

जीवित तपोधर्म

इस पाठ को पढ़ते हुए मैं अर्घ चढ़ाने को १०८ नेमिसागर महाराज के पास गया और उनको अर्घ चढ़ाया। महाराज ने पूछा - "क्या पूजा समाप्त हो गई?"

मैंने कहा - "महाराज! दशलक्षण पूजा कर रहा था। तप रूप सातवें धर्म की पूजा करते समय चित्त में विचार आया कि जब महातपस्वी गुरु के रूप में आप यहाँ विराजमान हैं, तब जीवित तपोधर्म को क्यों न अर्घ चढ़ाऊँ? इससे मैं आपके पास आया। आचार्य शांतिसागर महाराज के जीवन काल में मैं पर्युषण में उनके पास आता रहा हूँ। बाहर के अनेक आमंत्रण आने पर भी मैं उनके पास पहुँचा करता था, इसका कारण यह था कि उनके भीतर जाज्वल्यमान दशधर्मों का प्रत्यक्षीकरण होने से सजीव धर्मों की पूजा का सौभाग्य मिलता था। आज आपके पास भी मुझे वही लाभ मिल रहा है।" कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है -

जो रयणत्तयजुत्तो खमादिभावेहिं परिणदो णिच्चं।
सव्वत्थवि मज्झत्थो सो साहू भण्णदे धम्मो ॥३२२॥

जो साधु रत्नत्रयधारी है, क्षमादि भावयुक्त है तथा सबके प्रति माध्यस्थ भाव सहित है, वह साक्षात् धर्म है।

इसके अनंतर मन में एक विकल्प आया। मैंने सोचा, महाराज से समाधान प्राप्त कर लूँ, अन्यथा पूजा करने में वह विचार विस्मृत न हो जाय।

विचित्र प्रश्न

मैंने कहा - "आप आचार्य शांतिसागर महाराज को प्रणाम करते हैं क्या? पहले करते थे; क्योंकि वे महाव्रती साधुराज थे। अब तो वे सुरराज हुए होंगे?"

संयमी पर्याय को प्रणाम

नेमिसागर महाराज ने कहा - "हम सदा आचार्य महाराज को प्रणाम करते हैं। उनके चरण युगल हमारे हृदय में विराजमान हैं।" महाराज नेमिसागरजी ने यह मार्मिक बात कही थी कि "हम शांतिसागर महाराज की संयम युक्त पर्याय को ध्यान में रखकर प्रणाम करते हैं। उनकी संयम रहित देव पदवी हमारी दृष्टि में नहीं रहती। हम अव्रती देव पर्यायवाली आत्मा को कैसे प्रणाम करेंगे? आगम की जैसी आज्ञा है, वैसा हम करते हैं।"

देव पर्याय को नमस्कार नहीं

मैंने पूछा - "महाराज! यदि आचार्य महाराज का जीव यहाँ समक्ष देव रूप में दर्शन दे, तो क्या उनको भी नमस्कार न करेंगे?" नेमिसागर महाराज ने कहा - "हाँ! हम उन्हें नमस्कार नहीं करेंगे।"

इस पर मैंने पूछा - "अच्छा यह बताइये कि क्या वह सुरराज की पर्यायधारी आचार्य महाराज की आत्मा आपको प्रणाम करेगी या नहीं?" उन्होंने कहा - "अवश्य! आगम की आज्ञा पर आचार्य महाराज का सदा विश्वास रहा है, इस कारण वे आगम की आज्ञानुसार सकल संयमी की वंदना करेंगे, अन्यथा उनकी विशुद्ध श्रद्धा को दोष लगेगा।"

कुंदकुंद स्वामी ने दर्शन पाहुड़ में कहा है -

अमराणवंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
जे गारवं करंति य सम्मत्त-विवजिया होंति॥१५॥

सुरवंद्य, शीलसंपन्न, यथाजात जिनमुद्राधारी को देखकर जो अहंकार भाव के वशीभूत होते हैं वे सम्यक्त्व हीन होते हैं।

मुसलमान वर्ग का प्रेम

महाराज के सुन्दर तर्कशुद्ध समाधान से मन को बड़ी शांति मिली। पूजा के पश्चात् मैं महाराज के पास आया तथा देखा कि एक मुसलमान तरुण उनसे प्रार्थना कर रहा था - "महाराज! आप कुड़ची ग्राम के हैं। वहाँ की आम जनता आपके दर्शन करना चाहती है।"

महाराज ने कहा - "तुम लोग मुसलमान हो। हम हैं, दिगम्बर साधु। हमारे दर्शन से तुम्हारे यहाँ के मुसलमानों का मन दुःखी होगा। उनको क्षोभ प्राप्त होगा।"

वह मुसलमान भक्त बोला - "आप हमारे भी साधु हैं। आपके दर्शन से हम सबको बहुत खुशी होगी। आपके खिलाफ कोई नजर नहीं उठा सकेगा। माफ कीजिए! जो आपके तरफ बुरी निगाह करेगा, उसकी खैरियत न समझिए।" महाराज ने बताया कि इस प्रकार के अनेक लोग उनके पास आते रहते हैं। अपने रत्न का मूल्य दूसरा करता है। दुर्भाग्य की बात है कि हम समीप में रत्नराशि होते हुए भी दरिद्री की तरह दुःख प्राप्त कर रहे हैं।

विवेकहीनता

इस विवेकहीनता के कारण ही आज धर्म का ह्रास हो रहा है। हमें यह देखकर बड़ा खेद होता है कि महान् शास्त्रों का अभ्यास करने वाले कोई-कोई शास्त्री लोग भी इन दिगम्बर साधुओं के प्रति ऐसा ही अद्भुत वात्सल्य दिखाते हैं, जैसा प्रेम धीवर जल में निवास करने वाली मछली के प्रति व्यक्त करता है। ये शास्त्री महोदय मालूम नहीं,

सर्वार्थसिद्धि आदि शास्त्रों में स्पष्ट कथित पुलाकादि मुनियों की चर्या को क्यों भुला देते हैं, जिनके मूलगुणों तक की विराधना हो जाती है।

सदाचार शून्य की वंदना

ये परिग्रहधारक, आगमविरुद्ध आचरण करने वालों के आगे हजार बार सिर रगड़ते हैं, उनका स्तवन करते हैं, धनिकों का पादार्चन करते हैं; किन्तु दिगम्बर जैन मुनि या उच्च श्रावक दिखे, तो ये कल्पित अकल्पित दोषों की उनमें स्थापना करके अपने गुरु-निन्दक प्रेमी चित्त को परितोष प्रदान करते हैं, यह महान् परिताप की बात है।

श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत धारण

दिगम्बर मुद्रा धारण करने में जो श्रेष्ठ बात काम-भाव को जीतने की है, वह ये सोच ही नहीं पाते। बड़े-बड़े धर्मों के आराध्य भगवान तक जिस कामिनी के इशारे पर चलायमान होते हैं, उस स्त्री के प्रति सदा मातृत्व की भावना को सजग रखना ही क्या लोकोत्तर बात नहीं है? अन्य गुणों का असद्भाव होते हुए भी श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य के कारण ही ये दिगम्बर मुनि अपना अपूर्व स्थान रखते हैं। 'चर्ममय-पुत्तलिकासु कोऽनुराग: प्रज्ञावतां' - चर्म की पुत्तलिकाओं के प्रति कौन बुद्धिमान अनुराग करेगा? यह मूल मन्त्र इनके मन को मूढ़ों के द्वारा प्राप्त पथ से बचाता हुआ, इनकी दृष्टि को इस श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत की ओर सुदृढ़ बनाए रखता है।

आचार्यश्री की सल्लेखना पर अभिप्राय

आचार्य महाराज की सल्लेखना योग्य समय पर नहीं हुई, ऐसा अनेक धार्मिक श्रावकों, साधुओं, साध्वियों का मत है। हमने अनेक गुरुभक्तों से इस विषय में चर्चा की। जो महाराज के सदा समीप रहा करते थे, उनसे भी पता चलाया, तो उन्होंने भी हमारी दृष्टि का समर्थन किया कि समाज के दुर्भाग्य से कुछ लोगों के कारण उन साधुराज ने समय के पूर्व समाधिरूपी अग्निकुण्ड में प्रवेश किया था। इस सम्बन्ध में जब आचार्य महाराज के पचास वर्ष के साथी शिष्य नेमिसागर महाराज से चर्चा की तो वे कहने लगे - "लोग पैसे के लिए उनको जबरदस्ती बारामती से कुंथलगिरि ले गए।" महाराज ने कुछ लोगों से कहा था - "एक बार हम पहले कुंथलगिरि में चक्कर में फँस गए थे। अब फिर से यहाँ चक्कर में आ गए।"

सामायिक के समय सर्प का आगमन

नेमिसागर महाराज से मैंने पूछा - "आचार्य महाराज पर जैसे अनेक उपसर्ग

आए, सर्पकृत बाधा को उन्होंने सहन किया था, उस प्रकार आप पर भी क्या कभी सर्पराज ने कृपा की थी?" उन्होंने कहा - "ब्यावर की बात है। चातुर्मास के समय मैं सेठ चंपालालजी रामस्वरूप के बगीचे में नासाग्र दृष्टि हो, ध्यान हेतु बैठा ही था, उस समय यह हल्ला हुआ कि मेरे पास एक सर्प आया तथा मेरे आसन के काष्ठ के नीचे घुस गया है। लोगों ने उस सर्प को पकड़ लिया। मैं सामायिक में लगा रहा। लोगों ने उस सर्प को दूसरी जगह छोड़ दिया। उस सर्प ने कोई उपद्रव नहीं किया।"

महामंत्र में अपार श्रद्धा

नेमिसागर महाराज का यह अनुभव बहुत उपयोगी है। उन्होंने कहा - "जब हमें अशुभ स्वप्न दिखाई पड़ता है, तब हम णमोकार का जाप करते हैं। पंच परमेष्ठी की जाप से अशुभ स्वयं नष्ट होता है।" मैंने अनेक बार पूछा - "महाराज! किस मंत्र का जाप चल रहा है।" वे कहते थे - "हम सदा णमोकार मंत्र का ही जाप करते हैं। हमारा मंत्र णमोकार ही है। हाँ! जब शरीर थक जाता है, तब हम ॐ ॐ का जाप करते हैं। ॐ के जाप करने में कष्ट नहीं होता।"

उन्होंने हमारे पिताजी के लिए उक्त मंत्र का ही जाप बताया था। वे कहते थे - "णमोकार को सदा जपना चाहिए। जब शरीर में पाठ करने की शक्ति न हो, तब ॐ ॐ जाप करना चाहिए। णमोकार मंत्र और ॐ में कोई अन्तर नहीं है। ॐकार पंच परमेष्ठी का वाचक है। "ॐकारो पंचपरमेट्ठी।"

अरहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पढमक्खर-णिप्पण्णो ओंकारो पंच परमेट्ठी॥

अरहंत, अशरीर (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि के आदि अक्षरों से पंचपरमेष्ठी रूप ओंकार बनता है। (अ+अ+आ+उ+म = ओम) योगदर्शन में ॐ को ईश्वर का वाचक कहा है। उपनिषदों में भी ॐ का गुणगान है।

इस युग के कुपथ प्रदर्शक लोग

आज लोग शास्त्र पढ़ते नहीं, मंदिर जाते नहीं, सत्संग करते नहीं; किन्तु अपने आपको स्वयंसिद्ध महाज्ञानी मान बैठते हैं। अपनी बुद्धि में जैसे भी विचार आए, उस प्रकार आगम की व्याख्या करते हैं। वे ज्ञानी जनों की बात नहीं सुनते। कलोल के धार्मिक श्रीमान सेठ जीवनलालजी बखारया ने बातचीत में सुनाया था कि बम्बई शासन

के एक जैन मंत्री महोदय ने उनके नगर में आकर जैन गृहस्थों को उपदेश में कहा था - "अब जैनियों को चमड़े का व्यापार करना चाहिए। इसमें बहुत लाभ है।" धनलोलुपी लोग समृद्ध बनने के लिए त्रसहिंसा आदि के धंधों में लग रहे हैं। ऐसे लोग जैन गौरव को गहरी हानि पहुँचा रहे हैं।

देशभूषण महाराज का आश्चर्यप्रद अनुभव

१०८ आचार्यरत्न देशभूषण महाराज ने एक आश्चर्यप्रद बात अक्टूबर सन् १९५९ के कोल्हापुर चातुर्मास में सुनाई थी- "हम गिरनार की यात्रा करके सौराष्ट्र में विहार कर रहे थे। वहाँ गुजरात प्रांत के मुख्य कांग्रेस कार्यकर्ता एक वयोवृद्ध दिगम्बर जैन बन्धु हमारे पास आए। एक दिन वे आहार-दान के हेतु खड़े हो गए। हम अनुकूल विधि मिलने से उनके घर के भीतर चले गए। वहाँ भोजनालय भोजन-गृह तुल्य नहीं लगता था। इससे हम आश्चर्यपूर्वक देख रहे थे कि क्या बात है? इतने में उन आहारदान प्रेमी व्यक्ति ने कहा - "महाराज! मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है, काय शुद्ध है। जैन-होटल से मँगाया गया भोजन पान शुद्ध है।" होटल का भोजन सामान्य सदाचार पालनेवालों के भी योग्य नहीं होता, ऐसा आहार अनेक दोषयुक्त होने से हम वहाँ से बाहर आ गए।"

आज का जीवन

आज के लोक जीवन पर प्रकाश डालते हुए नेमिसागर महाराज ने बड़ी मनोरंजक तथा बोधप्रद सूक्ति कही थी - "मुझे अपनी बात मालूम नहीं, दूसरे की बात सुनना नहीं - "माझ मला कलत नांही, दुसऱ्या च ऐकत नांही।" इस कथन के प्रकाश में उन लोगों को अपनी समालोचना की कतरनी नहीं चलाना चाहिये, जिनका आगम के तत्त्व से उचित परिचय न हो। उनके लिए "मौनं हि शोभनम्" सूक्ति आश्रय योग्य है।"

भूल बताने वाला उपकारी है

अपनी भूल बताने वाले पर कोप करना उचित बात नहीं है। नेमिसागर महाराज कहते थे - "अपनी भूल अपने आप स्वयं को नहीं मालूम पड़ती। भूल बतानेवाला दूसरा चाहिए। मुख में लगी हुई कालिमा का स्वयं को बोध नहीं होता। दर्पण के द्वारा उस कालिमा का ज्ञान हो जाता है। सज्जन धर्मात्मा बुराई को जानकर छोड़ देता है। ऐसा करने से ही वह सज्जन कहा जाता है।"

संत विद्वेषियों की प्रवृत्ति

संसार में सत्पुरुषों के आगमन को भद्र पुरुष मंगल पर्व मानते हैं; किन्तु खल

जनों को संतों के दर्शन की तो कथा ही क्या, उनके नाम तक से वेदना होती है। बड़े-बड़े पढ़े-लिखे लोग भी दुर्जन का अभिनय किया करते हैं। आश्चर्य तो उस समय होता है, जब साधुजन के प्रति द्वेष व्यक्त करने वालों के नाम के पीछे शास्त्री या पंडित की पदवी लगी रहती है। मिथ्या-मार्ग पर चलकर सद्धर्म पर लांछन लगाने वाले शिथिलाचारी साधुवेषी के प्रति ऐसों का सहोदर सदृश प्रेम देखा गया है। यथार्थ में यह कलिकाल का प्रभाव है, जो धर्मरक्षक ही धर्मात्माओं के मार्ग में संकट उत्पन्न करते हैं और अपने साथियों को भी कुपथगामी बनाते हैं। ऐसी परिस्थिति में अन्य लोगों के द्वेष की क्या कथा कही जाय?

नातेपुते की घटना

उन्होंने कहा - "आचार्य शांतिसागर महाराज ने मुझे आज्ञा दी कि मैं भी एक माह अन्यत्र विहार करूँ। मैं बारामती से दहीगाँव की तरफ गया था। नातेपुते के समीप पहुँचने पर कुछ विरोधी व्यक्तियों ने काले झण्डे दिखाए। लोक व्यवहार में प्रवीण न होने के कारण मैं यह नहीं जान सका कि काले झण्डों का क्या मतलब है? जैन मण्डली की तरफ से बाजे बज रहे थे। मैंने कहा - बाजे बंद करो। बाजों से क्या प्रयोजन है? मैं विरोध प्रदर्शक झण्डेवालों के समुदाय में चला गया। वहाँ से मैं जैन मंदिर में पहुँच गया। कलेक्टर ने आकर हमें बताया कि गाँव में गड़बड़ी होने की संभावना होने से उनका आगमन हुआ है। हमने कलेक्टर को गृहस्थ धर्म की आरंभिक अवस्था से लेकर मुनियों के २८ मूलगुणों आदि का स्वरूप बताया और कहा कि हमें अपने शास्त्र की आज्ञानुसार आहार लेने नगर में जाना पड़ता है। शौच के लिए भी हमें नगर के मध्य होकर बाहर जाना पड़ता है।"

"हमारी बातों को सुनकर कलेक्टर ने हमारे बिहार का समय नियत कर दिया। हमने कलेक्टर से कहा कि आप सुबह ८ बजे से ११.३० बजे तक और शाम को ३ बजे से ५ बजे तक हमारे विहार का काल नियत करते हैं; किन्तु यदि शौच की बाधा असमय में आ जाय, तो आप बतावें क्या किया जायगा? वे निरुत्तर हो गए। हम शासकीय आदेश की उपेक्षा करते हुए गाँव में से गए। वापसी में हमने देखा कि एक पुलिस की मोटर खड़ी है। फौजदार के साथ पाँच सिपाही हथकड़ी लेकर हमारे आने के मार्ग पर खड़े हैं। हम भूमि पर दृष्टि रखते हुए गाड़ी के पास आए और आगे चले गए। हमें किसी ने नहीं रोका। इस घटना के पश्चात् आचार्य महाराज ने मुझे अपने पास बुला लिया था।"

देहली चातुर्मास की घटना

नेमिसागर महाराज ने देहली चातुर्मास की एक बात पर इस प्रकार प्रकाश डाला था - "देहली में संघ का चातुर्मास हो रहा था। उस समय नगर के प्रमुख जैन वकील ने संघ के नगर में घूमने की सरकारी आज्ञा प्राप्त की थी। उसमें नई दिल्ली, लालकिला, जामा मसजिद, वायसराय भवन आदि कुछ स्थानों पर जाने की रोक थी। जब आचार्य महाराज को यह हाल विदित हुआ, तब उनकी आज्ञानुसार मैं, चन्द्रसागर, वीरसागर उन स्थानों पर गए थे, जहाँ गमन के लिए रोक लगा दी गई थी। आचार्य महाराज ने कह दिया था, जहाँ भी विहार में रोक आवे, तुम वहाँ ही बैठ जाना। हम सर्व स्थानों पर गए। कोई रोक-टोक नहीं हुई। उन स्थानों पर पहुँचने के उपरान्त फोटो उतारी गई थी, जिससे यह प्रमाणित होता था कि उन स्थानों पर दिगम्बर मुनि का विहार हो चुका है।"

नेमिसागर महाराज ने बम्बई में उन स्थानों पर भी विहार किया है, जहाँ मुनियों के विहार को लोग असम्भव मानते थे। हाईकोर्ट, समुद्र के किनारे जहाँ जहाजों से माल आता जाता है। ऐसे प्रमुख केन्द्रों पर भी नेमिसागर महाराज गए, इसके सुन्दर चित्र भी खिचे हैं। इनके द्वारा दिगम्बर जैन मुनिराज के सर्वत्र विहार का अधिकार स्पष्ट सूचित होता है।

आचार्यश्री की भक्ति

उन्होंने कहा - "आचार्य महाराज का राजस्थान में विहार हो रहा था। उस समय ऐसी परिस्थिति आई कि महाराज ने अकेले रहने का विचार किया और सब साधुओं को अपने पास से अलग कर दिया। उस परिस्थिति में, मैं किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया। मैंने नियम कर लिया था कि आचार्य महाराज के दर्शन किए बिना आहार नहीं करूँगा। मेरी पुनःप्रार्थना तथा विनय पर उन्होंने मुझे अपने पास रहने की अनुज्ञा दी थी।"

शंका

प्रायः पढ़े-लिखे लोग चर्चा करने लगते हैं कि अमुक मुनि अमुक स्थान पर अधिक समय तक रह गए। इस बात को वे लोग इतना उग्र रूप देते हैं, मानों मुनिराज ने मूलगुणों की विराधना की हो। एक बार आचार्य महाराज के विरुद्ध ही एक प्रमुख जैन मासिक पत्र में लेख छपाया गया था कि महाराज एक स्थान पर अधिक समय तक क्यों

रहे? करणानुयोग, द्रव्यानुयोग की चर्चा में प्रवीण पंडितगण चरणानुयोग के मर्म को स्पर्श न करके तिल का ताड़ बनाया करते हैं। मैंने आचार्य महाराज से उक्त विषय पर चर्चा की।

समाधान

उन्होंने कहा था - "एकत्र कारण विशेष से अधिक काल पर्यन्त निवास करनेसे साधु के मूलगुणों की विराधना नहीं होती। आजकल कदाचित् मूलगुण की भी विराधना होती है। इसके सिवाय हमारी अवस्था ८० वर्ष से अधिक हो गई। वृद्ध मुनि जहाँ भी उसको धर्मसाधन की अनुकूलता दिखे, वहाँ अधिक काल पर्यन्त रह सकता है।"

स्पष्टीकरण

नेमिसागर महाराज बम्बई में थे। उस विशाल नगरी में वे एक स्थानसे दूसरी जगह तीस चालीस मील की दूरी पर भी आते-जाते रहते थे, फिर भी लोग कहते थे कि वे एक जगह क्यों रहते हैं? ऐसे शंकाकार भाइयों को उपरोक्त गुरु वचनों द्वारा समाधान प्राप्त करना चाहिए।

नेमिसागर महाराज से जब मैंने कुछ लोगों के विचारों की चर्चा चलाई, तब वे कहने लगे - "अब हम ७६ वर्ष के हो गए। अब हमारा थोड़ा जीवन शेष है। शरीर बहुत अशक्त हो गया है। अब कहाँ जाना, कहाँ आना? कोई कहते हैं दक्षिण चलो, कोई चाहते हैं उत्तर चलो। हमारे समक्ष दक्षिण-उत्तर का कोई भेद नहीं है।"

मनोगत

हमारा इरादा वोरीवली तथा उसके आसपास अपना समय व्यतीत करने का होता है। वोरीवली विशेष स्थान हो जायगा। वहाँ का काम अपने आप पूरा होगा। हमें करना क्या है? अपनी आत्मा का चिंतवन करना, नहीं तो "णमो अरिहंताणं" का जाप करते बैठना। बिना कारण क्यों चक्कर में पड़ना? हम बम्बई में एक जगह पर तो नहीं बैठते।"

आत्मचरित्र

उन्होंने कहा - "हमारा मन विषयों की ओर नहीं दौड़ता। खाने की तरफ भी मन नहीं है। छहों रस छोड़कर एक दिन के बाद हमारा आहार लेने का क्रम चलता है।

कोई हमारी निंदा करे, तो बड़ी बात नहीं है। आचार्य महाराज के समक्ष कोई-कोई जय जयकार करते थे, पीछे से वे ही निन्दा करते थे। जहाँ जाओ वहाँ एकसा ही हाल है। अब पहले सरीखी धर्म भावना नहीं है।"

केशलोंच के विषय में शंका

पर्यूषण पर्व समाप्त होने के पश्चात् सन् १९५९ की कुंवार बदी पंचमी को विशाल जन समुदाय के समक्ष नेमिसागर महाराज का केशलोंच हुआ। कोई-कोई देवदर्शन न करने वाले, स्वच्छंद आचार वाले तथा गुरु की निन्दा में आनन्द की अनुभूति लेने वाले व्यक्ति कहते फिरते हैं कि मुनियों को केशलोंच एकान्त स्थान में करना चाहिए। यह प्रदर्शन, उनके विचार से जैनधर्म तथा मुनिचर्या के प्रतिकूल है। भोले भाले लोग भी इन विचारों के चक्कर में आ जाते हैं।

महान् धर्म प्रभावना

समाधान - "दिगम्बर जैन मुनि का केशलोंच देखकर अनेक भिन्न धर्मियों की आँखें खुल जाती हैं। वे सोचते हैं कि जैन मुनि का जीवन केवल नग्न रहना ही नहीं है, वरन् इनकी तपस्या भी महान् है। लम्बे केश रखने वाले साधुओं को भी पता चलने लगता है कि केशलोंच कितना कठिन कार्य है। शरीर में मोह तथा आसक्ति धारण करते हुए यह कार्य कैसे बन सकता है? आत्मा और शरीर में एकत्व भावना वाले जीवों के मन में सच्चे धर्म की प्रतिष्ठा अंकित होती है। अकिंचन जीवन का सौन्दर्य जगत् के समक्ष आता है। जैनधर्म के प्रति शत्रुभाव वाले व्यक्तियों की दुर्भावना बदलती है। जहाँ नाई की मशीन में जरा बाल फँसने से हमें असह्य पीड़ा होती है, वहाँ दिगम्बर जैन मुनिराज शांत भावपूर्वक केशों को हाथ से उखाड़ते हैं, मानों तिनके ही तोड़ रहे हों, इन दोनों बातों का विचार करने से सभी लोगों को जैन-मुद्रा की महत्ता समझ में आती है।

विचारक व्यक्ति सोचें कि यदि नेमिसागर महाराज ने केशलोंच एक कमरे के भीतर चुपचाप कर लिया होता, तो बम्बई जैसी महानगरी में हजारों उच्च श्रेणी के व्यक्तियों के मध्य जैनधर्म की कैसी प्रभावना होती? केशलोंच का दृश्य अद्भुत था। आगत व्यक्तियों की आत्मा यह अनुभव करती थी कि इस महान् नगरी में सच्ची दृष्टि से १०८ दिगम्बर जैन मुनि नेमिसागर महाराज अलौकिक महात्मा हैं। अमृतचंद्र स्वामी ने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय में कहा है -

आत्मा प्रभावनीयः रत्नत्रय-तेजसा सततमेव।
दान-तपो-जिनपूजा-विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के तेज द्वारा सदा अपनी आत्मा की प्रभावना करनी चाहिए। दान, तप, जिनेन्द्रदेव की पूजा तथा विद्या के अतिशय द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करे।[१] धर्मप्रभावक कार्यों से मिथ्यात्वियों के मानस में जैनधर्म के प्रति गौरव का भाव जागृत होता है।

गुणभद्राचार्य और धर्म प्रभावना

धर्म की प्रभावना के लिए आचार्य गुणभद्र ने आठ अंग बतलाए हैं। तपश्चरण करना, लोगों को आनन्द प्रदान करना, धर्म का उपदेश देना, एकांतवादियों के अहंकार को चूर्ण करना, राजा के मन को वश में करना, शब्द तथा अर्थ से सुन्दर काव्य-रचना करना, सदाचार का पालन करना और पराक्रम दिखाना। इन कारणों से जैन शासन का प्रकाशन करना चाहिए -

निमित्तैरष्टधा प्रोक्तैस्तपोभिर्जनरंजकैः।
धर्मोपदेशनैरन्यवादिदर्पातिशातनैः ॥४१९॥

नृपचेतोहरैः श्रव्यैः काव्यैः शब्दार्थसुंदरैः।
सद्भिः शौर्येण वा कार्यं शासनस्य प्रकाशनम् ॥४२०॥

जैनधर्म की प्रभावना करना जीव के लिए कल्याणकारी है। प्रभावना द्वारा अहंकार का पोषण नहीं होता, जिनेन्द्र शासन की महत्ता जनता के मानस में प्रतिष्ठित होती है। आचार्य कहते हैं -

रुचिः प्रवर्तते यस्य जैनशासनभासने।
हस्ते तस्य स्थिता मुक्तिरिति सूत्रे निगद्यते ॥४२२॥

जैन शासन की प्रभावना करने में जिसकी रुचि है, उसके हाथ में मुक्ति है। ऐसा सूत्र में कहा है।

---

१. "One should ever make his own Self radiant by the light of three Jewels and should add to the glory of Jainism by exceptional charity, austerity, worship of Jina, the Conqueror and by learning. Prabhavana Anga is the 8th pillar of Right Belief.

English Translation - Purushartha-sidhyupaya.

गुणभद्र स्वामी का यह कथन धार्मिक व्यक्तियों के लिए विशेष ध्यान देने योग्य है -

कंटकानिव राज्यस्य नेता धर्मस्य कंटकान्।
सदोद्धरति सोद्योगो यस्य लक्ष्मीधरो नरो भवेत्॥४२६॥

-जो पुरुष राज्य कंटकों के समान धर्म के कंटकों को निकाल फेंकता है अथवा जो इसके उद्योग में लगता है, वह अवश्य ही लक्ष्मी का स्वामी होता है। सच्ची और स्थायी प्रभावना के लिए धन व्यय कर शान शौकत दिखाने और वैभव प्रदर्शन में पानी की तरह धन बहाना प्राणशून्य प्रभावना है। धार्मिक धनिक वर्ग को विवेकपूर्वक काम करना चाहिए।

आगम के इस प्रकाश में केशलोंच जैनधर्म की प्रभावना का विशिष्ट अंग स्पष्ट होता है। चुपके से एकान्त में केशलोंच का समर्थन करने वाले यह नहीं सोचते कि आज के अद्भुत शिथिलाचार पूर्ण युग में ऐसा करने से सच्चे-झूठे साधु का भेद ज्ञात नहीं हो पायगा। सबके समक्ष इस कार्य को करने से अनेक लाभ प्रत्यक्ष-अनुभव में आते हैं। ऐसी स्थिति में धर्म प्रभावना के लिए इस कार्य के प्रकाशन को अधिक महत्त्व देना आगम, युक्ति तथा अनुभव के अनुकूल बात है। इसे बुरा बताना विवेकहीनता का परिचायक है।

हमारा कर्तव्य

दुःख है कि स्वयं निकृष्ट जीवन बिताने वाले तथा पूर्व पाप के उदय से इस जन्म में भी कष्ट की स्थिति में पड़े हुए व्यक्ति भी अपने कर्मभार को हल्का करने के बदले उसे और गुरुतर बनाने की कृति में गुरु बनते हैं और शिष्यों को भी कुपथ में लगाते हैं। काल निकृष्ट है; अतः द्वेषबुद्धि लोगों के, चाहे वे धनवान हों या शास्त्रज्ञ नाम वाले हों, आदि के चक्कर में न आकर आगम और सद्भावना के प्रकाश में धर्म के कार्य करने में उत्साह रखना चाहिए।

धर्म का सामर्थ्य

धर्म के प्रसाद से एक धर्मात्मा व्यक्ति हजारों नीच व्यक्तियों के पाखण्ड के प्रासाद को पल भर में मिट्टी में मिला सकता है। छोटीसी पिपीलिका विशालकाय गजराज को गतप्राण बनाती है।

मार्मिक उपदेश

नेमिसागर महाराज ने केशलोंच के उपरान्त भूखी आत्माओं (Hungry Souls) को मधुरवाणी द्वारा बड़ा मार्मिक उपदेश दिया था। भूखे शरीर को तो मोदक आनन्द देता है; किन्तु भूखी आत्मा को ऐसे ही सद्गुरुजनों की वाणी आनंद तथा शक्ति प्रदान करती है। वह वाणी, तपस्वी की रहने से, उसका माधुर्य अनुभव की वस्तु है। लेखनी उसका वर्णन क्या कर सकती है? फिर भी उसका कुछ अंश देना मुमुक्षुओं के लिए परितोष तथा परितृप्ति का कारण होगा, यह सोचकर भाषण का सारांश लिखना उपयोगी है।

क्या कोई सुखी है

नेमिसागर महाराज ने बंबई में एकत्रित विशाल जन-समुदाय से पूछा - "बताओ! तुम सब में ऐसा कोई है, जो अपने को सुखी कह सके?" कोई भी हाथ उठा कर यह नहीं कह सका कि मैं सुखी हूँ। उस सभा में अनेक करोड़पति भी थे, राज्य के अनेक अधिकारी थे, अनेक वैभव वाले थे। सभी प्रकार के लोग थे; किन्तु कोई भी व्यक्ति महाराज के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका।

अतएव महाराज ने कहा - "जगत् में सभी जीव दु:खी हैं। धन है, तो स्त्री नहीं। दोनों है तो पुत्र नहीं। तीनों हैं, तो नीरोगता नहीं। यह भी है, तो मानसिक संतोष नहीं है। तृष्णा की अग्नि सदा जलती है।" महाराज ने कहा - "तुम समझते हो कि महाराज सुखी हैं, सो मैं भी सुखी नहीं हूँ। मेरा जन्म-मरण का दुख नहीं छूटा है। जब तक जन्म, मरण की विपत्ति नहीं दूर होती, तब तक कोई सुखी नहीं है। क्रूर काल सिर पर नाच रहा हो, तब कौन जीव सुखी होगा?

कर्तव्य

ऐसी स्थिति में गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह देवपूजा, पात्र-दान, जप, तप करे। घर में रहते हुए भी वह अष्टमी, चतुर्दशी को उपवास कर सकता है। उस अवस्था में आरंभ छूट जाता है, इससे काल धर्मध्यान में व्यतीत होता है। पापकर्म का आस्रव रुकता है। धीरे-धीरे पुराने कर्जे के समान, पूर्व बाँधा गया कर्म दूर होता है। जब यह जीव चार घातिया कर्मों का नाश करता है, तब वह आकाश में बिना सहारे के अधर रहता है। समवसरण की बारह सभा में बैठने वाले जीवों में प्रेम भाव रहता है। सिंह, गाय आदि के साथ खेलते हैं।" उन्होंने सब भव्य जनों को लक्ष्य में रखकर कहा - "आप सभी जीव

सिद्ध होने की सामर्थ्य रखते हैं। कर्मों में मोहनीय सबसे बलवान है। मोह रूप स्तंभ के गिरते ही सब कर्म सहज ही खिसकने लगते हैं। अतएव मोहनीय कर्म को जीतने का उद्योग करते रहना चाहिए।

निकृष्ट काल का बहाना

प्रश्न - "कोई-कोई यह कहते हैं कि पंचम काल में मोक्ष नहीं है, तब कष्ट क्यों उठाना चाहिए?"

इसके समाधान में महाराज ने कहा - "आत्म-कल्याण क्षण-मात्र में सम्पन्न नहीं होता। अनेक भवों में पुरुषार्थ तथा उद्योग किया जाता है। चक्रवर्ती भरत ने सात भव पूर्व तप किया था। जब वज्रजंघ और श्रीमती ने चारण मुनि को आहार दिया था, तब भरत के जीव व्याघ्र ने उस दान की अनुमोदना की थी। उस पात्रदान को धन्य कहा था। उस पात्रदान से उसको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ था। परिणाम-विशुद्धि के द्वारा वह भोग-भूमि गया था। वहाँ से स्वर्ग पहुँचा, फिर उस जीव ने तप धारण किया था। आदिनाथ भगवान के जीव ने दस भव पूर्व में महाबल राजा की पर्याय में, तप द्वारा आत्मकल्याण किया था, इसलिए प्रत्येक जीव को यथाशक्ति तप करके शक्ति संचय करना चाहिए।"

कुंदकुंद ऋषिराज कहते हैं, "तीर्थंकर मुनि बनने पर चारज्ञान को धारण करते हुए तप करते हैं। "वीरस्य घोरं तप:" वीरप्रभु ने घोर तपस्या की थी अत: मूढ़ता का त्यागकर महानज्ञानी को भी तप से नहीं डरना चाहिए। यह जैनशासन की देशना है कि शक्ति के अनुकूल ही तप करे। तप के द्वारा कर्मों की अधिक निर्जरा होती है, "तपसा निर्जरा च"।

"लोग आर्त-रौद्र भावों में निरन्तर उलझे रहते हैं। भगवान का नाम लेते हुए उनका मन दुष्ट विकल्पों को नहीं छोड़ता। 'णमो अरिहंताणं' यह कहते हुए पूछते हैं - तू कब आया? 'णमो सिद्धाणं' कहते हुए पूछते हैं - क्या रसोई बनी? संकल्प विकल्प को छोड़कर मनको जीतना तथा उसे एकाग्र करना अत्यन्त कठिन है।"

नम्रता

आचार्य नेमिसागर महाराज ने भाषण में कहा -

"पं. दिवाकरजी ने अपने भाषण में मेरी प्रशंसा की है और कहा है कि मैं बड़ा तपस्वी हूँ। यथार्थ बात यह है कि मैं सब मुनियों में जघन्य हूँ। हमारा लास्ट (अन्तिम) नम्बर है। मैं एक क्षुद्र कीट सदृश हूँ। पहले चतुर्थ काल में मुनियों के उच्च संहनन था।

समंतभद्र, कुंदकुंद, पूज्यपाद आदि पंचमकाल में मुनि हुए हैं। शास्त्र में कहा है कि पंचम काल के अंत तक मुनि-धर्म रहेगा।" गुणवान साधु अपने को छोटा सोचते हुए आगे बढ़ते हैं। गुणविहीन व्यक्ति सत्यमहाव्रत को भुलाकर स्वयं को श्रेष्ठ रूप में दिखाते फिरते हैं। मोह का सब तमाशा है।

मुनियों का निवास क्षेत्र

"उच्च संहनन वाले मुनि जंगल में रहते थे। इस काल में हीन-संहनन होने के कारण मंदिर, धर्मशाला तथा शून्यगृह में रहना कहा है। शून्यागार अर्थात् शून्य-घर में मुनि का निवास कहा गया है। जङ्गल में और शून्यागार में अन्तर है।"

आजकल धर्म की नौका वैसे ही पाप के तूफान से डगमगाती है। इस अवस्था में महाव्रती का स्वप्न भी कठिन था। भाग्य से नेमिसागर महाराज सदृश आत्मबली साधुओं का दर्शन होता है। वर्तमान वातावरण में सकल-संयमी रूप धार्मिक सिंहों का सद्भाव यथार्थ में अलौकिक और आश्चर्यप्रद बात है।

आज गृहस्थ लोग अपने समीप में निवास करनेवाले निर्ग्रन्थों के पास पहुँचने के योग्य समय नहीं निकाल पाते, ऐसे विचित्र भक्तों के होते हुए यदि मुनियों का निवास वन में हो, तो बड़ी विकट समस्या उत्पन्न होगी। बिना गृहस्थों के सहयोग के साधुओं की गाड़ी नहीं खिंचती। धर्म रूपी गाड़ी के गृहस्थ और मुनि रूप दो पहिए हैं। सम्पूर्ण परिस्थिति, लोक-श्रद्धा आदि को देखते हुए मुनियों का नगर में निर्वाह जब कठिन है, तब इस समय उनके तपोवन के निवास की कल्पना कैसी है, यह विचारक व्यक्ति सोच सकते हैं?

लोक की स्थिति में अन्तर

पहले की परिस्थिति में और आज की अवस्था में बड़ा अंतर है। आज निर्जन प्रदेशों में अचेतन जिनेन्द्र प्रतिमाओं के प्रति तो अन्य धर्मावलम्बी क्रूर व्यवहार कर उनको नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में सजीव साधुओं को एकान्त में पाकर मिथ्यात्वी जीव जो भी अनर्थ करें, वह थोड़ा है। जान बूझ कर आग में गिरना और संक्लेश-प्रचुर-संकट को आमंत्रण देना अच्छा नहीं है इसलिए काल और परिस्थिति के रहस्य को समझने वाले सत्पुरुषों ने, वीतराग महर्षियों ने आज मुनियों को वनवासी बनने के बदले में शून्यागार, जिन मंदिर आदि में आश्रय लेने को उचित कहा है। विचारक व्यक्ति सोच सकता है कि उक्त पद्धति का अवलंबन लेना वर्तमान विषम परिस्थिति में एकमात्र मार्ग

है; क्योंकि पंचम काल के अंत तक मुनि धर्म का सद्भाव आगम निरूपण करता है। जब वनवास विपत्ति प्रचुर है, तब वनवास को छोड़कर अन्यत्र निवास स्वीकार करना अपरिहार्य है। जो स्वयं अकर्मण्यों के आचार्य बने हुए प्राय: व्रताचरण-विहीन होते हैं वे व्यक्ति पवित्र आत्माओं पर भी दोष लगाने में नहीं चूकते। आगम के दर्पण में अपना मलिन मुख नहीं देखते।

चेतावनी

आचार्य नेमिसागर महाराज ने कहा कि - "धार्मिक समाज को ऐसे लोगों के फंदे में नहीं आना चाहिए, जो भगवान को झूठा कहते हैं और उनकी वाणी को मिथ्या बतलाते हैं। वे समझते हैं कि भगवान से भी बढ़कर उनका ज्ञान है।"

उनके ये शब्द अत्यन्त मार्मिक और अनमोल हैं - "यदि भगवान के विरुद्ध मैं बोलता हूँ, तो मैं भी मिथ्यात्वी हूँ। पंचमकाल के अंत में वीरांगद नाम के मुनि होंगे, आगम की इस बात को मानने में क्या बाधा है? अट्ठाईस मूलगुणों के सद्भाव में क्या आपत्ति है?" महाराज ने मुनि विरोधियों को लक्ष्य में रखकर पूछा - "बताओ। आज के मुनिजीवन में क्या बाधा है? उनके २८ मूलगुण नहीं होते या वे हिंसा, झूठ, चोरी आदि का त्याग नहीं करते हैं?

धर्म पालन हेतु उपदेश

"कोई-कोई आक्षेप करते हैं कि मुनि लोग शास्त्रों के उद्धार आदि की चर्चा क्यों करते हैं? मन्दिर-निर्माण की बात क्यों कहते हैं? यदि मुनि धर्मपालन का उपदेश न दें, तो किस बात का उपदेश दें? चोरी आदि पाप तो अपने आप आ जाते हैं, धर्म का ही उपदेश देना आवश्यक कार्य है?"

उद्दिष्ट दोष

मुनियों के आहार में उद्दिष्ट दोष आता है, ऐसी धारणा वालों का निराकरण करते हुए उन्होंने कहा - "लोग कहते हैं, आजकल मुनियों को उद्दिष्ट दोष लगता है। मुनि यदि कहें, हमें ऐसा आहार दो, यह आहार दो तो उद्दिष्ट दोष लगे। तुम अपना दोष महाराज के सिर पर क्यों रखते हो?" मुनि आहार के बारे में मन वचन काय, कृत, कारित अनुमोदना नहीं करते, अत: उनको दोषी मानना अनुचित है।

संघ निकालने में क्या दोष है?

मुनियों का संघ निकालने में दोष आता है, ऐसी विचारधारा वालों का प्रतिवाद

करते हुए उन्होंने कहा - "पहले कुन्दकुन्द स्वामी महान् संघ के साथ गिरनार की यात्रा को गए थे। इससे स्पष्ट होता है कि मुनियों के संघ की व्यवस्था धर्मात्मा श्रावक किया करते थे।" पारसपुराण से ज्ञात होता है कि पोदनपुर नरेश अरविंद राजा मुनि होकर शिखरजी की वंदना को संघ सहित गए थे। संपन्न, समर्थ, भक्त गृहस्थ संघ के योग्य सब व्यवस्था करते थे। सोचने की बात है, इसमें साधु को किस बात का दोष हो गया।

पुराण का कथन

महाराज ने बताया कि - "हरिवंश पुराण में कथन आया कि कृष्ण के जीव ने सात भाइयों सहित दीक्षा ली थी और मंदिर जी में निवास किया था। एक मुनि का मस्तक जल गया था, तब जिनदत्त सेठ ने उनको अपने घर पर लाकर योग्य वैयावृत्य की थी।[१] उन्होंने कहा - "आप लोग धोबी मत बनो। अपना-अपना वस्त्र स्वच्छ करो। तुम सब की बातें सुनो; किंतु शास्त्र में तथा व्यवहार में जो विरुद्ध नहीं है, वह करो। दूसरों के फंदे में मत फँसो। तुम क्यों डूबते हो?"

अनमोल बात

लोग बहुजन समाज द्वारा प्रशंसा की लालच से कुमार्ग में लग जाते हैं। ऐसों को महाराज समझाते हैं कि - "एक भी सत्पुरुष ने तुम्हारे कार्य की प्रशंसा की तो वह बड़ी बात है।" संस्कृत की एक सूक्ति भी महाराज के कथन का समर्थन करती हुई कहती है कि जिस व्यक्ति की प्रशंसा सच्चरित्र व्यक्ति न करे तथा मूढ़मति, पापी, चोर, शराबी आदि प्रशंसा करते हैं, वह सच्ची कीर्ति नहीं है - "कीर्तिः साऽकीर्तिरूपिणी" - वह कीर्ति यथार्थ में अकीर्ति स्वरूप है।

पाप विनाशक है

महाराज ने उपदेश के अंत में ये मार्मिक शब्द कहे थे - "जिसका पाप है, उसे

---

१. पुण्यास्रव कथाकोष में बताया है कि मणिमाली नाम के राजा ने मुनि दीक्षा ली। विहार करते हुए वे उज्जयिनी आए। वहाँ श्मशान में उन्होंने मृतकासन लगाकर ध्यान किया। वहाँ एक कापालिक आया। उसने दो मृतकों के कपालों को लाकर मुनि के मस्तक से लगाकर चूल्हा जलाया। उस समय आग की वेदना से मुनिराज का हाथ कंपित होकर शिर पर आ गया। यह देख वह कापालिक वहाँ से भाग गया। प्रभात में किसी वनमाली ने मुनिराज को देखकर उनका हाल उस नगर के धर्मात्मा सेठ जिनदत्त को सुनाया। जिनदत्त सेठ श्मशान गए। उन्होंने मुनिराज को किसी वसतिका में लाकर लक्षमूल तेल लगाकर उनके जले शरीर की चिकित्सा की। इससे वे नीरोग हो गये। यह कथा श्रेणिक चरित्र में दी गई है।

ही वह खाता है। श्रावक धर्म पालन करो। त्याग बिना कल्याण नहीं। भावना करो कि कब संसार से हम छूटें?'' यथार्थ में पाप जलता पहाड़ है। वह सबको भस्म कर देता है। पाप से बचना चाहिए।

यह कितनी अपूर्व बात है - ''भावना करो कि हम संसार से कब छूटें?'' हम संसार में फँसने का सदा उद्योग करते हैं। यथार्थ में शाश्वतिक शान्ति का बीजारोपण तब होता है, जब अंतःकरण में यह भावना उत्पन्न होती है कि अब हम संसार के जाल से निकल कर स्व-अधीन बनें। इस स्वतंत्रता का मार्ग वीतराग शासन का शरण ग्रहण करना है। प्रभो! प्रत्येक आत्मा में ऐसी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाय कि वह दुःखमय संसार से छूटकर आनंदधाम निर्वाण का अधिपति बन जाय।

नेमिसागर महाराज का त्यागमय, तपोमय, सौरभमय जीवन बना तथा वह प्रतिक्षण परिशुद्ध होता जा रहा है, इसके कारण आचार्य शांतिसागर महाराज थे। उनके उज्ज्वल जीवन ने कितने भव्यों का उपकार नहीं किया है? शिष्य मंडली के सुविकसित, समुन्नत तथा समुज्ज्वल जीवन में आचार्य महाराज का पवित्र प्रभाव सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

देश का भविष्य अंधकारपूर्ण

सन् १९५८ के व्रतों में १०८ नेमिसागर महाराज के लगभग दस हजार उपवास पूर्ण हुए थे और चौदह सौ बावन गणधर सम्बन्धी उपवास करने की नवीन प्रतिज्ञा उन्होंने ली, उस समय मैंने उनसे लोकहित को लक्ष्यकर पूछा - ''महाराज! लगभग दस हजार उपवास करने रूप अनुपम तथा लोकोत्तर तपःसाधना करने से आपके विशुद्ध हृदय में भारत देश का भविष्य कैसा नजर आता है? देश अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुष्काल, अन्नाभाव आदि के कष्टों का अनुभव कर रहा है। आपका हृदय इस विपत्ति-मालिका से मुक्ति पाने का क्या उपाय बताता है?''

महाराज नेमिसागर जी ने कहा - ''जब भारत पराधीन था, उस समय की अपेक्षा स्वतन्त्र भारत में जीववध, मांसाहार आदि तामसिक कार्य बड़े वेग से बढ़ रहे हैं। इनका ही दुष्परिणाम अनेक कष्टों का आविर्भाव तथा उनकी वृद्धि है।'' आचार्य शांतिसागर महाराज सदा कहा करते थे। - ''मांसाहार, जीव हिंसा, अतिलोभ, व्यभिचार वृद्धि, विलासिता के साधनों की प्रचुरता के द्वारा कभी भी आनन्द नहीं मिल सकता है। भारत शासन यदि प्रजा को सुखी देखना चाहता है, तो उसका पाप कार्यों से विमुख होना जरूरी

है। हरिण, बन्दर, मछली आदि जीवों की हत्या के कार्यों में राजसत्ता द्वारा उद्योग किया जाना सब संकटों का बीज है।

"व्यक्तिगत पापाचारों को पूर्णरूप से रोकना सहज नहीं है; किन्तु शासन-सत्ता सहज ही अपने पाप-व्यवसायों को रोककर अहिंसामूलक प्रवृत्तियों को प्रश्रय प्रदान कर सकती है। यदि भारत के कर्णधारों ने अपना ढङ्ग-रङ्ग न बदला, तो देश उत्तरोत्तर अधिक संकटग्रस्त होग।"

ये बहुमूल्य अनुभव उन मुनिराज ने हमें सुनाए थे। उनके कथन का औचित्य सूर्यप्रकाश के समान स्पष्ट है। देश में जो सात्त्विक तत्त्व जीवित है, उसका सङ्गठित होकर तामसिक विषमयी प्रवृत्ति को दूर करने का उद्योग वांछनीय है। पुण्य प्रवृत्तियों के आधार पर ही आनन्द का भवन खड़ा किया जा सकता है।

आचार्य पायसागर महाराज

कोल्हापुर से हम १०८ आचार्य पायसागर महाराज के दर्शन करने स्तवनिधि गए। पायसागर महाराज से हमने आचार्य महाराज के विषय में कुछ विशेष बातें बताने की प्रार्थना की।

आचार्य महाराज की विशेषता

श्री पायसागर महाराज ने कहा - "आचार्य महाराज की मुझ पर अनंत कृपा रही। उनके आत्म-प्रेम ने हमारा उद्धार कर दिया। महाराज की विशेषता थी कि वे दूसरे ज्ञानी तथा तपस्वी के योग्य सम्मान का ध्यान रखते थे। एक बार मैं महाराज के दर्शनार्थ दहीगाँव के निकट पहुँचा? मैंने भक्ति तथा विनय पूर्वक उनको प्रणाम किया। महाराज ने प्रतिवंदना की।" मैंने कहा - "महाराज! मैं प्रतिवंदना के योग्य नहीं हूँ।"

महाराज बोले - "पायसागर चुप रहो। तुम्हें अयोग्य कौन कहता है? मैं तुम्हारे हृदय को जानता हूँ।" महाराज के अपार प्रेम के कारण मेरा हृदय शल्यरहित हो गया। मेरे गुरु का मुझ पर अपार विश्वास था।"

असली प्रायश्चित्त

"महाराज ने आज्ञा दी कि पायसागर भाषण करो। महाराज पहले भी मुझे भाषण देने का आदेश देते थे। मैंने कहा - "बहुत वर्षों से गुरुदेव का दर्शन नहीं मिला था। मैं उनके चरणों में आत्मशुद्धि के लिए आया हूँ। मैं अपने को दोषी मानता हूँ। मैं अज्ञानी हूँ। गुरुदेव से प्रायश्चित्त की प्रार्थना करता हूँ।"

महाराज ने कहा - "पायसागर! चुप रहो। हमें सब मालूम है। तुमको प्रायश्चित्त देने की जरूरत नहीं है। आज का समाज विपरीत है। तू अज्ञानी नहीं है। तुझे अयोग्य कौन कहता है। मैं तेरे को कोई प्रायश्चित्त नहीं देता हूँ। प्रायश्चित्त नहीं भूलना यही प्रायश्चित्त है।"

आचार्यश्री की चेतावनी

जब आचार्य महाराज से अंतिम विदाई होने लगी, तब महाराज ने कहा - "पायसागर! बहुत होशियारी से चलना। स्व-स्वरूप में जागृत रहना।"

उन्होंने यह भी कहा था - "दुनिया कुछ भी कहती रहे, तू तो योग-निद्रा में लीन रहना।"

मैंने पायसागर महाराज को सोनागिरि में, आचार्य महाराज के स्मारक रूप में समवसरण निर्माण का वहाँ की कमेटी का, निश्चय सुनाया, तो महाराज आनंदित होकर बोले - "धर्म प्रभावना के कार्य में थोड़ा भी विरोध मिथ्यात्व है। प्रभावना का जो भी कार्य हो उसे ज्ञातकर हर्ष होना चाहिए।"

सोनागिरि संस्मरण

मैंने पूछा - "सोनागिरिजी में आपने मुनि दीक्षा ली थी। उस समय आचार्य महाराज ने आपको कौनसी चिरस्मरणीय बात कही थी?" मेरे इस प्रश्न के उत्तर में महाराज ने कहा - "आचार्य महाराज बोले, पायसागर! जब तुम गृहस्थ थे, तब भगवान की मूर्ति तक को नहीं मानते थे। अब हमारे साथ आते-आते तुम्हारे भावों में उज्ज्वलता आई। तुम्हारे भाव दिगम्बर मुनि बनने के हो गए। इस सोनागिरि सिद्धक्षेत्र में मुनि दीक्षा धारण करना, अशक्य बात थी; किन्तु तुम्हारा भाग्य है कि निर्वाण दीक्षा के लिए यह निर्वाणक्षेत्र प्राप्त हो गया। इससे तुम्हारा लघु मोक्षगामीपन (शीघ्र निर्वाण होना) प्रतीत होता है।"

सचमुच में श्रेष्ठ नाटककार, गायक तथा संसार के प्रपंच में फँसे हुए व्यक्ति का मुनिपद धारण करना आश्चर्यजनक घटना है।

जीवन सुधार का अपूर्व उदाहरण

पायसागर जी के एक निकट-स्नेही सज्जन ने बताया कि पहले ये ही महाशय जिनधर्म की निन्दा किया करते थे। कहा करते थे - "मुनि पशुतुल्य नग्न विचरते हैं। पत्थर की मूर्ति पर दूध डालना महामूर्खता है। जैन लोग महाअज्ञानी हैं।" इनका भाव मिथ्या-तापसी बनने का था; किन्तु गोकाक में आचार्य महाराज के दर्शनमात्र ने इस जीव के जीवन में चामत्कारिक परिवर्तन करा दिया। जीवन के परिवर्तन का पायसागर महाराज सदृश उदाहरण मिलना दुर्लभ है।

नाटकीय जीवन की विशेषता

पहले पायसागरजी के कानड़ी भाषा के रसपूर्ण गीतों का अर्थ न समझते हुए भी कोल्हापुर नरेश शाहू महाराज रात-रात भर जागकर इनके गायन की स्वर लहरी से मस्त हुआ करते थे। यथार्थ में पायसागरजी उस समय मोह की महिमा का प्रसार कर रहे थे, अब वे जिनधर्म की महिमा के अपूर्व प्रचारक बन गए। अन्धकारमय जीवन आध्यात्मिक ज्योति से जगमगा उठा।

पायसागर जी को दिगम्बर मुनिरूप में देखकर पुरानी अवस्था से मिलान करें, तो सचमुच में मनुष्य आश्चर्य के सिन्धु में डूबे बिना न रहेगा। पहली अवस्था में यही व्यक्ति ओवर कोट-पेंट पहने, टोप, टाई अलंकृत, सिगरेट मुँह में दबाए हुए, अंग्रेजी प्रभावापन्न था। इतना अवश्य है कि पहले भी इनकी रुचि अध्यात्मशास्त्र की ओर थी।

पायसागर महाराज महान् कलाकार थे। वे मुनि बन गए थे, फिर भी उनमें पूर्व कला की अभिव्यक्ति मोक्षमार्ग के अभिनेता के रूप में दृष्टिगोचर होती थी। भाषण देते समय पायसागर महाराज अपनी वाणी, हस्त, मुखादि की चेष्टाओं द्वारा पदार्थ का निरूपण करते थे, उस समय श्रोतागण अत्यन्त शांतभाव पूर्वक उपदेशामृत को पीते जाते थे। वे मन्त्रमुग्ध सरीखे हो जाते थे। कहावत है - "मूल स्वभाव जाई ना - मूल स्वभाव नहीं जाता।" इस नियमानुसार पायसागर जी में कुछ विलक्षणता थी। अब उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ वीतराग रस को उद्दीपनता प्रदान करती थीं।

पायसागरजी संबंधी संस्मरण

उनका एक मधुर संस्मरण पूज्य नेमिसागर महाराज ने इस प्रकार सुनाया था - "बैठे-बैठे पायसागर जी ने मृत व्यक्ति का अपनी मुद्रा द्वारा ऐसा चित्रण किया कि ऐसा लगता था, मानों शरीर में प्राण नहीं है और वह शव ही हो। वे अपूर्व कलाकार थे। अन्त में उन्होंने आत्म-कला में अपूर्वता प्राप्त की।"

मुनि आदिसागर महाराज ने बताया था कि "पायसागर जी की गृहस्थावस्था अद्‌भुत थी। उनका अभिनय अपूर्व होता था। यदि कभी वे रङ्गमञ्च पर आकर इधर से उधर एक बार ही जाते थे, तो प्रेक्षकवर्ग हँसते-हँसते थक जाता था।"

पायसागर महाराज की वाणी में अद्‌भुत जादू था। हजारों अजैन उनके भाषण में सपरिवार पहुँचते थे। सब लोग उनको अपना साधु सदृश समझने लगते थे। वाणी बहुत सरस रहती थी। श्रेष्ठ वक्ता के गुण उनमें थे। उनका भाषण सुनते ही बनता है। आचार्य शांतिसागर महाराज इनको ही विशिष्ट अवसरों पर उपदेश के लिए चुना करते थे।

महत्त्वपूर्ण पत्र

पायसागर महाराज के विचारों से अंकित पत्र भी महत्त्वपूर्ण हैं। एक पत्र में लिखा था - "अक्षर और अंक विद्या नेत्र युगल सदृश हैं। सुविद्वानों की कलह में दुःख की वृद्धि है। कुविद्वानों के संगठन द्वारा पाप कलहादि की वृद्धि होकर राष्ट्र का अकल्याण

होगा। वर्षाकाल में पुष्पों पर विपुल जल डालने की अपेक्षा ग्रीष्मकाल में अल्पजल का सिंचन करना विशेष महत्त्वपूर्ण है। आज के निकृष्ट काल में सद्धर्म का पालन करना बड़ी बात है। समृद्धि में दान देने का उतना महत्त्व नहीं है, जितना दारिद्र्य में थोड़ा भी दान देना गौरवपूर्ण है। आज भगवान जिनेन्द्र के पवित्र धर्म को बड़ों-बड़ों ने छोड़ दिया है। हम दरिद्री बन गए हैं। जैन थोड़े हैं। सम्यक्त्वी और थोड़े हैं, इससे हम दरिद्री हो गए हैं। ऐसी अवस्था में धर्म के वृक्ष के लिए वात्सल्य पूर्वक एक लोटा जल डालने सदृश थोड़ी भी सहायता महत्त्वपूर्ण है।''

१०८ पूज्य पायसागर महाराज अशक्त हो गए। उन्होंने अपना आचार्य पद १०८ मुनि अनंतकीर्ति महाराज को प्रदान किया था।

सर्वतोभद्र जीवन

आचार्य पायसागर जी का जीवन शांतिसागर महाराज के सत्संग के प्रसाद से सर्वतोभद्र रूप में परिणत हो गया था। स्तवनिधि में दो वर्ष पूर्व उनके दर्शन का सौभाग्य मिला था। पश्चात् उसी स्तवनिधि में पहुँचे। उस कुटी में गए, वहाँ से वे एक वर्षपूर्व स्वर्ग यात्रा कर गए। धन्य है जिनेन्द्र भगवान का धर्म और संयम की महिमा। अंजन चोर पाप का त्यागकर निरंजन परमात्मा बन गया। उसी वीतराग धर्म ने गोकाककर नाटकाचार्य को धर्माचार्य बनाया और उसके द्वारा उनका जीवन निष्कलंक रूप बना। आत्मा में दोनों प्रकार की शक्ति है, वह राक्षस भी बन सकता है और देवराज भी हो सकता है।

अध्यात्म रस

रोग से जर्जरित उनका शरीर था। पूर्व के असंयमी और अधर्मी जीवन के कारण निसर्ग के नियमों का जो अतिक्रमण हुआ था, उससे प्रकृति ने शरीर को सजा देने में तनिक भी करुणा नहीं दिखाई।

तत्त्वज्ञाता पायसागर महाराज अपने भावों को बहुत स्थिर रखते थे। अध्यात्म विद्या का रस जीवन में समा गया था। वे सदा अपने को चैतन्यमयी आत्मा जानते थे, मानते थे, अनुभव करते थे। शरीर के प्रति कोई भी मोह, ममता, आसक्ति उनके पास नहीं थी। ''आत्मा ज्ञाता है, द्रष्टा है'' यह तत्त्व उनकी दृष्टि में सुस्पष्ट रीति से जम चुका था। शरीर सरोग था; किन्तु आत्मा काफी नीरोग थी। इससे वे सदा प्रसन्न, शान्त तथा निराकुल रहते थे। उनका आत्मबल और स्वरूप में स्थिरता विलक्षण थी। अध्यात्म शास्त्र में शरीर की वेदना दूर करने की अपूर्व क्षमता है। उसका सच्चा अभ्यास, अध्ययन

पायसागर महाराज के संघ का एक मनोहर दर्शन

साधकों, साधुओं एवं साध्वियों सहित सन्तशिरोमणि

तथा मनन चाहिए। उसके रस-पान द्वारा देहासक्ति कम होती है, आत्मोन्मुखता वृद्धिंगत होती है। जैसी जैसी आत्म-निमग्नता विकास को प्राप्त होती है, वैसी वैसी शरीरादि की आकुलता कम कष्ट देती है।

विज्ञान का कवच

वह जीव अपने को पुद्गल का स्वामी नहीं सोचता। मैं चैतन्य ज्योतिर्मयी हूँ, यह विश्वास विपत्ति की बेला में आत्मा को कवच का कार्य करता है। इस विज्ञान कवच पर मोह के बाण कुछ भी असर नहीं करते। ऐसा विज्ञान का, सद्विचार का तथा पवित्र श्रद्धा का कवच पायसागरजी ने पहिना था। इससे इन्होंने समाधि द्वारा अपने जीवन को कृतार्थ कर लिया। मनुष्य जन्म में प्राप्तव्य को पा लिया।

प्रभावशाली साधुराज

कोल्हापुर के स्नेही बन्धु श्री गजानन भाऊ मूग मिले। उनकी पायसागर महाराज के प्रति बहुत भक्ति थी। उन्होंने सारपूर्ण अल्प शब्दों में कहा -

"पायसागर महाराज महान् विद्वान् थे। वे मार्मिक वक्ता, समयज्ञ एवं प्रभावशाली साधुराज थे। अन्य धर्मावलम्बी लोग उनकी मधुर, ओजपूर्ण, सयुक्तिक तथा सरस वाणी से शीघ्र प्रभावित होकर भक्त बन जाते थे। जब महाराज सोलापुर गए थे तब दो, तीन उद्दंड मुसलमान उनके पास आए। जिस समय उन लोगों ने महाराज की वाणी सुनी, उनका मार्मिक प्रतिपादन सुना, उसी समय वे प्रभावित होकर उनके भक्त हो गए थे।"

चमत्कारपूर्ण जीवन

भाऊसाहब लाटकर पायसागर महाराज के विश्वासपात्र रहे। वे उनके निकट संपर्क में रहे थे। भाऊ साहब ने कहा - "पायसागर महाराज का जीवन चमत्कारपूर्ण था। मैंने उनको नाटक कम्पनी के संचालक, सूत्रधार तथा महान् अभिनेता के रूप में देखा था। मैंने संसारवर्धक नाटक मण्डली के सर संचालक के रूप में नाटकी रामचंद्र गोकाककर को देखा और मैंने उनको ही पायसागर महाराज के रूप में जीवन परिवर्तन के पश्चात् मोक्षमार्ग का प्रणयन करते हुए नाटक-समयसार का अभिनय करते हुए देखा। जिस प्रकार पहले वे हजारों दर्शकों के चित्त को मोहित करते थे, उससे भी अधिक जन समुदाय को वे अपनी ओर आकर्षित कर आत्म के मोह को दूरकर आध्यात्मिक प्रकाश प्रदान करते थे। उनका जीवन-चित्र अंधकार तथा प्रकाश पूर्ण स्थिति का द्योतक था।"

उन्होंने विषय-विष को अमृत मानकर अमर्यादित रूप में पान किया था, पश्चात्, विरक्तिभाव जगने पर उन्होंने उसका त्याग भी लोकोत्तर रूप में किया था। उनकी विषयों के प्रति गहरी तथा आंतरिक विरक्ति थी। विषयों के अंतस्तत्त्व को देखने के कारण वे अपने उपदेशों में जिस सजीव वाणी द्वारा उनकी निस्सारता का चित्रण करते थे, उसका गजब का प्रभाव पड़ता था। शब्दों के वे जादूगर थे। वाणी में अपार माधुर्य, आकर्षण, विनोद आदि विविध रसों का समावेश होता था। उनके उपदेश में हजारों अजैन जैन ऐसे शान्त, ध्यान-युक्त, एक-चित्त होकर बैठते थे, मानों कोई महामांत्रिक या जादूगर अपनी उच्चतम कला का प्रदर्शन कर रहा है। अपरिमित जनसमुदाय को जब उनकी मंगलमयी धर्मदेशना का लाभ प्राप्त होता था, तब अखण्ड शान्ति उत्पन्न होती थी। पहले वे विभावभाव के उच्च नाटकी थे, अब वे अध्यात्मभाव तथा शांतरस को जगाने वाले नाटकाचार्य हो गए। जैसे वे नाटक में खेल करते थे, वैसे वे अनुभव के रस में खेल करते थे। इस खेल द्वारा वे कर्मबंधन रूप स्कन्धों को छिन्न-भिन्न करते रहते थे।

आनंदाश्रुओं का प्रवाह

कई बार वे आत्मरस में मग्न हो भाषण देते जाते थे। नेत्रों से आनंद की अश्रुधारा बहती जाती थी। श्रोतालोग भी आनंदरस में डूब जाते थे। उनके भी नेत्रों से वह आनंदपूर्ण अश्रुधारा निकल पड़ती थी। ऐसे अलौकिक वक्ता का जीवन में कहीं भी दर्शन नहीं हुआ।

पापक्षय का उपाय

पूर्व में सेवन किए गए दुर्व्यसनों के फलस्वरूप उनका शरीर रोगों का केन्द्र बन गया था। उस सम्बन्ध में वे कहा करते थे - ''मैंने जो कर्म किए हैं, उनका फल मुझे ही भोगना पड़ेगा। उसकी कोई औषधि नहीं है। पापक्षय के उपाय हैं - आत्म स्वरूप का चिंतवन करना, ज्योतिर्मय जिनेन्द्र की भक्ति करना तथा अपने स्वरूप को ध्यान में रखना। सूर्योदय द्वारा जिस प्रकार अन्धकार दूर होता है, इसी प्रकार जिनेन्द्र स्मरण तथा आत्मदेव के प्रकाश द्वारा मोह तथा विपत्ति का अंधकार नष्ट होता है। जागृत रहकर सदा आत्म कल्याणार्थ उद्योग करते रहना चाहिए।

महाप्रयाण

पायसागर महाराज कहते थे - ''मेरा समय अब अति समीप है। मैं कब चला जाऊंगा, यह तुम लोगों को पता भी नहीं चलेगा।'' हुआ भी ऐसा ही। प्रभातकाल में वे

अध्यात्मप्रेमी साधुराज ध्यान करने बैठे। ध्यान में वे निमग्न थे। करीब ७ ।। बजे लोगों ने देखा, तो ज्ञात हुआ कि महान् ज्ञानी, आध्यात्मिक योगीश्वर पायसागर महाराज इस क्षेत्र से चले गए। पक्षी पिंजड़ा छोड़कर उड़ गया।

सर्वप्रिय गुरुदेव

उनके स्वर्गारोहण के समाचार को सुनकर जैन समाज के सिवाय अजैन लोग भी बहुत दुःखी हुए। पायसागर महाराज अद्भुत लोकप्रिय साधु थे। सैकड़ों ग्रामवासियों ने दुःखी होकर आहार छोड़ दिया था। वे पायसागर अर्थात् क्षीर के सागर थे। दूध बालक, वृद्ध, युवा सब को प्रिय लगता है। वह सब को पोषण प्रदान करता है। ऐसे ही पायसागर महाराज थे। वे सर्व प्रिय थे। सब जीवों की आत्माओं को अपनी अमृतवाणी के द्वारा पोषण प्रदान करते थे। उनका जीवन अद्भुत भोगी तथा श्रेष्ठ योगी की अवस्था का अपूर्व संगम था।

उन्होंने शांतिसागर महाराज जैसी आत्मा का सुयोग प्राप्त कर अपना जन्म कृतार्थ कर लिया। वे इतने महान् हो गए कि उनका नाम भी हम लोगों को कृतार्थ करेगा। आचार्य पायसागर महाराज आप धन्य थे। आपकी विशुद्ध विरक्ति तथा आध्यात्मिक वृत्ति को शतशः प्रणाम हैं।

समाधि की तैयारी

कोल्हापुर में ब्र. माणिकबाई आदि से पायसागर महाराज के विषय में अनेक महत्त्व की बातें ज्ञात हुईं। वे उनकी समाधि वेला में स्तवनिधि में उपस्थित थीं। उनको उन साधुराज की शरण में बहुत समय व्यतीत करने का सौभाग्य भी मिला है।

माणिकबाई ने बताया - ''पायसागर महाराज की उच्च समाधि हुई; क्योंकि आचार्य शांतिसागर महाराज के स्वर्गवास होने के अनन्तर ही उनका ध्यान समाधि की तैयारी की ओर विशेष आकर्षित हो गया था। वे मृत्यु से युद्ध करने को तैयार बैठे थे। उस समय से उनकी विरक्ति के भाव बहुत ही वर्धमान हो रहे थे।''

आचार्यश्री के विषय में उद्गार

आचार्य महाराज में उनकी अपार भक्ति थी। वे कहते थे - ''मेरे गुरु चले गए। मेरे प्रकाशदाता चले गए। मेरी आत्मा की सुध लेने वाले गए। मेरे दोषों का शोधन करके उपगूहनपूर्वक विशुद्ध बनानेवाली वंदनीय विभूति चली गई। मेरे धर्मपिता गए। मुझे भी

उनके मार्ग पर जाना है।" उनकी समाधि की स्मृति में उन्होंने गेहूँ का त्याग उसी दिन से कर दिया था। उसके पश्चात् उन्होंने जङ्गल में ही निवास प्रारम्भ कर दिया था। वे नगर में पाँच दिन से अधिक नहीं रहते थे। उनकी दृष्टि में बहुत विशुद्धता उत्पन्न हो गई थी।

आत्म प्रभावना

वे कहते थे - "अब तक मेरी बाहरी प्रभावना खूब हो चुकी। मैं इसे देख चुका। इसमें कोई आनन्द नहीं है। मुझे अपनी आत्मा की सच्ची प्रभावना करनी है। आत्मा की प्रभावना रत्नत्रय की ज्योति के द्वारा होती है। इस कारण मैं इस पहाड़ी पर आया हूँ। मैं अब एकान्त चाहता हूँ। अपने आत्म-परिवार के साथ मैं अब एकान्त में रहना चाहता हूँ। शील, संयम, दया, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्यादि मेरी आत्मा के परिवार की विभूतियाँ हैं। मैं उनके साथ खेल खेलना चाहता हूँ। इससे मैं असली आनन्द का अमृतपान करूँगा। मैं कर्मों का बन्धन नहीं करना चाहता। मैं आत्मगुणों की दीवाली मनाना चाहता हूँ तथा कर्मों की होली करना चाहता हूँ। कर्मों के ध्वंस करने का मेरा अटल और अचल निश्चय है।"

आलंद में इनका चातुर्मास नगर के भीतर न होकर बाहर हुआ था। पहले उनके आहार के उपरान्त भक्त श्रावक गण बाजे-गाजे आदि के द्वारा अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए प्रभावना करते थे। अब पायसागर महाराज ने ये सब बातें बन्द करवा दीं। आचार्य महाराज की समाधि के पश्चात् उनकी जीवनदृष्टि में विलक्षण परिवर्तन हो गया। ऐसा दिखता था कि अब पायसागर महाराज आत्मशुद्धि के पथ पर वेग से बढ़ते जा रहे हैं। उनका मन वीतरागता के रस में निरन्तर निमग्न रहता था।

समाधि की तैयारी

समाधि की तैयारी की दृष्टि से उन्होंने ज्वांरी की अंबिल लेना शुरू कर दी थी। दूध, दही, शक्कर, नमक आदि सभी रसों का परित्याग कर दिया था। शरीर के रोगी रहने से मात्र घी नहीं छोड़ा था। यह क्रम पन्द्रह माह पर्यन्त चलता रहा। वे कहते थे - "अब मुझे अपने जीवन के एक-एक क्षण का उपयोग समाधि के लिए उपयोगी सामग्री के संचय में लगाना है।"

मार्मिक प्रश्न

उनसे तत्त्वचर्चा में बहुत आनन्द मिलता था। सदा जैनधर्म के अनुपम रहस्यों की चर्चा चला करती थी। एक दिन किसी ने पूछा - "महाराज! कोई व्यक्ति निर्ग्रंथ मुद्रा

को धारण करके उसके गौरव को भूलकर यदि अकार्य करता है, तो उसको आहार देना चाहिए या नहीं?"

समाधान

उन्होंने कहा - आगम का वाक्य है - "भुक्तिमात्र-प्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्" - अरे! दो ग्रास भोजन देते समय साधु की क्या परीक्षा करना? उसको आहार देना चाहिए। बेचारा कर्मोदयवश प्रमत्त बनकर विपरीत प्रवृत्ति कर रहा है। उसका न तिरस्कार और न पुरस्कार ही करे। भक्तिपूर्वक ऐसे व्यक्ति की सेवा नहीं करना चाहिए।"

लोकहित

उनका उपदेश बड़ा सजीव होता था और सुनते ही बनता था। उसे सुनकर मन में पवित्र भाव, त्याग तथा वैराग्य के परिणाम उत्पन्न होते थे। आत्मा के वैभव की तरफ दृष्टि जाती थी। उन्होंने हजारों क्या लाखों लोगों को मांस, मदिरा आदि का त्याग कराकर सदाचार का प्रचार किया था। अपने विहार द्वारा अनेक जीवों का उपकार करते हुए वे चातुर्मास के लिए स्तवनिधि अतिशय क्षेत्र में आए। वे कहते थे - "यह स्थान मेरी समाधि के योग्य है।"

वे आत्म-रस में डूबकर आनंदविभोर होकर कभी कनड़ी भाषा में, कभी मराठी भाषा में तत्काल काव्य-रचना करते हुए बड़ा सुखद तथा मर्मस्पर्शी विवेचन करते थे। उनकी प्रतिभा बड़ी अलौकिक थी। बड़े-बड़े राज्याधिकारी तथा अन्य संप्रदाय के प्रमुख व्यक्ति तथा आम जनता और व्यक्ति उनके उपदेश से आत्मप्रकाश तथा अपूर्व प्रेरणा प्राप्त करते थे।

सत्य वाणी

अपनी समाधि के बारे में वे बहुधा कहते थे - "मेरी परलोक यात्रा इस प्रकार की समाधि पूर्वक होगी कि किसी को भी पता नहीं चल पायेगा। मैं अपने विषय में पूर्ण सावधान हूँ।" उनकी वाणी अक्षरशः सत्य हुई। आश्विन वदी अमावस्या सन् १९५८ में वे स्वर्गवासी हो गए।

वे आत्मजागरण तथा उपयोग शुद्धि के लिए आत्मा को प्रबोध प्रदान करने वाले मंत्रों तथा आगम के वाक्यों का सदा उच्चारण किया करते थे। अपनी अखण्ड शांति तथा आनंद की धारा को आघात न पहुँचे, इसलिए वे समीपवर्ती शिष्य मंडली को भी अपने पास आने का निषेध करते थे।

आत्मयोगी की अपूर्व चर्या

उनकी आत्म-निमग्नता, आत्म-विचार तथा तत्त्व-चिंतन आदि अद्भुत थे। चलते-चलते वे एकदम रुक जाते थे। पैर नहीं बढ़ते थे। वे ध्यान में खड़े रहते थे। कभी-कभी ऐसा होता था कि वे शौच के लिए रवाना हुए; किन्तु मार्ग में रुककर खड़े हो जाते। लोग देखते थे कि महाराज तो आत्मध्यान में निमग्न हैं। किसी निर्धन को यदि चिंतामणि रत्न मिल जाय, तो वह उस रत्न को बड़े प्रेम, आदर तथा ममता से बार-बार देखकर हर्ष प्राप्त करता है, इसी प्रकार आत्मयोगी पायसागर महाराज विश्व में अनुपम आत्मनिधि को प्राप्तकर जहाँ चाहे वहाँ; जब चाहे तब, उसका दर्शन करते थे, आनंद प्राप्त करते थे। समाधि द्वारा ब्रह्मदर्शन करने वाले योगियों के समान पायसागर महाराज की अवस्था हो रही थी। विषयों की निस्सारता का उन्होंने स्वयं आवश्यकता से अधिक अनुभव कर लिया था, इससे उनका हृदय विषय सुखों से पूर्ण विरक्त हो चुका था। वह उस ओर न जाकर सदा अपनी ओर ही उन्मुख रहता था।

उनकी अवस्था देखकर रत्नाकर कवि रचित **भरतेश वैभव** में वर्णित चक्रवर्ती भरत महाराज का चित्रण सहज ही नेत्रों के समक्ष आ जाता था। भोगी के समक्ष सदा विषयों का नृत्य होता रहता है। आत्मयोगी की अवस्था निराली होती है। वह सदा आत्मनिधि के सौन्दर्य को देखकर हर्ष प्राप्त करता है।

निरन्तर आत्मचिन्तन

आत्मध्यान में वे इतने निमग्न रहते थे, कि उनको समय का भान नहीं रहता था। कभी-कभी चर्या का समय हो जाने पर भी वे ध्यान में मस्त बैठे रहते थे। उस समय कुटी की खिड़की से कहना पड़ता था कि आपकी चर्या का समय हो गया। इस अवस्थावाले पायसागर महाराज के चित्र से क्या पूर्व के व्यसनी नाटकी रामचन्द्र गोकाककर के जीवन की तुलना हो सकती है? जिस प्रकार राहु और चन्द्र में तुलना असम्भव है, इसी प्रकार उनके पूर्व-जीवन तथा वर्तमान में रञ्चमात्र भी साम्य नहीं था। तप, स्वाध्याय तथा ध्यान के द्वारा उनका जीवन सुवर्ण के समान मोहक बन गया था।

उनकी विलक्षण अवस्था का वर्णन सुनकर लोगों की समझ में नहीं आयगा; किन्तु हमने तो प्रत्यक्ष देखा है कि आहार करते-करते कभी-कभी वे चुप खड़े रह जाते थे। वे भूल जाते थे कि उनको आहार करना है। उस अवस्था में कहना पड़ता था - ''महाराज! आपको आहार लेना है'', तब उनका ध्यान बदलता था।

अद्भुत योगी

वे विलक्षण योगी थे। उनका मन आत्मा के सिवाय अन्यत्र नहीं जाता था। पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि आत्मदर्शी योगी चलते हुए भी नहीं चलता सरीखा है, भोजन करते हुए भोजन नहीं करता है, बोलते हुए भी नहीं बोलता सदृश है। यह दशा प्राप्त करने का अलौकिक सौभाग्य पायसागर महाराज को प्राप्त हुआ था।

आहार के समय कभी-कभी कुछ हल्ला हो जाता था, तो आहार के उपरान्त कहते थे - "तुम मेरे आत्मविचार में क्यों विघ्न डालते हो? थोड़ा-सा भोजन देकर मेरी आत्म-निमग्नता को क्यों बाधा देते हो? यदि तुमने शांति नहीं रखी, तो मुझे तुम्हारी रोटी की परवाह नहीं है। मुझे अपनी आत्मा का कल्याण करना है। याद रखो, मैं शरीर का दास नहीं हूँ। शरीर मेरा नहीं है। मैं क्यों उसकी दासता करता फिरूँ?"

आदहिदं

उन्होंने अपना आचार्यपद अनन्तकीर्ति मुनि महाराज को दे दिया था; अत: अब तो वे साधु परमेष्ठी हो गए थे। इससे उन्होंने अपने शिष्यों को कह दिया था कि - "तुम्हें स्वयं अपना कल्याण करना है। अब मैं तुम्हारे लिए अपना समय नहीं दे सकता। मैं अपनी आत्म-साधना के कार्य को नहीं छोड़ सकता।" "परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव" - "परोपकार की स्थिति को छोड़कर अपनी आत्मा का हित साधन कर, ऐसी आगम की आज्ञा की ओर उनका ध्यान था।"

वे कहते थे - "इतने दिन तो परोपकार किया। उपदेश दिया। धर्म प्रभावना के कार्य किए। अब मुझे दूसरी जगह जाना है। अब अपनी तैयारी करना है। अब तुम्हारी फिकर करने के लिए मेरे पास समय नहीं है। मैं तुम्हें समझाऊँ भी क्या? तुम भी स्वयं समर्थ हो। तुमको भी अपनी आत्मा से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए। बाहरी प्रकाश की जरूरत नहीं है। कमसे कम मुझे तो बाहरी वस्तु की जरूरत नहीं है। मेरे पास तो मेरी निधि है, मेरा भंडार है। मेरा जीवनसर्वस्व है। मेरा भगवान है।" अब वे सोचते थे, "**आदहिदं सुट्ठु कादव्वं**" - आत्महित अच्छा है। मुझे वही करना चाहिए।

क्रांतिमयी जीवनी

जिन व्यक्तियों ने पायसागर महाराज की आत्मविकासयुक्त अवस्था को नहीं देखा है, उनके जीवन में कितनी बड़ी क्रान्ति हुई है, इसका परिचय नहीं प्राप्त किया है

और जिनके चित्त में उनका पूर्व जीवन ही टंकोत्कीर्णरूपता धारण किए हुए हो, वे पायसागर जी की महत्ता और गहराई की कल्पना भी नहीं कर सकते।

निर्विकल्प समाधि

मैंने सन् १९५७ में आश्विन मास में पायसागर महाराज के पास स्तवनिधि जाकर पूछा था - "महाराज! निर्विकल्प समाधि कैसी होती है?"

उस समय वाणी द्वारा कुछ उत्तर न देकर वे ध्यान में डूब गए थे। उस समय ऐसा लगता था कि पायसागर महाराज यहाँ नहीं हैं। आत्मा के सागर में वे निमग्न हो गए हैं। मेरे प्रश्न का उत्तर हो चुका कि विकल्प को त्यागकर अपनी आत्मा में निमग्न हो जाना निर्विकल्प समाधि है।

आक्षेप का निराकरण

एक समय एक व्यक्ति ने अपवित्र भावना से प्रेरित हो उनके पूर्व के व्यसनी और विलासी जीवन को लक्ष्य करके पूछा - "महाराज! आगम में ऐसा वर्णन आया है कि मुनि दीक्षा लेने वाले अनेक मुनि नरक जावेंगे?"

महाराज ने शंकाकार के अभिप्राय को पूर्ण रीति से समझ लिया और कहा - "भाई! मैं तो आगम को प्राण मानता हूँ। आगम के प्रकाश में चर्या करता हूँ। इससे मेरे विषय में संकेत करने का क्या अभिप्राय है? यदि मैंने पूर्वसंचित पापों के संशोधनार्थ परमपूज्य शांतिसागर महाराज जैसी विवेकी आत्मा से दीक्षा न ली होती, तो निश्चय से मैं नरक गति का पात्र होता। उन परम कल्याणकारी गुरुदेव ने पतन से मेरी रक्षा करके मेरा महान उपकार किया है। उसका वर्णन करने की मेरी ताकत नहीं है।"

"एक बात और है, कि अब अध्यात्म के अभ्यास से मुझे नरकगति, देवगति, तिर्यंचगति तथा मनुष्यगति में कोई भेद नहीं दिखता। मैं परमज्योति, परमात्मा रूप चैतन्य ब्रह्म का दर्शन करता हूँ। नर-नारकादि तो विभाव पर्याय हैं। मैं चैतन्य ज्योति का स्वामी हूँ। स्वामी क्या, स्वयं चैतन्य ज्योति हूँ।"

आत्मदेव की आराधना

वे आत्मदेव को लक्ष्य करके बड़े सुन्दर मंत्रों की रचना करते हुए मंत्र पाठ करते थे। कभी वे यह पाठ पढ़ते थे - "ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं मम ज्ञानगुणाय, दर्शनगुणाय, चारित्रगुणाय नमोनमः, सुखगुणाय, वीर्यगुणाय, चैतन्यगुणाय, नमोनमः। स्वात्म-

समाधिरस्तु। ॐ नमोऽर्हते भगवते मम स्वरूपाचरणसिद्धिरस्तु। ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं मम वीतराग भाव देवाय नमोनमः शांतिगुणसिद्धिरस्तु, स्वात्मधर्म-भावना-पुष्टिरस्तु। योगसागरोहं, ज्ञानसागरोहं, गुणसागरोहं वीतराग, निरंजन, सिद्ध सर्वकल्याणमस्तु स्वाहा।"

भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार था। टकसाल में निरन्तर ढलकर निकलने वाले सिक्कों में जैसी चमक रहती है, ऐसी ही मधुरता, आकर्षकता उनके मुख से ढलकर निकलने वाले शब्दों में रहती थी। पहले वे नवरसमयी शृंगार-वीर-रौद्र आदि रसपूर्ण उपदेश देते थे। सकल संयमी की स्थिति में भी उन्होंने नवरसमयी कथन जारी रखा था। पहले नव रसमय कथन था, अब नवरस अर्थात् नवीन रस शान्त रस को उद्दीप्त करती वाणी निकलती थी। विशेष विचारों में निमग्न होने पर जो वाग्धारा कर्णगोचर होती थी, वह अभूतपूर्व लगती थी। आत्मदेव की उन्मुखता द्वारा रसपान करने के पश्चात् वे कहने लगे - "मैं मोक्षलक्ष्मी अर्थात् निर्वाण रूपी संपत्ति को प्राप्त करना चाहता हूँ, दूसरों की चिंता करते-करते चिता में नहीं जाना चाहता हूँ। अब मुझे अपनी आत्मा की सम्हाल करना है। अब मुझे अवकाश नहीं है।"

जिन-संपर्क-संलग्न

उनकी वीतराग भावना बलवती हो रही थी। वैराग्य परिणति बड़े वेग से बढ़ रही थी। उन्होंने समीपवर्ती लोगों को कह दिया - "मैं अब पत्रों द्वारा किसी को कोई समाचार या संदेश नहीं भिजवाऊंगा, न किसी के पत्र ही पढ़ूंगा। इस पत्र व्यवहार की प्रक्रिया द्वारा जन-संपर्क बढ़ता है, मेरे जिन-संपर्क में (आत्मदेव के संपर्क में) विघ्न आता है। चित्त में चंचलता उत्पन्न करने की सामग्री आती है।" पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है - "योगी जनसंपर्क त्यजेत्-योगी लोक संपर्क का परित्याग करे।"

वे कहते थे - "अब मैं अपने को धोखे में नहीं डालना चाहता हूँ। मैं आत्म-शोधन के कार्य में व्यस्त हूँ। मुझे क्षणमात्र भी अवकाश नहीं है कि मैं बाहरी जगत् की, लोगों की चिन्ता करता फिरूँ।"

स्वास्थ्य वार्ता

कभी लोग पूछते थे - "महाराज! आपका शरीर-स्वास्थ्य कैसा है?"

वे कहते थे - "इस चिररोगी शरीर की कथा क्या पूछते हो? मेरी आत्मा के स्वास्थ्य की, कुशलता की, प्रसन्नता की बात ही नहीं करते हो। मैं स्वस्थ हूँ, मैं नीरोग

हूँ, मैं आनंद मग्न हूँ। शरीर सरोग है या नीरोग है, मैं चैतन्यमयी आत्मा इस बात की क्यों चिन्ता करता फिरूं। शरीर शरीर है, पुद्‌गल है। वह अपने गुण धर्म के अनुसार परिवर्तन का खेल दिखाता है। मैं शरीर नहीं हूँ तथा शरीर का सेवक नहीं हूँ। मैं अपने स्वरूप का स्वामी हूँ। इस सड़े शरीर की क्यों गुलामी करूँ?"

उनकी आत्म-दृष्टि बहुत उज्ज्वल होती जा रही थी। उस स्वरस में निमग्न होकर उन्होंने कहा - "मैंने औषधि मात्र का त्याग कर दिया है। अब मेरे अंतः बाह्य सभी रोगों की दवा आत्मा का ध्यान है। इस दवा से आत्मा पुष्ट होती है और अनादिबद्ध पुण्य-पाप सभी प्रकार के विकारों का क्षय होकर आत्मा चिरंतन स्वास्थ्य को प्राप्त करती हुई अविनाशी नीरोगता को प्राप्त करती है।"

उनकी स्वर्ग यात्रा के एक दिन पूर्व उनके शरीर की बड़ी विचित्र अवस्था थी। उसमें अपार वेदना थी। डॉक्टर देखकर दंग हो गया कि ऐसी भयंकर देह स्थिति में इतनी स्थिरता, इतनी शांति है। पायसागर महाराज! आप धन्य हो। आप सच्चे योगी हो। योगियों के हृदयेश्वर हो। इस कलिकाल में ऐसे योगी कहाँ मिलते हैं?

आत्म-सौंदर्य दर्शन

उस अवस्था में वे आत्मा का सौन्दर्य निरूपण कर रहे थे। भाग्यवान् श्रोतागण समझ रहे थे, ऐसा निस्पृह, ऐसा वीतराग योगी होता है। सच्चे ज्ञान-वैराग्य-संपन्न योगी की ऐसी अनुभूति होती है। इस प्रकार योगी शरीर को भूलकर आत्मरस का पान करता है।

भाई का सुझाव

उनके भाई चंदप्पा जिनप्पा डोंगरे उनके पास आकर कहने लगे -

"अब आपका शरीर संभाषण के योग्य नहीं है। शरीर का ख्याल कर मौन लेना ठीक होगा। अब दूसरों को उपदेश देने की शक्ति आपके शरीर में शेष नहीं है।"

मार्मिक उत्तर

पायसागर महाराज ने कहा - "तुम्हारी बात बड़ी विचित्र है। तुम सब काम को छोड़कर धन संपादन के हेतु कष्ट उठाते हो। ग्राहकी चलने पर तुम अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं करते हो। मेरा भी व्यापार है। भव्य जीवों का कल्याण मेरी ग्राहकी है। उनको मोक्षमार्ग में लगाना मेरी कमाई है, मेरी संपत्ति है, मेरी विभूति है। मेरी दुकान के विषय में

मुझे विपरीत उपदेश क्यों देते हो? मैं अपनी मोक्षमार्ग की देशना को बंद नहीं कर सकता। आँखें बंद होते-होते भी मैं सर्वज्ञ-वीतराग जिनेन्द्र के शासन की चर्चा नहीं छोड़ूंगा।

"यह जिनेन्द्र की वाणी का मंगलमय रस समस्त संकटों और व्याधियों का विनाश करता है। मंगलोत्तम शरणभूत जिनेन्द्र की चर्चा इस जीवन के सिवाय मेरे आगामी जीवन के लिए रसायन रूप है। इससे मेरी आत्मा को पोषण प्राप्त होता है। मैं तुम्हारे व्यापार में बाधा नहीं डालता, तुम मेरे व्यापार में क्यों विघ्न करते हो? तुमको मेरे बीच में नहीं पड़ना चाहिए। मुझे अपना कर्तव्य स्वयं साफ-साफ नजर आता है। तुम संसार का व्यापार नहीं छोड़ते, तो हम अपनी मोक्ष की दुकान का काम कैसे बन्द कर देवें?"

महाराज ने पंद्रह दिन पूर्व से अपने शरीर की वैयावृत्य बन्द करा दी थी। वे सचमुच में आत्म-सामर्थ्य पर असाधारण विश्वास रखते थे। उनकी आत्म-शक्ति अपूर्व थी।

स्वसंघ में निवास

वे कहते थे - "राग भाव न्यून करने के हेतु क्षपक को दूसरे साधु संघ में जाना चाहिए। मैं भी परसंघ में जाना चाहता हूँ; किन्तु आज समीप में ऐसा संघ नहीं है। काल निकृष्ट है। क्या करूँ? कोई चिंता की बात नहीं है। रंच मात्र भी फिकर की बात नहीं है। अब मैं स्व-संघ पर-संघ की चिन्ता में क्यों पड़ूँ? मेरी आत्मा और मेरे आत्मगुण ये ही मेरे संघ रूप हैं। अब मैं उस आत्म संघ में निवास करूंगा। उस संघ का शरण स्वीकार करूंगा।"

शिष्यों को उपदेश

शिष्य समुदाय को संबोधित करते हुए वे योगीन्द्र-चूड़ामणि कहने लगे - "देखो, भूलना मत, मैं अब अपनी सम्हाल में लग गया हूँ। मेरा तुम्हारा गुरु-शिष्य संबंध भी समाप्त सरीखा समझो। समाधि लेने वाला क्षपक अंत में आचार्य पद का भी त्याग करता है। इसी से मैंने आचार्य पद का त्याग कर दिया है। अब तक जो उपदेश दिया है, आदेश दिया है, उसको स्मरण करना, यही हमारा कहना है।"

दो वर्ष पूर्व मैंने जिस स्थान पर उन योगिराज से निर्विकल्प समाधि का स्वरूप पूछा था तथा जहाँ आनंद निमग्न हो वाणी के बिना 'वपुषा'-शरीर के द्वारा उस समाधि की स्थिति समझाई थी, उसी जगह विराजमान होकर पायसागर महाराज ने अगहन वदी अमावस्या को सन् १९५७ में पार्थिव शरीर का परित्याग किया। उन्होंने अपने गुरुदेव

आचार्य शांतिसागर महाराज के चरणों का अनुसरण कर शान्त परिणाम सहित सुन्दर सल्लेखना की।

आत्मालोचन

आचार्य महाराज के प्रति उनकी बड़ी भक्ति थी। उनका उपकार वे सदा स्मरण करते थे। प्राय: उनके मुख से ये शब्द निकलते थे - "मैंने कितने पाप नहीं किए? कौनसा व्यसन सेवन नहीं किया? मैं महापापी न जाने कहाँ जाता? मैं तो पापसागर था। रसातल में ही मेरे लिए स्थान था। मैं वहाँ ही समा जाता। मेरे गुरुदेव ने पायसागर बनाकर मेरा उद्धार कर दिया।" ऐसे कहते-कहते उनके नेत्रों में अश्रु आ जाते थे।

सच्चे गुरु की भक्ति

उनके हृदय में गुरु की सच्ची भक्ति थी, सच्चे गुरु की भक्ति थी, सच्चे गुरु की सच्ची भक्ति थी। इससे जैसे गुरुदेव 'ॐ सिद्धाय नमः' शब्द कहते-कहते परलोक गए, इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में पुण्य वातावरण में आत्मचिंतन करते हुए ये मनस्वी साधु भी स्वर्गवासी हुए। इस प्रकार शांतिसागर महाराज ने अनेक जीवों का उद्धार किया। गुरु-शिष्यों के चरण-कमलों को प्रणाम है। उनके चरणप्रसाद से ऐसी समाधि का सौभाग्य प्राप्त हो, ऐसी वीतराग भगवान से प्रार्थना है। यही कामना है। सब को यही कामना करनी भी चाहिए।

मुनि धर्मसागरजी (दक्षिण)

जब आचार्य महाराज का स्वर्गवास हुआ, तब उनके समीप बहुत समय व्यतीत करने वाले मुनिराज १०८ धर्मसागर महाराज का चातुर्मास जबलपुर के निकट बरगी ग्राम में हो रहा था। २४ नवम्बर सन् १९५५ को मैं उनके पास पहुँचा। वे सामायिक में निमग्न थे। उनकी भव्य, शांत तथा तेजोमय ध्यानमुद्रा मन को अतिमधुर तथा आकर्षक लगी। सच्ची सामायिक तो सम्पूर्ण परिग्रह रहित दिगम्बर गुरु के होती है। गृहस्थ के पास साधु की निराकुलता और विशुद्धता स्वप्न में भी असम्भव है।

सामायिक पूर्ण होने के उपरान्त मैंने महाराज को नमोस्तु कहा। उनका पवित्र आशीर्वाद मिला।

सामायिक का रहस्य : समता भाव

मैंने पूछा - "महाराज! आप सामायिक के समय क्या चिंतवन कर रहे थे?"

उन्होंने कहा - "हम कुछ नहीं करते थे। राग और द्वेष छोड़कर चुपचाप शान्त बैठे थे। इसके सिवाय सामायिक और है क्या? वास्तव में राग-द्वेष-मूलक आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान के परित्याग को परमागम में सामायिक कहा गया है। स्व. आचार्य महाराज भी आत्मचिन्तवन के लिए वचनालाप छोड़कर शांतचित्त हो चुप बैठने के लिए कहते थे।"

स्वर्गवास सूचक स्वप्न

मैंने कुंथलगिरि की सल्लेखना का सब वृत्तान्त उन्हें सुनाया। उन्होंने कहा - "आचार्य महाराज का १८ सितम्बर सन् १९५५ के प्रभात में स्वर्गवास हुआ था। उसी दिन प्रभात में हमें भी एक स्वप्न आया था। उससे हमने सोचा था कि महाराज अब सम्भवत: स्वर्गवासी हो गए होंगे।

मैंने आग्रहपूर्वक स्वप्न का हाल पूछा। तब उन्होंने इस प्रकार कहा - "आचार्य महाराज के स्वर्गारोहण की रात्रि के अन्तिम प्रहर में हमें एक अरथी (शव) दिखाई दी। वह आकाश से हमारे पास आ रही थी। उसके समीप आने पर हमने कहा 'णमो अरिहंताणं' पढ़ो। उत्तर में हमें भी 'णमो अरिहंताणं' की ध्वनि सुनाई पड़ी। कुछ काल के पश्चात् वह अरथी अदृश्य हो गई।"

धर्मसागर महाराज ने यह भी बताया था - "स्वर्गवास के आठ दिन पूर्व स्वप्न में आचार्य महाराज दिखे थे। उनके साथ में वर्धमानसागर जी तथा पायसागरजी भी थे।"

भट्टारक जिनसेन जी के सत्य स्वप्न

मैंने कहा - "भट्टारक जिनसेन स्वामी कोल्हापुर को ७ जुलाई १९५३ को सवेरे पाँच बजे ऐसा स्वप्न आया था कि आचार्य महाराज आगामी तीसरे भव में तीर्थंकर होंगे।"

इस सम्बन्ध में धर्मसागर महाराज ने कहा - "भट्टारक जिनसेन के स्वप्न सच्चे देखे गए हैं। स्व. आचार्य महाराज ने भी उक्त भट्टारक जी के स्वप्नों की प्रामाणिकता प्रतिपादित की थी।"

धर्मसागर महाराज ने कहा - "आचार्य महाराज मोक्ष जाएँगे। तीर्थंकर होकर जावें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वैसे सभी पुरुषार्थी भव्य जीव मोक्ष प्राप्त करेंगे, इसलिए उद्योग करना सबका कर्तव्य है।"

विश्व को संदेश

मैंने कहा - "महाराज! मैं उज्जैन अखिल भारतीय सर्व धर्म सम्मेलन में भाषण देने जा रहा हूँ। सम्मेलन में आगत जनता के लिए आपका क्या संदेश है? धर्म-सम्मेलन के लिए सच्चा प्रकाश धर्मसागर महाराज सदृश सुलझे हुए तपस्वी ही दे सकते हैं।"

महाराज ने कहा - "सर्व धर्म वालों को हमारा यही कहना है कि संकल्पी हिंसा (इरादा पूर्वक जीवघात) का त्याग करो। स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, परस्त्री सेवन और अधिक तृष्णा का त्याग करो। प्रारम्भ में पञ्चविध पापों का परित्याग आवश्यक है। धर्म की बातें करने से काम नहीं चलेगा। प्रारम्भ में पापों का परित्याग नहीं किया और धर्म पर सुन्दर चर्चा की तो इसके द्वारा आत्मा का हित नहीं होगा।"

१०८ पूज्य आचार्य धर्मसागर महाराज का लासुर्ना ग्राम में चातुर्मास हुआ। २९ सितम्बर १९५९ को उनके पवित्र दर्शन का पुन: सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे सकलकीर्ति रचित प्रद्युम्नचरित्र की संस्कृत रचना का स्वाध्याय करते हुए जनता को उपदेश दे रहे थे। छोटे से ग्राम में अंगुलियों पर गिनने लायक श्रोताओं की उपस्थिति में उन जैसे महान् ज्ञानी, तत्त्वज्ञ साधु का उपदेश तपोवन का स्मरण कराता था। वे कई बातों में अपूर्वता धारण करते हैं।

धनिकों से प्रयोजन नहीं

उन पर धनिकों का कोई असर नहीं रहता वे निस्पृह साधु हैं। एक बार कहते थे - "हमें धन से या धनवानों से क्या मतलब? साधु को पैसे के चक्कर में क्यों पड़ना?" उनके चरणों में बहुत शांति तथा आनंद की उपलब्धि हुई।

अभक्ष्य सेवन की अपेक्षा मृत्यु श्रेयस्कर

आजकल प्राय: शुद्ध आचार तथा विचार में सर्वत्र शिथिलता नजर आती है। एक जैन प्रोफेसर ने कहा था - "लोकोपकारी व्यक्ति यदि अमेरिका के उत्तर भाग में चला जाय, जहाँ का प्रदेश हिम से आच्छादित है तथा जहाँ बर्फ का सदा सद्भाव पाए जाने से वनस्पति नहीं मिल सकती है, वहाँ उस मनुष्य को मांस खाकर अपना निर्वाह करने में जैन सिद्धान्त में बाधा नहीं आती।"

मैंने यह चर्चा धर्मसागर महाराज के समक्ष चलाई, तो उन्होंने सूत्र रूप में यह मार्मिक उत्तर दिया था - "अभक्ष्य खाकर जीने की अपेक्षा मरना अच्छा है।" यह उत्तर आजकल के धनमत्त अथवा ज्ञान तथा प्रभुता से उन्मत्त लोगों की आँखें खोल देता है, जो जघन्य स्वार्थों की पूर्ति निमित्त पवित्र तथा अपूर्व नरदेह के महत्त्व को भुला देते हैं तथा मांस, अण्डा, मदिरापान करते हुए लज्जित भी नहीं होते, प्रत्युत् अपने हीनाचरण को महत्त्व का कर्म बताते हैं।

हमारे पिताश्री को संदेश

धर्मसागर महाराज से हमारे पिताजी के स्वास्थ्य की चर्चा आई। वे उनकी अत्यन्त वृद्ध देहस्थिति को दो वर्ष पूर्व सिवनी में हमारे यहाँ पधारकर स्वयं देख चुके थे, अतएव उन्होंने पिताश्री सिंघई कुँवरसेन जी के लिए यह महत्त्वपूर्ण तथा कल्याणकारी संदेश दिया था - "उनको कहना कि प्राण जाते पर्यन्त 'अरहंत' शब्द नहीं छोड़ना। पूरा णमोकार कहते नहीं बने, तो कोई बात नहीं। अरहंत नाम निरन्तर जपना ऐसा महाराज ने कहा है।" गुरु का आशीर्वाद सफल हुआ। २४ मार्च १९६० को पिताजी की अपूर्व तथा उच्च समाधि हो गई।

अरहंत नाम महौषध

सचमुच में अरहंत भगवान का शरण महिमापूर्ण है। शास्त्रों में लिखा है - "अरहंत मंगल, अरहंत लोगुत्तमा, अरहंत शरणं पव्वज्जामि-अरहंत भगवान मंगल रूप हैं, अरहंतदेव लोक में उत्तम हैं, अरहंत भगवान की शरण को मैं स्वीकार करता हूँ।"

अतएव जीवन के प्रत्येक क्षण में एवं समाधि के समीप अवस्था वाले जिन-देव के चरण प्रेमी व्यक्तियों के लिए "णमो अरहंताणं" महा रसायन है, संजीविनी दवा है, सब से बड़ा इंजेक्शन है, सर्वोपरि टानिक है। यह अत्यन्त शुद्ध महौषध है। भगवान कुंदकुंदाचार्य ने जिनवाणी को महान् औषधि कहा है - "जिण-वयणं ओसहं-जिनवचनं औषधं।" ज्ञानार्णव में लिखा है -

> मंगलं शरणोत्तम-पद-निकुरंबं यस्तु संयमी स्मरति।
> अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति॥
>
> (पृ. ३७७)

जो मुनि एकाग्रचित्त हो मंगल पद, शरण पद, लोकोत्तमपद समुदाय का पूर्ण रूप से स्मरण करता है, वह मोक्षलक्ष्मी को पाता है।

अद्‌भुत आकर्षण

१०८ धर्मसागर मुनि महाराज ने आचार्यश्री का संस्मरण सुनाते हुए कहा था - "मैं उस समय छोटा था। मैंने महाराज के 'यरनाल' में दर्शन किए थे। वे ऐलक थे। यरनाल में उनकी मुनि दीक्षा हुई थी। बाद में महाराज का कोन्नूर में चातुर्मास हुआ था। वह स्थान हमारे गाँव पाच्छापुर से दस मील पर था। रविवार को हमारे स्कूल की छुट्टी रहती थी। उस दिन हम दस मील दौड़ते हुए महाराज के पास कोन्नूर जाया करते थे। उनके दर्शन के उपरान्त शाम को लौटकर घर वापिस आते थे। महाराज के जीवन का आकर्षण इतना था कि उस समय बीस मील का आना-जाना कष्टप्रद नहीं लगता था।

चारित्र का उपदेश

"वहाँ आचार्य महाराज कानड़ी भाषा में चारित्र पर उपदेश देते थे। शास्त्र स्वाध्याय खूब करते थे। शास्त्रानुसार उन्होंने अपने जीवन में बहुत परिवर्तन किया था। शुद्ध चारित्रधारी निर्ग्रन्थ साधु होने के कारण उनका प्रभाव वेग से वर्धमान हो रहा था।

महाराज के जीवन पर प्रकाश

"उस समय नेमण्णा (मुनि नेमिसागर महाराज) गृहस्थ थे। वे शास्त्र पढ़ते थे और आचार्य महाराज उसे स्पष्ट रूप से समझाते थे। उस समय महाराज अष्टमी, चतुर्दशी को मौन व्रत धारण किया करते थे। उस मौन की अवस्था में उनकी जांघ पर एक सर्प चढ़ा था। महाराज उस समय स्थिर थे।"

धर्मसागर महाराज के विचार

"हमारे मन में प्रारम्भ से ही ब्रह्मचारी रहने के भाव थे। इस कारण हम शांतिसागर महाराज के समीप बहुत बार जाया करते थे।"

संयम धारण का क्रम

"पहले महाराज ने मुझे शादी होने पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत दिया था। पश्चात् सन् १९२८ में शिखर जी पहुँचकर उन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत जीवन भर को दिया। उन्होंने मुझे क्षुल्लक दीक्षा दी। दस वर्ष के पश्चात् मैं ऐलक बना। दो वर्ष ऐलक रहने के पश्चात् महाराज ने मुझे निग्रँथ दीक्षा दी। मेरी दीक्षा के सर्व संस्कार महाराज ने ही अपने हाथ से किए थे।"

महाराज का स्वभाव

उन्होंने यह भी बताया - "दिल्ली में आचार्यश्री का चातुर्मास हुआ था। उस समय से महाराज के समीप १८ वर्ष रहने का सौभाग्य मिला था। उनकी धर्म में प्रगाढ़ निष्ठा थी। धर्म विरुद्ध बात को वे सहन नहीं करते थे। वे शिष्यों को कठोर शब्द कभी नहीं कहते थे। मधुर वाणी से वे समझाया करते थे या मौन रहते थे।"

श्रमण वेलगोला की यात्रा

सन् १९२४ में आचार्य महाराज गोकाक से श्रमण वेलगोला गए थे। वे श्रमण वेलगोला में १५ दिन ठहरे थे। वहाँ के मठ के स्वामी भट्टारक जी के यहाँ आहार की विधि लगती थी; किन्तु आचार्य महाराज वहाँ आहार नहीं लेते थे।

महाराज कहते थे - "मठ का अन्न ठीक नहीं है। वहाँ का धन प्रायश्चित्त, दण्ड आदि द्वारा प्राप्त होता है। निर्माल्य का धन नहीं लेना चाहिए।" पंडित (उपाध्याय) के यहाँ भी महाराज आहार को नहीं जाते थे। वे चन्द्रगिरि पर्वत पर एक प्राचीन मन्दिर में रहते थे। उसके पास ही भद्रबाहु श्रुतकेवली की गुफा है।"

आचार्य महाराज का विशेष प्रभाव

जब मैंने धर्मसागर महाराज से पूछा कि - "आपके अनुभव में महाराज के जीवन की कोई सातिशय प्रभाव को बताने वाली घटना आई होगी?"

प्राणरक्षा

तब वे कहने लगे - "संघ में एक स्त्री रहती थी। उसका चार वर्ष का बच्चा

पानी में डूब गया। वह स्त्री बच्चे को खोजने लगी। लोगों ने खोज कर बच्चे का पता चलाया। उस बच्चे का बचना असम्भव था। महाराज के प्रभाव से बालक अच्छा हो गया। मैंने देखा कि महाराज के संघ के लोगों को कोई कष्ट नहीं होता था।"

बच्चे का संकट टला

उन्होंने एक दूसरी घटना इस प्रकार सुनाई - "हुम्मच पद्मावती क्षेत्र के समीप एक गाड़ी उलट पड़ी। एक वर्ष का बालक गिर पड़ा। उसके पास में कुल्हाड़ी पड़ी थी। वह बालक बाल-बाल बच गया। उस समय चन्द्रसागरजी ऐलक थे। वीरसागरजी और नेमिसागरजी निर्ग्रन्थ थे।"

चन्द्रसागरजी का कथन

उस यात्रा की एक घटना धर्मसागर महाराज ने इस प्रकार सुनाई - "एक विधवा स्त्री को पान खाते देखकर चंद्रसागरजी ने कहा - 'विधवा का तांबूल भक्षण शीलव्रत के विरुद्ध है।' आचार्य महाराज धन्य पुरुष हैं। उनके पास नियम लेकर तुम अपने को धन्य करो। इसे सुनते ही उस स्त्री ने आजीवन तांबूल भक्षण का त्याग किया था।"

गोरल चातुर्मास की विशेष घटना

धर्मसागर महाराज जब ऐलक थे, तब उनका नाम यशोधर महाराज था। उस वर्ष गोरल में महाराज के साथ उनका चातुर्मास व्यतीत हुआ था। उस समय की घटना का विवरण धर्मसागर महाराज ने इस प्रकार सुनाया था - "गोरल में हमने शास्त्र पढ़ा। पश्चात् उठकर हम ग्रंथ की नकल करने लगे। श्लोक पूर्ण करने के शेष तीन अक्षर बचे थे कि हमें मूर्छा आ गई। गरदन लटक पड़ी। ऐसा लगा कि अब हमारे प्राण जाने की तैयारी कर रहे हैं। कुछ समय बाद वमन हो गया। वमन के बाद हमने मौन ले लिया था। पश्चात् आचार्य महाराज आए। उन्होंने देखा और कहा हमें नहीं मालूम था कि तुम्हारी ऐसी हालत हो गई।" उस प्रसंग पर महाराज ने कहा था - "तुम्हारा मरण लिखते-लिखते होगा और हमारा मरण चलते-चलते होगा।"

धर्मसागरजी का परिचय

"धर्मसागर महाराज का नाम कलप्पा था। पिताजी का नाम भरमप्पा था और माता का नाम ज्ञानमती था। कुंथलगिरि में जिस पुस्तक से दशभक्ति आदि पाठ आचार्यश्री को ब्र. जिनदासजी समडोलीकर पढ़कर सुनाया करते थे, उसको धर्मसागर महाराज ने

ही लिखा था। उसके अक्षर छापे सरीखे स्वच्छ और नेत्रप्रिय लगते थे। अक्षरों की यह विशेषता थी कि सारे ग्रंथ में आदि से अंत तक एक ही प्रकार के अक्षर लिखे थे।''

रत्नत्रयधर्म के उद्योतक नररत्न

आचार्य महाराज ने इस कराल कलिकाल में जिनमुद्रा को धारण कर तथा उसको निर्दोष रीति से पालते हुए आचार्य कुंथुसागरजी, आचार्य वीरसागरजी, मुनि नेमिसागरजी, पायसागरजी, धर्मसागरजी आदि अनेक प्रभावशाली साधुओं का निर्माण किया। आचार्य महाराज की जीवनी परमार्थतः स्वयं एक अद्‌भुत रत्नत्रयधर्म की संस्था सदृश थी। उनका जीवन आगम की दृष्टि से अद्‌भुत था। उन्होंने रत्नत्रयधर्म के द्वारा अपनी आत्मा को समलंकृत किया था। पश्चात् उन्होंने संसार के भव्यों के हृदय में रत्नत्रय की ज्योति उद्योतित की। इस प्रकार उनके द्वारा स्व और पर प्रभावना का कार्य संपन्न किया गया था।

धर्मसागर महाराज के जीवन का उदाहरण

आचार्य शांतिसागर महाराज के शिष्य तथा गुरुचरणों में बहुत काल व्यतीत करने वाले विशुद्ध-वृत्तिधारी १०८ मुनिराज धर्मसागर महाराज की एक महत्त्वपूर्ण बात धार्मिकजनों को आनंदप्रदा होगी; अतः उस पर प्रकाश डालना उपयोगी प्रतीत होता है।

''सन् १९५५ के चातुर्मास के पश्चात् धर्मसागर महाराज कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को (वीर संवत् २४८३ में) सिवनी से प्रस्थान कर मुक्तागिरि गए। वहाँ से कुंथलगिरि जाते समय देवलगांवराजा नामक बस्ती के आगे जंगल में मध्याह्न के समय धर्मसागर महाराज सामायिक में बैठ गए।

निर्भय

''इमली के वृक्ष की छाया के नीचे ये मुनिराज ध्यान कर रहे थे। इनको पता नहीं था कि इनके सिर से थोड़ी ऊँचाई पर वृक्ष की डाली पर दो सर्प इधर-उधर फिरते हुए क्रीडा कर रहे थे। एक ग्रामीण पथिक की दृष्टि इस दृश्य पर पड़ी। उसने साथ के श्रावकों से कहा कि महाराज के सिर के ऊपर डाल पर सर्प युगल है। लोग चिंता में पड़ गए। कुछ काल व्यतीत होने पर महाराज की सामायिक पूर्ण हुई।''

लोगों ने कहा - ''महाराज! आप के ऊपर समीप में दो सर्प फिर रहे हैं। यहाँ से दूसरी जगह बैठ जाइये। महाराज ने लोगों का कहना नहीं सुना और वे दो घंटे वहाँ ही

बैठे रहे। १९५७ की भादों सुदी चौथ को मांद्रे जाने के पूर्व धर्मसागर महाराज के पास जब मैं लासुर्ना ग्राम में गया और मैंने सर्प की उक्त चर्चा चलाई, तो वे बोले - "बात तो ठीक सुनी। ऐसा ही हुआ था।"

मैंने पूछा महाराज - "सिर पर यमराज नाचते रहे और वहाँ ही आप रहे आए। इसका क्या कारण है?"

महाराज ने कहा - "इसका क्या भय करना? वे हमारे शरीर पर तो नहीं थे और यदि शरीर पर भी आ जाते, तो हमारी आत्मा का क्या करते?" मैंने सोचा-आखिर, ये भी तो महामना शांतिसागर सदृश श्रेष्ठ तपस्वी के शिष्य हैं।

उक्त घटना का कुछ थोड़े से लोगों को ही पता है। कदाचित् कोई निंदा की बात होती, तो आज का छिद्रान्वेषी वर्ग जगत् भर में उस बात का प्रसार किए बिना न रहता। गुण का प्रसार कम होता है। बुराई की बात बिजली की तरह फैला करती है। अस्तु, उपरोक्त कथन से यह तो ज्ञात हो जाता है कि आज भी अनेक दिगम्बर जैन साधु असाधारण आत्मतेज तथा तपस्या रूपी संपत्ति से समलंकृत हैं। धर्मसागर महाराज के प्रभाव के विषय में सहपुरा (जबलपुर) के सिंघई बाबूलाल जी ने सन् १९८४ को यहाँ आकर बताया, "महाराज ने हमारे ग्राम में चातुर्मास किया। हमारी भैंस एक बूंद भी दूध नहीं देती थी किन्तु उनके आते ही उससे काफी दूध मिलने लगा, जिससे हम सत्पात्रदान रोज करते थे। तीन चार लीटर तक दूध हो जाता था। जिस दिन महाराज ने सहपुरा छोड़ा उसी दिन से उसी भैंस ने एक बूंद भी दूध नहीं दिया।"

उपयोगी भाषण

धर्मसागर महाराज का सिवनी में दिया गया उपदेश स्मरण योग्य है। उन्होंने कहा था - "इस संसार में सभी जीव सुख पाने के लिए निरन्तर लगे रहते हैं। हर प्रकार का उद्योग करते हैं; किन्तु कोई जीव सुखी नहीं दिखता। एक भी ऐसा आदमी नहीं मिलेगा, जो यह कहे कि मैं पूर्ण रूप से सुखी हूँ।

"तब फिर जीव को असली सुख कहाँ मिलेगा? भगवान ने कहा है कि वह असली सुख मोक्ष में मिलेगा। दुःखों के अभाव रूप मोक्ष को जैन तथा जैनेतर सभी लोग मानते हैं। जहाँ दुःख का लेश भी न हो, वही तो मोक्ष है। बाधारहित सुख को मोक्ष कहते हैं। ऐसे मोक्ष को एक बार प्राप्त करने पर जीव पुनः संसार में नहीं आता। उसे मोक्ष की

प्राप्ति कब होती है? जब जीव संपूर्ण कर्मों का क्षय करता है, तब वह मोक्ष को प्राप्त करता है। इस कर्म-क्षय का साधन तपश्चरण है।"[१]

"गृहस्थावस्था में तपश्चरण से मोक्ष नहीं मिलता है। इसके लिए निर्ग्रन्थपद ग्रहण करना आवश्यक है। निर्ग्रन्थ बनने पर भी जब तक आत्म-स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती, तब तक भी मोक्ष नहीं प्राप्त होता है। गृहवास की आकुलता द्वारा अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करने में विघ्न आते हैं। आत्मस्वरूप में निमग्न होने के लिए तिल-तुष मात्र परिग्रह भी नहीं चाहिये। निर्विकल्प दशा में वास्तविक अनुभव होता है। परिग्रह त्यागकर त्रिगुप्ति की अवस्था में निर्विकल्प समाधि होती है। ऐसी समाधि के बिना मोक्ष नहीं मिलता है। आत्मोपलब्धि होने पर चारित्र की उन्नति होते हुए उत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र होने पर चौदहवें गुणस्थान में ८५ प्रकृतियों का क्षय करके जीव मोक्ष प्राप्त करता है।

"मोक्ष मंदिर की प्रथम सीढ़ी सम्यक्त्व की प्राप्ति है। वह मुक्ति भवन की नींव सदृश है। उसके बिना वह भवन नहीं टिकता है।

"यह सम्यक्त्व मोक्ष के लिए मूल रूप है। जैसे वृक्ष की मूल उसका आधार रूप होती है। इसलिए सुखार्थी अर्थात् मोक्ष की इच्छा करने वालों को सम्यक्त्व धारण करना चाहिए। वह सम्यक्त्व बाजार में नहीं मिलता। वह अपने में ही है। उसका कारण काललब्धि, गुरु का उपदेश आदि बताये गये हैं। क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य तथा करण ये पाँच लब्धियाँ सम्यक्त्व में कारण पड़ती हैं। देशना का अर्थ उपदेश है।

"वह सम्यक्त्व चारों गतियों में होता है। नरक गति में उपदेशदाता कौन है? तीसरे नरक तक तो देव जाकर उपदेश दे सकते हैं; किन्तु चौथे, पाँचवें आदि नरकों में कौन उपदेश देगा? वहाँ के नारकी अपने विभंगावधि ज्ञान द्वारा सोचते हैं - "मैंने पूर्व में अत्यन्त पाप किये थे, उनका फल आज भोग रहा हूँ। पहिले सत्पुरुषों ने मुझे बहुत बार समझाया था। उनका कहना यथार्थ था।" ऐसा विचार करते-करते उन नारकियों के निसर्गज सम्यक्त्व हो जाता है। इस सम्यक्त्व के बिना आत्मा का उद्धार नहीं होता। सम्यक्त्व सहित व्रतधारी को व्रती कहा गया है। सम्यक्त्व बिना व्रत, कुव्रत और ज्ञान कुज्ञान कहे गये हैं।

---

१. समंतभद्र स्वामी ने धर्मनाथ भगवान के स्तवन में लिखा है कि - आपने तप रूपी अग्नि द्वारा कर्मरूपी वन को जलाकर अविनाशी सुख पाया है। "कर्म-कक्षमदहत्तपोऽग्निभिः शर्म शाश्वतमवाप शंकरः॥"

सम्यक्त्व की श्रेष्ठता

"सम्यक्त्व सब में श्रेष्ठ है। यह अमुक व्यक्ति में है या नहीं है, इस बात का निश्चय करने के साधन इस पंचमकाल में नहीं हैं।[1] आज केवलज्ञानी नहीं है, मन: पर्ययज्ञानी नहीं है, अवधिज्ञानी भी नहीं है, जिनके द्वारा किसी व्यक्ति के सम्यक्त्वी होने का पक्का निश्चय किया जा सके। इस कालदोष से ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है। अत: अमुक व्यक्ति सम्यक्त्वी और अमुक के सम्यक्त्व नहीं है, इसका पक्के रूप में निश्चय नहीं किया जा सकता।

"वह सम्यक्त्व अपने योग्य सामग्री मिलने पर उत्पन्न होता है। जब तक योग्य सामग्री की प्राप्ति न हो, तब तक सम्यक्त्व कैसे होगा? तब तक हताश नहीं होना चाहिए। प्रमादी नहीं बनना चाहिए। प्रमादी होने पर धोखा हो जाता है और बुरी अवस्था होती है।"

प्रमादीय उदाहरण

इस विषय का दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण करते हुए पूज्य मुनि महाराज ने कहा था - "दो महान् प्रमादी व्यक्ति थे। वे आलस्य में सारा समय व्यतीत करते थे। वे कुछ भी काम नहीं करते थे। एक समय वे नगर के बाहर जाकर जामुन के एक वृक्ष के नीचे लेट गए। वहाँ से एक थानेदार घोड़े पर सवार होकर निकला। उसे देखकर एक प्रमादी ने जोर से चिल्लाकर उसको पास बुलाया। थानेदार ने उस आदमी को दु:खी समझा। इससे वह उसकी सहायता के लिए वहाँ वापिस आया।

उस आलसी ने कहा - इस झाड़ से गिरी हुई जामुन उठाकर मेरे मुँह में रख दीजिए। यह बात सुनकर उस घुड़सवार को बड़ा गुस्सा आया कि इस मूर्ख ने व्यर्थ में मेरा समय नष्ट किया। इससे उसने अपने कोड़ों से उस आलसी की खूब पूजा की।

यह देखकर दूसरा साथी बोला - इसे और कोड़े लगाइये। यह बहुत बुरा आदमी है। घुड़सवार ने इसका कारण पूछा, तब उसने कहा - मैं अभी सो रहा था। एक कुत्ता आया और मेरे मुँह में पेशाब कर गया। उस समय यह दुष्ट चुपचाप देखता रहा और

---

१. सम्यक्त्वं वस्तुत: सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयो: ॥

- वास्तव में सम्यक्त्व सूक्ष्म है। वह केवलज्ञान का विषय है। अवधिज्ञान तथा मन: पर्ययज्ञान गोचर है। -पंचाध्यायी

इसने मेरी जरा भी सहायता नहीं की। सवार ने उसे और बड़ा प्रमादी सोचकर उसको भी कोड़ों की मार लगाई।"

इस कथा का सारांश यह है कि मनुष्य जन्मरूपी महान् रत्न हाथ में आया है। आलसी बनकर विषय भोग में अपने काल को नष्ट नहीं करना चाहिए। व्रत, नियम पालने में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

शक्ति अनुसार संयम

महाराज का यह कथन ध्यान देने योग्य है - "आदिनाथ भगवान ने छः माह उपवास किये थे। छः माह अंतराय आये थे। तुम्हें कौन कहता है कि तुम भी ऐसे ही उपवास करो? हम यही कहते हैं कि शक्ति के अनुसार व्रताचरण करो। शक्ति के अनुकूल दान दो, तप करो। आलसी बनकर अपना जीवन व्यर्थ बरबाद मत करो। यदि इस दुर्लभ नर पर्याय को खो दिया, तो बताओ कहाँ कल्याण होगा? तैंतीस सागर की आयु वाले सर्वार्थसिद्धि के देव मनुष्य पर्याय की ओर दृष्टि लगाए रहते हैं। कारण, स्वर्ग से कर्मों की निर्जरा पूर्वक मोक्ष नहीं जा सकते। यहाँ आकर मुनिपद धारण करके कर्मों को काट सकेंगे। जिनेन्द्र भगवान के पंच-कल्याणकों में आकर देवता यही भावना करते हैं कि हमें नर-पर्याय कब मिलेगी? देखो! देव भी मनुष्य होने की इच्छा करते हैं और तुम मोक्ष की इच्छा करते हो, किन्तु करते कुछ भी नहीं हो। बिना प्रयास और बिना श्रम के मोक्ष की निधि प्राप्त करना चाहते हो। मनुष्य होकर भी यदि तुम यहाँ गलती करोगे, तो कहाँ सुख प्राप्त होगा? यदि ऐसा ढंग रहा, तो तुम्हारी आत्मा का कभी भी उद्धार नहीं होगा।"

महाराज ने समझाया - "जब तुमको दूसरे गाँव जाना होता है, तो मुहूर्त देखकर जाते हो। दो एक रोज में जहाँ वापिस आना है, वहाँ तो इतनी सावधानी दिखाते हो; किन्तु जहाँ शाश्वत सुख है और जहाँ से पुनरागमन नहीं होता है, उस मोक्ष नगर को जाने के लिए कुछ भी प्रयास या उद्योग नहीं करना चाहते हो। बाजार में से घड़ा खरीदते समय उसे बार-बार बजाकर देखते हो। लौकिक तुच्छ वस्तुओं के बारे में बड़ी चतुरता बताते हो; किन्तु अपनी आत्मा के हितार्थ तुमको फुरसत नहीं मिलती है। कैसी विचित्र बात है यह!"

सम्यक्त्व के बिना भी व्रत पालो

"तब आपको क्या करना चाहिए? सम्यक्त्व की पूर्ण सामग्री कब मिलती है? इसका निश्चय नहीं है। इसलिए प्रमाद में समय नष्ट न करके आत्मा में उज्ज्वलता लाने के हेतु व्रत करना चाहिए।"

सुंदर बात

कोई-कोई शंका करते हैं - "सम्यक्त्व बिना व्रत क्यों धरें?" उनके समाधानार्थ महाराज ने कहा - "पहले हृदय से पापों को छोड़ो। इससे तुम आगे बढ़ोगे। जो तुम्हारे हाथ में है, उसे तो करते जाओ। जैसे तुम संपत्ति के अनुसार व्यापार करते हो, उसी प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार व्रत धारण करना चाहिए।"

सूर्यमित्र का उदाहरण

महाराज ने एक शास्त्रकथा बताई - " एक राजमन्त्री था। उसका नाम था सूर्यमित्र। सूर्यमित्र ने मुनिपद धारण कर लिया। उनकी बहिन के पुत्र ने भी मुनिपदवी अङ्गीकार कर ली। वे दोनों विहार करते-करते सोमशर्मा पुरोहित के नगर में पहुँचे। उन मुनियुगल के दर्शन करते समय सोमशर्मा की पुत्री नागश्री के भाव व्रत धारण के हुए।

नागश्री ने मुनि महाराज से व्रत माँगे। मुनिराज ने उस कन्या को पंचाणुव्रत दिए और देते समय यह कह दिया कि तेरा पिता तुझ पर व्रत लेने के कारण नाराज होगा, तब तुम हमारे पास आकर व्रत वापिस कर देना। नागश्री घर पहुँची ही थी कि उसके साथ की लड़कियों ने उसके पिता सोमशर्मा को उसके व्रतग्रहण की बात बता दी। सोमशर्मा बहुत क्रुद्ध हो गया। नागश्री ने कहा - "पिताजी! मैं इन व्रतों को उन मुनिराजों को वापिस कर आती हूँ।" सोमशर्मा के साथ पुत्री नागश्री वन को जा रही थी। मार्ग में हिंसा, चोरी, आदि पाप करने वाले व्यक्तियों की दुर्दशा देखी। इससे सोमशर्मा का क्रोध शान्त हुआ और उसे अनुभव हुआ कि नग्न साधुओं ने मेरी बेटी को अच्छे व्रत दिए हैं।

मुनियों के पास पहुँचकर सोमशर्मा ने पूछा - "महाराज! आपने मेरी बेटी को व्रत क्यों दिए?" मुनिराज ने कहा - "यह लड़की तो मेरी है, इससे मैंने इसे व्रत दिए हैं।" वह ब्राह्मण बोला - "यह आप क्या कह रहे हैं? नागदेव के प्रसाद से मुझे यह कन्या प्राप्त हुई थी। यह बात राजा तक को ज्ञात है।" विवाद बढ़ा। राजा भी मुनिराज के समीप आया। उस समय मुनिराज राजा के समक्ष नागश्री के जीव को सम्बोधित करते हुए बोले - "हे वायुभूति! जो तुम पढ़ गए हो, तो सब सुनाओ।" उसे जातिस्मरण हो गया, उसे सब बातें स्पष्ट विदित हो गईं। मुनि महाराज ने सबके सन्देह को दूर करते हुए बताया कि "पहले मैंने अग्निभूति-वायुभूति को पढ़ाया था। एक समय की बात है, मेरे हाथ में राजा की अँगूठी थी। मैं सन्ध्यावन्दन को सरोवर पर गया। वहाँ सन्ध्यावंदन के समय यह अँगूठी गिर गई। निमित्तज्ञानी से पूछने पर ज्ञात हुआ कि अँगूठी अवश्य मिल

जायगी। मुझे बहुत चिन्ता थी कि राजा मुझे राजमन्त्री पद से पृथक् कर देगा। कारण, वह कहेगा - जब तुम एक अँगूठी को नहीं सम्हाल सके, तो बड़े भारी राज्य को कहाँ तक सम्हाल सकोगे। मैंने जङ्गल की ओर जाते हुए एक दिगम्बर मुनिराज को देखा।

मैंने सोचा इन मुनिराज के पास कुछ न कुछ विद्या अवश्य रहती है, अतः मैं मुनिराज के पास गया। मुनिराज ने अपने अवधिज्ञान से मेरी अँगूठी के बारे में सब बातें स्वयं बतला दीं और कहा कि सन्ध्यावन्दन करते समय अँगूठी कमल के भीतर रह गई है। प्रभात में कमल विकसित होगा, तब तुमको स्वयं अँगूठी दिख जायेगी। दूसरे दिन मुनिराज की वाणी के अनुसार अँगूठी प्राप्त हो गई। उस समय मन में यही आया कि मुनिराज के पास से यह अलौकिक ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लूँ। मैंने राजा से कहा - "महाराज! मैं कुछ दिन की छुट्टी चाहता हूँ। विद्या प्राप्त करने के पश्चात् आपके यहाँ आकर काम करूँगा।"

मुनिराज के पास आया। उन्होंने कहा - छः माह के भीतर तुमको यह विद्या मिल सकती है; किन्तु तुमको हमारे समान नग्न रूप धारण करना होगा और हमारी तरह रहना होगा। विद्या की लालसा से मैं मुनिराज की ही तरह नग्न-दिगम्बर हो गया। मेरे गुरुदेव ने मुझे प्रथमानुयोग पहले सिखाया। उसके द्वारा मुझे त्रेसठ-शलाका पुरुषों का वर्णन ज्ञात हुआ।" धर्मसागर महाराज ने कहा - "आचार्य ने एकदम द्रव्यानुयोग नहीं पढ़ाया, कारण प्रारंभिक अवस्था में प्रथमानुयोग उपकारी होता है। उससे श्रद्धा उत्पन्न होती है। आज लोगों को पहली कक्षा की खबर नहीं है, उनको सातवीं कक्षा का विषय सिखाते हैं। इससे गड़बड़ी होती है।" प्रथमानुयोग के अभ्यास से सूर्यमित्र नाम के नकली मुनि बनने वाले को पुण्य, पाप तथा उनके फल भोगने वाले जीवों की बातें ज्ञात हुईं। "गुरु ने इसके पश्चात् करणानुयोग सिखाया और बाद में चरणानुयोग बताया। श्रावक यदि चरणानुयोग का ज्ञान न रखे तो किस प्रकार वह मुनियों का रक्षण करेगा? श्रावक और मुनि गाड़ी के दो चक्कों के समान हैं। श्रावक धर्म तथा मुनिधर्म का परस्पर संबंध है। सिंह से वन की रक्षा होती है और वन से सिंह का रक्षण होता है।"

"गुरुदेव ने द्रव्यानुयोग का अंत में शिक्षण दिया। उस समय मुनिसंघ विहार करता हुआ अंगदेश के अंतर्गत मंदारगिरि पहुँच गया था। वासुपूज्य भगवान के निर्वाण स्थल की वंदना कर सूर्यमित्र मुनिराज परिक्रमा कर रहे थे। उस स्थान के निमित्त से उनको अवधिज्ञान प्राप्त हो गया। गुरु से जाकर सूर्यमित्र ने अपनी बात बता दी।

तब आचार्य ने कहा - "तुम अकेले विहार करो और अपने घर चले जाओ। तुम्हारा काम पूरा हो गया।" उस समय सूर्यमित्र मुनि ने कहा - "महाराज! वह घर मेरा घर नहीं है। मेरा घर तो ऊपर है। सिद्धालय मेरा सच्चा घर है।"

नकली तो बनो

धर्मसागर महाराज ने समझाया - "देखो! सूर्यमित्र नकली मुनि बने थे। तुम पहले नकली तो बनो। सोना पत्थर में मिलेगा। असली सोना अग्नि का ताप सहन करने के बाद बनता है। सौ नंबर के असली होकर ही हम साधु बनेंगे, ऐसा मत सोचो। नकल भी असली बनने में कारण हो जाती है। मोह छोड़ो। विरक्त भाव रखो। सूर्यमित्र ने पहले नकली मोह छोड़ा, पीछे समझ में आ गया कि मेरा घर ऊपर है, नीचे नहीं है। अरे! तुम्हारी शक्ति महाव्रत की नहीं है, तो श्रावक का धर्म तो पालो। इस मार्ग से मुनि बन सकोगे, इसमें संदेह नहीं है।"

उन्होंने कहा - "अपनी आत्मा को स्वच्छ और उजला करना हो, तो व्रत करो।" जो लोग सोचते हैं कि सम्यक्त्वी के बंध नहीं होता; अतः व्रत-तप आदि की जरूरत नहीं है, उनके समाधानार्थ पूज्यश्री बोले - "सम्यक्त्वी के बन्ध नहीं है, यह ठीक बात है; किन्तु कौनसा बंध नहीं होता, यह भी समझना चाहिए। अनंतानुबंधी तथा मिथ्यात्व संबंधी बंध नहीं होता; अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायें बैठी हैं। उनके निमित्त से बंध होता है। इससे तुम्हारा कर्तव्य है कि अपने आचरण को सुधारो। स्वच्छंद आचरण नहीं करना चाहिए। संवर पूर्वक निर्जरा के लिए चारित्र कारण है। देशव्रती, महाव्रती के संवरपूर्वक निर्जरा होती है। अविरत सम्यक्त्वी की निर्जरा गजस्नान सदृश है। मथानी की डोरी समान उसके निर्जरा-बंध होते रहते हैं। अतः चारित्र पालो। कम से कम नकली तो बनो।"

१०८ पूज्य धर्मसागर महाराज ने सन् १९५६ के अन्त में सिवनी के समीपवर्ती ग्राम में यह उद्बोधक उपदेश दिया था -

"सब जीव सुख चाहते हैं। सच्चा सुख मोक्ष में है। उस मोक्ष का साक्षात् कारण मुनि-धर्म है। गृहस्थ धर्म मोक्ष का परम्परा कारण है। इस धर्म का उपदेश हम किस प्रकार दें? देखो! तीर्थंकर भगवान मुनि बनते हैं। उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त होता है, फिर भी वे मौन धारण करते हैं। वाणी के द्वारा धर्म का उपदेश नहीं देते। आदिनाथ भगवान ने मुनि दीक्षा लेने के बाद मौन ही धारण किया था, अन्यथा वे साथ में दीक्षा लेने वाले राजाओं को धर्म का उपदेश देकर उनको धर्म में अवश्य स्थिर करते; किन्तु ऐसा

नियम है कि सर्वज्ञ बनने के पूर्व तीर्थंकर भगवान धर्म की देशना नहीं देते। जब भगवान ने केवली बनने के बाद धर्म का स्वरूप कहा, तब हम उस धर्म का क्या वर्णन कर सकते हैं? भगवान के पास की चिट्ठी समान जिनागम है। उसमें जो कहा गया है, उसे ही हम कहेंगे। वास्तव में वही उपदेश हम सुनते हैं। यह हमारा स्वयं का उपदेश नहीं है। आचार्य परम्परा से जो बात ज्ञात हुई है, उसे ही कहेंगे। शास्त्र में पहले मुनिधर्म कहा है। जो उसे धारण करने में असमर्थ है, इसके लिए गृहस्थ का धर्म कहा है। यदि पहले ही सरलतायुक्त श्रावक का धर्म बताया जाय, तो भव्य जीव उसे ही स्वीकार करेगा।''

महाराज ने कहा - ''आप लोग शास्त्र पढ़ते हैं। आप जानते हैं कि आपको कुछ और जानना बाकी नहीं है। कारण, आप सब समझ चुके हैं। जो समझ चुका है, वह भला दूसरे का कथन क्यों सुनेगा? सोचो और शक्ति के अनुसार शास्त्र में कही बात पर आचरण करो। शक्ति न होने पर भी श्रद्धा करो। इससे अजर-अमर स्थान मिलेगा। तुम शक्ति होते हुए भी उसे छिपा रहे हो। आज पंचम हुंडावसर्पिणी काल है। चारों ओर आपको आग दिख रही है। ऐसी अवस्था में सावधानी पूर्वक अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहिए। तुम मनुष्य जन्मरूपी रत्न को भूल रहे हो और नकली रत्न को बड़ी सावधानी से रखते हो। वास्तव में, इस मनुष्य जन्म को अनमोल रत्न समझकर उसे विषयभोग रूपी समुद्र में मत फेंको।''

महाराज ने श्रावकों को जिन भगवान की पूजा के लिए उपदेश देते हुए कहा - ''पूजा के हेतु अपनी शक्ति के अनुसार द्रव्य अपने घर से लाकर पूजा करनी चाहिए। करोड़पति तथा लखपति भी गरीब के समान अल्प द्रव्य से पूजा करते हैं, यह ठीक नहीं है। अपने वैभव के अनुसार भगवान की पूजा करो।'' उन्होंने कहा - ''आज पूर्व पुण्य के फलस्वरूप सुख भोगते हो। आगामी भव के लिए भी तो कुछ सामग्री साथ में रखना चाहिए। इसके लिए त्यागवृत्ति को अपनाना उचित है। जैसे दुष्ट घोड़े को लगाम के द्वारा वश में करते हैं, अन्यथा वह गड्ढे में पटक देता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को तपश्चरण के द्वारा वश में करना चाहिए। इन्द्रियों की आसक्ति में आत्मा का हित नहीं है। इन्द्रियों की लालसा के कारण मन में चंचलता आती है। चंचल चित्तवाला पुरुष कुगति में दुःख पाता है। तुम पाँचों इन्द्रियों में आसक्त हो। तुम्हारा क्या हाल होगा? इसे भगवान ही जाने।

''स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा हाथी कष्ट पाता है। रसना के कारण मछली दुःख भोगती है। भौंरा नासिका के कारण प्राण देता है। नेत्र के कारण पतङ्ग आग में जलता है।

कर्ण-इन्द्रिय के कारण हरिण की मृत्यु होती है। एक-एक इन्द्रिय की आसक्ति से जब दु:ख होता है, तब पाँचों की लोलुपता का क्या फल होगा? यह स्वयं सोचो?

देखो! उसी भव से मोक्ष पाने वाले तीर्थंकर भगवान ने त्याग भाव को अपनाया था। तुम्हारे तो मोक्ष का ठिकाना ही नहीं है। इसलिए तुम्हें अपनी शक्ति के अनुसार त्याग करना चाहिए। शक्ति को मत छुपाओ। व्यापार में तो पूरी शक्ति लगाते हो। नश्वर धन के पीछे लगकर निरन्तर काम कर रहे हो। शाश्वत सुख के लिए क्यों उद्योग नहीं करते?''

उन्होंने यह कहा - ''दूसरे गाँव जाते समय मुहूर्त देखते हो, प्रस्थान निकालते हो, यद्यपि कुछ काल के पश्चात् वापिस लौटकर आते हो; किन्तु जहाँ फिर लौटकर नहीं आना है, वहाँ से प्रस्थान करने के लिए उचित तैयारी क्यों नहीं करते? त्यागभाव रूप धन ही साथ में ले जा सकोगे। सोचो कि हम मनुष्य का या पशु का काम कर रहे हैं? अभक्ष्य सेवन, मिथ्यात्वपालन तथा अन्याय करनेवाले नर और पशु में अन्तर नहीं है। चतुर्गति संसार में भ्रमण का कारण मिथ्यात्व है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय असंज्ञी तक मिथ्यात्व नहीं छूटता है। तुम संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य हो। पहिले व्यवहार सम्यक्त्व को धारण करना चाहिये। उसके बिना निश्चय नहीं होगा। निश्चय में व्यवहार नहीं रहेगा। आत्मा में निमग्न निश्चय श्रुतकेवली अन्तर्मुहूर्त रहते हैं; पश्चात् नीचे उतर आते हैं, तब व्यवहार श्रुतकेवली होते हैं।''

स्याद्वाद दृष्टि

महाराज ने कहा था - ''देव-गुरु-शास्त्र पर अटल श्रद्धान चाहिए। यह व्यवहार सम्यक्त्व निश्चय का कारण है। ऊपर जाने के लिए नसैनी सदृश व्यवहार है। झाड़ में फूल होते हैं। फल की इच्छा है, तो फूल का रक्षण करो।' पश्चात् फूल स्वयमेव झड़ जाता है। उस समय निश्चयरूप फल प्राप्त होता है। अत: व्यवहार को नहीं छोड़ना चाहिये।

तीर्थंकर भगवान् के समवसरण में भी व्यवहार पाया जाता है। वहाँ बारह सभा में जीव अपने अपने स्थान पर अलग अलग बैठते हैं। देव, देवी, मुनि, आर्यिका, तिर्यंच का अलग अलग स्थान है। जब तीर्थंकर के समक्ष भी व्यवहार है, तब तुम उसे क्यों छोड़ते हो? इसे न पालोगे, तो परमार्थ को तथा स्वहित को क्या साधोगे? आत्मा का कल्याण करना है, तो जिनेन्द्र भगवान् का कहा गया मार्ग पालना चाहिये।''

समाधि की तैयारी

उन्होंने यह भी कहा - "श्रावक अवस्था में नहीं मरना। पिच्छी पकड़ कर जाना। एक बार समाधिमरण साधने पर सात-आठ भव में मोक्ष मिलता है। आँख मींचने से समाधि नहीं होती। आरम्भ से प्रयत्न करोगे, तो समाधि सधेगी। एकदम अंत में क्या होगा? तुम बच्चों को तराजू से तौलना आदि सिखाते हो। बिना सिखाए वह क्या करेगा? राजा के पुत्र को यदि शिक्षा नहीं दी जायगी, तो वह युद्ध में जाकर रोयेगा। आचार्य शांतिसागर महाराज ने ४० वर्ष से समाधि की तैयारी शुरू की थी और भले प्रकार उसे साधा। इसीलिए प्रत्येक विचारवान को आत्मा के हितार्थ उद्योग करना चाहिए।"

मार्गदर्शन

महाराज ने कहा - "बुद्धिपूर्वक त्याग करने से फल मिलता है। मंदिर जाते हो, वापिस घर आने तक सर्व प्रकार का आहार छोड़ दिया तथा कदाचित् मरण हो गया, तो त्याग में मरण होने से सद्‌गति मिलेगी। रात्रि भर आहार का त्याग हो और सांप के काटने से स्थिरता पूर्वक मरे, तो समाधि होगी? अरे! शरीर तो नाशवान है। इस पर मोहकर तुम इसका लालन-पालन कर रहे हो। यह तुम्हारे साथ जानेवाला नहीं है। इस नाशवान शरीर के पीछे क्यों लग रहे हो?" गुणभद्र स्वामी ने कहा है - "इस शरीर में आसक्ति करने वाले का उद्धार नहीं होगा। त्याग बुद्धि रखो।"

तोते का दृष्टांत

एक मिथ्या साधु था। उसने एक बुद्धिमान तोता पाला था। तोते को पिंजरे में रखकर साधु ने राम-राम, विट्ठल-विट्ठल सिखलाया था। वहाँ एक जैन ब्रह्मचारी आया। उस साधु ने सोचा कि यह ब्रह्मचारी विद्वान् है, इसलिए उसने कुछ उपदेश देने की प्रार्थना की।"

ब्रह्मचारीजी ने कहा - "त्याग के द्वारा बंधन से छूट जाओगे।" तोते के कान में ये शब्द पहुँचे। उसने विचारकर एक घन्टे के लिए आहार पानी छोड़ दिया। वह मुर्दे के समान हो गया। साधु ने तोते को मृत सदृश समझा; इसलिए पिंजरे का द्वार खोल उसे वृक्ष के नीचे छोड़ दिया। तोता चुपचाप पड़ा रहा। एक घण्टा पूरा होने पर वह तोता उड़कर झाड़ पर चढ़ गया। वह बंधन से छूट गया। एक घण्टे के त्याग के द्वारा पराधीनता दूर हो गई। उसने साधु से कहा - "तुम असली त्याग को पकड़ लोगे तो तुम्हारा भी बंधन दूर हो जावेगा। बंधन से छूटकर सच्चा आनंद पाने के लिए त्याग भाव को अपनाना चाहिए।"

धर्मसागर महाराज की वाणी में माधुर्य है। वह उनके महान् आचार्य शांतिसागर महाराज का प्रभाव है। आचार्य गुणभद्र स्वामी ने अपने सफल कवित्व का श्रेय अपने गुरु-भगवज्जिनसेन स्वामी को देते हुए कहा था - "गुरूणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादु मद्वच: (४३-१७) "यह गुरु की ही महिमा है, जो मेरी वाणी में मधुरता है।"

स्वर्गवास

आगम भक्ति, गुरुचरण प्रसाद तथा रत्नत्रय की समाराधना के फलस्वरूप उन महर्षि ने ११ अप्रेल १९६५ को भीषण रोग संकुल शरीर को निर्मल भावों के साथ लासुर्णे ग्राम में त्यागकर स्वर्गारोहण किया था। उनके अंतिम जीवन के संबंध में निम्नलिखित पत्रांश उपयोगी है। क्षुल्लक चंद्रसागरजी उनके समीप थे, उन्होंने उन साधुराज की परलोक यात्रा के पूर्व शरीर की भयंकर स्थिति के बारे में लिखा था, "महाराज धर्मसागर जी ने औषधि मात्र का त्याग कर दिया था। उनके शरीर में गैंग्रीन नाम का सूखा रोग हो गया था। उन्होंने षोड़शकारण व्रत के उपवास का नियम लिया था। अन्तराय, धूप आदि के कारण अशक्तता बढ़ी। दो दिन तक सीधा पाँव शून्य हो गया। दूसरे पैर की भी यह दशा शुरू हुई।

"डाक्टरों ने देखा, वे उस भयंकर रोग की तीव्र वेदना में महाराज को शांति के सागर रूप देख चकित थे। ११ अप्रेल सन् १९६५ की रात्रि, कालरात्रि सदृश थी। परलोक प्रयाण के २ मिनिट पूर्व वे सिद्ध भक्ति का पाठ सुन रहे थे। पश्चात् उन्होंने दो उंगलियाँ उठाकर "अरहंत सिद्ध" पढ़ने का संकेत किया। उस समय ५-६ हिचकियाँ आई और आत्मराज ने पौद्गलिक शरीर को छोड़ दिया। वे अंत तक पूर्ण सावधान थे। वचनातीत वेदना की वेला में भी वे धैर्य और शांति की मूर्ति रूप थे।

"उस समाधि के दिवस एक श्रावक ने प्रभात में कहा था, महाराज अब आपको मरण के लिए तैयार हो जाना चाहिए। उन तत्त्वज्ञानी ऋषिराज ने ये मार्मिक शब्द कहे थे, "मुझे तो मरण कभी भी नहीं है" यदि वे शरीर के प्रति आसक्ति धारण करते तो डाक्टर का इलाज अथवा अस्पताल का शरण ग्रहण करना उन्हें प्रिय लगता। वे रत्नत्रय भूषित सच्चे श्रमणराज थे इसलिए उन्होंने बाह्य उपचार की ओर अपने मन को लगाने की अज्ञानी सदृश चेष्टा नहीं की।"

उग्र तपस्वी नमिसागर महाराज

जैनधर्म की प्रभावनार्थ किये गये जापान आदि देशों के लम्बे प्रवास से लौटकर आत्मनिर्मलता के हेतु मैं ता. १६ अक्टूबर १९५६ को कलकत्ता से चलकर संध्या को पारसनाथ (ईसरी) आया। ता. १८ को शिखरजी की वंदना की। अपूर्व शांति मिली। वह चतुर्दशी का पुण्य दिवस था। अन्तःकरण को बहुत आह्लाद मिला। मैंने उपवास किया। रंचमात्र भी कष्ट नहीं मालूम पड़ा। स्मरण आया स्व. गुरुदेव आचार्य शांतिसागर महाराज का पुनीत वाक्य - "निर्वाण स्थान में उपवास आदि की कठिनता नहीं प्रतीत होती। इसी से मैं समाधि के लिये निर्वाण भूमि में आया हूँ।"

ईसरी में समाधिमरण का संकल्प कर अपने रत्नत्रय की रक्षा में उद्यत १०८ दिगम्बर महातपस्वी मुनिराज नमिसागरजी महाराज के दर्शन हुए थे। ता. १७ अक्टूबर को उन साधुराज से कुछ चर्चा हुई थी। आज उनका स्वर्गवास हो गया, फिर भी धर्मप्रेमियों के लिए उनका वर्णन हितकारी होगा, ऐसा विश्वास है।

प्रश्न - "महाराज! आपका शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया है। आपने सल्लेखना की तैयारी की है। कुछ मानसिक अशांति या आकुलता तो नहीं है?"

मैं सुखी हूँ

महाराज - "मैं आचार्य शांतिसागरजी महाराज का शिष्य हूँ। उनके ही समान समाधि का उद्योग कर रहा हूँ। मेरे पास पूर्ण शांति है। शरीर की पीड़ा के बारे में क्या पूछते हो? शरीर की पीड़ा शरीर के पास है, मेरे पास नहीं। मेरा आनन्द मेरे पास है। मुझे कोई भय नहीं है। मैं सुखी हूँ।"

प्रश्न - "महाराज! इस सल्लेखना व्रत के कारण आपका आनन्द पहले के आत्मीक आनन्द से कुछ न्यून हुआ है या नहीं?"

महाराज - "इस कारण मेरा आनंद बहुत बढ़ रहा है। मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति का मार्ग मिला है। मुक्तिरमणी की उपलब्धि आगे होगी, इस कल्पना से महान् आनन्द आ रहा है।"

प्रश्न - "महाराज! निद्रा आदि का क्या हाल है?"

महाराज - "नींद तो प्रायः चली गई है, फिर भी कोई कष्ट नहीं है। मैं तो

आनन्द में हूँ। आप देख ही रहे हो। भगतजी (ब्र. प्यारेलालजी) अब मुझसे बहुधा पूछा करते हैं, आप सावधान तो हैं, तो मैं तुरन्त कहता हूँ 'हाँ'!"

स्वप्न में मार्गदर्शन

पूज्य नमिसागरजी महाराज ने कहा था - "स्व. आचार्य शांतिसागरजी महाराज ने स्वप्न में दर्शन दिया था और कहा था, धर्म में स्थिर रहना।" उन्होंने यह भी कहा था - "इधर देहली तरफ अब मत रहना। यहाँ से जाओ, तुम्हारे दिन नजदीक आ गये हैं। अत: सावधानी रखो।"

मेरे पुन: प्रश्न करने पर उन साधुराज ने कहा था - "आचार्य महाराज चार बार स्वप्न में आ चुके हैं। उनकी समाधि होने पर मैंने चौबीस भगवान से प्रार्थना की थी- "प्रभो, मुझे भी ऐसी समाधि का लाभ हो।" आज वही अवसर आ गया है। मैं आचार्य महाराज का शिष्य हूँ। कभी भी अपने रत्नत्रय धर्म से विचलित नहीं होऊँगा।" उन्होंने यह भी कहा - "मेरा तीन वर्ष से वर्णीजी के पास यहाँ आने का मन था। ईसरी आने में उनका आकर्षण भी विशिष्ट कारण रहा है।"

प्रश्न - "महाराज! आप इस संस्तर पर रहकर दिन-रात क्या कर रहे हैं?"

उत्तर - "हम कर्मों का निर्दयता पूर्वक नाश कर रहे हैं।"

प्रश्न - "उन कर्मों पर आपकी दयादृष्टि क्यों नहीं होती?"

महाराज ने कहा - "जिन कर्मों ने हमारी सिद्ध पर्याय को लूट लिया है,उन पर दया कैसी? हम एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त प्राणियों की रक्षार्थ प्रयत्नशील रहते हैं; किन्तु विभाव और विकार के कारण कर्मों के नाशार्थ निर्मम हो उद्योग करते हैं। हम आर्तध्यान, रौद्रध्यान से अपनी आत्मा की रक्षा कर रहे हैं।"

प्रश्न - "महाराज! मेरे लिए क्या आज्ञा है?"

मुझे विदेश जाने की प्रेरणा

महाराज बोले - "तुमने जापान जाकर जिनधर्म की प्रभावना की। यह बहुत अच्छा किया। तुम युरोप, अमेरिका आदि देशों में जाकर जैनधर्म का प्रचार करो। धर्म-प्रचार के लिये जाने से डरो मत। अपनी श्रद्धा को निर्मल रखो। चारित्र में दोष आवे, तो प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध करो। हमारा हृदय कहता है कि अब जैनधर्म का उद्योत होगा। इसके लिए धन, तन तथा मन को लगाकर काम करना चाहिये। धर्म प्रचार के लिए धर्म-

श्रद्धालु, सदाचारसम्पन्न तथा निस्पृह व्यक्ति चाहिये। तुम खूब धर्म प्रचार करो। यही हमारा तुमको आशीर्वाद है।" (यह कहकर उन्होंने बड़ी स्नेहमयी भावना से मेरे मस्तक पर अपनी करुणामयी पिच्छिका रख दी।)

प्रश्न – "आज के जैन भाइयों के लिए आपको क्या कहना है?"

उत्तर – "जैनियों को अपनी धार्मिक क्रियाओं का रक्षण करना चाहिए। मांस मदिरा, मधु को त्याग कर रात्रि का भोजन त्यागना चाहिये। धनवान हो या उच्चाधिकारी हो, प्रत्येक जैनी को छना पानी पीना चाहिये व रात्रिभोजन नहीं करना चाहिये। शास्त्र में लिखा है – रात्रि-भोजन त्यागने से आधा जीवन उपवास पूर्वक सहज ही व्यतीत होता है।"

प्रश्न – "आजकल लोग स्वयं को भगवान सरीखा समझ साधन सम्पन्न होते हुए भी जिनेन्द्र-दर्शन नहीं करते। इससे कोई हानि तो नहीं है?"

महाराज ने कहा – "ऐसा करना अच्छा नहीं है। जो स्वयं को भगवान सोचते हैं, वे यहाँ संसार में क्यों रहते हैं, अपने स्थान पर क्यों नहीं जाते? " उन्होंने यह भी कहा – "जो स्वयं धर्म से पतित होकर तथा उसे दूर फेंककर दूसरे के कल्याण की बात सोचते हैं, वे भूल पर हैं। स्वयं धर्म पर आरूढ़ होकर ही जिनधर्म की प्रभावना हो सकती है।"

महाराज के ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं – "जैनधर्मी अपने धर्म से डिग रहे हैं। कहने से वे नहीं सुनते। जब अन्य धर्मवाले जैनधर्म से प्रेम करेंगे, भक्ति करेंगे, तब इन जैनों में भी शरम से अपने धर्म की जागृति होगी।' मैंने महाराज से कहा था – 'आप तो स्वर्ग यात्रा करने वाले हैं। कदाचित् आचार्य शांतिसागर महाराज का दर्शन हो, तो हमारा प्रणाम कह दीजिये। इस जैन धर्म को गौरवान्वित करने का वहाँ ध्यान रखिये।"

ता. १९ के प्रभात में उन क्षपकराज के पुनःदर्शन किये। उन्होंने फिर से देश-विदेश में जैनधर्म की प्रभावना करने का आदेश देते हुए आशीर्वाद दिया। मैं पावापुरी के लिए रवाना हुआ। पश्चात् ज्ञात हुआ कि २२ अक्टूबर को साम्य-भाव सहित नमिसागर महाराज शरीर त्यागकर स्वर्ग की ओर गये, उनका स्वर्गवास हो गया।

मुनिराज आदिसागरजी

शेडवाल के श्री बालगोड़ा देवगोड़ा पाटील - १०८ परमपूज्य मुनि आदिसागर महाराज का सिवनी में २७ फरवरी सन् १९५७ को शिखर जी जाते समय आगमन हुआ था। उन्होंने आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के विषय में मेरी प्रार्थना पर निम्नलिखित बातें बताईं :-

दर्शनीय विभूति

उन्होंने कहा - "सन् १९१७ की बात है, महाराज का चातुर्मास नसलापुर में हो रहा था। वहाँ उनका सत्सङ्ग मिला। उनके दर्शन से अंत:करण में बड़ी शांति मिलती थी। पुनः पुनः उनके दर्शन के परिणाम होते थे।"

शास्त्र स्वाध्याय में तत्परता

उन्होंने कहा - "चिकोड़ी तालुका बेलगाम जिला में महाराज का लगभग १० वर्ष पर्यन्त विहार हुआ। उतने समय तक मैं चिकोड़ी की अदालत में सरकारी कर्मचारी था। अत: महाराज के दर्शन का बहुधा सौभाग्य मिला करता था। महाराज बहुत शास्त्र-स्वाध्याय करते थे। शास्त्र की गूढ़ शंकाओं को सरलता से समझते थे और सुन्दर समाधान करते थे।"

जनता को भ्रमवर्धक चर्चा सभा में न हो

आचार्य महाराज ने एक स्मरणयोग्य बात कही थी - "**खुली सभा में ऐसी चर्चा नहीं चलानी चाहिए, जिससे जनता की दिशा भूल होना सम्भव हो।**"

दूध निर्दोष है

एक बार एक अन्य सम्प्रदाय के विद्वान् ने महाराज से पूछा था - "आप चमड़े के पात्र का पानी नहीं लेते? चमड़े के बर्तन का घी नहीं लेते, तब दूध को क्यों लेते हैं? उसमें भी तो मांस का दूषण है।"

महाराज ने कहा था - "आप लोग अनेक नदियों के जल को अत्यन्त पवित्र मानते हैं; किन्तु यह तो सोचिये कि वह जल कहाँ तक शुद्ध है? जिसमें जलचर जीव मल-मूत्र त्यागते हैं और जिसमें उनकी मृत्यु भी होती है। अनेक दोषों के होते हुए भी यदि जल शुद्ध है, तो दूध क्यों नहीं? एक बात और है, दूध की थैली गाय के शरीर में अलग

होती है। जब गाय घास खाती है, तब पहिले उसका रस भाग बनता है। इसके बाद खून बनता है, इसलिये दूध में कोई दोष नहीं है।"

फोटो खिंचवाना

उन्होंने बताया - "एक बार मैं चिकोड़ी (बेलगाँव) में था। आचार्य महाराज उस समय मुनि अवस्था में नसलापुर में विराजमान थे। मैंने चिकोड़ी के अनेक गृहस्थों के साथ नसलापुर जाकर महाराज से प्रार्थना की कि वे हमें फोटो खिंचवाने की मंजूरी प्रदान करें। हमारी प्रार्थना स्वीकार हुई। फोटोग्राफर महाराज के पास आया। उसने महाराज से कहा - "महाराज! अच्छी फोटो के लिए यह जगह ठीक नहीं है। दूसरा स्थान उचित है। वहाँ चलिए।" इसके साथ ही इस प्रकार खड़े रहिए आदि विविध प्रकार के सुझाव उपस्थित किए। महाराज अनुज्ञा देकर वचनबद्ध थे। उन्होंने फोटोग्राफर के संकेतों के अनुसार कार्य किया। फोटो तो खिंच गई; किन्तु इसके बाद एक विचित्र बात हुई।"

"उस समय महाराज दूध चावल तथा पानी के सिवाय कोई भी वस्तु आहार रूप में नहीं लेते थे। फोटो खींचने की स्वीकृति देने वाली मनोवृत्ति को शिक्षा देने हेतु महाराज ने एक सप्ताह के लिए दूध भी छोड़ दिया। बिना अन्य किसी पदार्थ के वे केवल चावल और पानी मात्र लेने लगे।" महाराज ने बताया - "हमारे मन ने फोटो खिंचवाने की स्वीकृति दे दी। इसमें अनेक प्रकार की पराधीनता का अनुभव हुआ। फोटोग्राफर के आदेशानुसार हमें कार्य करना पड़ा, क्योंकि , हम वचनबद्ध हो चुके थे। हमने दूध का त्यागकर अपने मन को शिक्षा दी, जिससे वह पुनः ऐसी भूल करने को उत्साहित न हो।"

इस प्रकरण से महाराज की लोकोत्तर मनस्विता पर प्रकाश पड़ता है।

रसना इन्द्रिय का जय

नसलापुर चातुर्मास में यह चर्चा चली कि - "महाराज! आप दूध, चावल तथा जल मात्र क्यों लेते हैं? क्या अन्य पदार्थ ग्रहण करने योग्य नहीं हैं।" महाराज ने कहा - "तुम आहार में जो वस्तु देते हो, वह हम लेते हैं। तुम अन्य पदार्थ नहीं देते; अतः हमारे न लेने की बात ही नहीं उत्पन्न होती है।"

दूसरे दिन महाराज चर्या को निकले। दाल, रोटी, शाक आदि सामग्री उनको अर्पण की जाने लगी, तब महाराज ने अंजुली बन्द कर ली। आहार के पश्चात् महाराज से निवेदन किया गया - "स्वामिन्! आज भी आपने पूर्ववत् आहार लिया। रोटी आदि

नहीं ली। इसका क्या कारण है?" महाराज ने पूछा - "तुमने आटा कब पीसा था, कैसे पीसा था?" इन प्रश्नों के उत्तर के रूप में यह बताया गया कि रात को आटा पीसा था, आदि। तब महाराज ने कहा - "ऐसा आहार मुनि को नहीं लेना चाहिए।"

इसके बाद तीसरे दिन फिर पूर्ववत् ही महाराज ने आहार लिया। आहार के पश्चात् महाराज ने भोजन की अनेक त्रुटियाँ बताईं। भक्ष्य-अभक्ष्य के विषय में पूर्ण निर्णय होने में पंद्रह दिन का समय व्यतीत हो गया। इसके बाद महाराज ने अन्य शुद्ध भोज्य वस्तुओं का लेना प्रारम्भ किया। केवल दूध, चावल जल लेते-लेते लगभग आठ दस वर्ष का समय व्यतीत हो गया था।

महाराज की रसना-इंद्रिय-विजय असाधारण थी। रसना-इंद्रिय की आसक्तिवश आज की दुनिया रसातल की ओर जा रही है। जीभ की लोलुपता की पूर्ति निमित्त आज के जमाने में लोग पाप से तनिक भी भय नहीं खाते हैं। भक्ष्य वस्तुओं में भी लोलुपता की पूर्ति के हेतु विविध रसमय व्यंजन बनते हैं। उनकी ओर से मनको हटाकर रस परित्याग व्रत स्वीकार करना सचमुच में महत्त्व की बात है। रसलोलुपी यदि कभी रस त्याग कर भोजन करे, तब वह समझेगा कि इस परित्याग के लिए किस प्रकार मनोजय की अपेक्षा रहती है। आगम में कहा है -

जिब्भोवत्थ-णिमित्तं जीवो दुक्खं अणादिसंसारे।
पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जह दाणिं ॥९८८॥ मूलाचार

इस अनादि संसार में जीव ने जीभ तथा स्पर्शन इंद्रिय के कारण अनंत दु:ख प्राप्त किए हैं। इसलिए जिह्वा तथा उपस्थ इंद्रियों को वश में करो।

त्यागवृत्ति स्वीकार करने पर भी जिसकी रसना चटपटे पदार्थों की ओर आसक्त होती है, उसे आचार्य महाराज की उच्च तपोमय जीवनी से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए।

वृत्ति-परिसंख्यान तप की उच्चता

आचार्य महाराज ने कोन्नूर में वृत्ति-परिसंख्यान तप प्रारम्भ किया था। उनकी प्रतिज्ञा बड़ी विलक्षण; किंतु अत्यंत विवेकपूर्ण थी। सात दिन पर्यन्त प्रतिज्ञा के अनुसार योग न मिलने से महाराज के छ: उपवास हो गए। समाज के व्यक्ति सतत चिंतित रहते थे, जिस प्रकार आदिनाथ भगवान को आहार न मिलने पर उस समय का भक्त समाज चिन्तातुर रहा था। सातवें दिन लाभान्तराय का विशेष क्षयोपशम होने से एक गरीब गृहस्थ भीमप्पा के यहाँ गुरुदेव को अनुकूलता प्राप्त हो गई।

महाराज का नियम था कि यदि मिट्टी के बर्तन पर नारियल रख कोई पड़गाहेगा, तो मैं आहार लूंगा। गरीब भीमप्पा की दरिद्रता वरदान बन गई। उस बेचारे ने निर्धनतावश मिट्टी का कलश लेकर पड़गाहा और उसने महाराज को आहार देने का उज्ज्वल सुयोग प्राप्त किया। महाराज ने यह नियम इसलिए किया था कि हर एक उसका पालन कर सकता था।

अपार तेजोमय साधुराज

कोन्नूर में सात सौ गुफाएँ हैं, जहाँ पहले सैकड़ों मुनियों का निवास रहता था। महाराज गाँव से दो तीन फलाँग पर स्थित उन्हीं गुफाओं में रहकर आत्मध्यान करते थे। उस समय उनमें अपार तपस्या का तेज था। उनकी आत्मा अपूर्व शांतिमय थी। उनका मुनि जीवन वास्तविक में अलौकिकता से परिपूर्ण था। उसी समय सर्पकृत उपसर्ग हुआ था तथा महाराज ने अद्भुत स्थिरता धारण की थी। उससे उनका यश विश्वव्यापी हो गया।

दिगम्बरत्व पर महाराज की दृष्टि

भोज के मुनिराज आदिसागरजी को रत्नप्पा स्वामी कहते थे। उनका चिक्कोड़ी से दस मील दूरी पर स्थित सदलगा ग्राम में चातुर्मास हुआ था। वहाँ जैनों के तीनसौ घर थे। रत्नप्पा स्वामी दिगंबर थे। इस पर पुलिस के सब इन्सपेक्टर ने अपना विरोध पाटील के पास सूचित किया कि तुम्हारे गुरु हमारे दफ्तर के सामने से नग्न रूप में नहीं जा सकेंगे। गाँव के पाटील ने इन्सपेक्टर से कह दिया कि रत्नप्पा स्वामी हमारे गुरु हैं। उन पर किसी प्रकार का भी प्रतिबंध नहीं चलेगा। इसके पश्चात् जैन समाज ने बम्बई सरकार के पास एक प्रस्ताव पास कर भेजा कि हमारे गुरु को दिगंबर रूप में विहार करने की अनुज्ञा प्रदान की जाय।

आचार्य महाराज को उक्त प्रस्ताव की बात विदित हुई, तब उन्होंने कहा - "हमें सरकार से आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि दिगंबर रूप में विहार करना जैनमुनि का धार्मिक अधिकार है।" महाराज की दृष्टि बड़ी मार्मिक थी। यथार्थ में जब जैन गुरु के दिगंबर रूप में विहार करने की शास्त्र की आज्ञा है, तो शासन-सत्ता न्यायानुसार उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती। अपने अधिकार के विषय में प्राप्त निश्चित स्थिति को अधिकारियों की कृपा का केन्द्र बिंदु बनाना महाराज को उचित नहीं लगा।

रसवती वाणी

"उनकी वाणी में अद्भुत मधुरता थी। महाराज का एक तीव्र विरोधी व्यक्ति एक बार सांगली जाते समय उनके पास आया। महाराज के साथ में मैं और नेमिसागर जी थे। वे सुधारक, मुनियों को आहार दान देने के विरोध में भी आंदोलन करते थे। मिथ्याधर्मी साधु की प्रशंसा करते थे। ऐसे विचित्र व्यक्ति ने मोटर से उतरकर तपोमूर्ति महाराज को प्रणाम किया।"

महाराज बोले - "यह हमारा पक्का शिष्य है। इसलिए मोटर लेकर दर्शनार्थ आया है।" इस प्रेममयी वाणी से सचमुच में उस विरोधी के मन में महाराज के उज्ज्वल जीवन के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न हो गया।

प्रतिभा द्वारा अन्य साधुओं में प्रभावना

एक बार आचार्य महाराज हुबली पहुँचे। वहाँ एक अन्य सम्प्रदाय के अनेक साधु विद्यमान थे। उनके संघनायक आरूढ़स्वामी नाम के विद्वान् थे। आचार्य महाराज की सर्वत्र श्रेष्ठ साधु के रूप में कीर्ति का प्रसार हो रहा था, इसलिए आरूढ़स्वामी पालकी में आरूढ़ होकर अपने शिष्य समुदाय के साथ आचार्य महाराज के निकट आकर बैठ गए। अपने सम्प्रदाय के विशेष अहंकारवश उन्होंने जैन गुरु को प्रणाम करना अपनी श्रद्धा के प्रतिकूल समझा था। आचार्य महाराज की इस विषय में उपेक्षा दृष्टि रहती थी। कारण, प्रणाम करने या न करने से उनकी न कोई हानि और न लाभ ही है।

उस समय नेमिसागरजी शास्त्र पढ़ रहे थे। सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का प्रकरण चल रहा था। कुछ समय तक आरूढ़स्वामी ने शास्त्र सुना और प्रश्न किया - "बार-बार सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का शब्द सुनने में आ रहा है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का क्या भाव है?"

महामिथ्यात्व के रोग में ग्रस्त व्यक्ति को कैसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का भेद समझाया जावे? उत्तर देना सामान्य बात न थी। उत्तर तो कोई भी दे सकता था; किन्तु उत्तर ऐसा आवश्यक था, जो हृदय को समाधानप्रद हो तथा जिससे कटुता उत्पन्न न हो। आचार्य महाराज की प्रतिभा ने एक सुन्दर समाधान सोचा। उन्होंने ये अनमोल शब्द कहे - "भीतर देखना सम्यक्त्व है। बाहर देखना मिथ्यात्व है।" महाराज ने कनड़ी भाषा में ये वाक्य कहे थे। इसे सुनते ही आरूढ़स्वामी का हृदय-कमल खिल गया। उस ज्ञानवान साधु को अवर्णनीय आनन्द आया। उन्होंने आचार्य महाराज को साष्टांग प्रणाम किया।

और कहा ऐसे सद्गुरु का मुझे अपने जीवन में प्रथम बार दर्शन हुआ। ऐसे महापुरुष को ही अपना गुरु बनाना चाहिए। आरूढ़स्वामी के सभी शिष्यों ने महाराज को प्रणाम किया। हजारों व्यक्तियों के मुख से जैनगुरु के गौरव व स्तुति के वाक्य निकलते थे। उस समय बड़ी प्रभावना हुई थी।

समयोचित उपदेश

महाराज ने सन् १९२५ में श्रमणबेलगोला की यात्रा की थी। उस यात्रा से लौटते समय आचार्य संघ दावणगिरी में ठहरा था। बहुत से अन्यधर्मी गुरुभक्त महाराज के पास रस, दूध, मलाई आदि भेंट लेकर पहुँचे। रात्रि का समय था। चन्द्रसागरजी ने लोगों से कहा कि महाराज रात्रि को कुछ नहीं लेते हैं। वे लोग बोले - "महाराज गुरु हैं। जो भक्तों की इच्छा पूर्ण नहीं करता, वे गुरु कैसे?" महाराज तो मौन थे। वे भद्रपरिणामी भक्त रात्रि को ढोलक आदि बजाकर भजन तथा गुरु का गुणगान करते रहे।

दिन निकलने पर महाराज का विहार हो गया। वे लोग महाराज के पीछे-पीछे गए। उन्होंने प्रार्थना की कि - "स्वामीजी! कम-से-कम हम लोगों को कुछ उपदेश तो दीजिए।" उनका अपार प्रेम तथा उनकी योग्यता आदि को दृष्टि में रखकर महाराज ने उन लोगों के द्वारा गाये गए भजन के कुछ उनके परिचित शब्दों का उल्लेख कर कहा - "इन शब्दों के अर्थ का मनन पूर्वक आचरण करो और अधिक से अधिक जीव दया का पालन करो, तुम्हारा कल्याण होगा।" इस प्रिय वाणी को सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए। महाराज में यह विशेषता थी कि वे समय, परिस्थिति, पात्र आदि का विचार कर समयोचित तथा हितकारी बात कहते थे।

व्यवहार कुशलता

उन भक्तों का मन महाराज के चरणों में इस प्रकार आसक्त हो गया जिस प्रकार मधुकर कमल के प्रति अपार अनुराग धारण करता है। महाराज लगभग दस मील पहुँचे होंगे कि वे भक्त एक गाड़ी में घृत, धान्य आदि सामग्री लेकर संघ के सत्कार की सद्भावना से प्रेरित हो वहाँ पहुँचे। महाराज ने संघपति से कहा - "इन लोगों की प्रेमपूर्ण भेंट तुम्हें स्वीकार करना चाहिए।" उनकी स्नेहपूर्ण भेंट प्रेम भाव से स्वीकार की गई। सुमधुर भोजन द्वारा उन गुरुभक्तों को परितृप्त भी किया गया। महाराज का व्यवहार अन्य सम्प्रदाय वालों के साथ भी इतना मधुर होता था कि वे इनके चरणों के प्रेमी बन जाते थे।

शेडबाल में सर्प का उपसर्ग

आचार्य महाराज आत्मबली, उग्रतपस्वी तथा निर्भय हृदय वाले थे। सर्प के द्वारा अनेक बार उन पर उपसर्ग हुआ। सन् १९२२ की बात है - "महाराज शेडबाल अनाथाश्रम की समीपवर्ती गुफा में ध्यानार्थ गए। रात्रिभर वहाँ रहकर ध्यान के पश्चात् गुफा से बाहर आते समय उन्होंने सवेरे श्रावक से कहा - "होशियारी से भीतर जाना।" उस श्रावक ने भीतर जाकर देखा तो उसे कुछ नहीं दिखा। मैं भीतर गया, तो प्रयत्नपूर्वक खोज की। महाराज के शब्द अन्यथा नहीं हो सकते, इस विश्वास से मैंने विशेष ध्यान देकर इधर-उधर खोज की, तो एक फोटो के पीछे लगभग दो हाथ का सर्प छिपा था। मैंने उसे स्वयं पकड़कर खेत में छोड़ा था।

कोगनोली में सर्प का उपसर्ग तथा महिमा-प्रसार

महाराज कोगनोली की गुफा में ध्यान करने बैठे थे। एक सर्प पाँच छः हाथ लम्बा तथा बहुत मोटा महाराज के पेट तथा अधोभाग में लिपटा हुआ बैठा था। महाराज गंभीर मुद्रा में अवस्थित थे। सैकड़ों लोगों ने आकर देखा। घंटा भर के बाद वह सर्प स्वयमेव चला गया।

महाराज का ध्यान पूर्ण हुआ। उन्होंने उपस्थित लोगों को यह प्रतिज्ञा दिलाई थी कि इस सर्प की बात को जाहिर नहीं करेंगे। लोगों ने अपनी प्रतिज्ञा की इतनी मात्र पूर्ति की थी कि उन्होंने यह वर्णन नहीं छपवाया; किन्तु वे इसकी चर्चा को नहीं रोक सके। गुरु की ऐसी अपूर्व तपस्या को देख भला कौन अपना मुख बंद रख सकता था? कोगनोली में सर्प के भीषण उपद्रव की अवस्था में अविचलित तथा प्रसन्नता पूर्ण ध्यान-मुद्रा से महाराज की महिमा का प्रसार दक्षिण में बड़े वेग से हुआ। लोगों की भक्ति भी खूब वृद्धि को प्राप्त हुई।

गांधीजी का अनुभव

इस प्रसंग में गांधीजी का यह कथन महत्त्वपूर्ण है - "मैं जानता हूँ कि मेरे अन्दर बहुत प्रेम है। पर प्रेम की तो कोई सीमा ही नहीं होती। मैं यह भी जानता हूँ कि मेरा प्रेम असीम नहीं है। मैं साँप के साथ कहाँ खेल सकता हूँ? जो अहिंसामूर्ति है, उसके सामने साँप भी ठण्डा हो जाता है; मुझे इस पर पूरा-पूरा विश्वास है।"

(गांधी वाणी पृ. २८५ - हिन्दी नवजीवन २८ सितम्बर १९२४)

विश्व के द्वारा आदरणीय गांधीजी के हृदय के उपरोक्त उद्‌गारों को ध्यान में रखने से आचार्य महाराज की सर्व श्रेष्ठता स्वयं स्पष्ट हो जाती है।

अपढ़ किसान रामू का उद्धार

जिनको सब लोग आचार्य कुंथुसागर महाराज के नाम से जानते हैं, वे पहले अपढ़ किसान थे। शरीर सुदृढ़ था। उनका नाम रामप्पा था। वे कपास की मजबूत जड़ को उखाड़ने में प्रवीण थे। इस कारण उनकी 'हत्तीकटिगी रामू' के रूप में प्रसिद्धि थी। रामप्पा महाराज की जय बोलने में प्रवीण था। दो चार जैन-अजैन भजन मात्र याद थे। रामप्पा ने महाराज से क्षुल्लक के व्रत मांगे।

चंद्रसागर जी ने विरोध करते हुए कहा - "ऐसे जंगली को क्या व्रत देते हो?" महाराज में मनुष्य के हृदय को समझने की अलौकिक दृष्टि थी। उन्होंने देखा - "रामा में स्थिर वैराग्य है।" अतएव उन्होंने रामा को व्रत दिए। वह रामा आचार्य कुंथुसागर महाराज के रूप में विकसित हुआ। यह आचार्य महाराज के महान् व्यक्तित्व का प्रभाव था कि उनके पवित्र पारस तुल्य जीवन का स्पर्श पाकर कुधातु रूप लोह-सदृश जीव भी सुवर्णरूपता को प्राप्त होता था।

प्रभावशाली जीवन

"दूसरे की बात ही क्या, मेरा जीवन उन गुरुदेव के अचिंत्य संपर्क के कारण आज निर्वाण दीक्षाधारी बन गया। सन् १९१८ में मेरा एक मित्र मुनि शांतिसागर जी के गुण गाता था, तब मैं निरादर भाव से कहा करता था - "उनमें क्या धरा है? वे सामान्य मनुष्य सरीखे होंगे।" एक दिन रविवार को चिकोड़ी में कचहरी बन्द रहने से मैंने नौ मील पर स्थित नसलापुर जाकर महाराज को देखा। उनके दर्शन होते ही मेरे मन में उनके चरणों के प्रति अपार प्रीति उत्पन्न हुई। उस समय मुझे अवर्णनीय आनन्द प्राप्त हुआ। आज भी उस घटना का स्मरण कर चित्त में महान् शांति प्राप्त होती है। उनकी आत्मा का ऐसा ही प्रभाव पड़ता था, जैसा चुम्बक का लोहे पर पड़ता है। मेरा जीवन बदल गया। मैं आज उनके प्रभाववश ही मुनि बना।

शिष्य को गुरुत्व प्राप्ति

आचार्य महाराज ने देवप्पास्वामी (मुनि देवेन्द्रकीर्ति महाराज) से क्षुल्लक दीक्षा ली थी। देवप्पास्वामी सन् १९२५ में श्रमणबेलगोला में थे, उस समय महाराज भी वहाँ पहुँचे। देवप्पास्वामी ने महाराज का शास्त्रोक्त जीवन देखा था और जब उससे उन्होंने

अपनी शिथिलाचारपूर्ण प्रवृत्ति की तुलना की। तब उनको ज्ञात हुआ कि मेरी प्रवृत्ति मुनिपदवी के अनुकूल नहीं है। देवप्पास्वामी दस गज लम्बा वस्त्र ओढ़ते थे। उद्दिष्ट स्थान पर जाकर आहार लेते थे। आहार के समय वे दिगम्बर होते थे। भोजन के समय जोर से घंटा बजता था, ताकि भोजन में अन्तराय रूप वाक्य कर्णेन्द्रियगोचर ही न हों। ऐसी अनेक बातें थीं। देवप्पास्वामी सच्चे मुमुक्षु थे। विषयों से विरक्त थे। उनको सम्यक् प्रणाली का पता नहीं था। उन्होंने आचार्य महाराज से कहा - "मुझे छेदोपस्थापना दीजिये।"

महाराज ने उनको यथायोग्य प्रायश्चित्तपूर्वक पुनः दीक्षा दी। उनके गुरु ने भी गुरुत्व का परित्याग कर शिष्य पदवी स्वीकार की। आचार्य महाराज को अपने गुरु के सम्बन्ध की यह चर्चा करना अच्छा नहीं लगता था।

देवप्पास्वामी का प्रभाव

"देवप्पास्वामी का ब्रह्मचर्य बड़ा उज्ज्वल था। मैंने गोकाक में उनकी गौरवपूर्ण कथा सुनी तथा उसकी प्रामाणिकता का निश्चय किया। वे गोकाक से कोन्नूर जा रहे थे कि वहाँ की भीषण पहाड़ी पर ही सूर्य अस्त हो गया। उनके साथ एक उपाध्याय था। उसे कग्गुड़ी पंडित कहते थे। स्वामी ने एक चक्कर खींचकर उपाध्याय को उसके भीतर सूर्योदय पर्यन्त रहने को कहा और वे भी उस घेरे के भीतर ध्यान के लिए बैठ गए। रात्रि होने पर एक भयानक शेर वहाँ आया। उसने खूब गर्जना की, उपद्रव किए; किन्तु वह शेर घेरे के भीतर न घुस सका। भय से उपाध्याय का बहुत बुरा हाल था, फिर भी वह घेरे के बाहर नहीं गया। दिन निकलने के बाद स्वामी कोन्नूर पहुँचे, तब उपाध्याय ने सब जगह उपरोक्त कथा सुनाई।

भीमशा की भीषण भक्ति

आचार्य श्री कोगनोली में विराजमान थे। चातुर्मास का समय सन्निकट था। प्रत्येक समीपवर्ती ग्रामवासी चाहता था कि गुरुदेव की चार माह पर्यन्त सेवा का सौभाग्य हमारे ग्राम को प्राप्त हो। कई स्थानों के लोग महाराज के पास एकत्रित हो गए थे। निर्णय होना शेष था। नसलापुर के अनेक लोग आए थे। उनमें शक्ति और भक्ति गुणसंपन्न भीमशा मकदूम नामक व्यक्ति ने ऐसा काम किया, जिसकी कोई स्वप्न में भी शायद कल्पना नहीं करेगा।

महाराज गाँव के बाहर गुफा में ध्यान करने गए। प्रभात में चार बजे महाराज

सामायिक को बैठे ही थे कि भीमशा अपने साथियों सहित गुफा में गया। भीमशा के मस्तक में एक विचित्र विचार आया कि इस समय महाराज ध्यान में हैं। ये कुछ भी नहीं बोलेंगे। भीमशा ने महाराज को आसन सहित उठाकर अपने बलवान कंधे पर विराजमान कर शीघ्र ही नसलापुर की ओर प्रस्थान किया। सूर्योदय होते समय वे लगभग आठ मील दूर यमगरणी ग्राम पर्यन्त पहुँच गए थे। सामायिक पूर्ण हुई। आकाश में सूर्य को देखकर महाराज का मौन भी पूर्ण हुआ। उन्होंने भीमशा से कहा - "अरे बाबा! अब तो हमें नीचे उतरने दो।" पश्चात् भीमशा का साहस तथा भक्ति देख महाराज हँसने लगे।

कुछ काल के पश्चात् कोगनोली की गुफा में महाराज को न देख अन्य ग्रामों के गृहस्थ महाराज को खोजते हुए उस स्थान पर आए। उन्होंने महाराज से अपने-अपने ग्राम में चातुर्मास हेतु विनय की। उस समय महाराज ने हँसते हुए भीमशा की ओर इशारा करते हुए कहा - "यमराज बैठा है। इससे कौन बच सकता है?" इसके पश्चात् नसलापुर में ही महाराज का चातुर्मास हुआ। ऐसी भक्ति लोगों की महाराज के प्रति रहती थी। लोगों का महाराज के चरणों में इतना प्रेम रहता था कि वे अपने कुटुम्ब, परिवार का भी ममत्व छोड़ महाराज की सेवार्थ अपने प्रिय प्राणों के परित्यागार्थ तैयार रहते थे।

महाराज के समक्ष जब भीम सरीखा शक्तिशाली भीमशा आता था, तब महाराज के मुख-मंडल पर स्मित की मधुर रेखा आ जाती थी। संभवतः महाराज को भीमशा की अद्भुत भक्ति की स्मृति आ जाती रही होगी।

शेडवाल में महान् प्रभाव

"महाराज का व्यक्तित्व अद्भुत प्रभाव पूर्ण रहा है। शेडवाल में आश्रम खोलने का उद्योग चल रहा था। समाज में अनैक्यवश तीन पटी हो गई थीं, अतः कार्य असफल हो रहा था। मैंने आश्रम खोलने की चर्चा महाराज को पधारने पर प्रारम्भ की, तब एक व्यक्ति ने विरोध करते हुए कहा - "कानड़ी में एक कहावत है, 'हिडीयोल तुम्बिरे पंकमेल तोडेयल' इत्यादि शब्द कहे - उसका अर्थ यह है कि यदि मुट्ठी के भीतर कीचड़ भरी है, तो बाहर से हाथ के धोने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?" मैंने कहा - "रत्नत्रयपुरी में आश्रम की स्थापना का लक्ष्य उस अंतःकरण में विद्यमान पंक को दूर करना है।" उस समय महाराज की उपस्थिति मात्र से लोगों के मनोभावों में महान् परिवर्तन हुआ। जहाँ वर्षभर के लिए दोसौ रुपया इकट्ठा होना दुष्कर था, वहाँ लोगों ने स्वयं उत्साहित होकर महाराज के नाम पर उस पाठशाला की योजना करके पंद्रह वर्ष के खर्च की तत्काल व्यवस्था करली। सबका मनोमालिन्य भी दूर होकर एकता हो गई। श्रेष्ठ तपस्या और

उज्ज्वल चरित्र के कारण महाराज का आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता था। वे आत्मशक्ति के सुन्दर संस्करण-स्वरूप प्रतीत होते थे।"

शिथिलाचारी मुनि-मार्ग को उज्ज्वल बनाया

आचार्य महाराज के द्वारा दिगम्बर मुनि के जीवन को नवजीवन प्राप्त हुआ था। उन्होंने अपने जीवन को तत्कालीन विकारों से विमुक्त रखकर मार्ग को भी शुद्ध बनाया। आज तो लोग उस अवस्था की कल्पना तक नहीं कर सकते, जब कि मुनि एक धोती ओढ़ लेते थे। एक धोती दूसरे दिन के उपयोग हेतु रखते थे। भोजन की व्यवस्था श्रावकों के घर जाकर उपाध्याय पहले से करता था। एक उग्र तपस्वी मुनि थे। वे आठवें दिन आहार करते थे। अज्ञानतावश उनको मुनि पद के योग्य बातों का परिज्ञान नहीं था। उनका आहार कहाँ होगा, यह बात छह माह पूर्व से निश्चित हो जाती थी। आहारदान करने वालों की सूची तैयार रहती थी। आहार में प्रदान की जाने वाली भोज्य सामग्री को श्रावक के यहाँ से मंगवाकर वे शुद्ध करके वापिस भेज देते थे। दूसरे दिन जब आहार होता था, तो वही सामग्री उनको अर्पण की जाती थी। श्रावक के घर जाकर वे अपना वस्त्र टांग देते थे। जोर-जोर से घंटा बजता था, उस समय वे आहार लेते थे। यदि किसी उपाध्याय को किसी स्वामी के आहार की योजना में असफलता हुई, तो वह समाज के प्रमुख व्यक्ति के पीछे लगकर आग्रह करता था कि आप प्रमुख हैं। आपको आहार कराना ही होगा। हम स्वामी को आहार के लिए कहाँ ले जावें? आदि रूप से दिगम्बर मुनि का मार्ग अत्यन्त मलिन हो रहा था। सूर्योदय से जैसे रात्रि का घन अंधकार दूर होता है उसी प्रकार आचार्य शान्तिसागर महाराज रूपी सूर्य के उदय ने मुनिचर्या में ज्योति जगा दी। उनका यह महान् उपकार कौन भूल सकता है? जैन संस्कृति के कल्याण निमित्त ही उनका शरीर निर्मित हुआ था, ऐसा प्रतीत होता है।"

सोचविचारकर व्रतदान

आचार्य महाराज बहुत दूरदर्शी थे। उनसे जब कोई व्रत माँगता था, तो वे व्रत लेने वाले की सम्पूर्ण (वर्तमान तथा आगामी) परिस्थिति पर दृष्टिपात कर लेते थे। मैंने कोन्नूर में महाराज से पंचाणुव्रत लिये। परिग्रह का परिमाण करते समय मैंने कहा - "मैं पाँच हजार रुपयों को रखने का परिमाण करता हूँ।"

महाराज ने कहा - "इतने में तुम्हारा निर्वाह नहीं होगा। उससे आकुलता उत्पन्न होगी।" अतएव महाराज के कथनानुसार मैंने परिग्रह परिमाण लिया था।

पात्र के योग्य प्रायश्चित्त

"एक बार मारवाड़ के नावा ग्राम में दिगम्बर जैन महासभा के अधिवेशन में, मैं बालगोंडा और दरीगोंडा के साथ पहुँचा था। मैं तथा मेरे साथी, जिन्हें मैं काका कहता था, जैन के हाथ का ही जल पीते थे। महासभा के एक उच्च पदाधिकारी सज्जन ने हमसे कहा कि यहाँ शोध के चौके में जैनी ही पानी लाता है तथा भोजन बनाता है। हमने उस चौके में दो-तीन दिन भोजन किया। अन्त में पता चला कि वहाँ कहार जाति का आदमी पानी लाता था। इससे मेरे मन में बहुत खेद उत्पन्न हुआ। वापिस लौटकर हमने आड़ते नामके स्थान पर आचार्य महाराज के दर्शन किए। यह कोल्हापुर के समीप है।

विवेकपरायणता

हमने आचार्य महाराज के समक्ष अपना सर्व वृत्तान्त सुनाया कि उत्तरप्रान्त में जाने पर किस प्रकार हमारे नियम में दूषण आ गया। आचार्य महाराज ने सम्पूर्ण कथन ध्यान से सुना। इसके पश्चात् महाराज ने प्रायश्चित्त ग्रन्थ उठाकर लगभग आधा घंटे के अनन्तर हमें महामन्त्र की विशेष जापरूप प्रायश्चित्त दिया। मैंने कहा - "इतना प्रायश्चित्त देने में आपको अधिक समय क्यों लगा?"

महाराज ने कहा - "शास्त्र में उपवास का प्रायश्चित्त अनेक स्थल पर बताया गया था। हम जानते हैं कि तुमको सरकारी काम के कारण बाहर सदा दौरा करना पड़ता है, इससे तुमको उपवास रूप प्रायश्चित्त क्लेशदायी हो जायगा। यह विचार कर हम तुम्हारे योग्य प्रायश्चित्त को देखते थे। इसमें हमें समय लग गया।"

इस प्रकरण से यह बात प्रकाश में आती है कि आचार्य महाराज में कितना उच्च विवेकभाव विद्यमान था। सामान्य बुद्धि के मनुष्य की बात तो दूसरी, बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ भी कभी-कभी सोचते थे कि महाराज ने अनेक आगमिक विषयों पर विशेष प्रकार का मत निर्धारण क्यों किया? उन सब लोगों के समक्ष यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य महाराज अत्यन्त दूरदर्शी तथा विचारशील थे। अतएव गम्भीर विचार के अनन्तर किसी भी बात का निश्चय करते थे। सचमुच में वे लोकोत्तर महात्मा थे।

प्रश्न - मैंने आचार्यश्री से कहा, "आप व्रत देते समय काफी सोच-विचार क्यों करते हैं? जो व्यक्ति आकर व्रत माँगता है, उसकी मनोकामना क्यों नहीं पूर्ण करते?

उत्तर - हम व्रत देते समय जीव का कल्याण विचारते हैं। यदि अल्प शक्ति वाले व्यक्ति ने अधिक कठिन नियम ले लिया, तो वह व्रत पालन न करके व्रतभंग दोष

के कारण दुःखी होगा। हम ऐसा व्रत नहीं देते, जिसको न पालने के कारण उस आत्मा को क्लेश हो अथवा उसका अकल्याण हो।

वर्तमान समय में सामान्य व्यक्ति पर भी महान् व्रतों का भार रखने का अमधुर फल अनेक जगह दिखाई पड़ता है। आचार्यश्री उतावली न कर विवेक से काम करते थे। वे अधिक दीक्षित बनाने की प्रसिद्धि से परे थे। उनकी दृष्टि मार्मिक थी।

बैंगलोर हाईकोर्ट के जज श्री टी.के. तुकोल की धर्मपत्नी ने आचार्यश्री के पास आकर रात्रिभोजन त्याग का व्रत मांगा। महाराज ने कहा, "बाई तुम्हारा पति बड़ा अधिकारी बनेगा। उस समय अपनी प्रतिज्ञा का पालन न कर सकोगी।" उस बाई की पूज्यश्री से चर्चा के समय जस्टिस महोदय आ गए। जब उन्होंने आचार्यश्री से कहा, मैं व्रत पालन में बाधक नहीं बनूंगा, तब महाराजश्री ने रात्रिभोजन त्याग सदृश छोटा व्रत दिया था। इस बात पर अन्य साधुजन को ध्यान देना आवश्यक है। पात्रता आदि का गहराई से विचार करके व्रतदान स्व-पर हितकारी होगा।

आ. अनन्तकीर्ति महाराज

अपूर्व आध्यात्मिक आकर्षण

मुनि अनन्तकीर्ति महाराज बेलगाँव वालों ने बताया - "आचार्य महाराज का व्यक्तित्व असाधारण आध्यात्मिक आकर्षण का केन्द्र था। जिस प्रकार चुम्बक लौह पदार्थ को अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार अच्छी भवितव्य वाले भव्य जीव उनके सान्निध्य को पाकर उनसे बहुत कुछ प्राप्त करते थे। उनके उपदेश के बिना ही बहुतों की आत्मा पाप-पंक से निकलकर संयम की उज्ज्वल भूमि में अवस्थित हुई है।"

अपना अनुभव

उन्होंने स्वयं अपना अनुभव इस प्रकार बतलाया -"आचार्य शान्तिसागर महाराज कोन्नूर ग्राम में अपना वर्षाकाल व्यतीत कर रहे थे। मैं उनके पास जाया करता था। उनका दर्शन कर मन में यही इच्छा होती थी कि मैं भी दिगम्बर मुद्रा धारण कर उनके साथ में रहूँ। बार-बार न जाने क्यों ऐसी इच्छा हुआ करती थी कि घर में, कुटुम्ब में, व्यापार में तथा परिवार में कुछ नहीं रखा है। उन साधुराज सदृश बनने में शान्ति का लाभ होगा।"

व्यक्तित्व का प्रभाव

"उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मैंने ब्रह्मचर्य प्रतिमा ग्रहण की। एक वर्ष के पश्चात् क्षुल्लक पद ग्रहण किया। इसके बाद मैं निर्ग्रन्थ बना। मैंने क्षुल्लक पद पञ्चकल्याणक के अवसर पर लिया था; किन्तु आचार्य शान्तिसागर जी के पास आकर मैंने नवीन रूप से पुनः दीक्षा ली थी।"

पुनः दीक्षा लेने का हेतु

मैंने अनन्तकीर्ति महाराज से पूछा - "जब आपने दीक्षा ले ली थी, तब पुनः दीक्षा लेने का क्या कारण था?"

उन्होंने कहा - "दीक्षा गुरु पाहिजे - दीक्षा-गुरु होना आवश्यक है।" उनके वाक्यों को सुनकर सचमुच में यह बात मन को उचित लगी। कई मुमुक्षुजन सद्गुरु का सान्निध्य पाने का प्रयत्न न करके स्वयं दीक्षा ले लेते हैं। उनकी कृति में अनेक बातें कभी-कभी ऐसी आ जाती हैं, जो उनके जीवन में नहीं होती, यदि उन्होंने किसी को

दीक्षागुरु बनाया होता। अनुभवी गुरु शिष्य के जीवन की अपूर्णताओं तथा विपरीत प्रवृत्तियों के परिमार्जन का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। जो शिष्य न बनकर स्वयं गुरुपदासीन होता है, उसके जीवन में संयम की सुवास नहीं दिखती, किंतु स्वच्छंद प्रवृत्ति का दर्शन होता है।

भवसिंधु में सद्गुरु नाविक हैं

जिस तरह महान् सरोवर या सिन्धु में चतुर नाविक का आश्रय प्राणों का रक्षण करता है, उसी प्रकार भवसिंधु में सद्गुरु का अवलम्बन ग्रहण करना हितकारी होता है।

आत्मा के हितार्थ अहंकार का त्याग आवश्यक है

जब आत्मा का कल्याण करना है, सारे कुटुम्ब-परिवार को छोड़ना है, तब स्वात्मसिद्धि के प्रेमी साधु को छोटे से अहंकार रूपी शत्रु को और छोड़ देना चाहिए। यह थोड़ासा अहंकार महान् साधु को लघु बनाते हुए उनकी साधुता को कभी-कभी मोह की भँवर में डुबो दिया करता है। इस प्रकाश में अनन्तकीर्ति महाराज की बात बड़ी सुन्दर लगती है कि उन्हें गुरु नहीं मिला था; किन्तु तत्पश्चात् सद्गुरु मिल गये, तो उनसे दीक्षा ली। यह कार्य उज्ज्वल है, प्रशस्त है। अभिनन्दनीय एवं अभिवन्दनीय है। अन्य मुमुक्षु वर्ग को इस सम्बन्ध में अवश्य दृष्टि देने की प्रार्थना है।

दीक्षा लेने में कुटुम्बी बाधक नहीं बने

अनन्तकीर्ति महाराज से मैंने पूछा - "महाराज आप तो बड़े सम्पन्न परिवार के व्यक्ति रहे, दीक्षा लेते समय क्या कुटुम्बी लोग बाधक नहीं बने?"

यथार्थ वैराग्य की ज्योति

उन्होंने कहा - "हमारे मन से प्रेम हटने के बाद कुटुम्बियों में रोकने की भला क्या ताकत थी?" सचमुच में जब अन्तःकरण में यथार्थ वैराग्य की ज्योति जगती है, तब उस भाग्यशाली को विषयों की दासता त्यागकर आत्मस्वातन्त्र्य के पथ में प्रवृत्ति करने वाले को कौन रोक सकता है? उदीयमान प्रभातकालीन प्रभाकर को क्षितिज पर देखकर ऐसा कौन है, जो उसकी वृद्धि को रोककर उसे पुनः उषा की गोद में सुला सके? हाँ, असली वैराग्य चाहिए। श्मशान-वैराग्य अल्प काल तक टिकता है - जैसे सट्टे का व्यापारी क्षण में धनवान बन जाता है। श्रीमन्तों में महाश्रीमन्त बनता है और थोड़े समय के बाद ही वही दरिद्रों की पंक्ति में भी बैठ जाता है, अतः विवेकी, मन के मजबूत होने पर ही अपना कदम उठाया करते हैं।

क्या मुनिपद कठिन है?

मैंने पूछा - "आपने मुनिपद जैसी कठिन चीज को बहुत जल्दी कैसे ग्रहण कर लिया?"

अनन्तकीर्ति महाराज ने कहा - "मुनि का जीवन कठिन नहीं है। वास्तव में आत्मकल्याण का पथ सुलभ है। अज्ञान के कारण जीव उसे कठिन मानता है और जो वास्तव में कठिन है, उसे सुलभ समझता है। घर के काम की अपेक्षा मुनि का जीवन सुलभ होता है।" वे कहने लगे - "पण्डित जी! कपड़े ओढ़कर आपको जितनी ठंड लगती है, उतनी ठंड हमें दिगम्बरत्व में लगती है।"

मैंने पूछा - "महाराज! यह कैसी बात है?"

उत्तर - "अन्तरङ्ग में 'धृति-कम्बल:' - धैर्य रूपी कम्बल ओढ़कर हम रहते हैं। उस कम्बल के धारण करने पर आनन्द से शीत ऋतु व्यतीत हो जाती है।" उन्होंने समझाया - "आप लोग व्यापार करते हैं। भयंकर गर्मी में बैठकर व्यापार में निमग्न रहते हैं, तब क्या गर्मी लगती है? उस समय धनोपार्जन के आनन्द के कारण जिस प्रकार गर्मी का कष्ट कष्टरूप नहीं लगता, इसी प्रकार परीषहादि भी संयमी पुरुषों को बाधक नहीं होते।"

अद्भुत योगी

उन्होंने उस समय शान्तिसागर महाराज के सत्सङ्ग का उल्लेख करते हुए बताया था - "आचार्य महाराज अद्भुत योगी की तरह ध्यान में निमग्न रहते थे, जब चाहे तब वे अपनी आँखों को बन्द कर देते थे और अपने आप में मस्त रहा करते थे।" वास्तव में, जैसे फिल्म (चित्रपट) देखते समय बाहरी प्रकाश बुझा देना उपयोगी रहता है, ठीक इसी प्रकार अंतर्ज्योति के दर्शन के लिए चक्षुरूपी बाहरी खिड़कियों को बन्द करना आवश्यक है। इतना ही क्यों, आत्मा के असली आनन्द - अवर्णनीय रस का निर्झर तो तब बहता है और उसमें आकण्ठ निमग्न होने का अपूर्व सुखद अनुभव तब प्राप्त होता है, जब आत्मा व्यग्रता के कारणरूप स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन इन्द्रियों से सम्पर्क दूरकर उपद्रवी मन को कसकर बाँध लेता है। जो खाते-पीते, मौज-उड़ाते, खेलते-कूदते, विषय सेवन करते हैं, मान-अपमान की गठरी पास रखते हैं, रागद्वेष का कचरा साथ में रखते हुए आत्मानन्द की उज्ज्वल बातें बनाते हैं; उनकी बातें ऐसी लगती हैं, जैसी किसी दरिद्र के मुख से श्रीमन्तों को भी तिरस्कृत करनेवाली धनवैभव की चर्चा निकलती है।

अहंकार का प्रभाव

आचार्य अनंतकीर्ति महाराज ने कहा था - "एक बार आचार्य शांतिसागर महाराज कुंभोज पहुँचे। एक व्यक्ति धर्ममार्ग से डिग चुका था। उसके सुधार हेतु महाराज के भाव उत्पन्न हुए। महाराज ने उस व्यक्ति को अपने पास बुलाने का विचार किया।" उस पर चंद्रसागरजी ने कहा - "महाराज! वह दुष्ट है। बुलाने पर वह नहीं आयगा, तो आपका अपमान होगा।"

आचार्य महाराज ने कहा - "हमारे पास मान नहीं है, तो अपमान कैसे होगा? मान होने पर अपमान का भय उचित था।" इसके पश्चात् वह व्यक्ति महाराज के पास आया। उनके तपोमय व्यक्तित्व ने उस पापी हृदय पर गहरा प्रभाव डाला। महाराज के कथन को सुनकर उसने अपने जीवन में समुचित सुधार कर लिया। आचार्य श्री लोकोत्तर साधुराज थे।

आ. देशभूषण महाराज

१०८ आचार्यरत्न देशभूषण महाराज सन् १९५७ में देहली में थे। उस समय हम देहली, राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी के पास जबलपुर के वृहत् जैन पंचकल्याणक महोत्सव में उनके पधारने की स्वीकृति प्राप्त करने हेतु गए थे। दिसम्बर माह में महामहिम राष्ट्रपतिजी से भेंट हुई थी। लगभग ५० मिनिट तक उन भद्रस्वभाव वाले महान् सत्पुरुष से चर्चा हुई थी। पश्चात् मैं आचार्य देशभूषण महाराज के पास आया। मैंने प्रार्थना की कि मुझे आचार्य शांतिसागर महाराज के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण संस्मरण सुनाइये।

उपगूहन तथा स्थितीकरण

देशभूषण महाराज ने कहा था - "स्व. आचार्य महाराज में उपगूहन तथा स्थितीकरण अंग अपूर्व थे। किसी साधु के दोषों की चर्चा चलने पर लोगों के समक्ष वे चुप रहते थे। शांत रहते थे। एकान्त स्थान में वे सदोष साधु को खूब दंड देते थे। लोगों के द्वारा की गई चुगली पर वे विश्वास न करके स्वयं अपनी पैनी दृष्टि डालकर दूसरे की मानसिक अवस्था का अनुमान कर लिया करते थे। उनके आत्म-तेज के कारण अपराधी स्वयं भी अपराध को स्वीकार करता था।"

प्रेमपूर्ण मार्मिक शिक्षा

देशभूषण महाराज ने कहा - "मैं नवदीक्षित और छोटी अवस्था का मुनि था। नांद्रे में मैं आचार्य महाराज के पास गया। मैंने उनकी वंदना की। उन्होंने दयाकर मेरी वंदना को स्वीकार कर प्रतिवंदना की।" उन्होंने मुझ पर अपार प्रेम भाव व्यक्त करते हुए कहा - "तुम हमारे भाई हो। सदा आगम के अनुकूल चलना। किसी के बहकावे में मत आना। तुम्हारी उमर छोटी है। सम्हाल कर काम करना। तुम क्षत्रियवंश के हो। घराने को धब्बा लगे, ऐसा काम कभी मत करना। तुम भ्रम उत्पन्न करने वाले बड़े-बड़े भूतों से बचना। धर्म की खूब प्रभावना करना।"

संयम की चिन्ता

पढ़ाई की बात न पूछकर पहले हमारे संयम का हाल पूछा - "तुमने कितना प्रतिक्रमण किया? दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, मासिक, वार्षिक आदि कितने किए हैं?" किन्हीं विषयों में गड़बड़ी ज्ञातकर वे पूछने लगे - "खाने के कारण तो गड़बड़ी नहीं हुई

है।" हमने कहा - "महाराज! आपके चरणों में हम आत्म निर्मलता के हेतु आए हैं। आपकी आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं।"

अकेले भ्रमण का निषेध

महाराज ने लोगों से कहा - "हमारा भाई आया है। उसका उपदेश होगा।" मेरा उपदेश सुनकर वे संतुष्ट हुए। पश्चात् एकान्त में समझाने लगे, तुम चतुर्थ हो और यह पंचम जाति का है, इस प्रकार जाति के साथ भेदभाव मत करना। लोग झगड़ा मोल लेते हैं। तुम शत्रु पर गुस्सा मत करना। शत्रु भी यदि त्यागी हो तो उसे साथ में रखना।अकेले भ्रमण मत करना। तुम्हारा भी कल्याण होगा।"

देशभूषण महाराज ने बताया था - "प्रतिवर्ष आचार्य महाराज को पत्र भेजकर उनसे प्रायश्चित्त ज्ञात कर हम प्रायश्चित्त ग्रहण करते रहे हैं।"

मार्मिक उपदेश

उन्होंने कहा था - "प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ना। प्रायश्चित्त शास्त्र दूसरों को पढ़कर नहीं सुनाना। प्रथमानुयोग का भी मनन करना। एकान्त में अपनी शांति के हेतु समयसार पढ़ना। सार्वजनिक रूप में समयसार नहीं पढ़ना।"

प्रपितामह सदृश आचार्य महाराज

चर्चा के प्रसंग में देशभूषण महाराज ने बताया - "मुनि जयकीर्ति महाराज उनके दीक्षागुरु थे। जयकीर्ति महाराज के गुरु पायसागर महाराज थे। पायसागरजी के गुरु आचार्य शांतिसागर महाराज थे। इस दृष्टि से आचार्य महाराज देशभूषण महाराज के प्रपितामह हुए।" उस पर मैंने कहा - "तब तो संयम की दृष्टि से आप महाराज शांतिसागर जी के प्रपौत्र ठहरे।" देशभूषण महाराज ने कहा - "बिलकुल ठीक बात है।" क्षण भर में वैराग्य की लहर आने पर वे कहने लगे - "पंडितजी! किसका पिता, किसका पुत्र कौन किसका है? जगत् में सभी जीव अलग-अलग हैं।"

आचार्यश्री का श्रेष्ठ विवेक

इसके पश्चात् देशभूषण महाराज ने कहा - "आचार्य शांतिसागर महाराज ने अपने जीवन की एक विशेष घटना हमें बताई थी। एक ग्राम में एक गरीब श्रावक था। उसकी आहार देने की तीव्र इच्छा थी; किन्तु बहुत अधिक दरिद्र होने से उसका साहस आहार देने का नहीं होता था। एक दिन वह गरीब प्रतिग्रह के लिए खड़ा हो गया। उसके

यहाँ आचार्यश्री की विधि का योग मिल गया। उसके घर में चार ज्वार की रोटी थी। उन्होंने सोचा कि यदि इसकी चारों रोटी हम ग्रहण कर लेते हैं, तो यह गरीब क्या खायगा? इससे उन्होंने थोड़ीसी भाकरी, थोड़ा दाल चावल मात्र लिया था। उस समय गरीब श्रावक का हृदय बड़ा प्रसन्न हो रहा था। उसके भक्ति से परिपूर्ण आहार को लेकर वे आए और सामायिक को बैठे। उस दिन सामायिक में बहुत मन लगा। बहुत देर तक सामायिक होती रही। शुद्ध तथा पवित्र मन से दिए गए आहार का परिणामों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वे लोकोत्तर थे।''

आचार्य विमलसागर महाराज

डाकू का कल्याण

१९ जनवरी १९५९ को १०८ मुनि विमलसागर महाराज फलटण चातुर्मास के उपरान्त शिखरजी जाते हुए सिवनी पधारे थे। उन्होंने बताया था कि आचार्य शांतिसागर महाराज आगरा के समीप पहुँचे। वहाँ जैन मंदिर में उनके पास एक महान् डाकू रामसिंह पद्मावती पुरवाल वेष बदलकर गया। महाराज के पवित्र जीवन ने उस डाकू के हृदय में परिवर्तन कर दिया। उसने महाराज से अपनी कथा कहकर क्षमायाचना की तथा उपदेश हेतु प्रार्थना की। महाराज ने उससे कहा - "तुम णमोकार मन्त्र जपो" णमोकार मन्त्र जपते ही उस डाकू के तत्काल प्राणपखेरू उड़ गए। जीवन कितना क्षणिक है। क्षणभर में उसका कल्याण हो गया।

आचार्य विमलसागरजी ने कहा था - "स्व. आचार्य महाराज आगरा तरफ पधारे थे। उनकी कृपा से हमें यज्ञोपवीत प्राप्त हुआ था, जो रत्नत्रय का लिङ्ग है। उस रत्नत्रय के चिह्न के निमित्त से आज मुझे निर्ग्रन्थ पदवी प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। उनके सम्पर्क से परिणामों में अपूर्व उत्साह उत्पन्न होता था। आत्मकल्याण की ओर भाव बढ़ते थे।"

सर सेठ हुकमचन्द्र जी, इन्दौर

हमने ११ मार्च सन् १९५७ को अपने भाई अभिनंदन कुमार दिवाकर एडवोकेट के साथ इन्दौर जाकर रावराजा राज्यरत्न श्रीमन्त सर सेठ हुकमचन्द्र जी से इन्द्रभवन में आचार्य शांतिसागर महाराज की समाधिचर्चा करते हुए आचार्य महाराज के विषय में उनके विचार पूछे। आचार्य महाराज के प्रति अत्यन्त हार्दिक श्रद्धा व्यक्त करते हुए जैनविभूति सेठ हुकमचन्द्र जी कहने लगे -

लौकान्तिक रूप में जन्म की कल्पना

"आचार्य महाराज अपूर्व साधु थे। उनका अन्त सुधर गया, इससे उनका सब सुधर गया। ऐसे अपूर्व साधु हमने अन्य नहीं देखे। उनकी परिणति को देखकर हमें ऐसा लगता है, कि वे अवश्य लौकान्तिक देव हुए होंगे। हमारा मन ऐसा भी बोलता है कि वे सौधर्मेन्द्र हुए होंगे। दोनों ही अवस्थाएँ ऐसी हैं, जहाँ से एक भव के उपरान्त वे मोक्ष प्राप्त करेंगे।"

धर्म की सम्हाल

मैंने पूछा - "सेठ साहब! आचार्य महाराज ने आपको क्या कोई महत्त्व की बात कही थी?"

सेठ साहब ने कहा - "महाराज ने कहा था कि धर्म को अन्त तक सम्हालना।"

"मैंने महाराज से यह भी कहा था - "महाराज! मुझे ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि मेरा अन्त धर्म में ही हो। मेरी आत्मा के सब परमाणु धर्ममयी हो जावें।" महाराज ने अपने मङ्गलमय आशीर्वाद से मुझे कृतार्थ किया। श्रावकोत्तम सेठ सा. ने यह भी कहा था - "आचार्य महाराज में एक बहुत बड़ी बात थी, जो मैंने उनमें ही देखी। वह बात यह थी कि उनके पास पहुँचते ही मन को बड़ी शांति मिलती थी। मैं बहुत ठिकाने गया; किन्तु महाराज के समान शांति नहीं मिली। हम चाहते हैं कि उनके समान हमारी आत्मा का भी कल्याण हो जावे। उनके समान ही आत्मा का चिंतन करते-करते हमारा भी अन्त हो जावे।"

इसके पश्चात् मेरी दृष्टि उस राजोचित वैभवपूर्ण इन्द्रभवन में उच्चस्थल पर स्थित पिच्छी तथा कमण्डलु की ओर गई। मैंने पूछा - "सर सेठ साहब! आपके इस राजप्रासाद में ये वस्तुएँ कैसे रखी गईं?"

वे बोले - "पंडितजी साहब! अपने अन्तकाल में मैं पिच्छी कमंडलु वाला बनना चाहता हूँ।"

एक धनकुबेर का ऐसा अकिंचनता को अपनाने का ध्येय बड़ा लोकोत्तर है। मैंने कहा - "आपने जीवन भर तो पिच्छी वाले बाबा आचार्य महाराज के चरणों का पीछा किया और अब आप उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् पिच्छी का पीछा कर रहे हैं।"

इस पर सेठ साहब बड़े जोर से हँसने लगे और कह बैठे - "आप बहुत ठीक कहते हैं। असली वैभव त्याग में है। इस पुद्गल में क्या धरा है? यह तो नाशवन्त है।"

इस चर्चा के उपरांत सर सेठ साहब ने हमारे आदरणीय पिता श्री सिंघई कुंवरसेन जी के सुख-स्वास्थ्य की चर्चा की। सेठ साहब ने कहा - "सिंघई कुंवरसेन जी हमारे जूने (पुराने) दोस्त हैं। बहुत प्यारे हैं। हमारी बराबरी के हैं। उनको हमारा जय जिनेन्द्र अवश्य कहना। भैया! हमें बड़ी खुशी है कि वे धर्मध्यान में बहुत सावधान हैं।" संसार का स्वरूप विचित्रित है। अब सर सेठ हुकमचन्द्रजी नहीं हैं और न हमारे पूज्य पिता सिंघई कुंवरसेन जी ही हैं। दोनों स्वर्गवासी हो गए।

आचार्य महाराज ने सर सेठ हुकमचंदजी के बारे में कहा था, "सारे भारत की जैन समाज में हुकमचंद सरीखा वजनदार आदमी और देखने में नहीं आया। राज-रजवाड़ों में उनके शब्द की मान्यता रही। इससे जैनों का बहुत लाभ हो गया। हुकमचंद के निमित्त से जैनधर्म पर आया संकट बहुतबार टला है।

ब्र. पं. वंशीधर जी न्यायालंकार, इन्दौर

पूर्वकालीन मुनियों सदृश आचरण

श्रीमान ब्र. पं. वंशीधर जी न्यायालंकार स्याद्वाद-वाचस्पति इन्दौर के निवास स्थान पर हमने आचार्य महाराज की चर्चा चलाई तो प्रकाण्ड विद्वान् पंडितजी ने सूत्र-रूप से ये शब्द कहे थे - "वर्तमान काल में भी आचार्य महाराज पूर्वकालीन दिगम्बर जैन मुनियों सदृश आचरण करते थे। वे प्रकृति के सरल थे। कठिन तपस्वी थे। दूरदर्शी, गंभीर, मितभाषी तथा दिगम्बर जैनमार्ग में दृढ़ श्रद्धालु थे। वे मंदकषायी थे। उनमें महान्

गुण अपरिश्रावीपने का था। इससे दुःखी आदमी अपना दुःख-दर्द उनके समक्ष बिना भय के प्रगट कर देता था।"

मार्मिक शास्त्रज्ञान

पंडितजी ने आचार्य महाराज के शास्त्रीय ज्ञान की मार्मिकता का उल्लेख करते हुए कहा - "एक बार महाराज से शुद्धोपयोग के बारे में चर्चा हुई थी।" कुछ लोग कहते थे कि चौथे गुणस्थान में ही शुद्धोपयोग होता है। उस समय महाराज ने कहा था - "सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग है। मैंने भी महाराज का समर्थन किया था कारण "शुद्धस्य सतः उपयोगःशुद्धोपयोगः" स्वयं शुद्ध होते हुए जो उपयोग है, वह शुद्धोपयोग है। चारित्र-मोह के मंदोदय वाले का उपयोग शुद्धोपयोग है। यह सातवें गुणस्थान से होता है।" इस संबंध में कुंदकुंद स्वामी द्वारा इस प्रकार स्पष्टीकरण मिलता है। अशुभ, शुभ तथा शुद्धरूप त्रिविधभाव हैं। आर्त, रौद्र अशुभ भाव हैं। वे त्याज्य हैं, कारण कुगतिप्रद हैं। धर्मध्यान शुभभाव है। इसकाल में शुक्लध्यानरूप शुद्ध भाव का अभाव है। अतः धर्मध्यान का ही आश्रय हितप्रद है। सातवें गुणस्थान पर्यंत धर्मध्यान है। श्रेणी आरोहण काल में शुक्लध्यान, शुद्धभाव होता है। अतः पंचमकाल में शुद्धभाव शुक्ल ध्यान, शुद्धोपयोग नहीं होगा। धर्मध्यान साक्षात् स्वर्गप्रद तथा परंपरा से मोक्षप्रद है। "परे मोक्षहेतू" सूत्र धर्मध्यान को भी शुक्लध्यान सदृश मोक्ष का हेतु कहता है।

आचार्य महाराज व्यवहार और निश्चय नययुगल को उपयोगी मानते थे।

सेठ चन्दूलाल जोतीचन्द सराफ बारामती

सेठ चन्दूलाल जोतीचन्द सराफ बारामती ने सपरिवार जिस उदारभाव से प्रगाढ़ भक्तिपूर्वक गुरुसेवा की है, उसे भारत के सब लोग जानते हैं। बम्बई के सेठ पूनमचन्द घासीलाल जी जौहरी संघपति, महाराज के प्रथम कोटि के भक्त रहे हैं। उसी श्रेणी में श्रीचन्दूलालजी का नाम आता है। लोग इन्हें चन्दू काका कहा करते हैं। उनसे मैंने पूछा - "क्या कभी-कभी आचार्य महाराज भी आपको काका कह देते थे?" उन्होंने कहा - "हाँ! क्या बताऊँ, महाराज भी मुझे काका कह देते थे?" चन्दू काका ने महाराज के संस्मरण सुनाते हुए कहा - "महाराज ने हमसे कहा था कि तुम व्रत ले लो। तुम हमारी बात मान लो। अब हमारे सरीखा कहने वाला तुम्हें नहीं मिलेगा।" मैंने महाराज से कहा -"महाराज! हमें व्रतों में मत डालो। हमसे व्रत नहीं बनेंगे। दान करने के लिए १०,०००) की जगह २०,०००) बोलो, वह हम कर देंगे। व्रत के बारे में हम आपकी बात नहीं

सुनेंगे।" किन्तु महाराज मौका पाकर १०-१२ वर्षों से कहा करते थे। अंत में सल्लेखना का समय जब समीप आया, तब हमें उनकी बात सुननी पड़ी। उन्होंने कहा था - "तुमने हमारी इतनी सेवा की, इसी से तुम्हारे कल्याण के लिए हम व्रत दे रहे हैं।" अब हम फिर तुम्हें उपदेश देने नहीं आवेंगे। हमें समाधि लेना है।

व्रतधारण से आनंद प्राप्ति

मैंने पूछा - "क्यों काका, व्रत लेने में काफी तकलीफ हुई होगी?"

वे बोले - "पण्डितजी, व्रत लेने से रंच मात्र भी कष्ट नहीं होता है। मन को अच्छा लगता है। महाराज गये। ऐसे महाराज अब नहीं मिलेंगे।"

सल्लेखना की चर्चा

महाराज ने हमसे कहा था - "चन्दूलाल! अब हम सल्लेखना ले रहे हैं। तुम विघ्न मत डालना।"

अपार प्रेम

हम कहते थे - "महाराज! अभी कुछ वर्ष जाने दीजिए।" महाराज ने कहा - "हम तुम्हारी नहीं सुनेंगे।" उनकी प्रबल इच्छा देखकर हम भी चुप हो गये। वे कहते थे - "हम जो करते हैं, अपने कल्याण के लिए करते हैं।" चन्दू काका ने कहा - "पण्डितजी, उनकी सल्लेखना की बात सुनकर हमें इतना रोना आया, इतना दुःख आया कि कह नहीं सकते। हमको जीवन में उतना रोना कभी नहीं आया। हमने समझ लिया था कि अब महाराज गये। ऐसी निधि अब नहीं मिलेगी।" महाराज रोकने लगे। हमने कहा - "महाराज, हमें रोकिए मत, हमें रो लेने दीजिए।" पण्डितजी! क्या बताएँ, अपने पिता पर भी उतना मोह नहीं होता था, जितना मोह महाराज पर होता था, दिन और रात महाराज ही महाराज दिखते थे; किन्तु अब एक दिन भी स्वप्न तक में दर्शन नहीं हुआ।"

मुक्तागिरि का विचार

सेठ चन्दूलाल जी ने बताया - "बारामती से कुंथलगिरि जाते समय महाराज ने कहा था "अब हम फिर लौटकर नहीं आने वाले हैं। कुंथलगिरि में यदि चातुर्मास हो गया, तो आगे मुक्तागिरि जाने वाले हैं।"

व्रत-प्रतिमारूप रत्न का दान

चन्दू काका की धर्मपत्नी ने आचार्यश्री की आहार दान द्वारा चिरस्मरणीय

सेवा की। महाराज ने उनसे कहा था - "बाई! तुमने इतने दिन हमारी इस प्रकार सेवा की, जिस प्रकार माता अपने बच्चे की सेवा करती है। तुमने बहुत सेवा की। हम सोचते हैं, तुमको कुछ दे दें। क्या देना? हम तुमको एक रत्न देते हैं। व्रत प्रतिमा को पालन करना। अब तो हम जाते हैं।" सेठानी ने प्रसन्नता पूर्वक व्रत ले लिये।

चन्दूकाका की धर्मपत्नी ने महाराज की बहुत सेवा की। उन्होंने महाराज के सम्बन्ध में कहा था - "पण्डितजी! आचार्य महाराज हमारे बगीचे में बारामती में थे। मेरा एक नौ माह का पुत्र मर गया। प्रतापगढ़ में थे, तब छः माह का पुत्र मर गया था। कचनेर में थे, उस समय मेरी पुत्री के मरने के समाचार मिले थे। ऐसे-ऐसे बड़े-बड़े दुःखों के होने पर भी मैं चुप रही और गुरु सेवा करती रही।"

सांत्वनापूर्ण वाणी

"एक दिन महाराज बोले - "ऐसी बाई हमने कहीं नहीं देखी। पुत्र मर गया। हमें पता तक नहीं चला।" उतरा हुआ मुँह देखकर महाराज बोले - "बाई संसार में कुछ नहीं है। कितने पुत्र-पुत्री नहीं हुए। संसार ऐसा ही है। इसमें शोक नहीं करना चाहिए।" महाराज के शब्द सुनते ही हृदय का सारा संताप तत्काल दूर हो गया। महाराज की सेवा करने से इतना आत्मबल आ गया था कि कई बच्चों की मृत्यु होने पर भी अश्रुपात नहीं किया। मन में मोह आने पर हम उसे निकाल देते थे। ऐसे साधु कभी नहीं मिलेंगे, यह सोचकर हमने कुटुम्ब की चिंता छोड़ दी थी। जो होना होगा, सो होगा।"

अपार प्रभाव

सेठानी जी ने कहा - "हमने महाराज का अनेक बार बड़ा प्रभाव देखा। उनके साथ में कभी कष्ट नहीं हुआ। हमने महाराज की वाणी को सदा सफल होते देखा। उनका प्रभाव ऋद्धिधारी मुनियों सरीखा हमने देखा। यह बात हम अपने अनुभव की बताते हैं। अनेक बार ऐसा हुआ कि हमारे चौके में थोड़े लोगों का भोजन बना है और बहुत लोग आ गये, तो भी भोजन कम नहीं होता था। फिर भी काफी भोजन शेष रहता था। पहिले हमारे घर की बहुत सामान्य अवस्था थी। उनकी सेवा करते-करते अपने आप सब कुछ आने लगा और अब इतना बड़ा घर (लाखों का) बन गया।"

उन्होंने बताया "हमारे यहाँ माणिकलाल का लड़का बोलता नहीं था। आठ वर्ष का हो गया था। महाराज ने आशीर्वाद देते हुए उसके सिर पर पिच्छी रख दी और कहा - यह लड़का बोलने लगेगा और आठ दिन में वह लड़का बोलने लगा।"

गुरुसेवा को सर्वोपरि स्थान

सेठानी ने यह बताया - "सेठजी, आचार्य महाराज की आज्ञा को सर्वोपरि स्थान देते थे। जब महाराज के पास का बुलावा आता था, तो सोने-चाँदी की दुकान के फैले हुए काम की जरा भी परवा न करके हानिलाभ का विचार छोड़कर, महाराज के पास चले जाते थे। एक समय तेरह वर्ष के पुत्र जम्बू पर घर का लाखों का काम छोड़कर महाराज के पास चले गये थे। महाराज महान् पुण्यात्मा थे। उनकी सेवा से सदा समृद्धि ही मिली। विपत्ति का कभी दर्शन भी नहीं हुआ।"

विशेष कृपा

"महाराज की हमारे सेठजी पर बड़ी कृपा थी। फलटण चातुर्मास के बाद एकदम महाराज बिना किसी को कुछ कहे सुबह ९ बजे फलटण से रवाना हो गये। किसी को पता नहीं, उस दिन १६ मील चलकर वे एक श्रावक के साथ बारामती आ गये। वे निश्चय के बड़े पक्के थे। अपने हृदय की सुनते थे और तदनुसार ही वे काम करते थे।"

शिष्य की उन्नति से प्रसन्नता

आचार्य महाराज चन्दू काका के निवासस्थान पर आये। वहाँ उनका आहार हुआ। महाराज ने पूछा - "यह मकान किसका है?" चन्दू काका बोले - "महाराज! यह मकान तो आपका है।" महाराज जोर से हँसने लगे।

व्यवस्था प्रेमी

महाराज ने हमारे परिवार का बड़ा उद्धार किया। हमारे घर में छोटे-बड़े सभी ने महाराज से कुछ-न-कुछ व्रत ले लिये हैं। महाराज ने अपनी पिच्छी, कमण्डलु और शास्त्र-भण्डार हमें दे दिए और कहा - "ये शास्त्र किसी को देना, तो हस्ताक्षर लेकर देना।" महाराज व्यवस्था और नियम के बड़े प्रेमी रहे। अव्यवस्थित काम उन्हें पसन्द नहीं आता था।

श्री मगनलाल नेमचंद गांधी, पंढरपुर

चन्दूकाका के यहाँ पंढरपुर के श्री मगनलाल नेमचन्द गांधी ने कहा - "मैं महाराज के पास बारामती के बगीचे में दो तीन सप्ताह पर्यन्त रोज जाता था।" महाराज बोले - "तुम यहाँ बहुत समय तक ठहरे।" श्री गाँधी ने कहा - "महाराज! आपके दर्शन के लिए ठहरा हूँ।" महाराज बोले - "मेरे पास ठहरने वालों को पिच्छी और कमण्डलु

लेना पड़ता है। उधर देखो! ये पिच्छी कमण्डलु तैयार हैं।" श्री गाँधी ने कहा - "महाराज! हमारा भाग्य नहीं है। हमारा इतना बड़ा भाग्य होता, तो क्या कहना था?"

सेठ तुलजाराम चतुरचन्द्र, बारामती

बारामती के सेठ तुलजाराम चतुरचन्द्र और सेठ चन्दूलाल जी आचार्य महाराज के अधिक निकट सम्पर्क में आते रहे हैं। मैंने १२ फरवरी सन् १९५७ को सेठ तुलजाराम-जी से आचार्य महाराज की कुछ चर्चा चलाई। उन्होंने आचार्य महाराज के पास से लगभग ८० वर्ष की अवस्था होते हुए भी व्रत-प्रतिमा ग्रहण की है। कई वर्ष तक महाराज उन्हें प्रेरणा करते रहते थे, लेकिन उनका मन पिघलता नहीं था। आचार्य महाराज से अत्यन्त निकटता होने के कारण महाराज की तीव्र भावना थी कि इस जीव का कल्याण हो जाय।

विशेष बात

एक समय महाराज ने कल्याण की भावना से उनसे कहा - "तुम्हारे व्रत के भाव नहीं होते, इससे ऐसा दिखता है कि तुम्हारे कुगति का बन्ध हो गया है।"

उत्तर में सेठ जी ने कहा - "महाराज! हमारी छः पीढ़ी में मेरे सरीखा भाग्यशाली कोई नहीं हुआ। इसी से तो आप समान श्रेष्ठ वीतराग गुरु का दर्शन हुआ। त्याग की क्या बात है? कभी आप सरीखी बात हो जायगी।"

"इसके पश्चात् पुनः महाराज ने व्रती बनने को कहा; क्योंकि उससे हमारा कल्याण होगा।"

प्रश्न - महाराज से उक्त सेठजी ने कहा - "अव्रती श्रावक भी तो स्वर्ग जाता है, इसीलिए व्रती बनने की क्या जरूरत है?"

उत्तर - महाराज बोले - "व्रती के देवगति में जाने का नियम है। अव्रती का नियम नहीं है।"

विशेष अनुग्रह

सेठजी ने कहा - "महाराज! आप हम पर जबर्दस्ती क्यों करते हैं?" महाराज बोले - "स्वर्ग जाते समय हमें साथी चाहिए-सोबती पाहिजे -दूसरा शान्तिसागर आकर अब तुम्हें नहीं कहेगा।" सेठजी ने कहा - "महाराज आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।"

उन्होंने सिर पर पीछी रखदी। व्रत दे दिये। उन्होंने कहा - "तुम्हारा कल्याण होगा।" इससे मुझे बड़ा आनन्द हो रहा था। इसके पहिले भी महाराज मधुर विनोद द्वारा मुझे प्रतिबुद्ध करते रहते थे। एक दिन महाराज कहते थे - "उत्तरपुराण में वर्णन आता है - किसी राजा का एक केश सफेद हुआ, तो वह वैराग्य युक्त होकर राज्य छोड़ देता था। अब तो तुम्हारे सारे बाल सफेद हो गये, फिर भी व्रतधारण की बुद्धि नहीं होती।" इतना कह कर वे हँस देते थे।

संयम रूप अग्नि

एक दिन सेठजी महाराज के पास शास्त्रसभा में पीछे पहुँचे और पीछे बैठने लगे। महाराज ने कहा - "पास में आने में क्यों डरते हो? क्या हम अग्नि हैं? देखो, यहाँ संयम की अग्नि है। हमारे पास मत बैठना।" सेठ जी ने कहा - "महाराज! अग्नि मुझे बड़ी प्यारी लगती है। आगामी जन्म में भी ऐसी ही अग्नि चाहता हूँ।" महाराज हँसने लगे।

उक्त सेठजी ने कुंथलगिरि क्षेत्र में ६१,०००) रु. में कुलभूषण भगवान की प्रतिमा विराजमान करने की बोली ली थी। यह बात जब आचार्य महाराज ने सुनी, तो वे बोले - "सौ सुनार की एक लुहार की। तुमने बड़ा अच्छा काम किया। अगले जन्म के लिए कलेवा साथ में रख लिया।"

उनके सुपुत्र माणिकलाल भाई की उदारता से उनके नाम पर बारामती में एक सुन्दर समुन्नत डिग्री कालेज चल रहा है।

पं. मोतीचन्द्र गौतमचंद्र कोठारी, फलटण

पं. मोतीचंद्र गौतमचन्द्र कोठारी एम.ए. ने आचार्य महाराज के सत्सङ्ग का लाभ लिया था। श्री कोठारी ने महाराज के सम्बन्ध में महत्त्व की निम्नलिखित बातें बताईं - "आचार्य शांतिसागर महाराज प्रगाढ़ श्रद्धावान तथा महान् प्रतिभाशाली साधुराज थे। जब कभी कोई गम्भीर तथा जटिल प्रश्न उनके समक्ष आता था, तब वे उसका उत्तर तुरन्त नहीं देते थे। उस पर गहरा चिन्तन करते थे। ध्यान के समय भी वे उस पर विचार करते थे और उसका समाधान खोजते थे। जल्दी में कुछ भी उत्तर देना उनका स्वभाव न था।"

मार्मिक बात

श्री कोठारी ने बताया - एक दिन मैंने कहा - "महाराज! आप तुरन्त उत्तर क्यों नहीं देते?"

महाराज बोले - "क्या तुम हमें सर्वज्ञ समझते हो? क्या तुमने यह मान लिया है कि लंगोटी त्यागने मात्र से सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है? देखो! तत्काल बिना सोचे-विचारे उत्तर देने पर आगम के कथन का विरोध सम्भव है। मैं आगम के विरुद्ध कथन करके नरकगति में नहीं जाना चाहता हूँ। उत्तर न देने से लोग मुझे अज्ञानी समझेंगे, इससे मेरी कोई हानि नहीं है। मैं अज्ञानी हूँ ही इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। आगम के विषय में उचित विचार किए बिना बोलना अकल्याणकारी है।"

दुराग्रह से हानि

आचार्य महाराज यह भी कहते थे - "बहुधा अनेक पंडितों की ऐसी आदत होती है कि उनके मुख से जो बात निकल गई, उसका समर्थन करना। ऐसे दुराग्रही व्यक्ति के पास सम्यक्त्व कैसे रहेगा? दुराग्रह और सम्यक्त्व इनमें अत्यन्त विरोध है।"

महाराज के ये शब्द भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं - "पंडित को सत्यप्रेमी तथा आगम की आज्ञा को शिरोधार्य करने वाला होना चाहिये। वचन पक्ष को लेकर अनर्थ पर उतरना अज्ञानी एवं अविवेकी का लक्षण है। ज्ञानी पुरुष ऐसा नहीं होता।" वे कहते थे - "अज्ञानी कहलाना बुरा नहीं है। ज्ञानी कहे जाने के मोहवश विपरीत कथन द्वारा कुगति में पतन की सामग्री का संचय करना अच्छा नहीं है।"

धर्मघातक पांडित्य

आजकल अनेक व्यक्ति पांडित्य प्रदर्शन हेतु आगम के विरुद्ध सिद्धान्त बनाते हैं और अज्ञ वर्ग के समक्ष उपस्थित होकर मौलिकता (Originality) के नाम पर सम्मान पाते हैं। मानपत्र प्राप्त करते हैं। जिन महान् ज्ञानी आचार्यों की वाणी के भाव को समझने की भी उनमें पात्रता नहीं है, उनके दोषों को बताने का साहस दिखाते हैं। धनिकों की सहायता का अवलंबन पाकर ऐसी आगम विरोधी सामग्री ग्रंथों में भूमिका के नाम पर मिला दी जाती है, कभी-कभी प्राचीन भाषान्तर के पुनर्मुद्रण के समय भी अपने दूषित विचारों को मूल रचना में मिला दिया जाता है।

जैसे आजकल असली घी में नकली घी मिलाकर अप्रामाणिक व्यापारी ग्राहक को ठगता है, ऐसी ही स्व-पर वंचना का बाजार साहित्य के क्षेत्र में भी गरम हो रहा है।

उदाहरणार्थ ज्ञानपीठ काशी में छपे महापुराण को लीजिए। भगवज्जिनसेन स्वामी के द्वारा प्रतिपादित वर्ण व्यवस्था आदि के विपरीत कथन करने वाले अपने विचारों को ग्रंथ में स्थान दे दिया जाता है। अर्थ की सहायता पाकर ऐसा वाङ्मय इस प्रकार लोगों के हाथ में आ जाता है। पंचाध्यायी, समयसार आदि की नवीन व्याख्या के नाम पर आगम का अद्भुत रूप बनाया जा रहा है तथा यह रोग वर्धमान हो रहा है। जैन संस्कृति के रहस्यों से नितान्त अपरिचित, परन्तु लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त राजनैतिक व्यक्ति के द्वारा अपने प्रकाशनों को यश मिल जाने से कोई-कोई व्यक्ति तथा प्रकाशक कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं। धार्मिक मण्डली की यह स्थिति देख हार्दिक मनोव्यथा होती है।

अप्रभावना

अज्ञानांधकार को दूर कर सम्यक्ज्ञान का प्रकाश फैलाना प्रभावना है। सम्यक्ज्ञान पर आवरण डालकर विपरीत ज्ञानभाव को जगाना भी प्रभावना माना जाने लगा। अद्भुत बात है, आग लगने पर पानी डालकर आग को बुझाया जाता है। आज धन वैभव वाला सस्ते पानी की उपेक्षाकर बहुमूल्य पैट्रोल डालकर अग्नि को प्रशांत करना चाहता है? इसका परिणाम कभी भी मधुर नहीं होगा, ऐसा ही आगम के साथ स्वच्छंद दृष्टि से खिलवाड़ का परिणाम अमधुर होगा।

गुरुदेव की सीख

अतएव हमें आचार्य महाराज की इस वाणी को ध्यान से अपने हृदय में स्थान देना चाहिए - "पंडितों को वचन पक्ष की जिद्द नहीं करना चाहिए। आगम विपरीत, तोड़-मरोड़ नहीं करना चाहिए। यह महान् पाप की बात है।"

दूषित प्रवृत्ति का कारण

आज लोग धर्मरूप अमृत को छोड़कर अधर्मरूप विषपान में उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति कर रहे हैं। इस अद्भुत स्थिति का क्या कारण है? इस समस्या पर आचार्य महाराज ने इस प्रकार प्रकाश डाला था - "आज की दुष्ट प्रवृत्ति में काल का प्रभाव बड़ा कारण है। इसके सिवाय जीवों के दर्शन और चारित्रमोहनीय कर्म का तीव्र उदय भी कारण है।"

अपने विवेचन को स्पष्ट करते हुए गुरुदेव ने कहा - "आज मनुष्य क्रूरता के मार्ग पर बढ़ता जा रहा है। आजकल हिंसा की सामग्री अधिक बनाई जा रही है। मनुष्य स्वयं अपने संहार के साधनों का संग्रह करने में संलग्न है। वह आजीविका के लिए ही

उद्योग नहीं करता है, वह तो भोगसामग्री को एकत्र करने में एवं उसकी अभिवृद्धि करने में अतिशय तल्लीन रहता है। इस काल में ऐसे ही विषयलोलुपी लोग सर्वत्र पाए जाते हैं।"

निकृष्ट काल में मुनि जीवन की उपयुक्तता

प्रश्न - "जब इतना निकृष्ट काल है कि आदर्श गृहस्थ का जीवन कठिन हो गया है, मुनियों को आहार देने वाले धर्मात्मा गृहस्थों की उपलब्धि कठिन हो गई है, तब क्या मुनि जीवन पर आज के काल का दुष्ट प्रभाव नहीं है?"

उत्तर - महाराज ने कहा - "इस पंचम काल में जन्मधारण करना अवश्यमेव पूर्व पुण्य की न्यूनता का परिणाम है। यदि पुण्य की न्यूनता न होती, तो वह ऐसी निकृष्ट सामग्री के बीच क्यों रहता? जिस जीव ने पूर्वभव में पुण्य संचय किया है, वह विदेह सदृश धर्म भूमि में उत्पन्न होकर आत्महित साधन करता है। आज की विपरीत परिस्थिति में कुछ ऐसी आत्माएँ हैं, जिनका होनहार उज्ज्वल है और भविष्य महान् है। आत्मकल्याण के लिए विषय भोगों से विरक्त होकर वे धर्म में तीव्र रुचि धारण करते हैं। मुनि जीवन को स्वीकार करते हैं। ऐसे भाग्यवान पुरुष बहुत थोड़े होते हैं।"

आज के विपरीत काल में जो आत्माएँ धर्मपालनार्थ पुरुषार्थ करती हैं, उनका महान् कल्याण होता है। भावसंग्रह में देवसेन आचार्य की निम्नलिखित वाणी बहुत मार्मिक है। इससे मुमुक्षु वर्ग के चित्त में उत्पन्न होने वाली अनेक शंकाओं का समाधान प्राप्त होता है। भद्रपरिणामी जीवों के चित्त में साधु-भक्ति के उज्ज्वल भाव उत्पन्न होते हैं। आचार्य का कथन है -

संहणणं अइ-णिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।
तह विहु धीरा पुरिसा महव्वयभर-धरण-उच्छहिया ॥१३०॥

यह दुःषमा काल है, संहनन निःकृष्ट है, चित्त चंचल है, तथापि धीर पुरुष महाव्रतों का भार धारण करने में उत्साह रखते हैं।

आज की तपस्या का महाफल

वरिस-सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण।
तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणे ॥१३१॥

पूर्व काल में एक हजार वर्ष तक तप करने पर जिन कर्मों का क्षय होता था, उन कर्मों का क्षय इस हीन संहनन के द्वारा एक वर्ष में होता है।

हीन संहनन में महान् तप करने वाले की आत्मशक्ति विशिष्ट रहती है।

पाखंडी का पतन

यहाँ इतना लिखना उचित है कि साधुत्व का वेष धारणकर जो पाखंड रचते हैं, धर्म को दूषित करते हैं, उनका कुगति में पतन होता है। यह शास्त्र का कथन गृहस्थों तथा साधुओं को ध्यान में रखना चाहिए, जिसे पं. आशाधरजी ने अपने अनगार धर्मामृत में उद्धृत किया है -

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः वठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचंद्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

भ्रष्ट चारित्र वाले पंडितों ने तथा कपटाचरणी साधुओं ने जिनचंद्र के निर्मल शासन को मलिन कर दिया है।

जन्मान्तर का अभ्यास

प्रश्न - "आपका चित्त आत्मा पर किसप्रकार केन्द्रित हो जाता है और आप किसप्रकार आत्मध्यान सदृश महान् कार्य को सरलतापूर्वक सम्पन्न कर लेते हैं।"

उत्तर- "अरे बाबा! यह बात एक जन्म में साध्य नहीं होती। हमारा अनेक जन्म का अभ्यास चला आ रहा है। दीक्षा लेने वाला प्रत्येक साधु एकदम आत्मध्यान करने में समर्थ नहीं होता। इसी से पहिले साधु के लिए पंचमनस्कार मंत्र का जाप शास्त्र में कहा गया है। ये साधु कुछ काल के पश्चात् ध्यान करने में समर्थ हो जाते हैं।"

महाराज ने कोठारी जी से कहा - "तुम हमारे पास आकर एक न एक चर्चा क्यों छेड़ दिया करते हो?"

उत्तर देते हुए कोठारी जी ने कहा - "महाराज! मूर्ति तो मौन रहती है, शास्त्र का मर्म समझने की मुझमें पात्रता नहीं है, तब गुरु चरणों में आकर उत्तर न पूछूँ, तो क्या किसी अज्ञानी व्यक्ति के पास जाऊँ।" इस उत्तर से उनके चेहरे पर मधुर स्मित शोभायमान होने लगा।

गंभीरता तथा दक्षता

महाराज में अपूर्व गंभीरता थी। अन्य मनुष्य किसी ठगने वाले व्यक्ति के संपर्क को पाकर उसका मुख देखना भी न चाहेंगे; किन्तु महाराज अभद्र व्यक्ति को भी कार्यसिद्धि हेतु अपने पास आश्रय प्रदान करते थे। यथार्थ में वे सागर के समान गंभीर थे। कोठारी जी ने बताया - ''फलटण के चन्द्रप्रभु मंदिर में ताम्रपत्र पर अंकित की गई सिद्धांत शास्त्र की प्रति रखी गई। उसमें धवल सिद्धांत की प्रति को सावधानी पूर्वक देखने पर एक अद्‌भुत बात पकड़ में आई। धवल ग्रन्थ ९३ वें सूत्र के संजद पद सहित तथा संजद पद रहित दो ताम्रपत्र पाए गये। आचार्य महाराज के आदेशानुसार 'संजद' शब्दयुक्त ताम्र पत्र की तैयारी नहीं होनी थी; किन्तु पक्षविशेष की पुष्टि के लिए वह ताम्रपत्र तैयार किया गया और उसे फलटण के ग्रन्थ के भीतर चुपके से रख दिया गया।

चालाकी का परिज्ञान

इस चालाकी का पता जब आचार्य महाराज को चला, तो वे बहुत गंभीर हो गए।'' उस समय मैंने महाराज से कहा - ''महाराज! क्या बात है? यह कैसे हो गया?'' महाराज बोले -''मायावी माणुस भेटल्यानंतर काय करावयाचे'' - ''मायावी व्यक्ति के मिलने पर क्या किया जाय?'' उसको मायावी पद प्रदानकर गुरुदेव ने सम्मानित किया था। यह जानते हुए भी महाराज शांत थे, गंभीर थे।

त्यागी की धन-लिप्सा

एक व्यक्ति ने उच्च त्याग का आश्रय ग्रहण कर लिया; किन्तु धन के लेन-देन का व्यापार बन्द नहीं हुआ। उस समय मैंने उन त्यागी जी की चर्चा की, तो महाराज के मुख से ये मार्मिक शब्द निकल पड़े - ''अजून हि त्यांचे घर सुटले नांहीं'' - ''अभी भी उनका घर नहीं छूटा है।'' महाराज के इस उत्तर में एक बहुत गहरा रहस्य भरा है।

कोई व्यक्ति जब क्षुल्लक, ऐलक आदि उच्च संयम की पवित्र मुद्रा को धारण करते हैं, तो उनको अपना संयमी के रूप में पुनर्जन्म सरीखा सोचना चाहिए। पूर्व जीवन के व्यवसाय की आदतों की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहिए।

कोई-कोई उच्च संयम वाले तपस्वी बनते हैं; किन्तु उनका लेन-देन तथा बहीखाता का काम बन्द नहीं होता। उनके वेष से पवित्रता टपकती है; किन्तु उनकी प्रवृत्ति उनके पूर्व जीवन की स्मृति को जगाती है। ऐसे लोगों को आचार्य महाराज की उक्ति में महत्त्वपूर्ण सुझाव सोचना चाहिए।

घर छोड़कर यदि अतिथि बनकर कोई समाज में आता है, जनता के द्वारा विनय, पूजा आदि को प्राप्त करता है, तो उन पूज्य पुरुष का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपने भावरूप घर-गृहस्थी के चक्कर से अपनी पूर्णतया रक्षा करें, अन्यथा आत्मा का अहित अवश्यम्भावी है। संस्कृति तथा धर्म को भी लांछन आता है। अपने पद के विरुद्ध काम नहीं करना चाहिए। 'ऊँची दुकान और फीका पकवान' की पद्धति से अपयश होता है और इष्ट ध्येय की भी सिद्धि नहीं होती। ऊपर से घर छोड़ा, परिग्रह छोड़ा; किन्तु भीतर से गृहस्थ का भाव नहीं छोड़ा, तो वह त्यागी नहीं है। भाव की निर्मलता मुख्य है। त्यागी बनने पर अनेक प्रकार की दुकानों के लगाने का क्या प्रयोजन?

मुनीश्वर वर्धमान सागर महाराज ने भी मुझे एक त्यागी को लक्ष्य कर कहा था, "वह धन के चक्कर में रहता है, ऐसे व्यक्ति के ध्यान में द्रव्य ही दिखता है। वह अच्छी सामायिक कैसे कर सकेगा। संयमरूप चिंतामणिरत्न के लिए चक्रवर्ती की विभूति भी जीर्ण तृणवत् त्यागी जाती है, तब धनिकों और धन की तरफ निर्ग्रन्थ साधु का ध्यान नहीं रहना चाहिए। धन की लालसा संयमरूप ज्योति को उज्ज्वल नहीं रहने देती है।"

नग्नता का हेतु?

एक बार एक अन्य पंथी व्यक्ति आचार्य महाराज से पूछ बैठा - "महाराज! आप बन्दर की तरह नग्न क्यों रहते हैं?"

महाराज ने कहा - "पाँव में काँटा गड़नेपर काँटे द्वारा ही वह निकाला जाता है। 'कंटकेनैव कंटक,' मन बंदर की तरह चंचल है। उसको रोकने के लिए बंदर की तरह नग्नता स्वीकार करना आवश्यक है, इससे वह बन्दर वश में हो जाता है।"

महाराज के शांत भाव से दिए गए मार्मिक उत्तर को सुनकर वह बहुत प्रभावित हुआ और इनका परम भक्त बन गया।

अल्प निद्रा

महाराज की निद्रा अत्यन्त अल्प थी। उनके नेत्रों से यह ज्ञात नहीं हो पाता था कि उन्होंने अल्प निद्रा ली है। आलस्य भी उनमें नहीं दिखाई देता था। वे नित्यविधि सदा प्रमाद रहित होकर किया करते थे। इस विषय में जब महाराज से पूछा - "क्या कारण है कि अल्प निद्रा होते हुए भी आपके शरीर पर उसका कोई चिह्न नहीं रहता है और न खेद ही दिखता है?"

महाराज ने कहा था - "आगम देखो, उससे पता लगेगा कि मन की आत्मा में स्थिति होने पर अपने आप निद्रा कम हो जाती है।"

अपूर्व शास्त्रज्ञान

श्री कोठारी ने कहा - "महाराज अपूर्व प्रतिभा-सम्पन्न थे। एक बार उनके समक्ष मैं धवल सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़ रहा था। वे उस ग्रन्थराज की कठिन बातों का पहले ही समाधान करते थे, जिसका खुलासा वर्णन उक्त ग्रन्थ में आगे मिल जाता था।"

ध्यान और संयम का सम्बन्ध

महाराज ने कहा था - "मैं तुमको ध्यान के लिए कहता हूँ; किन्तु ध्यान, धारणा आदि का संयम के साथ निकट सम्बन्ध है। संयम की साधना बिना ध्यान की सिद्धि नहीं होती।" महाराज का कथन आगम समर्थित भी है।

द्रव्यसंग्रह में कहा है -

तव-सुद-वदवं चेदा झाण-रह-धुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तिय-णिरदो तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥

तप, श्रुत तथा व्रतवान आत्मा ही ध्यानरूपी रथ की धुरी को धारण करने में समर्थ होता है; अत: उस ध्यान की प्राप्ति के लिए सदा तप, श्रुत तथा व्रत पालन में लीन होना चाहिए।

आध्यात्मिक प्रभाव

कोठारीजी ने कहा - "मैं अव्रती स्वभाव वाला था। पित्तप्रकृति होने से उपवास नहीं बनता था। महाराज के पास रहने से मैंने उपवास प्रारम्भ कर दिये। आठ-दस घण्टे काम करने पर भी उपवास में बाधा नहीं आती थी। उनका आध्यात्मिक प्रभाव महान् था।"

साम्य भाव

एक व्यक्ति ने महाराज से कवलाना ग्राम में कहा - "महाराज संघ के कई लोग अच्छे नहीं हैं, उनको अलग कर देना चाहिए।"

महाराज ने कहा - "दुष्ट और सज्जन दोनों पर साधु का समान भाव रहना चाहिए। यदि सज्जन पर प्रेम और दुष्ट पर द्वेष तो साधुता कैसे रहेगी? भले-बुरे दोनों पर रागद्वेष का जीतना साधु का कर्तव्य है।"

विशेष कृपा

आचार्य महाराज की हम पर बड़ी कृपा रही है। उनकी स्वर्गयात्रा के कुछ दिन पूर्व सामान्यतया उनका दर्शन बंद हो गया था। चर्चा होना तो अत्यन्त कठिन बात थी। मेरी छोटी बहिन सौभाग्यवती कमलाबाई गुरुदेव के दर्शन की ममतावश उस अद्भुत समय पर जबलपुर से वहाँ आ गई। मैंने तो कह दिया था कि अब महाराज के पास पहुँचना असंभव है। इतने में आचार्यश्री के चरणों में कुछ राज्य अधिकारी जा रहे थे। सौभाग्य से उनके साथ मैं कमलाबाई को लेकर महाराज की कुटी में पहुँच गया। मैंने महाराज को नमोस्तु कहते हुए कहा - "मैं सुमेरुचंद्र दिवाकर आपको प्रणाम कर रहा हूँ।" गुरुदेव ने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया।

मैंने कहा - "महाराज! मेरी छोटी बहिन कमलाबाई दर्शन के लिए चरणों में आई है। यह गोम्मटसार आदि शास्त्र पढ़ी हुई है।"

महाराज ने कहा - "बहुत देर से आना हुआ। जल्दी क्यों नहीं आई?" उत्तर में निवेदन किया गया - "दर्शन को आने की बहुत समय से इच्छा थी; किन्तु पहले आने का सुयोग नहीं मिला।"

महाराज की क्षीण स्थिति को ध्यान में रखकर मैंने और चर्चा को रोकने के लक्ष्य से कहा - "महाराज! आज ही इसका भाग्य जगा है। इसे आशीर्वाद दीजिए।" उन परम कारुणिक साधुराज ने उसे अपने आशीर्वाद से कृतार्थ किया।

धर्मवीर तलकचंद वेणीचंद शहा वकील, फलटण

श्री तलकचंद वेणीचंद शहा वकील फलटण धर्मात्मा, महान् निर्भीक, न्यायबुद्धि, गुरुभक्त, आगम-प्रेमी और व्रती श्रावक थे। आचार्य महाराज का उन पर बहुत विश्वास था। गंभीर विषयों पर आचार्यश्री उनसे परामर्श करते थे। उक्त वकील साहब के साथ आचार्य महाराज की आज्ञानुसार हमें अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करने का अवसर आया है। शहा वकील साहब से चर्चा के पश्चात् आचार्य महाराज के सम्बन्ध की इसप्रकार सामग्री प्राप्त हुई।

श्री शहा वकील सा. ने बताया - "आचार्य महाराज का व्यक्तित्व अद्भुत आकर्षणपूर्ण था। उनकी शांत वीतराग मुद्रा देखने और वाणी सुनने पर चित्त उनके प्रति आकर्षित हुए बिना नहीं रहता था। लगभग ४० वर्ष पूर्व मैंने उनका पहली बार दर्शन

किया था तब मेरा मन उनके पुण्य चरणों के प्रति अनुरक्त हो गया था।"

आकर्षक व्यक्तित्व

उन्होंने बताया - "मैं कोन्नूर में महाराज के पास गया था। वे अष्टमी तथा चतुर्दशी को मौन के साथ उपवास धारण करते थे। जंगल में जाकर धूप में ध्यान करते थे। उनका आसन बहुत दृढ़ था। वे बैठते थे, तो ऐसा लगता था कि कोई मूर्ति बैठी हो। चार-छः घंटे वे बैठते; किन्तु हिलते-डुलते नहीं थे।"

निर्विकार मुद्रा

"महाराज की मुद्रा निर्विकार रूप से रहती थी। किसी के आने पर हर्ष नहीं होता था तथा जाने पर विषाद भी नहीं होता था।

"उनका आहार बहुत शीघ्र होता था। मैंने कोन्नूर में घड़ी लगाकर देखा था, छह मिनिट के भीतर उनका आहार पूरा हो जाता था। वे दूध, चावल मात्र लेते थे तथा जल ग्रहण करते थे। उनके दाँत थे। वे भोजन को विशेष चबाए बिना शीघ्र उदर में प्रवेश कराते थे। भोजन की आसक्ति या गृद्धता उनमें नहीं थी। वे अलौकिक तपस्वी महात्मा थे।"

महान् प्रतिभा

उनकी प्रतिभा महान् थी। अनुभव अद्भुत था। कई बातें वे अपने अनुभव, ज्ञान के आधार पर कहते थे। पश्चात् वही बात आगम में मिलती थी। वे ऐसा कहते थे - "इस प्रकार तत्त्व का स्वरूप होना चाहिए। हमने शास्त्र में कहीं नहीं देखा है।" पश्चात् उनके अनुभव के अनुकूल ही शास्त्र का कथन मिलता था।

संस्कारी साधु

मेरी महाराजश्री से कई बार बहुत चर्चा चलती थी। उनकी अपार कृपा थी। चर्चा के प्रसंग पर वे कहते थे - "बिना कई भवों में निर्ग्रन्थ पद का पालन किए ऐसी शास्त्रोक्त प्रवृत्ति के योग्य मन नहीं होता।" यथार्थ बात यह है कि जन्म-जन्मान्तर के पवित्र संस्कार संपन्न वे साधुराज थे।

प्रगाढ़ श्रद्धा

उनकी जिनागम के प्रति अप्रतिम श्रद्धा थी। आगम कहता है - "जैनधर्म अभी १८,५०० वर्ष रहेगा।" इस पर उनकी श्रद्धा थी। इस काल पर्यन्त धर्म का नाश

नहीं होगा। आगम के प्रकाश में वे अपना मार्ग बनाते थे। उनका विशुद्ध हृदय जैसा कहता था, वही करते थे। आगम के विरुद्ध चलने की बात वे स्वप्न में भी नहीं सोचते थे। आगम तो उनका प्राण था।

आचार्य महाराज की सल्लेखना के सम्बन्ध में शहा वकील का अभिमत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सदा आचार्य महाराज के निकट संपर्क में रहने से वे महाराज को ठीक तरह से जान सके थे तथा महाराज भी वकील साहब को चतुर तथा धर्मात्मा गृहस्थ अनुभव करते थे।

सल्लेखना पर अभिमत

वकील साहब ने यह महत्त्वपूर्ण बात कही थी, "महाराज की सल्लेखना पहले हो गई, ऐसा मेरा मत है। लोगों ने गड़बड़ी कर दी। महाराज सूक्ष्म अक्षर पढ़ लेते थे। इससे स्पष्ट होता था कि उनकी दृष्टि अधिक क्षीण नहीं हुई थी। फिर भी महाराज कहते थे - अब गमनादि कार्य में ईर्यासमिति का सम्यक् रीति से परिपालन नहीं होता। इस प्रकार वे अपने मूलगुणों के रक्षण कार्य में बहुत सावधान रहते थे।"

श्री माणिकचंद्र वीरचंद गांधी सराफ, फलटण

श्री गांधी ने बताया कि सन् १९५४ में महाराज का फलटण में चातुर्मास हुआ था। उस समय महाराज ने एकान्त में मुझे बुलाकर कहा - "हमारा भाव शिखरजी जाने का होता है।" मैंने कहा - "महाराज, मैं आपकी सेवार्थ तैयार हूँ। खर्चे की तथा व्यवस्था की चिन्ता न कीजिए। अपने निश्चय के आठ दिन पूर्व मुझे आज्ञा दीजिये।"

सल्लेखना की प्रेरणा

इसके अनन्तर महाराज बारामती पहुँचे। वहाँ अषाढ़ वदी षष्ठी को उनका बाढ़-दिवस मनाया गया। वहाँ महाराज की सल्लेखना की योजना बनी। लोग सल्लेखना का स्वरूप नहीं समझते थे। वे उसे सामान्य वस्तु सोचते थे। सल्लेखना लेने के बाद महाराज का फिर दर्शन नहीं होगा, सल्लेखना तप के द्वारा शरीर का परित्याग होता है, ऐसा ख्याल न होने से अज्ञानी लोग जब चाहे तब महाराज के समक्ष चर्चा छेड़ देते थे और पूछते थे - "महाराज! अब सल्लेखना कब होगी?" मानों उनकी दृष्टि में सल्लेखना शिखरजी की या गिरनारजी की यात्रा सदृश हो। वे सोचते थे कि सल्लेखना के पास जाकर महाराज फिर जल्दी वापिस आ जावेंगे। यदि उनको पता होता कि सल्लेखना की प्रचण्ड

पावानगर में भगवान पार्श्वनाथ की श्रेष्ठ कलात्मक मूर्ति
(मूर्ति के चरण में पहले पारस पाषाण था)

अग्नि में प्रवेश के उपरान्त इस पूज्य विभूति का दर्शन नहीं होगा, तो वे क्यों बार-बार उसे करने को कहते?

यदि महाराज शिखरजी जाने का विचार करते थे, तो गुरु-चरण-भक्त-मण्डली मन में दु:खी होने लगती थी कि शिखरजी तरफ गए, तो फिर उनका दक्षिण लौटना कठिन होगा; इसी प्रकार की कल्पना यदि सल्लेखना के बारे में होती कि सल्लेखना-वाला फिर बारामती, फलटण आदि में दर्शन देने के लिए नहीं आयेगा, तो उसके विषय में प्रेरणात्मक वाणी के बदले में ऐसे ही शब्द निकलते कि - "महाराज! जल्दी क्यों करते हैं? यम सल्लेखना की कल्पना ही न कीजिए, लेना है तो नियम सल्लेखना लीजिए। इससे आपके रत्नत्रय साधन में कोई विघ्न नहीं आता है।"

दहीगाँव चातुर्मास का इरादा

श्रीगांधी ने बताया - "महाराज ने बारामती में मुझसे कहा था कि हमारा इरादा दहीगाँव अतिशय क्षेत्र में चातुर्मास करने का होता है। इसके बाद कुंथलगिरि जाने का विचार है।"

"महाराज का भाव कभी-कभी मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र के दर्शनार्थ जाने का होता था। ऐसी भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ चल रही थीं, तब जीवराज गौतमचंद जी, बालचंद देवचंदजी,रावजी देवचंद शहा आदि मंडली महाराज के पास आ गई। यदि महाराज मुक्तागिरि गए, तो वहाँ उनका चातुर्मास होगा, पश्चात् उनका दक्षिण पुन: आना कठिन सोचकर जीवराजजी ने कहा - "महाराज! आप मुक्तागिरि जाने का विचार छोड़िए। कुंथलगिरि ही चलें। आपको सल्लेखना लेना है। आपके नेत्रों की ज्योति मन्द हो रही है। मुक्तागिरि में पानी वगैरह का सुभीता नहीं है। आपकी सल्लेखना में बहुत लोग आवेंगे।"

कुंथलगिरि के पक्ष में तर्क

इसे सुनकर महाराज ने कहा - "कुंथलगिरि में अनुकूलता नहीं पड़ती, कोई रहता नहीं है। सल्लेखना के समय हम वहाँ आ जावेंगे। अभी मुक्तागिरि के दर्शन का विचार होता है।"

उनके इस कथन का प्रतिवाद करते हुए यह कहा गया कि अब आपकी नेत्रों की शक्ति कम हो रही है। सल्लेखना का समय समीप है, इससे कुंथलगिरि ही चलिए। कुंथलगिरि में आपकी सर्व प्रकार की व्यवस्था हम लोग करेंगे।

अकाल में प्रेरणा

मृत्यु के साथ युद्ध करने की महाराज की पहले से पूरी तैयारी थी। गजपंथा में उन्होंने बारह वर्ष के भीतर सल्लेखना लेने के निश्चय द्वारा मृत्युराज को अन्तिम सूचना दे ही दी थी; इसीसे वे अपना ध्यान, आचार, संयमादि महाप्रयाण को लक्ष्य में रखकर करते थे। इस प्रकार की अंतरङ्ग तैयारी होते हुए कुछ लोगों ने रणभेरी का बजाना शुरू कर दिया। समय पर रणवाद्य के बजने पर किसी को भी कुछ कहने का स्थान न था; किन्तु असमय में ही सल्लेखना लेने की प्रेरणात्मक बातें, उस पक्ष को उचित बताना आदि कथन अग्नि-प्रदीप्त करने में घृताहुति का काम कर गए।

आमदनी का लोभ

हमें दक्षिण प्रवास में अनेक गुरुभक्त तथा महाराज की प्राणपण से सेवा करने वाले ऐसे बन्धु मिले, जिन्होंने कहा - ''कुंथलगिरि बार-बार प्रेरणा कर ले जाने में क्षेत्र को आमदनी प्राप्त होने का महान् लोभ कारण था। लोग सोचते थे कि महाराज कुंथलगिरि में रहेंगे, तो क्षेत्र को बहुत आमदनी होगी।''

दूसरे के मन को जानना कठिन काम है। कई लोगों की मानसिक विचारधारा को ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी भी नहीं समझ सकता, विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी में ही यह सामर्थ्य है कि वाणी कुछ बोलते हुए भी मन की भिन्न प्रवृत्ति रखने वालों की यथार्थ में क्या मनःस्थिति है, इसे जान सके।

लेखक का कर्तव्य

इस प्रसङ्ग में हम क्या लिखें, क्या न लिखें, यह विचार हमारे मन के समक्ष उपस्थित होता है। यदि व्यक्ति विशेष के मोह, ममत्व या डर के कारण हमने सत्य का प्रतिपादन न किया, या उस पर परदा डाला, तो लेखक पर सत्य की हत्या का बहुत बड़ा पाप आता है, उस कर्तव्य को ध्यान में रखकर यह लिखना पड़ता है कि कुंथलगिरि ले जाने के भीतर विशुद्ध भाव नहीं था, धनसंचय की प्रमुख भावना इसका हेतु थी, यह जो धार्मिक लोगों का कथन है, वही सम्यक् प्रतीत होता है।

प्रलोभन

इसी विशेष लाभ को लक्ष्य में रखकर महाराज को वचन दिया गया कि अब कुंथलगिरि में पहले सरीखी गड़बड़ी नहीं होगी। अब पिछले चातुर्मास के समान बात

नहीं होगी कि आपको छोड़कर हम व्यापारार्थ यहाँ-वहाँ दौड़ते फिरें। अब हम स्वयं चौका लेकर आपकी सेवा करेंगे।

दयामूर्ति साधुराज

सच्चे साधु का हृदय बालक की तरह निर्विकार रहता है। पूर्व में कितना ही असत् व्यवहार किया हो; किन्तु प्रत्यक्ष में आकर प्रणाम करने वाले पर उन सच्चे साधु की दयादृष्टि हो जाती है।

लौकिकजन कहते हैं कि महाराज को ऐसे लोगों पर विश्वास नहीं करना था, जिन्होंने उनको कई बार धोखा दिया, उनकी आज्ञा के विरुद्ध उत्पात मचाए; किन्तु वे लोग अपने समान साधु को राग तथा द्वेष मूर्ति समझते हैं। महाराज शांतिसागरजी अपूर्व साधु थे, वे लोकोत्तर थे। शरीर पर लिपटने वाले सर्प पर भी उनका प्रेम ऐसा था, मानों उनका परमस्नेही अन्य धर्मावलंबी मित्र रुद्रप्पा ही आकर उनसे भेंट कर रहा हो। प्राणों को हरण करने के क्रूर कर्म में संलग्न सैकड़ों साथियों वाले छिद्दी ब्राह्मण पर भी राजाखेड़ा में उन्होंने कोप नहीं किया, प्रत्युत पुलिस के उच्च अधिकारी को यह कहा था कि जब तक इन लोगों को नहीं छोड़ोगे, तब तक हम आहार ग्रहण नहीं करेंगे, जैसे जननी अपने पुत्र को बंधन में देखकर प्रतिज्ञा करती है, ऐसी प्रतिज्ञा उनकी थी।

भवितव्यता

साधुता की बातें सब कर सकते हैं; किन्तु जीवन में श्रेष्ठ साधुवृत्ति को स्थान देने वाले मनस्वी महात्माओं में आचार्य महाराज सचमुच में नरश्रेष्ठ थे, साधुओं के चूड़ामणि थे, चारित्र-चक्रवर्ती थे। महाराज साधुराज थे और महान् विचारक भी थे। वे अपनी पैनी दृष्टि से सत्य-असत्य का सहज ही विश्लेषण कर लेते थे, अतएव कुंथलगिरि सल्लेखनार्थ ले जाने वालों की भीतरी स्थिति को वे क्षण भर में सोच सकते थे; किन्तु ऐसा नहीं हुआ। क्यों? समन्तभद्र स्वामी ने कहा है - "भवितव्यता की शक्ति अलंघ्य है।" वह भवितव्यता बाह्य अंतरंग साधन पर आश्रित है। अंतरंग सामग्री थी, निमित्त की कमी थी, सो उसकी भी पूर्ति हो गई। एक कारण से कार्य की कल्पना अविवेक की आधार शिला पर अवस्थित है। उपादान कितना ही बलवान हो, योग्य निमित्त के बिना कार्यरूपता धारण करने में वह पंगु ही रहता है। इसी से तार्किक चूड़ामणि समंतभद्र स्वामी उस भवितव्यता को क्रम-बद्ध पर्याय के नाम पर नहीं छोड़ते हैं। वे उसे "हेतुद्वयाश्रित" कहते हैं।

पूरक सामग्री का सन्निधान

इस भवितव्यता के लिए पूरक साधन-सामग्री बारामती में मिल गई; अतः महाराज सल्लेखना की अग्नि में प्रवेश हेतु कुंथलगिरि चले। अग्नि-प्रवेश-प्रेरक व्यक्ति रणभेरी की ध्वनि कर रहे थे। सब जगह यह समाचार पहुँचने लगा कि अब महाराज सल्लेखना ले रहे हैं। सन् १९५३ में भी महाराज कुंथलगिरि गए थे। उस समय कुंथलगिरि यात्रा को मृत्युराज की भेंट नहीं सोचा जाता था; किंतु इस समय सल्लेखना लेने का अवांछनीय जोरदार प्रचार होने लगा। महाराज महाज्ञानी थे। वे सब होते हुए भी आगे-पीछे विचार करते थे, किन्तु उस समय समाज के पापोदय से कुछ लोगों ने भक्ति दिखाने के लिए एक चिकित्सक को लाकर नेत्र की परीक्षा कराई। वैद्यराज को 'यमराज सहोदर' भी कविगण कहते हैं। चतुर चिकित्सक विवेक के प्रकाश में बातें करता है। बीमार को कभी भी यह नहीं कहता है कि तुम्हारी स्थिति खतरनाक है। परिचर्या करने वालों को वह वस्तुस्थिति से अवश्य परिचित कराता है।

प्रेरक सामग्री संचय

हमें बताया गया कि चिकित्सकराज कहे जाने वाले व्यक्ति ने अपने कर्तव्य का विस्मरण कर गुरुदेव से कह दिया कि अब आपके नेत्रों में शक्ति नहीं रही है। पास में रहने वाले समझदार समझे जाने वालों ने तथा स्वयं को भी समझदार मानने वालों ने उस समय डाक्टर के अभिप्राय का विरोध न कर "मौनं सम्मतिलक्षणं" के नियमानुसार महाराज को यम सल्लेखना के भयंकर निश्चय करने के विरोध में कुछ न कहकर यही कहा कि आपको जो उचित दिखे, सो कीजिए। कुंथलगिरि में कर्मोदयवश लोगों की बुद्धि विपरीत हो गई। शूर-शिरोमणि शांतिसागरजी ने आमरण आहार त्याग देने का निश्चय कर लिया।

महाराज को धोखे में डाल दिया गया

श्री गांधी ने यह महत्त्व की बात बताई - "महाराज कुंथलगिरि पहुँच गए। मैं उनके पास पहुँचा। महाराज ने पहाड़ पर मुझ से एकान्त में कहा - "माणिकचंद! मैं पहले दो बार कुंथलगिरि में फँस गया था, अब तीसरी बार फिर लोगों के चक्कर में फँस गया। तुम ठीक कहते थे।" इन शब्दों में बड़ा रहस्य है, गूढ़ बात है। इसका स्पष्ट भाव यह है कि मैं धोखे में आ गया। महाराज साधु शिरोमणि थे, अतः उन्होंने मनस्वी व्यक्ति की भाषा में यह कहा - "हमने समाधि धारण की है, यह बुरी बात नहीं है। हमारा इसमें समाधान है। हमारे भावों में कोई आकुलता नहीं है।"

भयंकर परिस्थिति

श्री गांधी ने कहा - "मैं महाराज के चरणों के समीप बहुत समय तक रहा हूँ। उनकी बातों से स्पष्ट ज्ञात होता था कि इतनी जल्दी सल्लेखना नहीं लेंगे। लोगों ने पुनः-पुनः प्रेरणा की, इससे उनका मन उस ओर अधिक आकर्षित हो गया। सल्लेखना के पूर्व महाराज का सेठ चंदूलाल सराफ के यहाँ आहार हुआ। उस समय महाराज की प्रकृति के अनुकूल आहार दिया गया। एक संपन्न सुशिक्षित दिखने वाले भक्त ने अपने श्रीमुख से ये शब्द महाराज की उपस्थिति में कहे - "महाराज को शीघ्र सल्लेखना लेना है, तुम ऐसा आहार क्यों कराते हो?" उन्हीं सज्जन ने पर्वत पर एक वृद्धा महिला को धक्का मारकर गिरा दिया था। ऐसे व्यक्ति का नाम जानते हुए भी उल्लेख करना ठीक नहीं लगता। उन सज्जन के तथा उनके सहयोगियों के हाथ में मुख्य कार्यों का सूत्र था। अनेक विचित्र व्यक्तियों से महाराज वहाँ घिरे थे। वहाँ के अद्भुत प्रबंध के साथ महाराज का कोई संबंध नहीं था।"

अंत समय पर प्रकाश

महाराज के स्वर्गारोहण के पूर्व सारी रात श्री गांधी गुरुचरणों में रहे थे। अतः उन्होंने रात्रि की-कालरात्रि की-विशेष बात इस प्रकार बताई - "३६ वें दिन ५ बजे प्रातःकाल महाराज अत्यन्त शांत मुद्रा युक्त थे। श्वास वेग से चलने लगी थी। मैंने क्षु. सुमतिसागर महाराज से कहा था कि अब आचार्य महाराज अधिक समय तक नहीं टिकेंगे। संघपति, भट्टारक महाराज और चन्दूकाका आ गए। लक्ष्मीसेन स्वामी ने कहा - "महाराज को अब पद्मासन से बैठाना चाहिए।" उस समय महाराज से पूछा गया - "क्या आपको उठाकर बिठा देवें?" तब उन्होंने इशारे द्वारा निषेध किया। यह बात करीब ६ बजे सुबह की थी। छह बजकर पन्द्रह मिनिट के करीब गन्धोदक लाया गया। हमने उनके हाथों को सहारा दिया, तब उन्होंने स्वयं गन्धोदक मस्तक पर लगाया। इसके थोड़ी देर बाद पौने सात बजे के करीब महाराज ने जोर की साँस ली। उसके अनंतर मुख से 'ॐ सिद्धाय नमः' की ध्वनि निकली थी। दो एक मिनिट के बाद दूसरी श्वास जोर की आई, उसके पश्चात् बहुत क्षीण ध्वनि में 'ॐ सिद्धाय नमः' शब्द निकले। उन शब्दों का अनुगमन करते हुए प्राणों ने भी परलोक को प्रयाण किया। प्राणोत्क्रमण होते हुए भी वे सजीव तथा तेजपुञ्ज लगते थे।"

श्री मुरलीधर बालकृष्ण जोशी गायनाचार्य

अलौकिक साधु

श्री मुरलीधर बालकृष्ण जोशी सङ्गीत शास्त्री भी महाराज के संपर्क में आए। वे अजैन होते हुए भी महाराज के भक्त रहे हैं। उन्होंने जैनेतर समाज की दृष्टि को अपने माध्यम द्वारा व्यक्त करते हुए कहा - "आचार्य महाराज शांतिसागर जी जैसा उनका नाम था, वैसे ही वे थे। उनका बोलना, उठना-चलना आदि सभी प्रवृत्तियाँ उनके नामानुरूप थीं। हमने बहुत साधु देखे। वे कुछ-न-कुछ स्पृहा रखते रहे हैं; किन्तु ये महाराज अत्यन्त निस्पृह थे। उनके समीप पहुँचने पर उनका पवित्र आशीर्वाद प्राप्त होता था। उनके दिवंगत होने पर फलटण के हमारे साथी अजैन भाई कहते थे कि ऐसे अलौकिक साधु अन्य नहीं देखे। उनकी जीवनी अलौकिक थी।"

कलावेत्ता

सेठ खुशालचंद गांधी सराफ के साथ मैं महाराज के पास जाता था। सेठ खुशालचन्द जी कविता करते थे। अत: महाराज कहते थे - "आओ सङ्गीत मास्टर और कवीश्वर! कुछ लाए हो क्या? तो सुनाओ।" सङ्गीत से उनका बड़ा अनुराग था। वे उच्च सङ्गीत विद्या के आधार पर गाये गए धार्मिक गायन से हर्षित होते थे। उनको भजन सुनाकर तथा उनके पवित्र आशीर्वाद की निधि पाकर मैं आनन्दित हो लौटता था।" एक समय सेठ खुशालचन्द जी गांधी ने पंचपरमेष्ठी पूजा की रचना की थी। उस समय सङ्गीत की पद्धति से मैंने वह पूजा पढ़ी। उस समय मैं तो गायन में तन्मय था। महाराज भी प्रसन्नमुख थे। उनके साथ नेमिसागर महाराज, धर्मसागर महाराज भी थे। उस समय महाराज ने कहा था - "अब तक पूजा खूब सुनी। आज का आनन्द कुछ और ही था।" उस समय एक सहस्र के करीब लोग एकत्र थे। उस वातावरण में अद्‌भुत मधुरता तथा शान्ति बरसती थी।

ऐलक वृषभसागर महाराज हिवरखेड़ा

पूज्य ऐलक वृषभसागर महाराज ने (मुकाम हिवरखेड़ा, जिला अमरावती) सिवनी में सन् १९६० का चातुर्मास व्यतीत किया था। एक दिन आचार्य शांतिसागर महाराज के पुण्य-जीवन की चर्चा निकली। उस संबंध में ऐलक महाराज ने एक महत्त्व की बात इस प्रकार सुनाई - "आज से लगभग २३ वर्ष पूर्व की बात है, उस समय मैं ब्रह्मचारी था। प्रतिमा लिये हुए ४० वर्ष हुए थे। आचार्य महाराज मुक्तागिरि पधारे।

उनके साथ में धर्मसागर महाराज भी थे। उस समय धर्मसागरजी यशोधर ऐलक कहलाते थे।

गुरु-दर्शनार्थ हजारों व्यक्ति सपरिवार मुक्तागिरि आ रहे थे। वहाँ बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। मुक्तागिरि में जलप्राप्ति के लिए केवल दो कुए थे। एक दिन दोनों कुए जलशून्य हो गए। लोगों ने बेरहमी से पानी खर्च किया था। जलाभाव से सब यात्री चिंता में डूब गए। धीरे-धीरे यह समाचार आचार्य महाराज के कानों तक पहुँचा।

महाराज ने कहा - "जब पानी नहीं है, तब तो, सब लोग कष्ट में पड़ जाएंगे। इस स्थिति में यही उचित होगा कि हम यहाँ से प्रस्थान कर दें। इससे पानी की झंझट नहीं रहेगी।"

पानी का चमत्कार

लोगों ने विनय की, कि गुरुदेव इस पवित्र तीर्थ में आप जैसे गुरुराज के दर्शन का अपूर्व सौभाग्य हमें मिला है, उससे हम लोगों को वंचित न कीजिए। लोग अनुनय विनय कर रहे थे, इतने में महाराज के हृदय में एक नवीन विचार आया, उससे प्रेरित हो उन्होंने कहा - "दो घंटे तक कुओं को ऊपर से ढाँक दो। कोई भी व्यक्ति एक बूंद भी पानी न निकाले।" आचार्य महाराज की आज्ञानुसार, कुए ढाँक दिये गए और दो घंटे पर्यन्त कुओं की तरफ कोई भी नहीं गया। दो घंटे उपरांत दोनों कुओं पर का आवरण अलग कर दिया गया। लोगों ने देखा कि आधे कुए भर चुके हैं, हजारों लोगों ने पानी खींचना आरंभ किया। इच्छानुसार विशाल जनसमुदाय पानी को खर्च करता जाता था; किन्तु कुआ जैसा का तैसा भरा हुआ पाया गया। सच्चे जिनेन्द्रभक्त, रत्नत्रयमूर्ति, साधुराज की तपस्या और वाणी में अद्भुत शक्ति पाई जाती है। यह तप का चमत्कार मैंने प्रत्यक्ष देखा। सारी जनता सुख से धर्म साधन करने लगी।"

हमें तो प्रतीत होता है कि कूप पर जब शांति के सागर की दृष्टि पड़ी, तब कूप ने संकीर्णता का परित्याग कर यथार्थ में सागर से अपना संबंध स्थापित कर लिया था। सागर से संबंधित कूप में जल की न्यूनता कैसे आ सकती है?

शेर तथा सर्पराज

ऐलक महाराज ने बताया कि मुक्तागिरि का पहाड़ भयंकर जंगली जानवरों से परिपूर्ण है। वहाँ शेर रात को ही नहीं, दिन को भी नजर आता है। पर्वत के ऊपर

जलप्रपात के समीप एक ८-१० हाथ लंबा और स्थूलकाय अत्यन्त पुराना विशाल सर्पराज भी रहता है। वह किसी व्यक्ति को नहीं सताता।

एक बार वह सर्प गुड़ी मारकर बैठा था। मुनीम राघोबा कुछ लोगों के साथ ऊ पर गए। लोगों का ध्यान इस बात पर नहीं गया कि यहाँ सर्पों के राजा बैठे हैं। प्रमाद से एक व्यक्ति का पैर उसकी पूंछ पर पड़ा। सर्पराज ने मनुष्य की ऊंचाई बराबर अपना फुट भर चौड़ा फण उठा लिया और क्षण भर में वे वहाँ से चले गए। देखने वाले घबड़ा गए। एक व्यक्ति गिरा और उसकी जांघ की हड्डी टूट गई तथा भयंकर चोट लगी।

आचार्य महाराज पर्वत के ऊपर उसी स्थान पर रहते थे। उनके साथ यशोधर ऐलक महाराज भी रहते थे। आचार्य महाराज को ऐसे स्थान पर रहने में अद्भुत शांति मिलती थी जहाँ सर्प, व्याघ्र, आदि भयानक जीवों का निवास हो। वे अद्भुत योगी थे।

मुक्तागिरि में महाराज ने १० दिन पर्यंत निवास किया था। उस समय का आनंद आज भी स्मरण करके हृदय शांति प्राप्त करता है। मुक्तागिरि की यात्रा महाराज ने पीछे की थी; किन्तु वे अपनी तीर्थवंदना में उस क्षेत्र को विशेष महत्त्व देते थे।

इसी कारण वे मुक्तागिरि को अपनी समाधिमरण की भूमि बनाने की अनेक बार इच्छा व्यक्त करते थे। कुंथलगिरि जाने के पूर्व वे गुरुदेव मुक्तागिरि आने की ही चर्चा करते थे। विपरीत निमित्तों ने उनकी इच्छा में विघ्न उपस्थित किया। कदाचित् वे मुक्तागिरि आए होते, तो सल्लेखना की ओर उनका इतने शीघ्र झुकाव न होता। भवितव्यता अमिट है।

मुक्तागिरि की अनेक विशेषताएँ हैं। इससे अजैन उच्च आफीसर लोग मुक्तागिरि की वंदना भक्ति पूर्वक करते हैं। उनका विश्वास है कि इससे उन्हें तरक्की मिलती है। विदर्भ की जनता के लिए तो मुक्तागिरि सचमुच में महान् पुण्यधाम तथा जलप्रपात के कारण सुरम्य स्थल भी है।

पू. ऐलक महाराज ने यह भी बताया कि जब महाराज का संघ मुक्तागिरि आ रहा था तथा जब वह खामगाँव से आगे बढ़ा, तब आस-पास बड़े-बड़े ओले गिरे। भीषण वर्षा भी हुई; किन्तु जिस जगह आचार्य महाराज का संघ विराजमान था, उसके आसपास लम्बी दूरी तक न वर्षा हुई और न ओले गिरे। सब लोग निश्चिंत थे।

ऐलक कुलभूषण महाराज

ऐलक कुलभूषण महाराज (दक्षिण)[१] ने आचार्य शान्तिसागर महाराज की चर्चा करते हुए उनके सम्बन्ध में एक स्मरणीय घटना सुनाई। उन्होंने कहा - "आचार्य शांतिसागर महाराज शेडवाल में विराजमान थे। वहाँ से विहार कर वे नसलापुर में पधारे।

दैविक उपद्रव निवारण

वहाँ दादा पट्टणकुले नाम के ब्रह्मचारी आचार्य महाराज के शिष्य थे। उनके घर में दैविक उपद्रव होते थे। कभी सबके देखते-देखते कपड़ा जल जाता था। पेटी के भीतर ही वस्तु जल जाती थी। घर में जहाँ तहाँ आग का उपद्रव होता रहता था। कभी खेत में फसल का नुकसान हो जाता था।

वह पिशाच कहता था कि मुझे बलि दो। बकरा चढ़ाओ। वह पिशाच ब्रह्मचारी जी की भानजी पर आता था। ब्रह्मचारीजी ने कहा - "हम तुमको कुछ भी नहीं देंगे। तुम हमारी जान भी लो, हमारा सत्यानाश भी करो, तो भी हम बलि नहीं देंगे।" वह पिशाच बोला - "कुछ नहीं तो केला तो दो।" ब्रह्मचारीजी ने कहा - "मैं एक लवंग भी नहीं दूँगा।" ऐसा क्रम बहुत दिन से चलता था। जब आचार्य महाराज वहाँ पधारे, तब ब्रह्मचारीजी ने अपनी कष्टमय कथा सुनाई।

घर में प्रतिमा की पूजा

आचार्य महाराज ने कहा - "तुम घर के भीतर जिनेन्द्र की प्रतिमा को विराजमान करके पूजन, अभिषेक आदि क्रिया करो, इससे प्रेत बाधा दूर हो जायगी।" ब्रह्मचारीजी ने ऐसा ही किया। जब घर में भगवान की प्रतिमा लाकर विराजमान की गई और पूजनादि कार्य हुए, तब व्यंतर बाधा तत्काल दूर हो गई।

कुलभूषण महाराज ने जिनेन्द्रभक्ति से सम्बन्धित एक और उपयोगी बात बताई थी। इस कथन के सम्बन्ध में उनके पास बेलगाँव जिले से कनड़ी भाषा में आगत एक पत्र था। ब्र. गङ्गाधर मल्लिनाथ मुनोती, हिरेहट्टी, तालुका खानापुर (बेलगाँव) से भेजे गए दिनांक १७-९-५६ के उस पत्र में लिखा था - "भादों में मंदिर जी में शौचधर्म की पूजा चल रही थी। उस समय देवप्पा संगवी को एक चार-पाँच हाथ लम्बे तथा स्थूल सर्प ने डस लिया। सर्प का विष चढ़ता जाता था।

---

१. उन्होंने आचार्य देशभूषण महाराज से मुनिदीक्षा ली थी।

देवप्पा को १५ मील पर स्थित बेलगाँव नगर ले जाने के लिए मोटर बुला ली गई। जब मुझे मंदिर में समाचार मिला, तब मैं देवप्पा के पास गया और उसे मंदिरजी में ले आया। मंदिर में मूलनायक भगवान पार्श्वनाथ हैं। मैंने देवप्पा से पूछा - "क्या तुम्हारा हम पर विश्वास है?" उसने कहा - "तुम पर मेरा पूरा विश्वास है। मेरा आप पर इतना विश्वास है कि आपके वचनों पर मैं मरने को भी तैयार हूँ।"

गंधोदक से सर्प का विष निवारण

"मैंने सर्पदंश युक्त स्थान पर बांधी गई कपड़े की पट्टी दूर की। मैंने तथा पंडित श्रीपाल ने जिनेन्द्र भगवान के समक्ष प्रतिज्ञा की - "भगवन्! जब तक देवप्पा निर्विष नहीं होता है, तब तक के लिए हम दोनों अन्न-जल का त्याग करते हैं।" इसके पश्चात् मैंने महाभिषेक के उपरान्त महाशांति मंत्र पढ़ते हुए बड़ी शांतिधारा की और पंचामृत अभिषेक तथा शांतिधारा का गंधोदक देवप्पा के शरीर पर डाला। इसके अनंतर दशलक्षण पूजा का पाठ फिर से चलने लगा। पूजा पूर्ण होने के पूर्व ही देवप्पा का विष दूर हो गया।

"पहले अजैन लोग मेरी निन्दा करते थे कि देवप्पा को मार डालेगा, पश्चात् देवप्पा को विषमुक्त देख सबके आनंद और आश्चर्य की सीमा नहीं रही।" उक्त घटना की सत्यता का निश्चय कुलभूषण महाराज ने स्वयं उस स्थान पर जाकर किया। सन् १९७९ में आचार्य सुबलसागर महाराज का जबलपुर के समीप तिवरी ग्राम में चातुर्मास हुआ था। उस समय एक ग्रामीण को साँप ने डस लिया और उसकी बुरी हालत हो गई थी। उस समय वह व्यक्ति तिवरी लाया गया। आचार्य महाराज ने जिनेन्द्र स्मरण तथा मंत्र द्वारा उसको निर्विष कर दिया। हम तिवरी गए थे तब उक्त घटना का वर्णन तथा जैन धर्म की प्रभावना की वार्ता हमें सुनने में आई। इसी कारण आचार्य शान्तिसागर महाराज सभी को जिनेन्द्रभक्ति के लिए प्रेरणा करते थे। जिनेन्द्र देव की आराधना में अपूर्व सामर्थ्य आज भी है। श्रद्धा चाहिए।

अद्भुत सिद्धियाँ

कुंथलगिरि में सल्लेखना महातप को धारण करने पर आचार्य महाराज की अंतरंग निर्मलता तथा प्रभाव अद्भुत रूप से विकसित हो रहे थे। हमारे अत्यन्त परिचित छिंदवाड़ा निवासी एक जैनबन्धु बड़े परेशान थे; क्योंकि उनकी पत्नी दैविक बाधाओं से व्यथित रहती थी। समीक्षा-शील स्वभाव के रहने से वे दैविक बाधा को मानसिक विकृति सोचते थे; किन्तु अनुभव ने उनको अपनी धारणा बदलने को बाध्य किया। मेरे

पूछने पर उन स्नेही जैनबंधु ने बताया कि उनकी पत्नी भूखी रहती हुई भी भोजन नहीं कर पाती थी। यदि बलपूर्वक एक ग्रास भी खिलाया, तो वह मूर्छित हो जाती थी। एक दिन रात्रि को स्त्री ने जोर से चिल्लाकर कहा कि उसकी पीठ पर कई लट्ठों का प्रहार हुआ। शंकाशील पति महोदय को विश्वास नहीं हुआ; किन्तु पश्चात् देखा तो पीठ पर बहुत जोर के दंड-प्रहार वश नीलापन आ गया था। पीठ सूज गई थी।

एक दिन स्त्री ने कहा कि कोई उसे जला रहा है। वहाँ दंपति के सिवाय कोई दूसरा न था। क्षणभर में शरीर पर दाहजन्य फफोला दृष्टिगोचर हो गया। अनेक प्रकार की चिकित्सा करते हुए भी आपत्ति में तनिक भी न्यूनता न थी। वह व्यथित महिला कुंथलगिरि पहुँची। महाराज के उपवास का संभवतः २८ वाँ दिन था। उस महिला के साथी रिश्तेदारों ने अभिषेक की बोली ली थी। भगवान १००८ देशभूषण कुलभूषण का वैभवपूर्वक अभिषेक करने के पश्चात् उन्होंने आचार्य महाराज को गंधोदक दिया।

वचनमात्र से दैविक बाधा निवारण

उस समय उक्त महिला ने गुरुदेव से कहा - "महाराज! मैं बड़े कष्ट में हूँ। दैविक पीड़ा के कारण भोजन भी नहीं कर पाती हूँ।" इन करुणाजनक शब्दों को सुनकर क्षण भर में महाराज ने सिर पर पीछी रखकर आशीर्वाद देते हुए कहा - "अच्छा! अब तुमको कष्ट नहीं होगा।" इन शब्दों के उच्चारण के पश्चात् तत्काल वह महिला उस पीड़ा से मुक्त हो गई। पर्वत से नीचे आने पर उसने बराबर भोजन-पान किया। मैंने २९ अगस्त सन् १९५९ को छिंदवाड़ा जाकर उक्त बातों की जाँच-पड़ताल की थी। यह कथा तो बहुत लम्बी थी; किन्तु संक्षेप में उसकी झलक मात्र दी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि तप:पुनीत साधुराज के शब्दों में कितना अलौकिक प्रभाव रहता था। दो शब्दों से दैविक बाधा दूर हो गई। अद्भुत सिद्धियों से समलंकृत आचार्य महाराज की आत्मा थी। सचमुच में वे योगिराज थे।

श्री क्षुल्लक सुमतिसागर फलटण

शांति पुंज सत्पुरुष

फलटण वाले क्षुल्लक सुमतिसागरजी के २६ सितम्बर १९५९ को नातेपुते में दर्शन हुए। उन्होंने महाराज की गृहस्थावस्था से अंत पर्यन्त सत्संग तथा गुरुसेवा का लाभ लिया तथा क्षुल्लक दीक्षा लेकर अपना जन्म उज्ज्वल किया। उन्होंने आचार्य महाराज के विषय में बताया - "महाराज अलौकिक महापुरुष थे। उनके पास अहंकारभाव नहीं

था। बड़े होते हुए वे अहंकार विहीन थे। स्वाभिमान उनमें अवश्य था; जब कभी धर्म की बात आती थी, तब गौरव के साथ धर्म की बात कहते थे। शिष्य मंडली में कभी मतभेद या विवाद की बात उत्पन्न होती, तो उनके निमित्त से शीघ्र ही शांति की स्थापना हो जाती थी। वे महान् शांतिपुंज सत्पुरुष थे।''

क्षुल्लक जी ने महाराज के साथ अपने संपर्क की चर्चा करते हुए बताया - ''आचार्य महाराज समडोली में विराजमान थे। मुझे धावते ने कहा कि तुम्हें अध्यात्म शास्त्र का प्रेम है। तुम समडोली जाओ, तो बहुत लाभ होगा। महाराज का अध्यात्म शास्त्र का अनुभव अच्छा है। मैंने कारंजा जाकर भट्टारक वीरसेन स्वामी के पास चार माह रहकर अध्यात्म का अभ्यास किया था। वीरचंद कोदरजी गांधी भी मेरे साथ में रहे थे। मैं समडोली आचार्य महाराज के पास गया।''

अध्यात्म के महान् ज्ञानी

''उनके सत्संग से मन को बड़ा समाधान मिला। कारंजा के भट्टारकजी के पास जिन शंकाओं का समाधान नहीं हुआ था, उनका महाराज के पास सहज ही निवारण हो गया। उनके उत्तर से मन की पूर्ण तृप्ति हुई। मैं समयसार देखकर महाराज से शंकाएँ करता था। महाराज अपनी प्रतिभा और अपूर्व क्षयोपशम शक्ति के आधार पर मधुर समाधान करते थे, उससे संदेह का निवारण हो जाता था। इससे उनकी ओर मेरा आकर्षण बहुत हो गया था। सदा उनके चरणों में रहने की भावना होती थी।''

तेज:पुंज साधु

उनमें तपस्या का अपूर्व तेज था। जो उनके पास आकर दर्शन करता था, उसका मस्तक उनके चरणों के आगे झुक जाता था। वे मुझे चतुर्थकाल के उच्च चरित्र-संपन्न मुनि सदृश दिखते थे। महाराज जिस आसन से बैठते थे, उसमें परिवर्तन नहीं करते थे। आसन बदलना तो दूर आसन पर से हिलते तक नहीं थे। ऐसा लगता था कि कोई नि:कम्प मूर्ति विराजमान हो। बिना प्रयोजन के वे एक शब्द भी नहीं बोलते थे। रोज हजार, पंद्रह सौ आदमी उन साधुराज के दर्शनार्थ आते थे। वे प्राय: मौन रहते थे। हाथ उठाकर आगत नर-नारियों को अपना मंगलमय आशीर्वाद देते थे।

अध्यात्म के निर्झर

मैं समडोली से फलटण वापिस आ गया। वहाँ वीरसागर जी, चंद्रसागर जी ब्रह्मचारी की अवस्था में आए थे। मैंने उनसे कहा था - ''यदि आपको अध्यात्म का

अमृत पीना है, तो अपनी वाणी के द्वारा तथा अपनी जीवनी के द्वारा जो अध्यात्मरस का निर्झर प्रवाहित करते हैं, उनके पास समडोली में जाओ। उनका नाम शांतिसागर महाराज है।'' मेरी प्रेरणा से वे दोनों महानुभाव वहाँ गए। इस संपर्क से उन दोनों के जीवन में श्रेष्ठ परिवर्तन हो गया। उनके समान साधु न देखा, न सुना। उनके दर्शन मात्र से लोगों की असंयम पूर्ण मनोवृत्ति बदल जाती थी और लोगों के हृदय में उच्च संयम की लालसा उत्पन्न होती थी। वर्तमान काल में असंयमी जीवन से विरक्ति होकर संयम के कठिन मार्ग में चलने की ममता तथा प्रेमरस जागृत हो जाना उनके दर्शन का प्रभाव था। सचमुच में महाराज अलौकिक थे।''

हृदय पर शासन

''उनके समीप जो भी आता था, उसके हृदय को वे जीत लेते थे। उन चारित्र-चक्रवर्ती के चारित्र का चक्र असंयम के विरुद्ध चलना प्रारंभ हो चुका था। मैं तो गृहस्थ था। संसार के समस्त कार्यों में फँसा हुआ था। मेरी अवस्था उस समय २२ वर्ष की थी, उस संयम-चक्र के प्रभाव से मेरे भाव व्रती बनने के हो गए। मैंने व्रत प्रतिमा ले ली। ५१ वर्ष की वय में मैंने ब्रह्मचर्य प्रतिमा ली। ५६ वर्ष की अवस्था में मैं क्षुल्लक बन गया। मैंने बड़े उत्साह तथा आनन्दभाव से व्रत लिये थे। मैं बहुत आनंद में हूँ। संयम को पालते हुए अध्यात्मशास्त्र के पढ़ने पर विलक्षण रस आता है। असंयमी की अवस्था में भी समयसार, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्र पढ़े। अब संयम धारण करने के उपरान्त भी उनको पढ़ रहा हूँ। इस संबंध में अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि संयमपूर्ण जीवन के साथ अध्यात्म का अपूर्व आनंद आता है। आत्मा की कोरी चर्चा करने में यथार्थ लाभ नहीं मिलता। अध्यात्म से प्रेम है, तो संयम की ओर अवश्य झुकना चाहिए।

मर्मस्पर्शी आत्मनिरूपण

महाराज शांतिसागर जी दिगम्बर मुनि थे। उनके मुख से अध्यात्मसार की चर्चा बड़ी स्वाभाविक तथा प्रभावपूर्ण होती थी। परिग्रह के जाल में फँसा हुआ, विषयी व्यक्ति बुद्धि का वैभव बताकर अध्यात्म शास्त्र का प्रतिपादन करता है, उस उज्ज्वल कथन के पूर्ण विपरीत उसकी प्रवृत्ति होती है, इसका उचित प्रभाव बाहर नहीं पड़ता है। संयमी जीवन और अध्यात्मशास्त्र की प्ररूपणा इन दोनों का महाराज में समन्वय देख कहना पड़ता था कि यह मणि-कांचन योग है। समयसार रूप मणि पास में है, तो जीवन भी तो कंचन सदृश चाहिए। लोह के समान निकृष्ट धातु के साथ मणि का संबंध विचित्र सा दिखता है।

अंत समय

क्षुल्लकजी को महाराज के पास सल्लेखना के समय रहने का सुयोग प्राप्त हुआ था। उस समय की बात उन्होंने इस प्रकार कही - "मैंने महाराज के पास णमोकार मंत्र पढ़ा, तो वे कहते थे, हम सावधान हैं। आप कुछ न बोलें।" वास्तव में महाराज सल्लेखना काल में सतत सजग रहे। विकारी भावों का वहाँ तनिक भी आविर्भाव नहीं होता था। वे शांति पूर्ण अवस्था में रहते थे। 'अंतिम समय कैसा व्यतीत हुआ', इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बताया - "महाराज अंत काल तक सावधान थे। स्वोन्मुख थे। प्राणोत्क्रमण के पाँच मिनिट पूर्व मैंने उनके कान में 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं' रूप नमस्कार मंत्र पढ़ा था। अंत समय में उनके मुख पर जरा भी विकृति नहीं आई। वह शांत और सौम्य था। नेत्र खुले थे। मेरे ख्याल से उनके प्राण नेत्रों से निकले होंगे। वे महान् थे, उनकी उच्चता की कल्पना करना तक कठिन है। आज भी उन गुरुदेव के स्मरण द्वारा आत्मा प्रभावित होती है। वे हृदय में सदा विराजमान हैं।"

अजितमती अम्मा

दीक्षा समय उपदेश

अजितमती अम्मा ने नातेपुते में बताया - "आचार्य महाराज ने मुझे शिखरजी में क्षुल्लिका की दीक्षा दी थी। उन्होंने मुझे पहले एकादश प्रतिमाओं का उपदेश दिया और कहा - "हम तुम्हारी आत्मोन्नति के लिए दीक्षा देते हैं। स्त्रीलिंग छेदने को तथा मोक्ष जाने के लिए दीक्षा देते हैं। संयम में डरना नहीं। आत्मा नहीं मरती है। इस शरीर का मोहकर धर्म को नहीं भूलना।" महाराज ने कहा था - "चारित्र को उज्ज्वल रखकर कभी भी मर जाना अच्छा है। चारित्र को मलिन बनाकर दीर्घजीवी बनना ठीक नहीं है।" महाराज ने मेरे साथ विमलमती को भी दीक्षा दी थी।

वीरसागरजी की प्रशंसा

अन्य त्यागियों का उल्लेख करते हुए अजितमती अम्मा ने बताया - "महाराज वीरसागरजी की सरलता तथा चारित्र की प्रशंसा करते थे। वे कहते थे कि वीरसागर कभी भी हमारे वचन के बाहर नहीं है। उनका वीरसागर पर बहुत विश्वास था।"

श्री भाऊ साहब लाटकर

महान् शक्तिशाली

कोल्हापुर के पहलवान भाऊ साहब लाटकर ने बताया था - "मैं तीन हजार दंड करता था। एक बार में चार सेर दूध पीता था। कोल्हापुर सरकार के यहाँ पहलवान के रूप में रहता था। मैं आचार्य महाराज के साथ शिखरजी गया था।

"वे सूर्योदय होने पर वंदनार्थ पहाड़ पर चढ़ना प्रारंभ करते थे और नीचे मधुवन में आकर सामायिक करते थे। पश्चात् आहार को निकलते थे। महाराज चलते समय मार्ग में बिलकुल नहीं रुकते थे। प्रत्येक टोंक पर ही वंदना करते समय वे रुकते थे। मैं सुदृढ़ शरीर युक्त पहलवान था; किन्तु महाराज के साथ चलने में बिलकुल थक जाता था। महाराज में थकावट का कोई विशेष चिह्न नहीं दिखता था। यथार्थ में उच्च तपः-साधना के लिए वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम भी विशेष सहायक होता है।"

आचार्य महाराज का संहनन यथार्थ में विशिष्ट था। वर्धमान महाराज ने बताया था कि आचार्य महाराज १० मिनिट में एक मील चलते थे। लगातार घंटों चलने पर भी उनके पैर नहीं थकते थे।

ब्र. जिनदास समडोलीकर

पालीताणा में साधुवर्ग द्वारा प्रशंसा

ब्र. जिनदासजी ने सुनाया था कि वे आचार्य महाराज के साथ-साथ गिरनार की यात्रा को गए थे। पालीताणा में श्वेताम्बर साधुओं का अच्छा समुदाय इकट्ठा था। वहाँ आचार्य महाराज को देखकर वे साधु आपस में कहते थे - "सच्चे जैन साधु और तपस्वी गुरु तो शांतिसागर महाराज ही हैं।" श्रावक तथा श्राविका महाराज को देखकर कहती थीं - "सच्चे गुरु तो शांतिसागर महाराज हैं। उन सरीखा साधु कहीं नहीं है।"

आचार्य महाराज गिरनार से लौटते में सोनगढ़ गए थे। कानजी से आचार्यश्री ने कहा था, "तुमने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया, यह बताओ श्वेताम्बर धर्म में कौन बात तुम को अनुचित प्रतीत हुई।" इस प्रश्न का उत्तर न पाकर आचार्यश्री ने कहा था "अब हम जाते हैं"। वे वहाँ नहीं ठहरे। इस विषय में ब्र. जिनदास जी ने कहा, "यह हमारे समक्ष की बात थी और पूर्ण सत्य है।" ऐसा ही वर्णन महामुनि १०८ धर्मसागर महाराज ने भी किया, क्योंकि वे भी गिरनार यात्रा में महाराज के साथ थे। आचार्यश्री के

चरित्र-निर्माण हेतु सामग्री-प्राप्ति में ब्र. जी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। हम उनके अत्यंत कृतज्ञ हैं। दु:ख है उनका स्वर्गवास हो गया।

श्रीमती लक्ष्मीदेवी पाटील

नांद्रे में कुमगोड़ा पाटील के चिरंजीव जनगोड़ा पाटील कान्ट्रेक्टर जयसिंगपुर से आए थे। उनकी धर्मपत्नी लक्ष्मीबाई भी वहाँ थी। लक्ष्मीबाई से हमने पूछा - "कुंथलगिरि में आचार्य महाराज ने आपसे क्या कहा था? वैसे हमने लोगों से चर्चा सुनली है; किन्तु आपके मुख से उसका ज्ञान आवश्यक है।"

संयम की परंपरा चलाना

लक्ष्मीबाई ने कहा - "आचार्य महाराज ने मेरे पति श्री पाटील (जनगोड़ा) से कहा था कि तुम पिच्छी हाथ में धारण करके ही मरण करना। इस प्रकार की परंपरा अपने घराने में चलाना। पाटील ने महाराज से दस वर्ष का समय माँगा, तब महाराज ने कहा कि तुम्हें दस वर्ष के स्थान में बारह वर्ष का समय देते हैं। इतने समय में तुम दीक्षा ले सकते हो।"

लक्ष्मीबाई ने कहा - "महाराज ने मुझे बुलाकर इस विषय में मेरी सम्मति माँगी, तो मैंने उत्तर दिया कि मैं प्रसन्नता से सम्मति देती हूँ।" मैंने पूछा - "आपके पति घर त्यागकर साधु बनेंगे, इस प्रसंग पर आपने कैसे प्रसन्नतापूर्वक अपनी सम्मति प्रदान की?"

निर्मल भावों की उत्पत्ति

लक्ष्मीबाई ने कहा - "मैं जब महाराज के चरणों के समीप पहुँची और महाराज की वीतराग शान्त मुद्रा का दर्शन हुआ, तब मेरे भाव बहुत निर्मल हुए थे। उस अवस्था में सहज प्रसन्नतापूर्वक मैंने कहा था कि मेरे पति दीक्षा लेते हैं, तो मुझे इस बात में हर्ष है। उस समय मेरे मन में वैराग्य के भाव उत्पन्न हुए थे।"

श्री जनगोड़ा पाटील

मुनि दीक्षा की प्रेरणा

इसके पश्चात् मैंने श्री जनगोड़ा पाटील से पूछा - "आप से महाराज की क्या-क्या चर्चा हुई थी और कितनी देर तक आचार्य महाराज ने आपको अपने पास स्थान दिया था?"

भगवान शान्तिनाथ की कलामय मूर्ति तथा
आचार्य शान्तिसागर महाराज के चरणयुगल

आचार्यरत्न देशभूषण महाराज जिनेन्द्रदर्शन करते हुए

श्री पाटील ने बताया - "लगभग एक घंटा तक महाराज से हृदय की बातें हुई थीं। महाराज ने पहले मेरे समक्ष अपने पूर्वजों का पवित्र इतिहास सुनाया। घराने के तेजस्वी जीवन, वैभव तथा धार्मिक प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला। उसे सुनकर मेरे मन में बड़ा उत्साह उत्पन्न हुआ तथा बहुत उज्ज्वल भाव जगे। महाराज के कथन का अंतरंग रहस्य यह था कि तुम अपने वंश की प्रतिष्ठा के अनुसार कार्य करना। ऐसा काम नहीं करना, जिससे वंश के नाम पर कलंक लगे।

ऐसा कहने के बाद महाराज ने मुझे पिच्छी हाथ में लेकर निर्ग्रन्थ बनने को कहा। उन्होंने यह भी कहा कि तुम दीक्षा लेने के बाद अपने पुत्र को भी ऐसा ही करने को कहना, जिससे घराने में दीक्षा लेने की पवित्र परंपरा क्रमशः चलती जाये।"

अल्प परिग्रह हेतु प्रेरणा

महाराज ने यह भी कहा था - "अब तुम अधिक धन-संचय के भाव को छोड़कर अल्प परिग्रह में ही संतोष धारण करो। अधिक परिग्रह मत बढ़ाओ। इससे तुम्हारा कल्याण होगा। जितना तुम्हारे पास है, वह पर्याप्त है, आवश्यकताओं को थोड़ी करो, अधिक के लिए प्रयत्न नहीं करना।" अधिक संग्रह के महारोग से पीड़ित मानव समाज यदि आचार्यश्री द्वारा प्रतिपादित अल्प परिग्रह के रास्ते पर चले, तो अधिक तृष्णा के कारण उत्पन्न आर्थिक संकट शीघ्र ही दूर हो जायेगा। इस विषय में कबीर के शब्द ध्यातव्य हैं-

कहा चुनावे मेड़िया लांबी भीत उसार।
घर तो साढ़े तीन हाथ घना कि पौने चार॥

"तुम पहले क्षुल्लक दीक्षा लेना, या ऐलक दीक्षा लेना। बारह वर्ष के भीतर ऐसा कर सकते हो। गड़बड़ मत करना। शांत तथा स्थिर भावपूर्वक कार्य करना।"

संसार में सभी वृद्धजन अपनी संतति को इस प्रकार का उपदेश देते हैं कि तुम लौकिक वैभव और विभूति के संग्रह में सर्वश्रेष्ठ बनना; किन्तु साधु शिरोमणि शांतिसागर महाराज ने तपोलक्ष्मी की प्राप्ति तथा वृद्धि के लिए उपदेश दिया। इसका कारण यह है कि अकिंचनता को आभूषण मानने वाले आचार्य महाराज ने तपश्चर्या रूपी धन का संग्रह किया, अतः उन्होंने अपने भतीजे जनगोंड़ा पाटील को संयमश्री के संग्रह हेतु प्रेरणा की थी।

गजानन भाऊ मूग कोल्हापुर

सरलवृत्ति

कोल्हापुर के धर्मप्रेमी बंधु गजानन भाऊ मूग महाराज के पास फलटण गए। मंदिर प्रवेश केस सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण चर्चा करके जाने को तैयार हुए। महाराज ने पूछा - "तुम जल्दी जा रहे हो। भोजन किया या नहीं?" मूग महाशय ने निवेदन किया - "महाराज! आपके आहार को अभी देर है, इससे हम अभी वैसे ही जाते हैं?" करुणामूर्ति महाराज ने कहा - "हमारे आहार का तुम्हारे भोजन से क्या संबंध?"

तपोमय मुनि जीवन

दक्षिण के अनेक मान्य तथा विचारशील लोगों ने बताया कि उत्तर प्रांत की ओर प्रस्थान करने के पूर्व आचार्य महाराज अधिक अंतर्मुख वृत्ति थे। जिस समय उनके शरीर पर सर्प लिपटा था, उस समय महाराज साक्षात् तपोमूर्ति दिखते थे। उस समय उनके मुख से निकले हुए एक-एक शब्द को लोग अमृत की घूँट समझकर पीते थे। वे बहुत कम बोलते थे। उग्र तप और ध्यान में निमग्न रहा करते थे। उस काल में उनमें अनेक अद्भुत सिद्धियों की जागृति का आभास सा होता था।

चमत्कार

एक व्यक्ति के घर में एक बच्चा भयंकर बीमार था। महाराज ने अपने अंत:करण के प्रकाश से बच्चे की बात जान ली और घरवालों को कहा - "घबड़ाओ मत। बालक अच्छा हो जायगा।" बालक अच्छा हो गया। लोग आश्चर्य में पड़े कि बच्चे की बात का महाराज को कैसे पता चल गया। लोकोत्तर तपस्वी साधुराज उत्तर की तरफ जाकर लोकव्यापक तथा महोपकारी आचार्य हो गए।

सन् १९२७ में महाराज इस्लामपुर गए थे। उस समय अनेक जैनधर्म-विद्वेषियों ने संगठन कर यह निश्चय किया था कि महाराज को लंगोटी पहिना कर ही नगर में से निकलने देंगे। उस धर्म संकट के समय हजारों क्षात्र धर्म वाले जैन तलवार बंदूक, भाला आदि लेकर वहाँ इकट्ठे हो गए। कोल्हापुर के तत्कालीन जैन दीवान लट्ठे साहब ने समाचार दिया था कि आवश्यकता पड़ने पर मैं कोल्हापुर की सेना भेजूंगा। महाराज के प्रभाव से नगर का प्रमुख अधिकारी जैनधर्म का पक्षकार बन गया। उसने विरोधी व्यक्तियों को सूचना दी कि यदि कुछ भी गड़बड़ी हुई तो तुम लोगों को हथकड़ी पहिनाई जायगी।

पराक्रम का पोषण

उस समय संघ में विद्यमान चंद्रसागरजी ने लोगों से कहा कि वे शान्त रहें। उत्तेजित न हों। यह सुनकर आचार्य महाराज बोले - "यहाँ शांति का उपदेश असामयिक है। यह शांत रहने का मौका नहीं है। धर्म की प्रतिष्ठा-रक्षण के हेतु लोग जो उचित समझेंगे, सो करेंगे। जब विधर्मी लोग निर्ग्रन्थ साधुओं को वस्त्र पहनाने की तैयारी कर रहे हों, उस समय समर्थ धार्मिक लोग कैसे चुप बैठेंगे?" इसमें आचार्य महाराज की दृष्टि एक क्षत्रिय तेजस्वी साधु के अनुरूप थी। परिस्थिति के अनुसार प्रवृत्ति करने का जैनधर्म का आदेश है। क्षत्रिय वृत्ति से सद्धर्म का संरक्षण होता है। जैनधर्म वीरों का धर्म है, कायरों का नहीं।

उपद्रव में शांत भाव

आचार्य महाराज जब साधु परमेष्ठी थे, उस समय उनको बड़ी-बड़ी विपत्तियों का सामना करना पड़ा था, परन्तु उनके सच्चे तपोबल से संकट शीघ्र दूर हो जाते थे। एक बार महाराज कोगनोली से कागल ग्राम जा रहे थे। उस समय वे क्षुल्लक थे। साथ में कोई दूसरा व्यक्ति नहीं था। ग्वालों के कुछ दुष्ट लड़कों ने महाराज को शांत भाव से विहार करते देखकर उन पर पत्थर फेंकना शुरू किया। महाराज तो शान्त थे। इतने में वहाँ एक सर्प आ गया और उसने फण उठाकर बच्चों की तरफ देखा कि वे सब भाग गए। महाराज आगे बढ़ गए। वे यथार्थ में धीरोदात्त थे।

तप:तेज

आचार्य महाराज जब मिरज पहुँचे, तब मिरज के राजा उनका दर्शन करने तथा उपदेश सुनने सभा में पधारे। उनके लिए विशिष्ट आसन तैयार किया गया था। मिरज नरेश ने कहा - "मैं ऐसे योगिराज के चरणों में ही आप सब के साथ बैठने का पात्र हूँ।"

अविवेकी भक्त

महाराज ने कुंथलगिरि में एक बार कहा था -"यमराज कहता है कि हम तुम्हें अभी नहीं ले जाते; किन्तु मैं जबरदस्ती जा रहा हूँ।" कई लोग कहते थे - "महाराज आपके नेत्रों की ज्योति मंद हो गई है, आप आहार कैसे लेते हो?" अनेक लोग ऐसे भी थे, जो समाधिमरण का क्या अर्थ है, इसे बिना सोचे-समझे ही समाधि लेने के लिए महाराज को ऐसे ही प्रेरित करते थे, जैसे विरक्त परिणाम वाले तीर्थंकर के पास आकर

लौकान्तिक प्रेरणा करते हैं। अन्तर इतना ही है कि लौकान्तिकदेव विवेकमूर्ति होते हैं और ये प्रेरक व्यक्ति विवेक-विहीन थे।

विरक्ति में महान् वृद्धि

कुंथलगिरि जाने के पूर्व मिरज तरफ महाराज का बिहार हुआ था। मिरज के समीप महाराज के पैर में एक काँटा गड़ गया, तब महाराज बोले - "अब भ्रमण करने की आवश्यकता नहीं है; किन्तु कर्मचक्र मुझे फिराता है, घुमाता है।" काँटा बिना निकाले भी वे कुछ दूर तक चलते रहे। साथ के लोगों ने बहुत आग्रह किया, तब उन्होंने काँटा निकालने दिया।

समय के पूर्व समाधि

इस घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका मन मृत्यु से युद्ध करने को पूर्ण तैयार हो रहा था। ऐसी मानसिक स्थिति में कुछ भोले भक्त तथा कोई-कोई अपने को विशेष बुद्धिमान मानने वाले व्यक्ति आचार्य महाराज को शीघ्र सल्लेखना लेने की प्रेरणा देते थे, सलाह देते थे और यदा-कदा स्मरण दिलाते थे। इस सल्लेखना-प्रसंग पर पर्याप्त ऊहापोह के पश्चात् हमें तो ऐसा लगता है कि यदि ऐसी विपरीत सलाह देने वाली मंडली न होती, तो जैन समाज को अपने श्रेष्ठ गुरुदेव के दर्शन का लाभ अभी और कुछ समय तक होता। इतने जल्दी वह राजहंस यहां से जाकर लोकान्तर को प्रयाण न करता।

भवितव्यता

भवितव्यता बड़ी प्रबल होती है। समंतभद्र स्वामी ने उसे अलंघ्य शक्ति-युक्त कहा है। बाह्य-अंतरंग सामग्री के मिलने पर होनहार को कोई नहीं टाल सकता है। एक दिन १०८ वर्धमानसागर जी ने मराठी भजन के ये शब्द कहे थे - "कर्म बलवान मोठे, भोगा बिन चुके न कोठे" - "कर्म बड़े बलवान हैं। वे अपना फल दिये बिना नहीं छूटते।" कर्मों को जबरदस्ती उदयावली में प्रवेश कराकर तपस्वी अविपाक निर्जरा भी करता है; किन्तु बहुत से ऐसे कर्म बँधे रहते हैं कि उनको भोगना ही पड़ता है। भगवान आदिनाथ स्वामी ने पूर्व जन्म में एक बैल को छः घंटे भूखा-प्यासा रखा था, उसका फल यह हुआ कि तीर्थंकर पदवीधारी निर्ग्रन्थ होने पर उनको छः माह पर्यन्त अन्तराय कर्मोदयवश प्रयत्न करते हुए भी विधिपूर्वक आहार का लाभ नहीं मिला, अतः भवितव्यता के अनुसार आचार्य महाराज के स्वर्गारोहण के विषय में बाह्य अंतरंग सामग्री की अनुकूलता प्राप्त हो रही थी।

भावों की विचित्रता

आचार्य महाराज ने सदा ज्योतिषशास्त्र को देखकर महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं; किन्तु यम सल्लेखना लेकर कुंथलगिरि के पहाड़ पर चढ़ने का उनका परिणाम अमावस्या को हुआ। उनसे निवेदन भी किया गया कि महाराज आज का दिन ठीक नहीं; किन्तु इस कथन का उन पर कोई असर नहीं हुआ। वे कहने लगे - "अमावस्या को क्या देखना? उस दिन तो महावीर भगवान ने निर्वाण प्राप्त किया था। भगवान ने क्या मुहूर्त देखा था?"

अपूर्व सामर्थ्य संपन्न तपस्वी

वास्तव में आचार्य महाराज की तपस्या अपूर्व तपस्या रही है, जिसके कारण विपरीत परिस्थितियों के मध्य में भी उनका मन शांति का सागर ही रहा और ३६ दिन के लम्बे समय तक उन्होंने सच्ची सल्लेखना-काय और कषाय की लेखना अर्थात् काय और कषायों को कृश करने का कार्य करते हुए अपने जन्म को कृतार्थ किया। यथार्थ में महाराज का मन सुमेरु पर्वत सदृश स्थिर था। प्रलय के पवन से अन्य पर्वत कंपित होते हैं, मेरु नहीं। आचार्य महाराज ने जीवन भर महान् तप किए। उन्होंने सिंह-विक्रीड़ित सदृश कठोर तप किया था। वे एक बार हमसे कहते थे कि हमने सब प्रकार के तपों का अभ्यास कर लिया है। तपोग्नि द्वारा उनका जीवन अत्यन्त परिशुद्ध बन चुका था, इससे अंतकाल में संक्लेशकारक सामग्री का समुदाय उनके लिए ऐसा ही हुआ, जैसे समुद्र के लिए एक अग्नि का स्फुलिंग होता है।

तपस्या का रहस्य

तत्त्वज्ञानी महात्मा को भी तपस्या करने का आगम में उपदेश दिया गया है, इसका रहस्य आचार्यश्री के सल्लेखना काल में स्पष्ट हुआ। यदि आराम के साथ वे जीवन व्यतीत करते और संयम तथा संयमी के संपर्क से बचते रहते, तो उनकी जीवन नौका श्रेष्ठ सल्लेखना के सौभाग्य से वंचित हो संक्लेश के सागर में समाप्त हुए बिना न रहती, इसीलिए पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक में मुमुक्षु को कष्ट सहन करने के लिए प्रेरणा की है -

अदुःख-भावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥१०२॥

-जिस ज्ञान ने दुःख सहन करने की भावना नहीं की है, वह दुःख के आगमन

होते ही विनष्ट हो जाता है, इसलिए मुनि का कर्तव्य है कि यथाशक्ति कष्टों को सहन करके आत्मा को सुदृढ़ बनावे।

अद्भुत बात

महाराज की सल्लेखना के अंतिम दो तीन दिन तक ऐसा दिखता था कि अब आत्मा शरीर का त्याग करने को तैयार बैठी है। एक दिन तो लोगों में ऐसा प्रवाद फैल गया था कि ३४ वें दिन रात्रि को ही महाराज दिवंगत हो गए। जब महाराज की शरीर-स्थिति अत्यन्त क्षीण हो गई थी, तब शास्त्र से परिचय रखने वाले विवेकी विद्वानों तथा विशिष्ट त्यागियों की महाराज के आस-पास उपस्थिति आवश्यक थी। ऐसे लोग सेवार्थ तैयार बैठे थे; किन्तु वहाँ का रंग-ढंग आरम्भ से ही अद्भुत रूप में था। मेरा आचार्यश्री के साथ निकट संबंध रहा। मुझे तक स्वार्थी तत्त्वों ने नही बुलाया। समाधि की प्रतिज्ञा लेने की सूचना तक प्रबंधकों ने हमें नहीं भेजी थी।

भ. लक्ष्मीसेन जी

आचार्यश्री की समाधि बेला में भट्टारक लक्ष्मीसेन जी ने महत्त्वपूर्ण सेवा की थी। वे आचार्यश्री के अत्यन्त विश्वासपात्र तथा विद्वान् भक्त थे। समाधिमरण काल समीप आ गया। उस समय का उनका कथन महत्त्वपूर्ण है, "प्रबंधकों ने कहा था, हम आपको २ बजे रात को जगावेंगे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया - अतः ५ बजे हम स्वयं महाराज की कुटी में गए।" उन्होंने देख लिया कि अब यह धर्म का सूर्य अस्ताचल को स्पर्श कर चुका है और इसको पूर्ण रूप से अस्तंगत होने में कुछ भी काल शेष नहीं है। इससे उन्होंने 'सिद्धोहं, बुद्धोहं, आनंदरूपोहं' सदृश जोर-जोर से जप करना प्रांरभ किया। कभी-कभी वे 'णमो सिद्धाणं' का भी जप करते थे। महाराज के सामने की ओर संघपति सेठ गेंदनमलजी, सेठ चंदूलालजी सराफ तथा लक्ष्मीसेन स्वामी थे और पृष्ठ भाग की ओर भट्टारक जिनसेनजी, क्षु. सिद्धसागर (भरमप्पा) थे। करीब ६ बजे तक मंत्रों का पाठ चलता गया। करीब पौने छह बजे उपाध्याय गंधोदक लाया और महाराज से कहा गया - "यह गंधोदक आया है। क्या आपको लगा दें?"

महाराज ने कहा - 'हूँ', तब गंधोदक उनके शरीर में लगाया गया। कुछ समय के पश्चात् पूछा - "क्या आपको उठाकर बैठा दें?" उन्होंने हाथ से निषेध किया। 'निर्मलोहं', 'निरंजनोहं', आदि मंत्रों का उच्चारण किया जा रहा था। भक्तामर का पाठ

भी प्रारम्भ हुआ और १७ वाँ पद्य पढ़ा गया।''[1]

> नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः।
> स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
> नांभोधरोदरनिरुद्ध - महाप्रभावः।
> सूर्यातिशायि-महिमासि मुनीन्द्र लोके ॥१७॥

- हे मुनीन्द्र! आप कभी भी अस्त को नहीं प्राप्त होते, आप राहु द्वारा ग्रास नहीं किये जाते, एक क्षण में समस्त विश्व को प्रकाशित करते हैं, आपका महान् प्रभाव मेघों के द्वारा नहीं रोका जाता, आपकी महिमा लौकिक सूर्य की महिमा से अधिक है।

जिस समय ये शब्द निकले - 'मुनीन्द्र! नास्तं कदाचिदुपयासि' - 'हे साधुराज! आप कभी भी अस्तंगत नहीं होते,' उसी समय उन श्रेष्ठ संयमी क्षपकराज के जीर्ण शरीर से चैतन्य ज्योति ने लोकान्तर को प्रस्थान कर दिया। अब जिन आचार्य शांतिसागर महाराज के सद्भाव से हम अपने को कृतार्थ माना करते थे, वह विभूति स्वर्गीय निधि बन गई। चैतन्य ज्योतिरहित वह तपःपुनीत शरीर वहाँ ही पड़ा रहा। वह सूचित करता था कि जीव से शरीर यथार्थ में पृथक् है।

अंतिम क्षण में महाराज का मुख पश्चिम की ओर था। यह स्वाभाविक ही था। सूर्य की उदय की दिशा पूर्व है और अस्त होने की दिशा पश्चिम है। धर्म का सूर्य पश्चिम मुख हो अस्त हो गया, यह बात निसर्ग के अनुकूल ही रही। व्यावहारिक जनों की दृष्टि में यह धर्मसूर्य अस्तंगत हुआ, किन्तु यथार्थतः देखा जाय, तो कहना होगा कि सम्यक् प्रकार से श्रेष्ठ समाधि की साधना के फलस्वरूप महाराज की आत्मा का सामान्य उदय नहीं बल्कि महान् अभ्युदय हुआ होगा। इस तथ्य को ध्यान में रखने पर प्राणोत्क्रमण बेला में पठित भक्तामर का १७ वाँ काव्य इनके पूर्ण अनुरूप रहा। ये मुनि तो थे ही। धर्म के सूर्य भी थे। धर्म का सूर्य अस्तंगत नहीं होता, वह तो नित्य उदित रहता है; अतः महाराज की महिमा वास्तव में सूर्यातिशायी हुई।

---

१. ऋद्धिमंत्र - "ॐ ह्रीं अर्हं णमो अट्ठंगमहाणिमित्त-कुसलाणं। ॐ णमो णमिऊण अट्ठे मट्ठे क्षुद्रविघट्टे क्षुद्र-पीड़ां जठरपीड़ां भंजय भंजय सर्वपीडां-सर्वरोगनिवारणं कुरु कुरु स्वाहा। मंत्र पास रखने से, अछूता पानी मंत्र द्वारा २१ बार मंत्र कर पिलाने से पेट की असाध्य पीड़ा, वायुशूल, गोला सभी मिटते हैं। विधान- सात दिन पर्यन्त प्रतिदिन एक हजार जाप सफेद माला द्वारा करनी चाहिए।

महत्त्व की बात

मैंने भट्टारक लक्ष्मीसेन महाराज से पूछा - "क्या आपसे कोई महत्त्व की बात महाराज ने कही थी?"

उन्होंने उत्तर दिया - "महाराज ने कहा था कि "वर्धमानसागर का ध्यान रखना तथा अन्य साधुओं पर भी दृष्टि रखना।"उनका अभिप्राय था कि समाधिमरण का काल समीप आने पर उनका ध्यान रखना।

भट्टारक लक्ष्मीसेन जी की बुद्धिमत्ता

मैंने भट्टारक लक्ष्मीसेनजी से महाराज के सल्लेखना काल में होने वाली अव्यवस्था और गड़बड़ी के विषय में चर्चा की, तब उन्होंने अपने पद के अनुरूप ये गौरवपूर्ण शब्द कहे थे - "हमने भट्टारक जिनसेन स्वामी से कहा था कि यहाँ हमें अपने मान-अपमान का विचार छोड़कर गुरु की सेवा करना है। यहाँ आचार्य महाराज कितनी महान् सल्लेखना कर रहे हैं। वे इतना सहन कर रहे हैं, तब हम क्यों कुछ भी सहन न करें? हम यहाँ एक व्यक्ति के लिए आए हैं, हमें दूसरों को नहीं देखना चाहिए। इससे हम चुप रहते थे। जब विशेष विपरीत स्थिति देखते थे, तब दूसरों से अपना अभिप्राय कह देते थे।"

श्री धनपाल बापूराव चौगुले अक्किवाट

भोज ग्राम के समीप लगभग १० मील की दूरी पर अक्किवाट नाम का एक ग्राम है, जो महामांत्रिक विद्यासागर दिगम्बर मुनिराज की धर्मप्रभावना एवं समाधि की भूमि रहा है। हमें बताया गया कि विद्यासागर मुनिराज ने यवन नरेश अकबर के दरबार में जैनधर्म के गौरव को वृद्धिंगत किया था। एक बार उन्होंने अमावस्या को मंत्र करके एक थाली आकाश में फेंकी थी, वह रात्रि भर पूर्णचंद्र के समान प्रकाश देती रही थी। यह बात उस स्थान पर खूब प्रसिद्ध है। अमावस्या को बहुत लोग वहाँ जाकर विद्यासागर महाराज की निषीधिका को प्रणाम करते हैं। सभी जाति के लोग उन महामुनि की भक्ति करते हैं।

आचार्य महाराज कई बार उस ग्राम में गए थे। वे विद्यासागर मुनिराज के समाधि स्थल पर जाकर प्रातःकाल स्तोत्र पाठादि करते थे। कभी-कभी मध्याह्न की सामायिक भी वहाँ करते थे। महाराज कहा करते थे - "तुम विद्यासागर मुनि की भक्ति करो, यह स्थान पुण्यभूमि है।"

श्री धनपाल बापूराव चौगुले हेडमास्टर अकिवाट ने बताया कि आचार्य महाराज जब यहाँ के समीपवर्ती ग्रामों में विहार करते थे, तो इस स्थान का तथा विद्यासागर मुनिराज का गौरवपूर्ण शब्दों में उल्लेख किया करते थे। यहाँ से १२ मील दूर चिंचली ग्राम में सन् १९२५ में महाराज का भाषण हुआ था। बहुत लोगों ने पाप का त्यागकर व्रत लिये थे।

एक खास महत्त्व की बात यह हुई थी कि एक वेश्या के हृदय में धर्म की भावना जगी और उसने अपनी पापवृत्ति का त्याग किया था। उस समय महाराज के चरण जहाँ पड़ते थे, वहाँ मेला सा लग जाता था।

शास्त्रानुसार उपदेश

उस जमाने में महाराज दो-दो घंटे कानड़ी में बड़ा मार्मिक उपदेश देते थे। उनकी उपदेश पद्धति शास्त्रानुसार ही होती थी। वे जनानुरंजक की पद्धति का अनुकरण नहीं करते थे। अधिकाधिक लोगों को प्रसन्न करके यश प्राप्त करने की उनकी चेष्टा नहीं रही। मैंने मज़रेवाड़ी, नांदणी, कुरुन्दवाड़, शिरोड़ आदि ग्रामों में महाराज के उपदेश को सुना है और उनका लोकोत्तर आध्यात्मिक प्रभाव देखा है।

उनके स्वर्गवास होने पर आसपास के ग्रामवासी सभी जाति वालों ने उपवास आदि किए थे। सगे-संबंधी की मृत्यु से भी अधिक दुःख उनके वियोग का लोगों ने माना था।

सुभिक्ष

जब आचार्य महाराज हमारी तरफ पधारे थे; उसके तीन चार वर्ष पूर्व यहाँ धान्य की उत्पत्ति बहुत कम हो गई थी; किन्तु महाराज के पधारने के वर्ष में इतनी अधिक मात्रा में फसल आई कि पिछले वर्षों की कसर तक निकल आई। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों की मन, वचन, काय, कृत, कारित तथा अनुमोदना पूर्वक निरन्तर रक्षा करने में तत्पर उन दया के देवता के शरीर से निकलने वाली पुण्यवर्गणाओं से वनस्पतिकायिक जीवों को भी हर्ष हुआ था। निमित्तशास्त्र भी तो कहता है कि जिस मार्ग से सच्चे दिगम्बर तपस्वियों का विहार होता है, वहाँ सुभिक्ष का आवास होता है। वे भगवान से प्रार्थना करते थे - "प्रभो! दुर्भिक्षं चोर-मारी क्षणमपि जगतां मास्मभूत् जीवलोके।"

कुंथलगिरि के गरीब व्यापारी

कुंथलगिरि में महाराज के स्वर्गवास होने के अनंतर गरीब लोग बातें करते थे - "भगवान्! इन साधु महाराज को क्यों जल्दी बुला लिया? कहीं एक माह ये बाबा और जीवित रहते, तो हमारा भाग्य जग जाता।"

श्री गौतम रामचन्द शाह म्हसवड़कर

श्री गौतम रामचंद शाह म्हसवड़कर ने एक मनोरंजक बात सुनाई। गौतमभाई जामुन के वृक्ष पर चढ़ रहे थे कि डाल टूट पड़ी, इससे उनका पैर टूट गया। उनको देखकर कुंथलगिरि जाने के पूर्व महाराज बोले -

विनोद

"गौतम! तुम मेरे साथ-साथ कुंथलगिरि अवश्य चलना। कारण, मेरे नेत्रों की ज्योति मंद हो रही है। तुम लंगड़े हो और मैं अंधा होता जा रहा हूँ। 'अंधे-लंगड़े की' जोड़ी बराबर रहेगी।" ऐसा विनोद कर वे हँसने लगे। उनकी सरलता तथा मधुरता अवर्णनीय थी। गौतम भाई ने एक बात और सुनाई - "पैर टूटने के एक वर्ष बाद सन् १९५२ में मैं आचार्य महाराज के पास दहीगाँव में पहुँचा। लोग मेरे प्रति समवेदना का भाव व्यक्त करते थे।

सांत्वना

उस समय आचार्य महाराज ने कहा - "गौतम! पैर टूट गया। कोई बात नहीं। पूर्वबद्ध अशुभ कर्म की निर्जरा हो गई। यह अच्छा ही हुआ। इस प्रकार बुराई में भी भलाई देखने की मनोवृत्ति उन ऋषिराज की थी। उनकी वाणी की युक्तियुक्तता से मेरे दुःखी मन को बड़ा संतोष हुआ और सांत्वना प्राप्त हुई। सचमुच में यदि मैंने पूर्व में पाप-कर्म का संचय नहीं किया होता, तो इस प्रकार की वेदना अकस्मात् स्वयं नहीं आ सकती थी। जैसा बीज जीव बोता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है। व्यर्थ ही हम अज्ञानवश दूसरों को दोष देते हैं।

करुणापूर्ण हृदय

महाराज का हृदय करुणा रस से परिपूर्ण था। इस विषय में गौतम भाई ने सुनाया - "एक बार महाराज कुंथलगिरि जा रहे थे। मार्ग में जोरदार पानी बरसने लगा। हम लोग भीगने लगे, तब महाराज ने कहा कि भीगो मत। कुटी के भीतर आ जाओ। उस

छोटी सी कुटी में हम लोगों के जाने से महाराज को कितनी असुविधा होगी, यह बात हमने सोची। उन ऋषिराज के चरणों के समीप बैठने की मान्यता वाला व्यक्ति उनके बराबरी के स्थान पर कैसे बैठेगा, इस संकोचवश हम भीतर नहीं गए; किन्तु उन दयामूर्ति गुरुदेव ने अपनी करुणापूर्ण भावना व्यक्त करने में देर नहीं की।

व्रत प्रतिमा दान

"महाराज विनोदवश मुझे गौतम कहते-कहते कभी-कभी गणधर भी कहकर बुलाते थे।" एक दिन महाराज बोले - "गौतम! तुम अपने हाथ से तो सदा भोजन बनाते हो, इसलिए प्रतिमा क्यों नहीं लेते? आटा पीसने का प्रश्न कोई कठिन नहीं है। बड़े-बड़े अधिकारी तक आहार दान के हेतु स्वयं चक्की चलाकर आटा पीसा करते हैं। इससे तुमको व्रत प्रतिमा लेने में नहीं डरना चाहिए।" महाराज ने सल्लेखना काल में मुझे व्रत प्रतिमा देकर मेरा भविष्य सुधार दिया।

संयमी का अर्थ-संचय बुरा है

कोई-कोई व्यक्ति ऊँचा संयम धारण करते हुए भी अर्थ-संचयादि के कार्य में भाग लिया करते हैं। उनके विषय में महाराज का कथन चिरस्मरणीय है - "एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहती हैं, इसी प्रकार **अर्थोन्मुख चित्त आत्मोन्मुख नहीं रह सकता तथा आत्मोन्मुख मन अर्थोन्मुख नहीं होता। अतः आत्मा का उद्धार करने वाले संयमी को अर्थ-संचयादि के फेर में नहीं फँसना चाहिए।** अर्थसंचय में प्रवृत्त साधु को दातार की प्रशंसा करनी पड़ती है। उसके प्रति विशेष राग भाव पैदा होता है। जिसने दान नहीं दिया, उसके प्रति चित्त में मलिन भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते। राग-द्वेष की निवृत्ति ही तो संयमी जीवन का लक्ष्य है। समंतभद्र स्वामी का वाक्य है। "रागद्वेष-निवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः" अतः ऐसे प्रसंगों से बचना चाहिए, जो रागद्वेष की भावनाओं को जगावे।

क्षुल्लक महाबल जी (वर्तमान मुनिराज)

क्षु. महाबल जी ने शिखरजी जाते हुए हमें बताया कि "पायसागर महाराज के हृदय में आचार्य महाराज की अपूर्व भक्ति थी। उन गुरुदेव के कारण ही उनकी समाधि सम्यक् संपन्न हुई। ९ बजे उक्त पायसागर महाराज को भक्तामर मैंने सुनाया। दस मिनिट वे ध्यान में बैठे। ध्यान अवस्था में ही उनकी परलोक यात्रा हो गई।"

श्री सुब्बैया शास्त्री कारकल

महाराज की वृत्ति न्यायपूर्ण रहती थी। श्री सुब्बैया शास्त्री कारकल वालों ने बताया - प्रारम्भ में आचार्य महाराज के संघ के कोल्हापुर जिले में दर्शन प्राप्त हुए। संघ के कुछ साधु श्लोकों का अशुद्ध पाठ कर रहे थे। मैंने महाराज से कहा कि महाराज यह अशुद्ध पद्य-पठन ठीक नहीं है।"

महाराज ने कहा - "आप ठीक कहते हैं; आप सरीखे ज्ञानवान शास्त्री पंडित संघ में साथ रहे, तो सब सुधार हो जायगा।" महाराज ने मेरे कहने का तनिक भी विपरीत अर्थ न लेकर न्याय का ही समर्थन किया था।

श्री जिनकुमार बैतूल

बैतूल के पोस्टमास्टर श्री जिनकुमार आचार्य महाराज के समीप गजपंथा चातुर्मास के समय लगभग एक वर्ष रहे थे। उन्होंने बताया - "आचार्य महाराज के समीप अरविंदकुमार रावजी दोशी केमरा लेकर महाराज की फोटो उतारने पहुँचे; तब महाराज ने पूछा कि तुम हमारी फोटो क्यों उतारते हो?"

अरविन्द ने कहा - "आप समान सद्गुरु का दर्शन प्रतिदिन नहीं होता। इसलिए आपकी फोटो खींचते हैं, जिससे आपका दर्शन परोक्ष रूप से हो जाए।"

महाराज बोले - "मंदिर में प्रतिमाजी बहुत हैं, उनका दर्शन करके अपना कल्याण क्यों नहीं करते?"

"रात्रि के समय मैं महाराज की कुटी के समीप ही सोता था। रात्रि को महाराज लघुशंका के लिए उठते थे। वे अंधेरे में सोते थे। उनकी आहट मिलते ही मैं जागता था और टार्च के प्रकाश से भूमि को शुद्ध दिखाता था। उपवास के दिन महाराज नहीं उठते थे। महाराज के समीप पूर्ण नीरवता रहती थी। वे बिलकुल चुपचाप रहते थे। कभी-कभी मैंने देखा कि ज्वर के कारण शरीर बहुत गर्म है; किन्तु वे चुपचाप रहे आते थे, मानों पूर्ण नीरोग हों। मैं रात को कभी जागता था, तो उन्हें सदा सावधान तथा ध्यान की स्थिति में पाता था।

विनोद द्वारा शिक्षा

एक दिन मुझे जोर की नींद आ गई। मैं निद्रा में निमग्न था। प्रभात में उन्होंने

विनोदपूर्वक पूछा- "रात को तुम कहाँ चले गए थे।" मैं उनके प्रश्न का अर्थ न समझ सका। तब उन्होंने मेरी गहरी निद्रा का हाल बताया।

सामायिक के पूर्व मैं उनके नेत्रों में औषधि लगाता था। मैंने पूछा - "इस अंजन से लाभ हुआ या नहीं।" महाराज ने कहा - "कुछ भी लाभ नहीं है।" विनोद पूर्ण मुखाकृति के साथ कहने लगे - "इतने बड़े शरीर में इतनीसी औषधि क्या करेगी?"

प्रश्न – आप कोमल नेत्रों में अंजन लगाने का कष्ट क्यों उठाते हैं?

उत्तर – उन्होंने कहा - कुछ आँसू बह जाते हैं, इससे नेत्रों में ठंडक पड़ जाती है। कुछ शांति मिलती है।"

शांति का आभास

प्रश्न – शांति आत्मा का गुण है। शरीर से आत्मा को शांति कैसे? सिर में दर्द है, तो पैर में पट्टी लगाने का क्या प्रयोजन?

महाराज ने कहा - "हमारे मन में अगाध शांति है, थी और आगे भी कमी नहीं होगी। शरीर को शांति मिलने से क्षणभर शांति का आभास हो जाता है। वास्तव में इससे आत्मा की शांति में न हानि है और न वृद्धि।"

इस कथन द्वारा शांति तत्त्व का रहस्य स्पष्ट होता है। 'शांति का आभास' इंद्रियों के आश्रय से प्राप्तव्य है। असली शांति की उपलब्धि बाह्य पदार्थों की सामर्थ्य के बाहर की वस्तु है।

क्षुद्र कीट पर करुणा

"मैं और भरमप्पा अष्टमी और चतुर्दशी को महाराज के साथ गजपंथा के पहाड़ पर जाते थे। मार्ग में जामुन के बराबर एक बड़ा कीड़ा सामने आ गया। मैंने अपने पैर से उसे अलग कर दिया। महाराज ने देखकर अपने हाथों में उस कीड़े को उठा लिया और उसे योग्य स्थान पर छोड़ दिया। यह देखकर महाराज की 'सत्त्वेषु मैत्री' - संपूर्ण जीवों में मित्र भाव रूप वृत्ति स्पष्ट होती थी।

सुवास

"उनकी असाधारण तपस्या, विशुद्ध चित्तवृत्ति और जिनेन्द्रदेव की प्रगाढ़ भक्ति के कारण कभी-कभी आश्चर्यप्रद शक्ति का विकास नेत्रगोचर होता था। आचार्य श्री के नेत्रों के लिए किसी अनुभवी व्यक्ति ने मेंहदी का तेल मस्तक में लगाने को बताया

था। मैं उस सुवास शून्य तेल को महाराज के सिर पर मलता था। इसके पश्चात् उनकी कमर में दाद रोग के निवारण हेतु मैं नीम की निबोरी का कटु तेल रगड़ता था। इसके अनन्तर मैं देखता था कि मेरे हाथों में दुर्वास के बदले उन महापुरुष के स्पर्शवश चन्दन की सुवास आती थी। मेरी तरह दूसरों का भी ऐसा अनुभव रहा है।"

दूसरे की सुविधा का ध्यान

"महाराज स्वयं शरीर के प्रति अत्यन्त निस्पृह तथा विरक्त रहते हुए भी दूसरों के सुख-दुख का बड़ा ध्यान रखते थे। मैं प्रतिदिन तीन बजे दिन को उनके समक्ष शास्त्र पढ़ा करता था। जब भोजन का समय समीप आता था, तो वे कहते थे - "जीमो, तुम्हारे भोजन का समय हो गया है।" स्वयं अनेक उपवास करते हुए भी दूसरे की छोटी सी असुविधा तक का वे अधिक ध्यान रखते थे। यहां ध्यान शब्द वास्तव में दृष्टि सामान्य का द्योतक है। ध्यान तो उनका अपनी आत्मा की ओर ही रहा करता था।"

डॉक्टरी के विषय में विचार

एक दिन महाराज कहने लगे - "तुम आगे और क्या अभ्यास करने का निश्चय कर रहे हो?" मैंने कहा - "महाराज! मेरे भाव सेवा के हैं, इसलिए मैं डॉक्टरी सीखने की सोचता हूँ।" उन्होंने कहा - "सेवा के भाव हैं, तो धर्म की सेवा करो। चिकित्सक बनने पर तुम्हारे समक्ष पैसे की आकुलता रहेगी। उस समय धन की हाय-हाय तुम्हारी आज की सेवा की भावना को समाप्त कर देगी।" उनके इस कथन में व्यापक लोकप्रवृत्ति का अनुभव स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है।

अपूर्व विनोद

मैं मार्च १९५४ में नीरा में महाराज के पास दर्शनार्थ पहुँचा। महाराज ने कहा - "तुम इतनी दूर कैसे आए।"

मैंने कहा - "महाराज! आप दिगंबर साधु हैं, आपके दर्शन हेतु आया हूँ।"

उस समय मधुर विनोद की भाषा में उन्होंने कहा - "इतनी दूर आने का क्यों कष्ट उठाया? बन्दर भी नग्न रहता है, उसे देख सकते थे।" इसके बाद वे हँसने लगे।"

मैं उनकी पूजा करने बैठा। नैवेद्य चढ़ाते समय मेरे हाथ में कोई पकवान न देखकर वे कहने लगे - "तुम पढ़ते हो; घेवर, पूड़ी, लाडु, बासुन्दी, पेड़ा, जलेबी आदि और हाथ में तुमने किसमिस रखी है। क्या तुम हमें भुलाते हो?" इतना कहकर वे हँसने

लगे। उनका स्मितवदन देखकर ऐसा लगता था, मानों भगवती अहिंसा ही स्मित की स्थिति में हो।

जन्मदिवस पर उपवास का कारण

महाराज ने बुधवार को उपवास किया था। गुरुवार के दिन भी वे आहार को नहीं उठे। मैंने प्रार्थना की कि कल तो आपका उपवास था, आज उपवास क्यों करते हैं? शरीर में उष्णता वृद्धिंगत होगी। उससे आपके नेत्रों को नुकसान होगा।

महाराज ने कहा - "गुरुवार हमारा जन्मदिन है।" मैंने कहा - "जन्म-दिन आनन्दा चा दिवस आहे-आनन्द का दिन है। लोग उस दिन मिष्टान्न खाते हैं, खिलाते हैं।"

महाराज ने कितना सुन्दर उत्तर दिया कि सुनते ही मन हर्षित हो उठा। वे कहने लगे - "धर्म के लिए कोई असमय नहीं है। सभी समय धर्म की आराधना के योग्य हैं। नीतिकार कहता है, 'अकालो नास्ति धर्मस्य, जीविते चंचले सति' - जीवन के क्षणिक होने पर धर्म करने के लिए कोई भी अकाल अर्थात् अयोग्य समय नहीं है। जब जननी के उदर से जन्म धारण करते समय जीव दिन-रात आदि के योग्य-अयोग्य काल का विचार नहीं करता है, मरते समय भी काल विशेष का ध्यान नहीं रखता, तब धर्म धारण करने में भी यह क्यों सोचा जाय कि आज मेरा जन्मदिन है, इससे मैं आत्मकल्याण के कार्य में प्रमाद करूँ ?" उपवास के दिन तत्त्वज्ञानी आत्मा को ज्ञानामृत का आहार देते हैं। Fast means - fasting of the body but feasting of the soul.

प्रगाढ़ श्रद्धा पूर्ण हृदय

संकट-निवारण हेतु जिनेन्द्र-नाम-स्मरण पर महाराज की बड़ी आस्था थी। गहरा विश्वास था। बम्बई सरकार ने हरिजन मंदिर प्रवेश कानून के द्वारा जैनों के धार्मिक अधिकारों पर हस्तक्षेप किया था, तब आचार्यश्री ने अन्न त्याग किया था, यह तो सब जानते हैं। उस समय महाराज क्या करते थे, यह बात सबको ज्ञात नहीं है।

जाप

सामान्यतः महाराज सूर्यास्त के समय आध्यात्मिक-प्रकाश लाभार्थ सामायिक हेतु बैठते थे। रात को बारह बजे के लगभग सामायिक के पश्चात् उनका जाप चलता था। पश्चात् वे अल्प निद्रा लेते थे। मंदिर प्रवेश कानून की विशेष चर्चा चलने पर तथा

कहीं की विशेष चिन्ताप्रद स्थिति ज्ञात कर वे रात-रात भर लगातार शांतिपूर्वक जाप करते रहते थे।

एक दिन मैंने पूछा - "महाराज! क्या जाप से धर्म-संकट टल जायगा?"

दृढ़ विश्वास

तब उन्होंने बड़ी दृढ़ता से उत्तर दिया - "शीघ्र ही धर्म की विजय होगी।" उनकी श्रद्धा अपूर्व तथा अविचल थी।

महाराज के समक्ष तत्त्व चर्चा चला करती थी। कभी-कभी बहस गरम रूप भी दिखाई पड़ती थी; किन्तु उसके पर्यवसान में शांति की ही उपलब्धि होती थी। एकदिन तीन श्वेताम्बरी साधु गजपंथा में महाराज के पास आए। दो बजे से चार बजे तक चर्चा जोर-जोर से चलती रही। श्वेताम्बर साधु कहते थे - "हरिजनों को मंदिरों में प्रवेश दीजिए।"

आगमवाणी

उनको अकाट्य तर्कपूर्ण ढंग से समझाते हुए आचार्य महाराज ने कहा - "जिनेन्द्र की वाणी हमारा प्राण है। उसके आदेश के अनुसार हमें चलना है। हमें आप-से या दूसरे से पथप्रदर्शन प्राप्त नहीं करना है।" महाराज के श्रद्धा, युक्ति तथा अनुभव प्रेरित प्रवचन को सुनकर वे साधु उनके समक्ष नत-मस्तक हो चले गए। गरम बहस के समय ऐसा भ्रम होता था कि कहीं इसका कटुतापूर्ण पर्यवसान न हो; किन्तु ऐसा न होकर अंत में शान्ति पूर्ण भावों का विस्तार होता था।

ब्र. पं. पन्नालालजी काव्यतीर्थ

अपूर्व गुणग्राहक

पं० पन्नालालजी काव्यतीर्थ, धर्मालंकार ने आचार्य महाराज के विषय में बताया- "मैंने सन् १९३० के लगभग मथुरा में महाराज के जीवन का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया। संघ के साधुओं की भी चर्या बारीकी से देखी। मैंने अपनी कुछ शंकाओं की ओर शास्त्राधार से महाराज का ध्यान आकर्षित कराया। महाराज ने पक्षमोह त्यागकर तत्काल शास्त्रानुसार संशोधन कराया। उनकी गुणग्राहकता अपूर्व थी।"

महान् गंभीर

मैंने पंद्रह दिन तक महाराज को नमस्कार नहीं किया था । मैं उनकी समस्त

पद्धतियों को बारीकी से देखता रहा था। मेरे नमस्कार न करने पर महाराज में जरा भी क्षोभ नहीं उत्पन्न हुआ। वे बड़े गंभीर थे। पंद्रह दिन के पश्चात् मेरा मन संदेह मुक्त हुआ, तब मैंने उनको तथा संघ के साधुओं को प्रणाम किया। महाराज की शांति अपूर्व थी।

तेजपुंज नेत्र

महाराज के शरीर में साहजिक दीप्ति पाई जाती थी। उनका शरीर तपोग्नि के कारण झुलसा हुआ; किन्तु चमकदार दिखता था। उनका तप:पुनीत शरीर उनकी महिमा को स्पष्ट करता था। उनकी आँखों में अद्भुत ज्योति थी। उनके तेजपुंज नेत्रों के दर्शन से उनकी पवित्रता टपकती थी।

निर्माल्य

उनकी दृष्टि बड़ी मार्मिक थी। एक दिन मैंने महाराज से निवेदन किया- "शिखरजी में तेरहपंथी कोठी के प्रबन्धक का कार्य मुझे सौंपा जा रहा है; किन्तु मेरा मन इस कार्य से पीछे हटता है। मंदिर के पैसे को लेने से निर्माल्य लेने का दोष आयेगा। आपकी क्या दृष्टि है?"

महाराज ने पूछा- "क्या तुमने काम करने का वेतन तय किया है?" मैंने कहा- "मैंने ऐसा कुछ नहीं किया। जो व्यवस्थापक समिति देगी, वह मैं स्वीकार करूंगा।"

मार्मिक बात

महाराज ने बड़ी मार्मिक बात कही- "देखो! विदेह में सभी लोग जिनेन्द्र के आराधक हैं। वहाँ भी तो जिन मंदिर हैं। उनकी व्यवस्था, रक्षा का कार्य जैनी के सिवाय अन्य कौन करेगा? इससे तीर्थक्षेत्र में जाकर प्रबन्धक बनने में कोई बाधा नहीं है। एक बात है कि जितने दिन वहाँ रहो, उतने दिन जी-जान से परिश्रम करना। प्रमादपूर्ण कार्य मत करना।"

चन्द्रसागर महाराज की तपस्या

"महाराज के कथन से मन का संदेह दूर हुआ। मैंने उनके कथनानुसार ही कार्य किया था। आचार्य महाराज महान् तो थे ही, उनके शिष्य भी अपूर्व थे। चंद्रसागर मुनि महाराज की तपस्या से मैं बहुत प्रभावित हुआ था। शायद सन् १९३६ की बात है। चंद्रसागर महाराज जयपुर नगर के बाहर खानियाँ की नशियां में विराजमान थे। मैं उनके दर्शनार्थ पहुँचा। महाराज मध्याह्न में वहाँ के पहाड़ के ऊपर जाकर ध्यान करते थे। हम

कुछ लोगों के साथ पहाड़ पर चढ़ने ही वाले थे कि ऊपर से शेर की गर्जना सुनाई दी। सब लोग घबड़ा गए। कई लोगों का तो भय के कारण बुरा हाल हो गया था। ध्यान का समय पूर्ण होने पर चंद्रसागर महाराज पर्वत से शांत, गंभीर तथा तेजोमय मुखमंडल सहित नीचे आए। पहाड़ से जब वे उतरते थे, तब ऐसा दिखता था, मानों एक नरसिंह नीचे आ रहा है। उनकी रसना इंद्रिय की विजय भी महान् थी।"

युक्तियुक्तता

पं. पन्नालालजी ने कहा- "चंद्रसागर महाराज ने मुझे व्रत प्रतिमा लेने की प्रेरणा दी। मैंने अपनी असमर्थता बताते हुए कहा- "महाराज! मुझ से यह नहीं बनेगी, दोष लग जावेंगे।" वे बोले- "प्रतिमा लेने पर दोष मालूम होंगे। तुम पंडित हो, स्वयं दोषों को जानकर उनको दूर कर सकोगे।" "उनकी कृपा से मुझे दूसरी प्रतिमा मिली। उससे बड़ी शांति प्राप्त हुई। यथार्थ में आचार्य महाराज के निकट संपर्क में रहने वाली अनेक आत्माओं का कल्पनातीत कल्याण हुआ है।"

पं. कुन्दनलाल जी सिवनी

स्फटिक सदृश अंत:करण

पं० कुन्दनलाल जी न्यायतीर्थ आयुर्वेदाचार्य सिवनी ने बताया- "मैं ब्यावर में महाराज के चातुर्मास के काल में मौजूद था, क्योंकि मैं दिगम्बर जैन महासभा द्वारा संचालित महाविद्यालय का अधीक्षक (Superintendent) था। दिन-रात आचार्य महाराज के निकट संपर्क में आने का अवसर आता था। उनका अंत:करण स्फटिक के समान निर्मल था। सत्य को स्वीकार करने में उनको क्षण भर भी विलम्ब नहीं लगता था। मैं जब भी देखता, महाराज प्राय: स्वाध्याय में ही संलग्न रहते थे। ध्यान करते थे और तपस्या में लीन रहते थे।"

वास्तव में देखा जाय, तो आचार्य महाराज के जीवन में समन्तभद्र स्वामी का साधु परमेष्ठी संबंधी लक्षण पूर्णरूप से चरितार्थ होता था। समन्तभद्र स्वामी को किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने भावि-तीर्थंकर कहा है, यथा- "सेढिय-समंतभद्दो तित्थयरा होंति"- "श्रेणिक महाराज तथा समंतभद्र आचार्य आगामी तीर्थंकर होंगे।" 'राजावलिकथे' कन्नड़ ग्रंथ में समंतभद्र स्वामी को भावी तीर्थंकर एवं चारण ऋद्धि समन्वित भी कहा है-

"आ भावितीर्थकरन् अप्प-समन्तभद्र स्वामिगळु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपः

सामर्थ्यादि चतुरंगुलचारणत्वमंडेदु रत्नकरंडकादि-जिनागम-पुराणमं पेल्लि स्याद्वादवादिळ आगि समाधिय् ओडेदरु।''

ऐसी पूज्य आत्मा ने रत्नकरंड श्रावकाचार में कहा है-

> विषयाशा-वशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः।
> ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

— जिनके पास इंद्रियों को आनंद देने वाले विषयों की आशा का अभाव है, जो कृषि, वाणिज्यादि सावद्य कर्मरूप आरंभ रहित है, धन-धान्य, वस्त्रादि बाह्य तथा काम, क्रोधादि अंतरंग परिग्रह रहित है तथा जो ज्ञान, ध्यान तथा तपस्या में अनुरक्त हैं, वह तपस्वी प्रशंसनीय है।

यह लक्षण आचार्य महाराज में पाया जाता था। उनको देखकर आश्चर्य होता था कि आज की आध्यात्मिक अंधियारी रूप अमावस्या की वेला में ऐसी चिन्मय मूर्ति कैसे प्रकाशमान हो रही है? यथार्थ में वे अद्वितीय साधु थे।

अपूर्व आगम-भक्ति

पंडित जी ने बताया- ''मैं जब महाराज के पास पहुँचता, तो देखता था कि वे बड़े ध्यान पूर्वक शास्त्र-स्वाध्याय करते थे। कभी-कभी वे कहते थे कि देखो! शास्त्र में यह कितनी सुन्दर बात आई है। कभी किसी विषय पर मैं उनके समक्ष शास्त्रीय चर्चा पर आचार्यान्तर की बात उपस्थित करता या उनकी धारणा के विपरीत कहता था, तो वे बड़े प्रेम तथा प्रसन्नतापूर्वक बात को सुनते थे। उनको शास्त्र का आधार दिखाते ही, वे तत्काल आगम की आज्ञा को शिरोधार्य करते थे। वास्तव में, महाराज आगम-प्राण थे।''

आसनदृढ़ता

महाराज की आसन-दृढ़ता अपूर्व थी। उपवास के दिन सुबह से जिस आसन से वह स्थित होते, तो सारा दिन बीतने पर भी उनका वही आसन रहता था। आठ-आठ घंटे तक आसन एक ही रहता था। बैठने के पश्चात् वे वज्र की भाँति स्थिररूपता धारण करते थे। महाराज काष्ठ के आसन पर बैठते थे। उसके पीछे भी टिकने के लिए कुर्सी की तरह काष्ठफलक रहता था, जैसा कि उनके चित्रों में अंकित पाया जाता है। महाराज उस काष्ठ के फलक से पृथक् ही बैठा करते थे।

तप का तेज

उनके देह में दर्पण की तरह सहज दीप्ति शोभायमान होती थी। रूखा-सूखा आहार ग्रहण करने वाले रसपरित्यागी उन साधुराज के समस्त शरीर में विद्यमान तेज यथार्थ में उनके विशुद्ध चरित्रयुक्त तप का ही तेज था।

ब्यावर चातुर्मास

ब्यावर चातुर्मास की एक महत्त्वपूर्ण बात थी ब्र० देवचंदजी बी.ए., कारंजा गुरुकुल के संस्थापक तथा मुख्य संचालक की क्षुल्लक दीक्षा। आचार्य महाराज के संपर्क से प्रभावित उन ब्रह्मचारी जी के चित्त में क्षुल्लक व्रत लेने की भावना जगी।

शेडवाल के मुनि आदिसागर महाराज ने सन् १९५८ के सिवनी चातुर्मास में बताया था-"कर्णाटक प्रान्त में क्षुल्लक को मुंडन अणुव्रती कहते हैं। वह शिखा रहित, यज्ञोपवीत रहित, गेरूआ रंग के खंड-वस्त्र युक्त तथा मुंडन युक्त रहता है। ऐलक को उच्छुल्लक शब्द से कहते हैं।"

"ब्र० देवचंदजी ने क्षुल्लक दीक्षा का निश्चय होने के पूर्व उपलब्ध समस्त श्रावकाचारों का ध्यानपूर्वक परिशीलन किया। स्व० पं० देवकीनंदनजी व्याख्यान-वाचस्पति, मैं तथा कुछ अन्य व्यक्ति भी उनकी उचित सहायता कर रहे थे। क्षुल्लक के कर्तव्यादि के विषय में निर्भ्रान्त होने पर दीक्षा का पक्का निश्चय हो गया। जब नामकरण की चर्चा महाराज शांतिसागरजी ने उठाई, तब अन्य शिष्यों के समान 'सागरान्त' नाम रखने का विचार समक्ष आया।"

शांतमूर्ति

पं० कुंदनलालजी ने बताया-"उस समय मैंने कहा, महाराज इनके नाम में सागर न लगाइये। सागर महान् है; किन्तु उसमें ज्वारभाटा भी आ जाता है।" मेरे कथन का उन शांतिमूर्ति साधुराज पर कुछ भी बुरा असर नहीं पड़ा। स्मित मुख से वे कहने लगे-"तुम ही कहो, क्या नाम रखा जाय?" मैंने कहा-"महाराज, मेरा सुझाव सर्व-प्रिय रहेगा। इनका समंतभद्र नामकरण कीजिए।" प्रसन्नतापूर्वक यह नाम स्वीकृत हुआ। वह दृश्य भी नहीं भुलाया जा सकता, जब एक स्नातक (Graduate) आचार्य महाराज के चरणों को प्रणाम करते हुए मुंडित-मुंड क्षुल्लक की दीक्षा ले रहा था। उस समय ऐसा लगता था कि आज के असंयम के जगत् में संयम प्रेम की एक मधुर मनोरम झाँकी ही दिखाई जा रही है। मुनि श्री समन्तभद्रजी दिगम्बर मुनि के रूप में अपने अंतिम समय तक कुंभोज बाहुबली क्षेत्र में विराजमान रहे।

दिगम्बरत्व पर गांधीजी

दिगम्बरत्व बहुत बड़ी निधि है। तन के दिगम्बरत्व के साथ मन भी दिगम्बर होना चाहिए। दिगम्बरत्व के माध्यम से सच्चा अपरिग्रहत्व उपलब्ध होता है। गांधीजी ने यरवदा जेल में २६ अगस्त १९३० में बड़ी अनुभव पूर्ण बात कही थी -

"आदर्श आत्यंतिक अपरिग्रह तो उसीका होगा, जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। मतलब, वह पक्षी की भांति बिना घर के, बिना वस्त्रों के और बिना अन्न के विचरण करेगा.... इस अवधूत अवस्था को तो विरले ही पहुँच सकते हैं। सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि उसका विचार और इच्छापूर्वक घटाना है। ज्यों-ज्यों परिग्रह घटाइये, त्यों-त्यों सच्चा सुख और सच्चा संतोष बढ़ता है, सेवाशक्ति बढ़ती है।"[१] गांधी के उपरोक्त वाक्य गहरे अनुभव, गंभीर चिंतन और बिशाल अध्ययन की आधारशिला पर अवस्थित हैं।

सम्यक्त्व और संयम

महाराज का अनुभव अपूर्व था। उच्च श्रेणी के विद्वान् तथा शास्त्रीय लोग भी आचार्य महाराज से महत्त्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त करते थे। आत्मा की उपलब्धि तथा संयम की साधना के संबंध में विद्वानों तथा जन साधारण में अद्भुत भ्रम उत्पन्न होता है। आचार्य महाराज की यह वाणी बड़ी उद्बोधक तथा माननीय है। महाराज ने कहा था-"शुद्ध आत्मा का अनुभव होना सम्यक्त्व है। तत्त्वार्थ-श्रद्धान तो उपचार कथन है। सम्यक्त्व का स्वरूप समझ में नहीं आता, तो व्रत धारण करो। व्रत के द्वारा देवगति में जाना, वहाँ से विदेह में जाकर सीमंधर आदि तीर्थंकरों के समवसरण में पहुँचकर आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझना। वहाँ स्पष्ट ज्ञात होगा कि आत्मा का अनुभव क्या चीज है? अरे! आत्मा और भगवान दो नहीं हैं। इसे (आत्मा को) देखा, तो उसे (परमात्मा को) देखा।"

पुरुषार्थ करो

महाराज ने यह भी कहा था-"प्रमादी को कुछ नहीं मिलेगा। पुरुषार्थ करो। व्रती बनने वाला तीनगति में नहीं जाता है। मिथ्यादृष्टि कुलिंगी साधु सोलहवें स्वर्ग तक जाता है। सम्यक्त्वहीन दिगम्बर जैन मुनि ग्रैवेयक तक जाता है। चारित्र तो अभी थोड़ी देर में कमा सकते हो। सम्यक्त्व हाथ की बात नहीं है। कर्महानि, सद्गुरुदेशना, अर्ध

---

१. गांधी वाणी पृ. २५६

पुद्गल-परावर्तन काल संसारभ्रमण का शेष रहना आदि कारणों की प्राप्ति सम्यक्त्व के लिए आवश्यक है। चारित्र विहीन सम्यक्त्वी १३२ सागर पर्यन्त संसार में रहेगा। सम्यक्त्व सहित चारित्र के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।"[१]

मोक्ष का साक्षात् कारण चारित्र

वास्तव में अनेकान्त दृष्टि को भूलकर जो एकान्त पक्ष पकड़ते हैं, वे स्वयं अपने पैर पर कुठाराघात करते हैं। पूज्यपाद स्वामी का सर्वार्थसिद्धि में यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है-"धर्मेन्तर्भूतमपि चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्ष-प्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनार्थम्।"[२] उत्तमक्षमादि धर्मों में संयम है। उसमें चारित्र का अंतर्भाव हो जाता है, फिर भी संवर के कारणों में चारित्र को अंत में स्थान दिया गया है, क्योंकि वह मोक्ष की प्राप्ति में साक्षात् कारण है, यह सूचित करना इष्ट था। इससे विवेकी व्यक्ति समझ सकता है कि चारित्र का कितना महत्त्व है? सयोग-केवली भगवान के परमावगाढ़ सम्यक्त्व है, पूर्ण सम्यक्ज्ञान है, फिर भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता। जिस समय अयोगी-जिन के गुप्तिरूप चारित्र की पूर्णता होती है, उसी क्षण मोक्ष होता है।

चेतावनी

महाराज का यह कथन अनमोल है - "जैनधर्म का मूल आधार भगवान की वाणी है। उस पर शक्ति के अनुसार चलो। पंच पापों के त्याग की शक्ति न हो तो एक का ही त्याग करो। शक्ति के अनुसार कार्य करना कल्याणप्रद है। आगमकथित मार्ग को उल्टा करने का पाप बड़ा है।" महाराज ने एक मार्मिक चेतावनी दी थी-"सम्यक्त्व तो पशु पर्याय तथा नरक पर्याय में भी होता है, परन्तु उच्च चारित्र का पालन मनुष्य पर्याय में ही होगा। मनुष्य पर्याय के क्षय होते देर नहीं लगती, अतः शीघ्र सावधानी करना श्रेयस्कर है।"

श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ में एक वाक्य आया है। -"मुहुत्तमवि णो पमायए, वओ अच्चेति, जोव्वणं च"-"एक मुहूर्त पर्यन्त भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। अवस्था ढलती है, यौवन भी जाता है।"

---

१. मिथ्यादृष्टेः अंतरं एकजीव प्रति उत्कर्षेण द्वेषट्-षष्ठी देशोने सागरोपमाणाम्' (सर्वार्थसिद्धिः १, ८ पृ. २७)

२. सर्वार्थसिद्धिः (अध्याय ९ सूत्र १८)

ऐहिक सुखों का प्रेम

महाराज ने कहा था- "आजकल सब लोग ऐहिक सुखों की ओर झुकते हैं। लोग सरल तथा स्वच्छन्दता के मार्ग को पसंद करते हैं। दिगम्बर जैनधर्म कठिन है। दिगम्बर जैन साधु प्राण भी चले जाँय; किन्तु मर्यादा का पालन करते हैं। इतर साधु भूख-प्यास की बाधा होने पर भोजन, जल ग्रहण करेगा। अंतरायों को टालने की अन्य साधु कब परवाह करते हैं? दिगम्बर जैनधर्म की कठिनता के कारण थोड़े ही दिगम्बर जैन साधु पाए जाते हैं।"

शासन दोषी है

भारतवर्ष ने सन् १९४७ में स्वतंत्रता प्राप्त करने के साथ स्वच्छंदाचरण की ओर प्रवृत्ति की। आचार्य महाराज ने सन् १९४८ में कुछ चेतावनी के शब्द कहे थे, जो इस समय सबके अनुभव गोचर हो रहे हैं। उन साधुराज ने कहा था -"हम यह खातिरी से (विश्वासपूर्वक) कहते हैं कि आज का भ्रष्टाचार ठीक नहीं है। पाप का फल थोड़े दिनों में अवश्य मिलेगा। काला बाजार, चोरी, रिश्वत खाना आदि सब असत्कर्म सरकार ने सिखाए हैं। यह भूल प्रजा की नहीं, शासन की है । हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री- सेवन तथा अतिलोभ इन पाँच पापों को छुड़ाना न्याय है, धर्म है। इन पापों की पुष्टि करते हुए राज्य करना अन्याय है।"

मिथ्यावादियों का कर्मवाद

प्रेमपूर्वक पाप कार्यों को करते हुए कोई-कोई लोग यह कह बैठते हैं। -"जो-जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे"-"सीमंधर भगवान के ज्ञान में जब हमारा मोक्ष होना झलका है, तब हम मोक्ष का प्रयत्न करेंगे, अभी प्रयत्न करने का क्या प्रयोजन!" इस शंका के उत्तर में महाराज ने कहा था -"ऐसा कथन तो अन्यमतियों के समान हो जायेगा। मिथ्यात्वियों के कर्मवाद के समान हो जायगा।"

इस प्रसंग पर एक उपयोगी बात देना ठीक लगता है। सन् १९५९ अप्रेल में सोनगढ़ के बाबा सिवनी आए थे और उन्होंने उपरोक्त नियतिवाद का समर्थन किया था। मैंने उनसे कहा था-

क्या क्या देखी वीतराग ने तू क्या जाने वीरा रे।
वीतराग की वाणी द्वारा दूर करो भव पीरा रे॥

इससे वे निरुत्तर हो गए थे। विदेह में विराजमान सीमंधर प्रभु के ज्ञान में जो झलका है, उसका भारतवासी को कैसे पता चलेगा।

वास्तव में लोग पाप कार्यों में पुरुषार्थ करते हैं और आत्म-कल्याण के क्षेत्र में पुरुषार्थ से विमुख होकर भगवान के ज्ञान की ओट में छिपना चाहते हैं और प्रमादी जीवन व्यतीत करते हैं।

द्रव्य का स्वाधीन परिणमन

सूक्ष्म रीति से तत्त्व का चिंतवन करने पर यह ज्ञात होगा कि जैनधर्म में समस्त वस्तुओं को कथंचित् स्वतंत्रता दी है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन उसके स्वाधीन है। एक द्रव्य का परिणमन द्रव्यान्तर के आधीन नहीं है। ऐसी तत्त्व व्यवस्था है, तो भगवान के ज्ञान के आधीन पदार्थ का परिणमन कहना भक्ति की भाषा है, तर्क की भाषा नहीं। जैसे एक किसान का लिखा हुआ एक कागज है। वह मूल प्रति है। उसकी नकल एक श्रेष्ठ ज्ञानी कर लेता है, तो वह दूसरी नकल उतनी महत्ता को न्यायालय में नहीं प्राप्त होगी, जितनी उसकी मूल प्रति (Original Copy) महत्त्वपूर्ण मानी जायगी, अतः तत्त्व-चिन्तन करते समय हमारा कर्त्तव्य है कि प्रमाद, अन्याय आदि को प्रोत्साहन प्रदान करने के मलिन उद्देश्यवश धर्म का या भगवान के ज्ञान का अवलंबन नहीं लेना चाहिए। धर्म की ओट में यदि पाप का पोषण किया जाता है तो यह बहुत बड़ा पातक है, जिसका परिणाम पापी जीव उदय काल में रो-रोकर भोगा करता है। अतः आत्महित के कार्य में हमें उत्साह धारण करना चाहिए, कारण नर-पर्याय अत्यन्त दुर्लभ है।

श्री शान्तिनाथ भुजबली वैद्य बारामती

वैद्यराज को उपदेश

बारामती में श्री शान्तिनाथ भुजबली वैद्य एक सज्जन व्यक्ति हैं। वे महाराज के पास बहुधा आया-जाया करते थे और उनके स्वास्थ्य के विषय में विशेष ध्यान रखा करते थे। वैद्यराज ने बताया कि महाराज हमसे कहते थे।- "तुमने हजारों आदमियों को दवा दी है। उससे अधिक फल निर्ग्रन्थ साधु अथवा व्रती को औषधि देने का है। तुम साधु-सेवा में लगे रहते हो। इसका तुम्हें बहुत मधुर फल मिलेगा। ऐसा ही परोपकार करने में अपने जन्म को सार्थक बनाते रहना।"

महाराज के ये शब्द बड़े मार्मिक हैं-"पैसा खूब संग्रह करो, तो वह तुम्हारे

साथ नहीं जायेगा। धर्म ही साथ जाने वाला है। बीमार स्वयं की प्रसन्नता से जितना दे, उतना लेना। जबर्दस्ती करके और उसे दुखी करके नहीं लेना चाहिए। इसे अवश्य ध्यान में रखना।''

चिकित्सक का कर्त्तव्य

सचमुच में चिकित्सक के लिए जो बात आचार्य महाराज ने कही थी, वही बात आज के हजारों वर्ष पूर्व रचित वैद्यक ग्रन्थ चरक संहिता में बताई गई है। बंगाल के प्रकाण्ड डॉक्टर श्री विधानचन्द्र राय ने लिखा है- ''आयुर्वेद के विद्यार्थी से चिकित्सा कार्य को समाज सेवा के व्रत के रूप में ग्रहण करने की शपथ कराई जाती थी, क्योंकि वास्तविक चिकित्सक का हृदय रोगी के प्रति ममता और अनुकम्पा की भावना से कदापि शून्य नहीं होगा और उसके मन में विरक्ति कदापि उत्पन्न नहीं होगी। रोगी के कष्टों को दूर करने के लिए जिस हाथ का उपयोग किया जाता है वह कदापि कम्पित नहीं होगा। स्वाधीन भारत के चिकित्सकों का आयुर्वेद के इस आदर्श पर चलना परम कर्त्तव्य है।''

नेत्रों की चिकित्सा

वैद्यराज ने कहा-''जब हम आचार्य महाराज के नेत्रों में दवा डालते थे, तो वे कहते थे, क्यों बार-बार दवा डालते हो, इससे लाभ नहीं होता। अब हमें सल्लेखना लेना होगी; क्योंकि हम ईर्या समिति का पूर्णतया पालन नहीं कर सकते। हम तो सल्लेखना की तैयारी कर रहे हैं।''

साम्य परिणति

कुंथलगिरि में आगत सारे देश के हजारों व्यक्तियों को देखकर वैद्यराज ने कहा- ''महाराज यह आपका प्रभाव है जो इतने व्यक्ति आ रहे हैं।'' महाराज बोले- ''इसमें हमारा क्या है? इससे हमें हर्ष नहीं है, हम तो आत्म-चिन्तन में लगे हैं।''

परोपकार के भाव

जब वैद्यराज महाराज की नाड़ी गिनते थे, तब महाराज कहते थे - ''नाड़ी देखने में क्या लाभ होगा? क्यों व्यर्थ के काम में लगे हो? हमारे शरीर में कोई ज्वर आदि रोग नहीं है।'' वैद्यराज कहते थे-''हम आपकी नाड़ी की गति समझने को देख रहे हैं।'' महाराज कहते थे-''अच्छा! तो देख लो, तुम्हारा लाभ होता है, तो कर लो।'' कैसी

सरल और पवित्रता से भरी उनकी वाणी थी, दूसरा व्यक्ति दु:खी न हो, इस बात को वे सदा ध्यान रखते थे।

आत्मा की मलिनता दूर करो

एक दिन वैद्यराज से महाराज ने कहा-"तुम संसार का कल्याण करते फिरते हो। कुछ तो आत्मा का कल्याण करो। दूसरे के कपड़े धोते-धोते समय क्यों गँवाते हो? अपनी आत्मा को धोने के लिए व्रत, नियम, स्वाध्याय आदि षट् कर्म करना चाहिए, इनसे तुम्हारा कल्याण होने वाला है।"

स्वर्गारोहण की रात्रि का वर्णन

आचार्य महाराज का स्वर्गारोहण ३६ वें दिन प्रभात में ६ बजकर ५० मिनट पर हुआ था। उस दिन वैद्यराज महाराज की कुटी में रात्रि भर रहे थे। उन्होंने महाराज के विषय में इस प्रकार बताया-"दो बजे रात को हमने जब महाराज की नाड़ी देखी, तो उसकी गति बिगड़ी हुई अनियमित (Irregular)थी। तीन, चार ठोकर देने के बाद रुकती थी, फिर चलती थी। चार बजे सवेरे श्वास कुछ जोर का चलने लगा, तब हमने कहा, "अब सावधानी की जरूरत है। अन्त अत्यन्त समीप है।" सवेरे ६ बजे महाराज को संस्तर से उठाने का विचार क्षुल्लक सिद्धसागर (भरमप्पा) ने व्यक्त किया। महाराज ने सिर हिलाकर निषेध किया। उस समय तक वे सावधान थे। उस समय श्वास जोर-जोर से चलती थी। बीच में धीरे-धीरे रुककर फिर चलने लगती थी। उस समय महाराज के कान में भट्टारक लक्ष्मीसेन जी "ॐ नम: सिद्धेभ्य:" तथा णमोकार मन्त्र सुनाते थे। ६ बजकर ४० मिनिट पर मेरे कहने पर महाराज को बैठाया। कारण, मैंने कहा कि अब देर नहीं है। उनको उठाया। पद्मासन किया; तब श्वास मन्द हो गई। ओष्ठ अतिमन्द रूप से हिलते हुए सूचित करते थे कि वे जाप कर रहे हैं। एक दीर्घ श्वास आया और हमारा सौभाग्य सूर्य अस्त हो गया। उस समय उनके मुख से अन्त में 'ॐ सिद्धाय' शब्द मन्द ध्वनि में निकले थे।" वैद्यराज ने कहा "कि रात में दो बजे से हाथ पैर ठण्डे हो रहे थे। रुधिर का संचार कम होता जा रहा था। हमारी धारणा है कि महाराज का प्राणोत्क्रमण नेत्रों द्वारा हुआ। मुख पर जीवित सदृश तेज विद्यमान रहा आया था।"

क्षु. सिद्धिसागरजी

महाराज के अन्तिम क्षण में समीप रहने वाले क्षुल्लक सिद्धिसागर (भरमप्पा) ने सिवनी में आकर शिखरजी जाते समय हमें बताया था कि "अन्त में तीन दिन चौबीसों घण्टे महाराज एक ही करवट रहे थे । पहिले महाराज ने हमें आज्ञा करदी थी कि तुम हमारे हाथ पाँव मत दाबना; क्योंकि हमने सेवा कराना छोड़ दिया है। तुम जबर्दस्ती सेवा करते थे, अब नहीं करना।"

ज्ञान के महान् प्रेमी

आचार्य महाराज संयम के सिवाय सम्यक् ज्ञान के भी महान् प्रेमी थे। उन्होंने कहा था- "ज्ञान बिना समाज में धर्म नहीं टिकेगा। ज्ञान का प्रसार सार्वजनिक जैन मन्दिर में स्वाध्याय के लिए ग्रन्थ रखने से ही हो सकेगा; कारण, वहाँ सब जैन लोग आते हैं और उन ग्रन्थों पर सबका स्वत्व रहता है। उसे कोई उठाकर नहीं ले जा सकता। वह सुगमता से सबको मिल सकता है। ग्रन्थ की बिक्री से सुविधा नहीं होती। गरीब आदमी, त्यागी तथा संन्यासी लोग ग्रन्थ नहीं ले सकते; इसीलिए जहाँ तक बने मुफ्त में ग्रन्थ बाँटना चाहिए।"

क्षु० सिद्धसागरजी (भरमप्पा) ने आचार्य महाराज की बहुत सेवा तथा वैयावृत्य की थी। उन्होंने बताया कि मैंने महाराज से क्षुल्लक दीक्षा मांगी । महाराज ने कहा- "वर्धमानसागर से दीक्षा ले लो ।" फिर मैंने महाराज से नाम पूछा। उन्होंने मेरा नाम सिद्धसागर बताया । इसके बाद उन्होंने ब्र० बंडू रत्तू को दीक्षा के लिए कहा और कहा कि हम तुम्हें दीक्षा दे देंगे। उस समय मैंने कहा- "महाराज! मुझे भी आप दीक्षा दीजिए।" रत्तू बंडू ने दीक्षा नहीं ली। मेरा भाग्य था मुझे दीक्षा मिल गई। दीक्षा देते समय महाराज ने मुझ से कहा था कि तुम को कुछ नहीं आता, इसलिए हमेशा णमोकार मंत्र का जाप मंदिर में करते रहना। आहार को जाने के पूर्व शौच से आने पर तथा अन्य समय पर २७ बार जाप करना।"

वर्धमानसागरजी को संदेश

उन्होंने वर्धमानसागरजी के लिए यह खबर भेजी थी- "जब तक हाथ पैर चलते हैं, तब तक गड़बड़ नहीं करना। तुम्हारी आयु अधिक है। घबराना नहीं। सदा आत्मचिंतन करना।"

उनका स्वर्गवास होने पर वर्धमानसागर महाराज ने कहा था-''जैसे आचार्य महाराज गये, वैसे ही सब जावेंगे। शोक क्यों करना?''

क्षु० सिद्धसागर जी ने कहा- ''महाराज बहुत गंभीर थे। महान् कष्ट आने पर भी वे हाहाकार नहीं करते थे। वे अपनी तकलीफ स्वयं नहीं कहते थे।''

विशेष आशीर्वाद

''आपके बारे में कई बार महाराज चर्चा करते थे। उनका आप पर सदा विशेष आशीर्वाद रहता था।''

पात्रापात्रता का विवेक

आचार्य महाराज बहुत सोच-विचार कर कार्य करते थे। एक दिन भाईचंद नेमचंद गांधी नातेपुते ने आचार्यश्री से ब्रह्मचर्य प्रतिमा रूप व्रत मांगे। महाराज ने उनकी पात्रता का विचार करके कहा-''तुम पापभीरु हो, इस कारण तुमको व्रत देते हैं। तुम्हारे हृदय में वैराग्य नहीं है, इससे प्रतिमा रूप व्रत नहीं देते हैं।''

विनोद

''महाराज का विनोद मधुर तथा अकटु होता था। भाईचंद ने सुनाया, कि मेरी विलक्षण तथा विचित्र बातों को सुनकर महाराज मुझे ''दो शहाणा'' (दो दिमाग वाला बुद्धिमान्) कहा करते थे।''

स्वप्न द्वारा संकेत

जो आत्मा अत्यन्त पवित्र होती है, उसके स्वप्न भी महत्त्वपूर्ण घटनाओं को सूचित करते हैं। द्वादशांग में अष्टांग निमित्त शास्त्र की गणना में स्वप्नज्ञान का उल्लेख आता है। आचार्य शांतिसागर महाराज को भविष्य की अनेक घटनाओं आदि के विषय में स्वप्न के द्वारा संकेत प्राप्त हो जाया करता था। प्रतिष्ठाशास्त्रों में कई जगह कार्य करने के लिए मंत्रजाप करके स्वप्न में उसका रूप देखकर कर्त्तव्य निर्धारण किया जाता है। आशाधर प्रतिष्ठा-सारोद्धार ग्रंथ में लिखा है कि प्रतिष्ठाचार्य जिनमंदिर की भूमि की तरह मूर्तिरूप परिणत की जाने योग्य शिला के शुभ-अशुभ जानने के लिए रात्रि के आरम्भ में अष्टांग निमित्तों को विचारे। स्नान करके एकान्त शुद्धस्थान में शुभ गंधद्रव्य को हाथ पर लगाकर सिद्धभक्ति पढे तथा इस मंत्र श्लोक का मन में ध्यान करे-

"ॐ नमोस्तु जिनेन्द्राय, ॐ प्रज्ञाश्रमणे नमः।
नमः केवलिने तुभ्यं नमोस्तु परमेष्ठिने ॥१-५५॥

इसके पश्चात् यह कहे-"स्वप्ने मे देवि दिव्यांगे ब्रूहि कार्यं शुभा-शुभम् ॥५६॥ हे दिव्यांगवाली देवी! स्वप्न में मुझे शुभ तथा अशुभ कार्य को कहिये। महापुराण में वातादि दोषों से उत्पन्न स्वप्नों का उल्लेख करते हुए उनको भविष्यसूचक नहीं बताया है। आगम में स्वप्न विषय का अद्भुत वर्णन था। महाकर्मप्रकृति प्राभृत के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य धरसेन स्वामी स्वप्नादि अष्टांग निमित्त शास्त्र के विशेषज्ञ थे। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य महाराज को अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान स्वप्न में होता था। जड़वाद के विचारों की प्रतिष्ठा करने वाला व्यक्ति अपरिचित होने से इस विषय में भिन्न मत रख सकता है; किन्तु अध्यात्मशास्त्र से परिचय रखने वाला इस सम्बन्ध में विश्वास शून्य नहीं होता है। अस्तु, सल्लेखना की ओर आचार्यश्री ने जो कदम बढ़ाया था, उसके विषय में विविध स्वप्नों द्वारा उनको उनके विश्वास के योग्य संकेत प्राप्त होता था।

महाराज के चार स्वप्न

लोणंद चातुर्मास के अन्त में आचार्य महाराज को यह स्वप्न रात्रि के अंतिम प्रहर में दिखाई पड़ा था-"आचार्यश्री के आसपास ५०० से अधिक व्यक्ति बैठे थे। उस समय १२ हाथ लंबा सर्प घेरा बाँधकर बैठा था। वह लोगों के पास से आकर महाराज के सिर पर चढ़ गया। उस समय महाराज ने लोगों को चुप रहने को कहा, इतने में सर्प चला गया।"

इस स्वप्न का अर्थ महाराज ने यह समझा कि सर्प यमराज का प्रतीक था। सर्प चला गया, इससे अपमृत्यु का संकट दूर हो गया, ऐसा सूचित होता था।

फलटण में

फलटण के चातुर्मास में सन् १९५४ के कार्तिक मास में महाराज ने एक स्वप्न देखा कि उनसे जिनशासन की देवी ने यह कहा कि अब अन्न का आहार छोड़ दो। सवेरे आदिनाथ मंदिर में जाकर उन्होंने अन्न-आहार का त्याग कर दिया।

बारसी में

तीसरा स्वप्न बारसी में अर्ध जागृत अवस्था में आया। उसमें एक विशाल गजेन्द्र सदृश स्थूलकाय सिंह दिखा। उसके मुख में एक आदमी समा सकता था। उसने

महाराज की गर्दन को पकड़कर अपने मुँह में रख लिया; किन्तु दाँत नहीं लगे। महाराज ने शांत भाव से सिद्ध भगवान का स्मरण किया। उन्होंने सिंह का कान पकड़ा। इतने में नींद खुल गई।

इसका महाराज ने यह अर्थ निकाला कि उनका जीवन संकट में है। विपत्ति जीवित है; किन्तु अन्न त्याग द्वारा अकाल मरण टलेगा, ऐसा प्रतीत हुआ।

कुंथलगिरि में

चौथा स्वप्न कुंथलगिरि में इस प्रकार आया था कि एक समय महाराज जंगल में अकेले खड़े थे। एक मजबूत सींगों वाला भयंकर जंगली भैंसा रोषपूर्वक दौड़ता हुआ महाराज पर झपटा। उस समय एक मुनि हाथ में पिच्छी लेकर दस फीट की दूरी पर आ गये। उनके हाथ में एक तीन हाथ लम्बी लकड़ी थी। उससे उन मुनि ने भैंसे को खूब मारा। पिटाई के कारण थककर वह भैंसा गिर पड़ा। उस समय महाराज सिद्ध भगवान का जाप कर रहे थे। मुनि ने महाराज से कहा कि अब आप संकटमुक्त हैं, चले जाइये। महाराज ने कहा कि मुनि होकर तुमने इस प्रकार हिंसा का कार्य क्यों किया? यहाँ से दूर चले जाओ।

इस स्वप्न से आचार्य महाराज ने सोचा कि विपत्ति तो दूर हो गई; किन्तु प्रशांत मुनि का दर्शन आगे दुर्लभ होगा, ऐसा प्रतीत होता है। महाराज ने मौन पूर्वक पाँच उपवास का नियम लिया था। इन स्वप्नों का वर्णन महाराज ने अपने विश्वासपात्र भक्तों को सुनाया था, जिनके समक्ष वे अपने मन की बात संकोचरहित हो कहते थे।

पं. अभयकुमार शास्त्री बारामती

शेडवाल आश्रम में शिक्षा प्राप्त पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री रांगोलीकर बारामती ने महाराज के सम्बन्ध में सुनाया था-"महाराज पक्का आदमी देखकर ही उस पर काम सौंपा करते थे। वे कहा करते थे कि समाज में पण्डित बहुत हैं; किन्तु चारित्रवान पण्डित बहुत कम हैं। उनका शिक्षा के विषय में महत्त्वपूर्ण अभिप्राय था; वे शेडवाल आश्रम के छात्रों की संख्या के बारे में कहते थे; छात्रों की संख्या कम हो; इसकी चिन्ता नहीं; छात्र विद्वान् के साथ चारित्रवान भी बनें, यह आवश्यक है। छात्रों की जिनधर्म पर श्रद्धा आवश्यक है। वे जिनधर्म के अभिमानी हों। विद्वत्ता बढ़ाना, खूब ग्रन्थ लिखना आदि पाडित्य के कोरे कार्यों की वे प्रशंसा नहीं करते थे। उनकी दृष्टि में उच्च चारित्र का

मूल्य था। लोकपटुता, भाषणकुशलता, लोकानुरंजन की महत्ता उनके विचार में गौरव-पूर्ण नहीं थी। आत्महित उनका मुख्य लक्ष्य था।"

डॉ. बालचन्द्र जीवराज शहा फलटण

फलटण के श्री डॉ० बालचंद्र जीवराज शहा ने आचार्य महाराज के विषय में अनेक महत्त्व की बातें बतलाईं। बालचन्द्र भाई ने कहा-"महाराज की विशेषता थी कि वे छोटे-बड़े सबसे समान भाव से मिलते थे। एक दिन मैं महाराज के पास उनका हस्त-मुद्रण (Hand Print) लेने को गया, तो वे बोले क्या करोगे? मैंने कहा-"महाराज मेरी ज्योतिष शास्त्र में रुचि है। आपके हाथ को देखकर अभ्यास करना है, उससे ज्ञान की वृद्धि होगी।" महाराज बोले, "अच्छा, तेरा सन्तोष होता है, तो ले-ले। तुम्हारा ज्योतिष शास्त्र कहता था कि हमारी आयु ८० वर्ष की है; किन्तु अभी हमारा ८२ वाँ वर्ष चल रहा है।"

असाधारण क्षयोपशम

महाराज का क्षयोपशम बड़ा असाधारण था। फलटण के चन्द्रप्रभ मन्दिर के ऊपर श्रुतभण्डार बनाने के लिए स्थान नहीं था। महाराज ने उस जगह को देखकर ऐसा परिवर्तन कराया कि बहुत जगह निकल आई। उनका अनुभव अत्यन्त प्रवीण इन्जीनियर के समान था। सरस्वती भवन में कितना सीमेण्ट लगेगा, कितना लोहा लगेगा आदि सभी बातों का उनको ज्ञान था।

स्थायीपन में रुचि

महाराज बाह्य सौंदर्य के बदले स्थायीपन को पसंद करते थे। शास्त्रों के लिए अनेक प्रकार के कागज मंगाये गए। कागज देखकर उन्होंने सबसे मजबूत कागज को पसंद किया। उसके मूल्य की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया।

भूगोल की महत्त्वपूर्ण चर्चा

एक सरकारी कर्मचारी से जैन भूगोल के बारे में चर्चा चली। उस समय महाराज ने कहा-"पहिले विश्वास रखो, पीछे उसकी शोध करो, तो तत्त्व हाथ लगेगा। तुम पहिले ही विश्वास नहीं करते और यह कैसा, वह कैसा है इत्यादि शंकाएँ करते हो, इससे इष्ट सिद्ध नहीं होता।"

मराठी सूक्ति का रहस्य

एक दिन चर्चा चली - मराठी भाषा की सूक्ति पर "जैसा बोले, तैसा चाले त्याची वंदावी पावले"-इसका भाव महाराज ने बताया कि जैसा आगम कहे, उस प्रकार चले अर्थात् स्वच्छन्द मन के अनुसार प्रवृत्ति न करे।

इंद्रिय निग्रह का उपाय

एक दिन मैंने महाराज से पूछा-"महाराज! इन्द्रिय-निग्रह किस प्रकार करना चाहिए?" महाराज ने कहा था- "घोड़े का दाना-पानी बन्द कर दो, घोड़ा अपने आप वश में हो जाता है।" उन्होंने एक छोटे से उत्तर से गम्भीर प्रश्न का अनुभव के आधार पर समाधान कर दिया।

नियमितपना

महाराज में नियमितता (Punctuality) अधिक थी। वे समय पर कार्य करने का ध्यान रखते थे। उनमें गुणग्राहकता अपूर्व थी। यदि विशेष कलाकार उनके पास आता था, तो उसको वे बहुत प्रेरणा देते थे।

लोकविज्ञता

महाराज के पास जब अजैन लोग दर्शनार्थ आते थे, तब महाराज उनको श्रीफलादि देते थे। लोगों ने उनसे पूछा कि आप ऐसा क्यों करते हैं? महाराज ने बताया कि वे लोग हमारे पास गुरुभाव से आये, उस भाव से उन्होंने दर्शन किया। उनकी श्रद्धा है कि गुरु का प्रसाद कल्याणकारी होता है, ऐसी उनकी पद्धति है, इससे उन्हें सन्तोष होता है। धर्म की ओर उनका आकर्षण बढ़ता है, पुनःपुनः आने की इच्छा होती है। उनका कल्याण देखकर ही हम ऐसा करते हैं।

बच्चों से नैसर्गिक प्रेम

बच्चों पर महाराज का अकृत्रिम प्रेम था। कितनी भी गम्भीर मुद्रा में वे हों, बालक के पास आते ही वे उसे देखकर हर्षित होते थे। कभी-कभी किसी बच्चे के हाथ में मोटर का खिलौना रहता था, तो वे पूछते थे कि क्या इसमें हम बैठ सकते हैं आदि। उस समय ऐसा लगता था कि ये वृद्ध पितामह हैं और ये संसार के श्रेष्ठ महापुरुष रत्नत्रय-मूर्ति आचार्य शान्तिसागर महाराज ही हैं, ऐसा नहीं मालूम पड़ता था।

धनी-निर्धन में समान भाव

एक दिन महाराज से पूछा-"महाराज! आप श्रीमन्तों के महाराज हैं या गरीबों के?" महाराज ने कहा-"हमारी दृष्टि में श्रीमन्त और गरीब का भेद नहीं रहा है। अर्थ के सद्भाव-असद्भाव द्वारा बड़ेपने की कल्पना आप लोग करते हो। अकिञ्चनों की निगाह में धन के सद्भाव-असद्भाव का अन्तर नहीं रहता।"

आदमी की परख

एक दिन महाराज से पूछा-"महाराज! आपके पास बैठने वाले क्या सभी खरे भक्त हैं?" महाराज बोले-"इनमें दश प्रतिशत ही खरे हैं। यह हमें मालूम है कि कौन खरा है और कौन खोटा है। हम दूसरे के नेत्रों को देखकर ही उस आदमी को पहिचान लेते हैं।" यथार्थ में उनकी दृष्टि हृदय के भीतर की बात को देख लेती थी ।

जीवन का सार

एक दिन आत्मचिन्तन की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था कि "जाते समय पिता अपने सम्पत्ति के भंडार की चाबी पुत्र को देता है। इस प्रकार हम तुमको जीवन का सार बताते हैं। बताते नहीं हैं, हम यह तुमको देते हैं; आत्म चिंतन के सिवाय सुख नहीं मिलेगा।"

आत्मा का रेडियो चालू करो

"एक दिन मैंने छोटा रेडियो बनाया और महाराज को दिखाया। उसके विषय में उन्होंने अनेक सूक्ष्म प्रश्न किये। पश्चात् कहने लगे-"बालचन्द! अब तुम हृदय के रेडियो को क्यों चालू नहीं करते? उसका गीत सुनो। इसमें क्या रखा है? आत्मा का रेडियो त्रिलोक और त्रिकाल की बातें बताता है, वह इससे बड़ा है।" एक छोटे से यंत्र को देखकर उन साधुराज ने कैसी मार्मिक बात कही। सचमुच में मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण एवं अन्तराय के नाश होने पर यह जीव त्रिलोक और त्रिकाल का ज्ञाता बन जाता है। अज्ञान के कारण यह जीव पर-पदार्थ में उलझकर स्वयं दुःखी होता है। महाराज ने हजारों मील पैदल विहार किया; किन्तु उनके चरण, कमलों के समान कोमल ही रहे आये। वास्तव में वे 'चरण-कमल' ही थे। शरीर-शास्त्री बताते हैं कि चरणों का कमल सदृश मृदुल रहना महान् पुरुष का चिह्न है।

आगमप्राण

धवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थ ताम्रपत्र में मुद्रित हुए। फलटण में धवल ग्रन्थ

विराजमान हुए थे। उनके सम्बन्ध में महाराज ने कहा था-"देखो, ये मेरे प्राण हैं, जो तुम्हारे पास हैं। मेरे बराबर इनकी रक्षा तुम लोगों को करना चाहिए।" ये शब्द महाराज ने सैकड़ों बार कहे थे। जिनवाणी को वे अपना प्राण मानते थे। वास्तव में जिनवाणी के लिए ही सल्लेखना द्वारा उन्होंने अपने प्राणों का अर्पण भी कर दिया।

तीर्थभूमि का महत्त्व

महाराज से पूछा गया कि आप सल्लेखना के लिए तीर्थ को क्यों ढूंढ़ते हैं? आप समान श्रेष्ठ साधु जहाँ भी निवास करते हैं, वही स्थान तो तीर्थ बनता है? क्या आप नया तीर्थ नहीं बना सकते?

महाराज ने कहा- "निर्वाण स्थान में अनेक तपस्वियों ने रहकर कर्मों का क्षय किया है, वहाँ का परमाणु-परमाणु उनके द्वारा पवित्र हुआ है। उस पवित्र भूमि में रहने से आत्मा की साधना में सहायता मिलती है। आत्मा स्वरूप में लीन हो जाती है। इस आत्म विशुद्धि का कारण होने से समाधि के लिए निर्वाणस्थल का शरण ग्रहण करना आगम में बताया है। गुलाब के उद्यान में बैठने पर पुष्प की सुवास पवन द्वारा प्राप्त होती है। इसी प्रकार निर्वाण-स्थल के पवित्र परमाणुओं द्वारा आत्मा की विशुद्धता के हेतु एक आध्यात्मिक सुवास प्राप्त होती है।"

फलटण में कभी-कभी एक बालिका मधुर कण्ठ से महाराज को भजन सुनाती थी। उसके भजनों की ओर महाराज का बड़ा आकर्षण रहता था। एक भजन वृद्धावस्था के दुःखी जीवन को चित्रण करने वाला मराठी भाषा में है। महाराज उससे उस भजन को कई बार सुनते थे। उसकी एक पंक्ति का भाव है- "यह बुढ़ापा बड़ा विचित्र है। समय बीतता नहीं। काल आता नहीं। बताओ क्या करें?" इसी पंक्ति को दुहराकर महाराज कहते थे- "तू मेरी शिष्या है, अच्छा गीत सुनाती है। उसके आने पर कहा करते थे, अब हमारी शिष्या आ गयी है। उसका भजन होने दो।" एक दिन बालिका ने कहा- "महाराज! आत्मा कैसे दिखेगी?" उस छोटी सी लड़की को आत्मा कैसे बताई जाय? महाराज बोले-"तू मेरे साथ चल, दीक्षा मत ले, भजन के द्वारा प्रभावना कर।"

रहस्य की बात

एक बार महाराज से पूछा गया-"महाराज! आप महत्त्व की बातें कैसे बता देते हैं? आप कहते हैं कि हमें अवधि नहीं है, फिर विद्वानों को भी प्रकाश देने वाली अपूर्व बातें कैसे कहते हैं?"

महाराज ने कहा-"ठीक तो है, हमारे अवधि नहीं है। जिस प्रकार के भाव हमारे अन्तःकरण में आते हैं, उनको हम कह देते हैं।"

देश का भविष्य

भारत के राजनीतिज्ञों के ध्यान देने योग्य एक बात उन महाश्रमण के मुख से निकली थी। महाराज ने कहा- "जब तक यह देश अहिंसा-तत्त्व का परित्याग नहीं करता है और अन्य धर्मों पर जुल्म नहीं करता है, तब तक इसका शासन बना रहेगा। अन्यथा अत्याचार के पथ पर चलने वाले शासक का विनाश निश्चित है।"

ध्यान का मार्ग

महाराज से पूछा गया- "सामान्य मनुष्य किस प्रकार ध्यान करे?"

उत्तर में महाराज ने कहा- "जब तक असली आत्मा का ध्यान नहीं होता, तब तक स्फटिक की बनी जिनेन्द्रमूर्ति का ध्यान करो। अभ्यास से मन स्थिर होगा अपनी आत्मा को स्फटिक की तरह विशुद्ध और निर्मल चिंतवन करो। वहाँ मन को केन्द्रित करने से चंचल मन स्थिर बनेगा।"

दीक्षा और आहार

प्रश्न - "महाराज ! यदि आप सब को दीक्षा दे देंगे, तो उनको आहार कैसे मिलेगा? "

उत्तर - महाराज ने कहा- "आहार के लिए दीक्षा मत लो। दीक्षा लेने के बाद आहार अपने आप मिलेगा।"

भक्तामर स्तोत्र का प्रथम परिचय

"महाराज ने बताया था कि उन्होंने जीवन में सबसे पहिले भक्तामर स्तोत्र पढ़ा था। वही पहला शास्त्र था।"

द्रव्य रहित पूजा

जो लोग भगवान के दर्शन को जाते हैं और द्रव्य का ले जाना बेकार सोचते हैं, ऐसी सूखी पूजा वालों के बारे में महाराज मराठी का एक वाक्य कहते थे- "तू मेरे द्वार पर आया है, न फल लाया, न फूल; जा अपने घर। तुझे कोई वर नहीं देता और न शाप ही देता। जैसा आया उसी प्रकार चला जा।"

उनके शब्द थे-

फल नाहीं, फूल नाहीं, आला माझा द्वारा।
वर नाहीं, शाप नाहीं, जा तुझा घरा॥

इस तरह कहकर महाराज हँसने लगते थे।

श्री बाबूराव मार्ले कोल्हापुर

सप्तम प्रतिमाधारण तथा व्यापार करना

महाराज ने कोल्हापुर के धर्मात्मा श्रीमान् बाबूरावजी मार्ले को सप्तम प्रतिमा के व्रत देते हुए कहा था- "तुम व्यापार करो, किन्तु अपना लेन-देन सत्यता से करना।" उक्त ब्रह्मचारीजी ने क्षुल्लक पद धारण करने का निश्चय किया था।

महाराज की भावना

उनसे आचार्य महाराज ने कहा था- "हमारी भावना है कि हमारे सभी शिष्य स्वर्ग में भी हमारे साथी रहें, इसलिए सबको व्रती होना चाहिए।"

ब्र. बंडोवा बाबाजी (क्षुल्लक जी)

ब्रह्मचारी बंडोवा बाबाजी रत्तू ने बताया कि- "आचार्य शान्तिसागर महाराज के लोकोत्तर व्यक्तित्व ने नेमण्णा नाम के सरल चित्त वाले गृहस्थ को नेमिसागर मुनिराज बना दिया। नेमण्णा महोदय विलक्षण प्रकृति के व्यक्ति थे। भिन्न-भिन्न धर्म के साधुओं के सम्पर्क में रह चुके थे। एक दिन आचार्य महाराज के जीवन की घटना ने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। उसदिन उन्होंने निश्चय किया कि शान्तिसागर महाराज ही ऐसे साधुरत्न हैं, जिनके चरणों को अन्त:करण में विराजमान कर जीवन भर अभिवन्दन करना चाहिए।"

प्रभावप्रद घटना

यहाँ यह सहज प्रश्न उठता है कि वह कौनसी घटना होगी, जिसने जीवन बदल दिया?

ब्र. बण्डू ने बताया- "आचार्य महाराज एक गुफा में बैठकर आत्म-ध्यान में निमग्न थे। वास्तव में अपने स्वरूप में मस्त बैठे थे। उस समय एक मकोड़ा उनके शरीर

पर चढ़कर उनकी पुरुष इन्द्रिय को काट रहा था। साथ में और भी मकोड़े थे। वे मांस खाते थे और रक्त की धारा बहती थी; किन्तु महाराज स्तम्भ की तरह स्थिर थे। उनका ध्यान पूर्ण हुआ, तब बाद में नेमण्णा ने पूछा-"यह क्या है?" ब्र. बण्डू रसू ने कहा- "देखते नहीं हो, यह रक्त बह रहा है।"

सुनकर महाराज बोले- "कहाँ है रक्त?" बाद में उन्होंने देखा कि मकोड़े उनके शरीर को खा रहे थे। ब्र. बण्डू ने उन मकोड़ों को अलग किया था।

सामायिक में तल्लीनता

उस समय आचार्य महाराज बोले-"हम तो सामायिक में बैठ गये थे। हमको पता नहीं, क्या हुआ।"

यह शब्द सुनकर नेमण्णा ने कहा-"यह क्या चमत्कार है? यह साधु है या भगवान है। निश्चय से ये बहुत बड़े साधु हैं।" इस घटना ने उनके मन में प्रबल वैराग्य उत्पन्न किया। वे ही नेमण्णा परमपूज्य १०८ निर्ग्रन्थ मुनि नेमिसागर महाराज के रूप थे। आचार्य नेमिसागर जी की प्रेरणा से बोरीवली में दिव्य, समुन्नत तीन मूर्ति विराजमान हुई हैं।

पाटील श्रीबालगोंडा कोगनोली

चिकोड़ी के नागगोड़ा जनगोड़ा उर्फ बालगोड़ा पाटील कोगनोली प्रभावशाली धर्मात्मा और गुरुभक्त सज्जन हैं। उन्होंने आचार्य महाराज की बहुत सेवा की थी।

प्रारंभिक तपोभूमि कोगनोली

जब शांतिसागर महाराज ने दीक्षा लेकर भोजभूमि से बिदा ली, तब उन्होंने कोगनोली ग्राम में अपनी प्रारम्भिक तपस्या का विशेष समय व्यतीत किया। आसपास के लोग शांतिसागर महाराज को कोगनोली के महाराज कहने लगे थे। उस समय पूर्ण दिगम्बर मुद्राधारी मुनियों का अभाव था। उस समय मुनि आहार लेते समय दिगम्बर हुआ करते थे। आचार्य शान्तिसागर महाराज ने उस शिथिलाचार के जाल में जकड़ी हुई मुनिचर्या का उद्धार किया था। कोगनोली में वे दिगम्बर मुद्रा में रहा करते थे। एक उपवास एक पारणा यह क्रम बारह महीने चला करता था।

बालगोड़ा पाटील ने बताया कि कोगनोली में आचार्य महाराज के शरीर पर सर्प लिपटा था। वह घटना तो सर्वत्र प्रसिद्धि पा चुकी है। उस ग्राम में विचित्र घटना हुई

थी। श्री पाटील ने बताया-"हमारे यहाँ जब महाराज आये, तब उनकी तपश्चर्या बड़ी भीषण थी। रसों का परित्याग कर वे आहार लेते थे। बहुधा उपवास करते थे। दिगम्बर रूप में विचरण करते थे। कोई लोग उपसर्ग न कर दें इस भय से ग्राम का प्रमुख व्यक्ति होने के कारण मैं महाराज का कमण्डलु हाथ में लेकर सामने चलता था, जब कि महाराज शौच आदि के लिए बाहर निकलते थे।"

पागल द्वारा भयंकर उपसर्ग

महाराज बस्ती के बाहर एक निर्जन स्थान में बनी हुई गुफा में रात्रि को रहा करते थे और वहाँ आत्मध्यान में लगे रहते थे। दुर्भाग्य की बात थी कि एक बार नगर का एक पागल महाराज के पास जंगल में गया। महाराज उस समय कठोर तप किया करते थे। उस एकान्त प्रदेश में उस पागल ने भयंकर उपद्रव किया। महाराज का शरीर अत्यन्त बलशाली था। यदि वे शान्ति के सागर न होते, तो उस पागल को कहीं भी उठाकर फेंक सकते थे, किन्तु वे तो आचार्य महाराज थे। क्षमाशील साधुओं के स्वामी थे। भीषण उपद्रव में भी वे अविचलित थे।

उस पागल के हाथ में एक लकड़ी थी, जिसके अग्र भाग में नोकदार लोहे का कीला लगा था। उससे बैलों को मारने का काम किया जाता है। पागल ने महाराज जी के पास रोटी मांगी। वह कहता था-"ऐ बाबा! रोटी दो, बड़ी भूख लगी है।" बाबा के पास क्या था? कुछ होता तो देते। वे तो चुपचाप ध्यान करने बैठे थे। उनको शान्त देख पागल का दिमाग और उत्तेजित हुआ। उसने अपने पास की लकड़ी से महाराज के शरीर को मारना शुरू किया। लोहे की नोक शरीर में, पीठ में, छाती आदि में चुभोयी। सारा शरीर रक्तरंजित हो गया। लकड़ी की मार से हाथ पैर सूज गये थे। उस कठिन परिस्थिति का क्या वर्णन करें? बहुत देर तक उपद्रव करने के बाद पागल वहाँ से चला गया। बस्ती में आकर उसने अपने एक कुटुम्बी की हत्या की, जिसके कारण उसे प्राणदण्ड मिला था।"

श्री पाटील ने बताया- "सबेरे हमने जब महाराज को देखा, तो उनके शरीर पर अनेक जगह लकड़ी के निशान थे। कई जगह से खून बह रहा था। मैं यह देखकर आश्चर्य में पड़ गया। समझ में नहीं आया क्या हुआ? सारे समाज को खबर लगी। सब लोग बहुत दुखी हुए। महाराज ने कुछ नहीं कहा। वे चुपचाप रहे और पास के ग्राम जैनबाड़ी को चले गये। वहाँ जाकर हम लोगों ने उनसे बहुत प्रार्थना की। अत्यधिक अनुनय विनय के उपरान्त वे पुनः कोगनोली आये।

"आज भी पागल के द्वारा किये गये उपसर्ग का स्मरण कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कैसी उनकी स्थिरता थी, कितना उनमें धैर्य था, कितनी उनमें शान्ति थी? हमारा छोटा सा हृदय और साधारण सा मस्तक उन गुरुदेव की गहराई और महत्ता का अनुमान भी नहीं कर सकता। धन्य हैं, वे जो उस भयंकर शारीरिक उपद्रव को साम्यभाव से सहन करते रहे।"

श्री फूलचन्द हीराचन्द कोठड़िया पूना

श्री फूलचन्द हीराचन्द कोठड़िया एडवोकेट रविवार पेठ पूना ने महाराज की सल्लेखना का उल्लेख करते हुए एक विशेष बात सुनाई- "आचार्य महाराज के नेत्रों को देखकर एक होम्योपेथिक डॉक्टर ने कहा था कि यदि वे एक माह मेरी दवा नेत्रों में डालेंगे, तो निश्चय से लाभ होगा। आँख में हम शुद्ध दवा डालेंगे।"

"मैंने डॉक्टर से दवा लेकर कुंथलगिरि भेज दी। भवितव्य प्रतिकूल था, इसलिए विश्वासपात्र आदमी के द्वारा भेजी गई वह औषधि महाराज के पास नहीं पहुँची। आठ दिन के बाद हम उनके पास पहुँचे, तब महाराज बोले- "तुमने दवा नहीं भेजी। आठ दिन तक का मौका दिया। तुम भूल गये। हमने सोचा कि अब हमारा समय समीप आ गया है, इसीलिए ऐसा हुआ। हमारे मन ने सल्लेखना की सलाह दी और हमने प्रतिज्ञा करली कि अब दवा नहीं दी जा सकती।" मैं बड़ा दु:खी हुआ, सोचा यदि दवा पहिले पहुँच जाती, तो ये गुरुदेव इतने शीघ्र ही इस भरतक्षेत्र को छोड़कर स्वर्ग की यात्रा न करते।

पं. कन्छेदीलालजी न्यायतीर्थ

ग्यारह मार्च १९५७ को माणिकचन्द्र परीक्षालय बम्बई के इन्सपेक्टर श्री पं. कन्छेदीलाल जी न्यायतीर्थ सिवनी आए। उन्होंने आचार्य महाराज के विषय में आश्चर्यप्रद तथा महत्त्वपूर्ण बात बताई। उन्होंने कहा- "जब आचार्य महाराज का चातुर्मास उदयपुर में था, उस समय मैं स्थानीय पार्श्वनाथ विद्यालय में धर्माध्यापक था। उस समय इन साधुराज के जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण बातें देखीं। दो एक बातें याद हैं। एक तो बात उनके ज्ञान से सम्बन्ध रखती है। ब्र. नन्दनलाल जी शास्त्र बाँचते थे।[१] जब कभी सूक्ष्म चर्चा होते-होते गम्भीर विवाद उठता था, तब महाराज अपने प्रतिभाप्रसूत अल्प शब्दों द्वारा विवाद को शांत कर देते थे।"

---

१. ब्र. नंदनलालजी आचार्य सुधर्मसागर महाराज के रूप में प्रख्यात हुए हैं।

दूसरी बात, जो याद रही वह यह है कि वहाँ महाराज की प्रकृति बिगड़ गयी थी। राजवैद्य पं. जुगलकिशोर जी को महाराज का हाथ दिखाया। महाराज का चिकित्सा की ओर तनिक भी ध्यान न था। वे अद्‌भुत आत्मविश्वास सम्पन्न थे। वैद्यराज उनके जीवन से बहुत प्रभावित थे।

सर्पदंश होने पर भी नीरोगता

एक दिन की बात है, वैद्यराज आचार्य महाराज की कुटी से लगभग ग्यारह बजे रात को निकलकर घर गये। उस दिन वैद्यजी के घर में अंधेरे का राज्य था। वे दियासलाई खोज रहे थे कि एक सर्प ने उन्हें काट लिया। वैद्यराज विचार में पड़ गये। क्या दवा लेना? क्यों दवा लेना? इतने बड़े साधु औषधि नहीं लेते। ऐसा कुछ विचार करते ही विष चढ़ने से मूर्छा आ गई। प्रभातकाल में जब नींद खुली तो वैद्य जी ने अपने को स्वस्थ पाया। उन्होंने समझ लिया कि यह प्रभाव उन योगीश्वर का है। बहुत सबेरे ही वैद्यजी महाराज के पास गये और उन्होंने कहा-"महाराज! आपका अद्‌भुत प्रभाव स्वयं अनुभव कर मैं आपका अनन्य भक्त बन गया हूँ।"

इस प्रकार इन विशुद्ध-चरित्र मुनिनाथ के प्रभाव से न मालूम कितने लोगों की आत्मा पवित्र हो गई।

प्रभावशाली मुद्रा

पंडितजी ने यह भी बताया कि उदयपुर से चार मील पर आचार्य महाराज का चातुर्मास निश्चित हुआ था। जैनधर्म से द्वेष करने वाले अनेक दुष्टों ने आचार्य महाराज पर उपसर्ग करने का निश्चय किया था।

जब आचार्य महाराज की शांत मुद्रा पर उनकी दृष्टि पड़ी, तो सब के सब बैरभाव भूल गये और उनके चरणों के अनुरागी बन गये। ऐसा प्रभाव उनकी मुद्रा के देखने से भद्र जीवों पर पड़ता था। हाँ! अत्यन्त नीच तथा कुगति में जाने वाले, पापी पुरुषों को उनका दर्शन अवश्य हृदय में दाह उत्पन्न करता था। ऐसा होना कोई नई बात नहीं है। सूर्य को सारा संसार प्रेम से देखता है; किन्तु चमगीदड़ सूर्य के तेजोमय रूप को देख नहीं सकता। इसी प्रकार का नियम मनुष्यों में भी मानना चाहिए। कारण, जीवों का स्वभाव अद्‌भुत होता है। स्वभाव की कोई दवा नहीं होती। फिर भी बहु संख्या के आधार पर यह कथन वास्तविकता पूर्ण है कि आचार्यश्री का दिव्य दर्शन महान् शांति को उत्पन्न करता था।

पार्श्वनाथ उपाध्ये

कोल्हापुर के पास निपाणी नगर है। उसके पास स्तवनिधि क्षेत्र है। उस अतिशय क्षेत्र में १०८ आचार्य पायसागर महाराज का स्वर्गवास तीन वर्ष पूर्व हुआ था। उनकी स्मृति में हजारों लोग स्तवनिधि पहुँचे थे, क्योंकि पायसागर महाराज का उस तरफ बड़ा प्रभाव रहा है। वे अद्भुत पुरुष हो गए। हम भी श्री गणपति रोटे के साथ स्तवनिधि पहुँचे।

मूर्ति निर्माता जैनी

वहाँ मंदिर में पूजा करने वाले एक जैन पुजारी- उपाध्याय मिले। वे वृद्ध थे, पाषाण की सुन्दर मूर्ति बना रहे थे। वहाँ हमें पता चला कि पहले सुंदर, आकर्षक नेत्रों तथा अंत:करण को आनंदप्रद मूर्तियों का निर्माण दक्षिण में किस प्रकार जैनधर्म के आराधकों द्वारा हुआ करता था। इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी मूर्तियाँ जैनों द्वारा ही बनाई जाती थीं, हमारा अभिप्राय यह है कि मूर्ति-निर्माण कार्य में भी जैन कलाकार निपुण थे। पार्श्वनाथ तवनप्पा उपाध्ये उन कलाकार का नाम है और वे चिक्कोडी तालुका (बेलगाँव जिला) के पट्टनकुड़ी ग्राम के निवासी हैं।

महत्त्वपूर्ण संस्मरण

वयोवृद्ध श्री उपाध्ये ने शांतिसागर महाराज के सत्संग का लाभ लिया था, भोजग्राम भी चिक्कोडी तालुका में ही तो है। श्री उपाध्ये का यह वर्णन महत्त्वपूर्ण तथा मनोरंजक है-"आचार्य महाराज जब गृहस्थ थे अर्थात् उन्होंने जब गृह नहीं छोड़ा था, तब वे हमारे ग्राम पट्टन में आए थे। मैं उनको एक घंटे पर्यन्त पद्मनंदिपंचविंशतिका सुनाता था। उस समय महाराज को ब्रह्मचारी सातगौड़ा कहते थे। उनका उस समय यह नियम था कि शास्त्र स्वाध्याय के बिना वे अन्न-जल नहीं लेते थे। शास्त्र सुनने के उपरांत ही वे भोजन करते थे। उनका शास्त्र का प्रेम प्रारंभ से ही महान् रहा है। हमारा उनका हार्दिक प्रेम था। वे शास्त्र सुनकर मुझसे कहते थे"-

मुनि बनने की पूर्व से ही भावना

"उपाध्याय! मेरा मन शीघ्र ही स्वामी बनने का है।" दक्षिण में मुनिपद लेने वाले को स्वामी कहने की पद्धति है। इस व्यवहार के पीछे सद्विचार छुपा है। चक्रवर्ती भी साक्षात् क्यों न हो, वह स्वामी नहीं है। वह बेचारा भोगों तथा इंद्रिय सुखों का दास है।

दासानुदास समान है। दिगम्बर मुद्रा स्वीकार करने वाला मनस्वी मानव इंद्रियों का दास नहीं रहता है, वह इंद्रियों को दास बनाता है, अतएव मुनि को स्वामी कहना अर्थ-पूर्ण है। संयमरत्न रहित अव्रती गृहस्थ को स्वामी कहना भिखारी को करोड़पति कहने सदृश बात है।

उपाध्याय ने महाराज के स्वामी बनने की भावना ज्ञात करके कहा- "पाटील! स्वामी बनना कठिन काम है। उसके लिए आत्मा में बहुत शक्ति तथा सच्चा वैराग्य चाहिए।"

महाराज का सुदृढ़ संकल्प

वे कहते थे- "मैंने अपने मन में पक्का निश्चय कर लिया है। मैं उससे पीछे नहीं हटूंगा।" उनकी इस वाणी के पीछे सुदृढ़ संकल्प की प्रेरणा का दर्शन होता था। उनकी उच्च मनोभावना ज्ञातकर मैं उनके समक्ष यतिधर्म की विशेष रूप से व्याख्या करता था। उस अवस्था में वे मुझे ज्ञान, वैराग्य तथा ब्रह्मचर्य की जीवितमूर्ति दिखते थे।"

वर्धमान स्वामी महान् थे

"जैसा निकट परिचय आचार्य महाराज के साथ था, वैसा ही परिचय तथा निकटता देवगोंडा पाटील (वर्धमानसागर महाराज) के साथ थी। दोनों पाटील बंधु सत्पुरुष, महान् तथा शांत आत्मा थे।"

उनका पवित्र सुझाव

महाराज मुझसे कहते थे- "उपाध्याय! तुम मुनिधर्म की इतनी मधुर तथा मार्मिक चर्चा करते हो। उसके गुण का कथन करते हो; तुम भी मुनि बनो, तो ठीक रहेगा।"

चारित्र मोहोदय

मैं कहता था- "मेरे चारित्र मोह का प्रबल उदय है, इससे मैं महाव्रती बनने की पात्रता अभी अपने में नहीं पाता हूँ। जब कर्मभार हलका होगा, तब उस निर्वाण मुद्रा को धारणकर अपने जन्म को कृतार्थ करूंगा।" उनके दर्शन मात्र से हृदय को अपार आनंद प्राप्त होता था।

सेठ रामचंद धनजी दावड़ा नातेपुते

सेठ रामचंद धनजी दावड़ा नातेपुते ने कहा- "मैं पहली बार महाराज

शांतिसागरजी के पास कोन्नूर में गया था। वहाँ पाँच सौ से भी अधिक गुफाएँ हैं। महाराज नगर के बाहर ही गुफा में रहते थे। दोपहर की सामायिक गुफा में ही करते थे। गुफा पाँच फुट से भी बड़ी थी। ऊँची अधिक थी। एक चिह्ने वाला सर्प, जो लगभग २ हाथ का रहा होगा, गुफा में आया। वह महाराज की जंघा पर चढ़ा और बाद में गुफा के बाहर आ गया। वह महाराज के शरीर पर पाँच मिनिट पर्यन्त रहा था। उस समय महाराज ध्यान में स्थिर थे। वे जरा भी हिले-डुले नहीं। उनकी दृढ़ता देखकर मेरे मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। मैं इतना प्रभावित हो गया कि क़रीब लगातार तीस वर्ष पर्यन्त भादों में उनके पास नियम से जाया करता था। मैं उनके बहुत परिचय में रहा। वे अपने ढंग के अद्वितीय महापुरुष हो गए।''

कालप्पाण्णा लेंगड़े शाहपुर

बहिन का वर्णन

कालप्पाण्णा लेंगड़े शाहपुर बेलगाँव ने बताया-''आचार्य महाराज महान् थे। उनकी बहिन कृष्णाबाई भोज की महिलाओं में अग्रणी थीं। उनका स्वभाव मृदु था। वे सब स्त्रियों को धर्म का उपदेश देती थीं। उनका वर्ण वर्धमान महाराज के समान था। उनके समान ही वे सरल स्वभाव वाली थीं। शान्त, तेजयुक्त, बुद्धिमती महिला थीं। सैकड़ों महिलाओं में उनका व्यक्तित्व पृथक् दिखता था। वे व्रती थीं। अनुभव पूर्ण चर्चा करती थीं। शरीर नीरोग था। सबसे छोटे भाई कुमगोड़ा पाटील जयसिंगपुर के मुख्य व्यापारी थे। वे व्यवहार तथा धर्म कार्यों में अत्यन्त चतुर तथा प्रवीण थे।''

श्री गणपति रोटे कोल्हापुर

प्रतिभा संपन्न

श्री गणपति ने आचार्य महाराज का संस्मरण सुनाया था -''शाहुपुरी मंदिर की प्रतिष्ठा के समय आचार्य महाराज कोल्हापुर आए थे। उस समय कोल्हापुर में सत्यशोधक समाज के नाम से कुछ व्यक्तियों का समुदाय विद्यमान था। उस समाज के लोगों ने तीन दिन पर्यन्त विचित्र-विचित्र शंकाएँ की थीं। महाराज अपनी प्रतिभा के द्वारा जो उत्तर देते थे, उससे सब शांत हो जाते थे।''

महत्त्वपूर्ण प्रश्न - मुझे यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न याद है। एक व्यक्ति ने कहा-

"महाराज! आपके धर्म में मुक्तात्माओं का पुनर्जन्म नहीं माना गया है। सब मुक्त हो जायेंगे तो एक सिद्धालय में कैसे समावेंगे?"

समाधान - आचार्य महाराज व्यक्ति की योग्यता, पात्रता आदि को ध्यान में रखकर उत्तर देते थे। सामान्य ज्ञानियों को समझ में आ जाय, ऐसी बात उस समय कहना आवश्यक था। महाराज ने कहा-"एक बर्तन में दूध लो। उसे पूरा भर दो। उसमें शक्कर डालने पर दूध नहीं गिरता है। एक दूसरे बर्तन में पानी लो। उस पानी में घोड़े की लीद डालो, तो पानी गिर जाता है। दूध में शक्कर की तरह एक जगह सिद्ध भगवान समा जाते हैं। पानी में लीद की तरह संसारी जीव एक जगह सब नहीं समाते हैं।" लोग चुप हो गए। महाराज की प्रतिभा विलक्षण थी। प्रतिभा ही क्यों, उनकी सभी बातें अपूर्व थीं।

श्री मियांचन्द रतूचन्द फड़े अकलूज

१०८ धर्मसागर मुनि महाराज को शिखरजी की यात्रा कराकर संघपति श्री मियाचंद रतूचंद फड़े आषाढ़ वदी चतुर्थी सन् १९५५ को बारसी से चार मील की दूरी पर आचार्यश्री के समीप पहुँचे। उनसे महाराज ने पूछा-"धर्मसागर को कहाँ रखकर आए?"

उत्तर-"महाराज जबलपुर के समीप के बरगी ग्राम में छोड़ आए हैं। वहाँ गर्मी बहुत पड़ती है।"

मुनि की विवेकपूर्ण दृष्टि

महाराज ने कहा-"धर्मसागर ने वहाँ ठहरकर उचित काम किया। अगर आगे चलकर गर्मी के कारण बीमार पड़ता, तो क्या हालत होती, ऐसी गर्मी में?" फिर महाराज बोले-"वह होशियार हो गया- तो शहाणा झाला।" आचार्यश्री की दृष्टि को ध्यान में न रख ऋतु की उग्रता के समय कठोर तपश्चर्या करने वाले कई पवित्र मुनीश्वरों का देहावसान हो गया है।

बारसी के समीप आने पर महाराज बोले-"तुम वापिस चले जाओ।" फड़े ने कहा-"महाराज! आपके साथ थोड़ी दूर और चलेंगे।"

महाराज-"जाओ बाबा! तुम थके हुए हो।"

फड़े-"महाराज! आपके साथ चलने से थकावट दूर होती है। थकावट नहीं मालूम पड़ती है।"

थोड़ी दूर चलने के पश्चात् उन दयालु गुरुदेव ने कहा-"जाओ! अब बहुत हो गया।" फिर महाराज बोले-"अच्छा, जाओ। हाँ! कुंथलगिरि जल्दी आना।" उस समय किसे पता था कि आगे क्या होगा? यम सल्लेखना लेने की कल्पना भी उस समय अवगत नहीं हुई थी।

कल्पना में बात तो तब आती, जब उसके सम्बन्ध में कभी किसी प्रकार की चर्चा चली होती। अद्भुत आत्मबली, परमपावन गुरुदेव प्रायः हृदय की बात मुझे बताते थे। उन्होंने कहा था-"हम सल्लेखना तो लेंगे, किन्तु वह यम-सल्लेखना न होगी। हम नियमरूप-सल्लेखना लेंगे," उनके मनोगत को उपरोक्त रूप से जानने के कारण, मैं तो कभी नहीं सोचता था, कि महाराज और यमराज का द्वन्द्व यम-सल्लेखना के माध्यम से आरम्भ होगा?

गहराई से पता चलाने पर यह अवगत हुआ, कि वे साधुराज सल्लेखना की तपोग्नि में अभी प्रवेश करने की नहीं सोचते थे; किन्तु दुर्दैववश कुछ लोगों ने ऐसी विचित्र परिस्थिति लाकर एकत्रित कर दी कि महाराज की अत्यन्त विरक्त और प्रबुद्ध आत्मा ने यम-सल्लेखना को स्वीकार किया। अब विशेष ऊहापोह में क्या सार है-'अब पछताए होत का, चिड़िया चुग गई खेत।'

गुरुदेव तो गए। उनके जीवन की बातों को पुनः-पुनः स्मरण कर तथा तदनुसार प्रवृत्ति कर हम अपना जन्म कृतार्थ कर सकते हैं। वे तो वास्तव में धन्य हो गए। हमारे समक्ष उनके पदचिह्न हैं।

卐 卐 卐

इस प्रकार अनेक निर्ग्रन्थ साधुओं, साध्वियों, श्रावकों, श्राविकाओं, गृहस्थों आदि के अन्तःकरणगत विचारों से भी यह बात स्पष्टरूप से ज्ञात होती है, कि आचार्य शान्तिसागर महाराज महान् योगिराज थे। तपोमूर्ति थे। उनका जीवन अपूर्व आध्यात्मिक प्रकाश से दीप्तिमान था। वे आध्यात्मिक ज्योति थे। उनके विशुद्ध जीवन से गणनातीत भव्यात्माओं ने आत्मकल्याण की मंगलमय प्रेरणा प्राप्त की थी। उनका व्यक्तित्व महान् था। उनके पवित्र संपर्क को पाकर मोही प्राणी वीतरागता के पथ पर चलने को स्वयमेव तत्पर हो जाता था।

चंदन सदृशजीवन

उनका जीवन मलयागिरि के श्रेष्ठ चन्दन तुल्य था।[१] उनके समीप पहुँचनेवाला संतापमुक्त बनता था, साथ ही उसकी आत्मा में पवित्रता का सौरभ भर जाता था। उनके शरीर पर अनेक बार सर्पराज लिपटे थे, जो यह द्योतित करते थे, कि शान्तिसागर महाराज वास्तव में चंदन तुल्य महिमा संपन्न सज्जनोत्तम थे; क्योंकि सर्पसमूह का चंदन-प्रेम प्रसिद्ध है।

महान् तत्त्वज्ञानी

मोक्षमार्ग की दृष्टि से जीवन की परिपूर्णता के लिए आत्मोपलब्धि, आत्मबोध एवं आत्मनिमग्नता रूप रत्नत्रय की अखण्डमैत्री आवश्यक है। उनकी वाणी तथा विविध प्रवृत्तियों के विषय में आगम के प्रकाश में विचार करने पर यह स्पष्ट होता था, कि वह आत्मा तत्त्व दृष्टि समलंकृत थी। आप्त, आगम, तथा वीतराग धर्म के प्रति उनके अन्तःकरण में सुदृढ़ श्रद्धा थी; इसके लिए उनका सर्वांगीण जीवन दर्पण का कार्य करता हुआ प्रतीत होता है।

वैसे सूक्ष्मदृष्टि से सोचा जाय, तो सम्यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म है। वह वाणी के अगोचर है। वह केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अथवा परमावधि, सर्वावधि ज्ञानगोचर कहा गया है। पंचाध्यायी में लिखा है-

> **सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्।**
> **गोचरं स्वावधि-स्वान्तपर्यय-ज्ञानयोर्द्वयोः ॥३७५॥**

---

१. गुरुदेव का जन्म जिस गृह में हुआ था, वहाँ हम गए थे। वहाँ चंदन का वृक्ष लगा है।

वह सम्यक्त्व मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अथवा देशावधि ज्ञान के अगोचर है। पंचाध्यायीकार कहते हैं -

> न गोचरं मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-द्वयोर्मनाक्।
> नापि देशावधेस्तत्र विषयानुपलब्धितः ॥२७६॥ उत्तरार्ध

किसी के बौद्धिक विकास अथवा वाणी-विलास के आधार पर भी उसके अन्तःकरण को सम्यक् प्रकार से समझना संभव नहीं है। पंचाध्यायी में लिखा है-

> अस्ति चैकादशांगानां ज्ञानं मिथ्यादृशोपि यत्।
> नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात् परम् ॥१९९-२॥

मिथ्यात्वी जीव के आचारांगादि एकादश अंगों का ज्ञान होते हुए भी आत्मा का अनुभव नहीं होता है, क्योंकि उसके मिथ्यात्व प्रकृति का उदय पाया जाता है।

ऐसी स्थिति में सुन्दर लेखक, वक्ता, गायक, कवि आदि होते हुए भी व्यक्ति की आत्मा मिथ्यात्व पंक से विमुक्त है, ऐसी कल्पना दृढ़तापूर्वक नहीं की जा सकती है; फिर भी स्थूल रीति से प्रशम, संवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य गुणों के द्वारा दूसरे के तत्त्वज्ञान के विषय में विचारकवर्ग को सोचने, समझने में सहायता प्राप्त होती है।

मिथ्यात्वी की पहिचान

कुछ तो ऐसी बातें कही गई हैं, जिनसे क्षण भर में मिथ्यात्व के विकार का सद्भाव सूचित होता है। ऐसी प्रसिद्धि है-

> सर्प डस्यो तब जानिये, रुचिकर नीम चबाय।
> कर्म डस्यो तब जानिये, जिनवाणी न सुहाय॥

इसी प्रकार भगवती-आराधना का यह कथन सम्यक्त्वी-मिथ्यात्वी का विश्लेषण करने में सहायक होता है-

> पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं।
> सेसं रोचंतो विहु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो॥

जो व्यक्ति सूत्रकथित एक भी पद या अक्षर को नहीं पसन्द करता है तथा उसके सिवाय शेष आगम को मानता है, उसे मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए। जिनेन्द्र वाणी के एक अंश में भी अश्रद्धा रूप विष व्यक्ति के प्रगाढ़ मिथ्यात्व का परिचायक है।

सम्यक्त्वी जीव सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी आप्त की वाणी पर श्रद्धान करता है तथा वह आज्ञा रूप से स्वीकार करता है। कहा भी है-

> सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
> आज्ञासिद्धं च तद्ग्राह्यं नान्यथा-वादिनो जिनाः ॥

जिन भगवान के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व सूक्ष्म है। वह युक्ति से खण्डित नहीं किया जा सकता है। उसे आज्ञा रूप से मान्य जानकर स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान कभी भी मिथ्या प्रतिपादन नहीं करते हैं।

आगम

नियमसार में कहा है, "तस्स मुहग्गयवयणं पुव्वा वरदोस विरहियं शुद्धं आगम-मिदि कहियं" -अरिहंत भगवान के मुख से उत्पन्न तथा पूर्वापर दोष रहित, विशुद्धवाणी आगम है। समंतभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में कहा है-

> वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतु-साधितम्।
> आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागम-साधितम् ॥७८॥

वक्ता यदि आप्त नहीं है, तब जो बात युक्ति के द्वारा निर्णीत होती है, उसे हेतु-साधित कहते हैं। यदि वक्ता आप्त है, तो उसकी वाणी होने के कारण निर्णीत माना गया तत्त्व आगम-साधित कहा गया है।

आज कुछ लोग आगम की उपरोक्त आज्ञा की जान बूझकर अवहेलना करते हुए आगम के बहुभाग को प्रामाणिक न मानकर अपने को सम्यक्त्वी सोचते हैं तथा अपने साथियों को तत्त्वज्ञानी कहते हैं। सम्यक्ज्ञान के प्रकाश में यह चेष्टा प्रगाढ़ मिथ्या भाव से परिचालित प्रतीत होती है। ऐसे व्यक्तियों से सम्यक्त्व के सद्भाव के सूचक आस्तिक्य गुण का अभाव निश्चित होता है। जैसे नीरोग व्यक्ति की चेष्टाओं से उसकी स्वस्थता का परिज्ञान होता है उसी प्रकार सम्यक्त्वी की चेष्टाओं आदि द्वारा सम्यक्त्व का सद्भाव सूचित होता है।

सम्यक्त्व के चिह्न

हमें देखना है सम्यक्त्व के चिह्न रूप प्रशमादि का क्या स्वरूप है, और वे चिह्न आचार्य शान्तिसागर महाराज में थे या नहीं? अनगारधर्मामृत में लिखा है-

प्रशमो रागादीनां विषमोऽनन्तानुबंधिनां संवेगः।
भव-भयमनुकम्पाखिल सत्त्वकृपास्तिक्यमखिलतत्त्वमतिः ॥१-५२॥

अनंतानुबंधी रागादि अर्थात् क्रोध, मान, माया तथा लोभ का अभाव प्रशम भाव है। इससे आत्मा में प्रशान्त भाव उत्पन्न होता है। संसार से भयभीत होने को संवेग कहते हैं[१]। त्रस-स्थावररूप संपूर्ण जीवों पर दयाभाव रखना अनुकम्पा है। संपूर्ण तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के निश्चय को आस्तिक्य भाव कहा है। जिनेन्द्र प्रणीत आगम के कथन पर पूर्ण विश्वास धारण करने को भी आस्तिक्य कहा गया है।[२]

आचार्यश्री का जीवन

हमने इस आध्यात्मिक ज्योति में विविध व्यक्तियों के विचारों को उनके शब्दों में निबद्ध किया है; उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शान्तिसागर महाराज प्रशममूर्ति थे। उनका जीवन वैराग्य भाव से परिपूर्ण रहा है, अतः संवेगभाव भी उनमें था। त्रस-स्थावर जीवों के प्रति कारुण्य-भाव धारणकर महाव्रत को अंगीकार करने के कारण उनके उच्च अनुकम्पा भाव स्वयंसिद्ध होता है। जिनेन्द्र की वाणी पर उनकी श्रद्धा लोकोत्तर थी। उस आगम पर श्रद्धा रहने के कारण ही ईर्या आदि समितियों की रक्षार्थ उन्होंने शरीर के सशक्त रहते हुए भी समाधिमरण रूपी दुर्धर तपःसाधना को स्वीकार कर परम शान्तिपूर्वक प्राणों का परित्याग किया।

धर्मध्यान

आर्तध्यान, रौद्रध्यान का त्याग कर उन्होंने धर्मध्यान को स्वीकार किया था। इस समय शुक्लध्यान भरतक्षेत्र में नहीं होता है। कुंदकुंदस्वामी ने लिखा है-

---

१. पंचाध्यायी में संवेग का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है-
संवेगः परमोत्साहः धर्मे धर्मफले चितः।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिसु ॥
आत्मा का धर्म तथा धर्म के फल में परम उत्साह रखना, साधर्मियों में अनुराग अथवा परमेष्ठियों में प्रीति करना संवेग भाव है।

२. राजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने प्रशमादि का स्वरूप पूर्ववत् ही कहा है-
रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः। संसाराद्भीरुता संवेगः। सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकंपा। जीवादयोऽर्था यथा स्वभावैः संतीति मतिरास्तिक्यं। एतैरभिव्यक्तलक्षणं प्रथमं सरागसम्यक्त्वमित्युच्यते। पृ. १६; अध्याय १, सूत्र २।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णई सोवि अण्णाणी ॥७६॥ मोक्षपाहुड

इस भरतक्षेत्र में इस पंचमकाल में मुनि के धर्मध्यान होता है। यह ध्यान आत्म-स्वभाव में स्थित मुनि के होता है। इस बात को जो नहीं मानता है वह व्यक्ति भी अज्ञानी है।

शुभोपयोग मीमांसा

आचार्य महाराज की प्रवृत्ति निसर्गतः शुभोपयोग रूप होती थी। चारित्रशून्य कोई-कोई गृहस्थ आजकल अपने को शुद्धोपयोगी सोचते हैं। यह धारणा आगमबाधित है। परिग्रही गृहस्थ के शुद्धोपयोग नहीं होता। वह दिगम्बर साधु के ही पाया जाता है। अप्रमत्त गुणस्थान से आगे शुद्धोपयोग कहा है। बृहद्द्रव्यसंग्रह में गाथा ३४ की टीका में (पृ. ९४) लिखा है-"ततोप्यसंयतसम्यग्दृष्टि-श्रावक-प्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते तदनन्तरमप्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेश-शुद्धनयरूप-शुद्धोपयोगो वर्तते"-असंयत-सम्यग्दृष्टि, श्रावक, प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में परम्परा से शुद्ध उपयोग का साधक ऊपर-ऊपर तारतम्य से शुभ उपयोग रहता है। तदनन्तर अप्रमत्तादि क्षीणकषाय पर्यन्त जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एक देश शुद्धनय रूप शुद्ध उपयोग वर्तता है।

जो गृहस्थ अपने पद के योग्य सामान्य सदाचार को भूलकर अशुभोपयोग में लीन रहते हुए शुद्धोपयोग की बातें बनाते हैं, तथा शुभोपयोग को त्याज्य कहते हैं, वे पापपंक में डूबते हैं। जब आगम कहता है, गृहस्थावस्था में शुद्धोपयोग नहीं होता है, तब उस आगम की आज्ञा को शिरोधार्य करना हितकारी है। अपनी झूठी कल्पना द्वारा आगम की अवहेलना मिथ्यात्वी का कार्य है।

पुण्य बंध

इस शुभोपयोग का फल पुण्यबंध है। पुण्यबंध रहित अवस्था शुक्लध्यान द्वारा साध्य है। आज वह ध्यान नहीं होता, अतः धर्मध्यान द्वारा पुण्यबंध मानना होगा।

कुंदकुंद स्वामी ने संसार अनुप्रेक्षा में लिखा है:-

असुहेणणिरयतिरियं सुहजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥४२॥

अशुभ उपयोग से नरक, तिर्यंच पर्याय मिलती है। शुभ उपयोग से देव तथा नरगति के सुख मिलते हैं। शुद्धोपयोग से मोक्ष मिलता है, इस प्रकार इस लोक के विषय में विचार करें।

धर्म ध्यान शुभ भाव है

धर्मध्यान शुभ परिणाम रूप है। यह धर्मध्यान चौथे से प्रारम्भ होता है। श्रेणी पर आरोहण के पूर्व धर्मध्यान होता है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में अकलंकस्वामी ने लिखा है-''धर्म्यध्यानं श्रेण्योर्नेष्यते''(अ.९ सू. ३६, पृ. ३५४)। आगे उन्होंने यह भी लिखा है-''धर्म्यध्यानमविरत-देशविरत-प्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति''-यह धर्म्यध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्तसंयत पर्यन्त होता है। अप्रमत्तगुणस्थान का भेद सातिशय अप्रमत्त भी कहा है, जबकि वह जीव करणत्रिक करता हुआ श्रेणी पर आरोहण करता है। अत: इस गुणस्थान में श्रेण्यारोहण के पूर्व धर्मध्यान होता है तथा श्रेणी आरोहण काल में शुक्ल ध्यान होता है। धर्मध्यान शुभ परिणाम स्वरूप है। उससे पुण्य का बंध होता है। इस विषय में कुंदकुंदस्वामी का प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार में यह कथन मनन योग्य है-

सुह-परिणामो पुण्णं, असुहो पावंति भणियमण्णेसु।
परिणामोणण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥१८१॥

आगम में शुभ परिणाम पुण्य का कारण कहा है। अशुभभाव पाप का कारण कहा गया है। इन दोनों से भिन्न शुद्धभाव दु:खक्षय का कारण कहा गया है। कुंदकुंदस्वामी ने गाथा २७४ में कहा है-''सुद्धस्स य णिव्वाणं'' शुद्धोपयोगी के ही मोक्ष होता है; इससे जो गृहस्थ शुद्धोपयोग की ही बातें करते हुए शुभोपयोग की भूमि पर पैर ही नहीं रखना चाहते, फलत: शुभोपयोग छोड़ा, शुद्धोपयोग मिला नहीं, तो पारिशेष न्यायानुसार अशुभोपयोग से कुपथ में भटकते हैं। वे स्वयं आगमविरुद्ध विचार- चक्र में फँसते हैं और अन्य धार्मिक लोगों को भी अपने रास्ते पर खींचने का उद्योग करते फिरते हैं। यह पद्धति ठीक नहीं है।

शुभोपयोगी के पुण्य बंध एवं पाप की निर्जरा होती है। ठीक मार्ग इस प्रकार है। कहा भी है—

अशुभ भाव को त्यागकर सदा धरो शुभ भाव।
शुद्धभाव आदर्श हो यह आगम का भाव ॥१॥

हिंसादिक दुर्भाव हैं, जिनपूजादि सुभाव।
दया-दान- व्रतधारकर लागहु मोक्ष उपाव ॥२॥

आगमोक्त प्रवृत्ति

आचार्य महाराज आगम के हृदय को भली प्रकार समझते थे, अत: वे शुभोपयोग से संबंध रखने वाले अन्य कार्यों में भी योगदान करते थे। कुंथलगिरि में यम-सल्लेखना लेने पर भी वे प्रतिदिन १००८ भगवान देशभूषण, कुलभूषण स्वामी का पंचामृत अभिषेक देखकर निर्मलता प्राप्त करते थे।

ऐसी श्रेष्ठ तपस्या के समय पर उन आगमप्राण गुरुदेव का अभिषेक-दर्शन धार्मिक वर्ग को यह सूचित करता है, कि उक्त अभिषेक पद्धति पूर्णतया आगम-सम्मत है। वह पंथ विशेष की वस्तु नहीं है। आत्मकल्याण के प्रेमियों को आचार्य महाराज के जीवन से अपनी धारणा में सुधार करना चाहिए।

विचारणीय

यह बात स्थूल बुद्धि व्यक्ति भी सोच सकता है, कि उस तपश्चर्या काल में शान्तिसागर महाराज अपने प्राणाधिक आगम के अनुसार प्रवृत्ति कर रहे थे। जो पक्षांध व्यक्ति यह सोचें, कि महाराज दक्षिण के थे, अत: वे ऐसा करते थे, वे भ्रम में हैं। वे गुरुदेव न दक्षिण के थे, न उत्तर के; वे तो आगम के थे। अतएव आचार्य महाराज की महत्ता को स्वीकार करने वालों को पक्ष की ममता त्याग- कर गुरुदेव के जीवन से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए। पक्ष मोह छोड़कर आगम की आज्ञानुसार प्रवृत्ति हितकारी है। आगमपंथी बनना श्रेयस्कर है।

व्यवहार-निश्चय मीमांसा

कोई-कोई यह कहते हैं; मुमुक्षु को व्यवहार दृष्टि को छोड़कर निश्चय दृष्टि को अपनाना चाहिए, क्योंकि उनकी धारणा है कि व्यवहार नय मिथ्या है; इस विषय में आचार्य महाराज कहते थे, स्याद्वादवाणी का अंग होने से दोनों नय सम्यक् हैं। इसी से उन्होंने व्यवहार का परित्याग नहीं किया था। बहुधा लोग व्यवहार-निश्चय का आगम-सम्मत अर्थ बिना जाने-बूझे व्यवहार की निन्दा के क्षेत्र में कूद पड़ते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि निश्चय नय के समान व्यवहार नय भी सम्यक् ज्ञान का अंग है। वस्तुभेद (पर्याय) तथा अभेद (गुण अथवा द्रव्य, सामान्य) रूप है। वह सामान्य-विशेष धर्मरूप है। 'आलाप पद्धति' में लिखा है। "तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र

निश्चयोऽभेदविषयो, व्यवहारो भेदविषय:" व्यवहार तथा निश्चय ये दो मूल नय हैं। निश्चय नय अभेद को ग्रहण करता है; व्यवहार नय भेद को विषय करता है। भेद तथा अभेद में दोनों प्रमाण के विषयभूत होने से यथार्थ हैं, काल्पनिक नहीं हैं। महाज्ञानी ऋषिराज समंतभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में उपरोक्त तत्त्व इन शब्दों में व्यक्त किया है:-

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती।
तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥३६॥

भेद तथा अभेद दोनों अस्तित्व रूप हैं, क्योंकि वे प्रमाण ज्ञानगोचर हैं। वे काल्पनिक नहीं हैं। वे मुख्य तथा गौण विवक्षारूप से आपके मत में एक जगह पर दोनों ही अविरोधी रूप में पाये जाते हैं।

भ्रान्त धारणा

आचार्य महाराज ने द्वादशांग महाशास्त्र को समुद्र की उपमा दी थी। उस द्वादशांग वाणी की गंभीरता को भुलाकर बालबुद्धि व्यक्ति भी अपने को सरस्वती पुत्र मानकर आजकल आचार्यों के कथन को भी सदोष बताता है। कोई-कोई कहते हैं, पुण्य, पाप दोनों समान हैं। अत: पुण्य भी त्याज्य है। जब पुण्य त्याज्य है, तब पुण्य के कारण दान-पूजादि कार्य भी अग्राह्य हो जाते हैं। ऐसी धारणावाला गृहस्थ देवपूजा, दानादि सत्कार्यों को भी छोड़कर अपने जीवन की मलिनता का परित्याग नहीं करता है। इस विषय में एकान्त पक्ष को छोड़कर विवेकी व्यक्ति को आचार्य महाराज के समान अनेकान्ती बनना चाहिए। आचार्य महाराज स्वयं पुण्य प्रवृत्तियों में तत्पर रहते हुए अनेक भक्तों को व्रतधारण द्वारा पुण्य संचय करने के मार्ग में लगाते थे। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा है "वरं व्रतै:पदं दैवं, नाव्रतैर्बत नारकं"(३)-व्रतों के द्वारा देवपद पाना अच्छा है; व्रतरहित होकर नरक में जाना बुरा है। इस रहस्य के सौन्दर्य को भूलकर कोई-कोई कहते हैं कि पुण्य तथा पाप दोनों समान हैं। अत: पुण्य का उपदेश देना ठीक नहीं है। कुंदकुंद स्वामी ने मोक्षपाहुड में कहा है, हिंसादि के त्याग रूप व्रत तथा तप द्वारा स्वर्ग जाना अच्छा है। पापाचरण द्वारा नरक जाना ठीक नहीं है, -"वरं वयतवेहि सग्गो, मा दुक्खं णिरय इयरेहिं" ॥२५॥

पुण्य संचय

खेद है कि लोग आगम के सिंधु में अवगाहन बिना किए ही स्वेच्छानुसार कल्याण करते हैं। बड़े-बड़े आचार्यों ने गृहस्थों को पुण्य संचय का उपदेश दिया है।

गृहस्थावस्था में धर्मध्यान रूप शुभोपयोग ही संभव है, जिससे पुण्य की प्राप्ति होती है, अतः पुण्यसंचय की ओर गृहस्थ की जीवनधारा को प्रवृत्त कराना पूर्णतया उचित है। आश्चर्य है कि गृहस्थ पुण्य रूप वृक्ष के फलों को संचय करना चाहता है, उनका रसपान करने को लालायित रहता है, उसमें ही अपना प्रायः सारा समय व्यय करता है, किन्तु उस वृक्ष की निन्दा करता है, उसकी जड़ को पुष्ट करने के बदले में उसे क्षति पहुँचाने की अभद्र चेष्टा करता है।

पुण्यस्य फलमिच्छंति पुण्यं नेच्छंति मानवाः।
न पापफलमिच्छंति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

पाप-पुण्य में भेद

गृहस्थों को यह जानना चाहिए कि स्याद्वाद शासन में पुण्य पाप को आध्यात्मिक दृष्टि से जहाँ समान कहा है, वहाँ उन दोनों के भेद को भी स्वीकार किया गया है। जिनने समयसार ही देखा है, उनको अकलंक स्वामी का राजवार्तिक भी पढ़ने का कष्ट करना चाहिए; जहाँ अनेकान्त दृष्टि को इस प्रकार खुलासा किया गया है।

अनेकांत पक्ष

"उभयमपि पारतंत्र्य-हेतुत्वादविशिष्टमिति चेन्नेष्टानिष्टनिमित्तभेदात्तत्सिद्धेः" शंकाकार कहता है पुण्य तथा पाप दोनों ही समान हैं, क्योंकि दोनों जीव की परतंत्रता के कारण हैं। इस पर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा कथन ठीक नहीं है। इष्ट तथा अनिष्ट निमित्त भेद से उन दोनों में भिन्नता है। 'यदिष्ट-गति-जाति-शरीरेन्द्रिय-विषयादिनिर्वर्तकं तत्पुण्यं। अनिष्टगति-जाति-शरीरेन्द्रिय-विषयादिनिर्वर्तकं यत्तत्पापमित्यनयोरयं भेदः।' जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इंद्रिय, विषयादि का कारण है, वह पुण्य है और जो अनिष्ट गति, जाति, शरीर, इंद्रिय, विषयादि का कारण है, वह पाप है। इस प्रकार पुण्य-पाप में भेद है। (पृ. २४८, अध्याय ६)।

अध्यात्म प्रेमियों के आराध्य अमृतचन्द्रसूरि अकलंक स्वामी का समर्थन करते हुए तत्त्वार्थसार के चतुर्थ अध्याय में कहते हैं –

संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः ॥१०४॥

पुण्य-पाप दोनों संसार के कारण होने से समान हैं।

इसी विषय को आधारभूत बनाकर पुण्यसंचय के विरुद्ध यथेच्छ प्रतिपादन

किया जाता है। लोगों को यह जानना चाहिए कि शुद्धतत्त्व प्रतिपादन की अपेक्षा उपरोक्त बात कही गई है।

उदाहरण - जीवतत्त्व की दृष्टि से लोकाग्रभाग में तनुवातवलय के नीचे विराजमान सिद्धभगवान तथा वहाँ आकाशप्रदेश में स्थित निगोदिया जीव समान हैं। दोनों में अन्तर नहीं है। यह द्रव्यदृष्टि है। पर्याय दृष्टि से दोनों का अन्तर स्पष्ट है। निगोदिया अक्षर के अनंतवें भाग ज्ञान वाले हैं, अनन्त दुःख के समुद्र में डूबे हैं, अत्यन्त अल्पशक्ति वाले हैं और सिद्ध भगवान अनंतदर्शन ज्ञान, सुख, वीर्य आदि सम्पन्न हैं। अतः विवेकी का कर्त्तव्य है कि पर्याय दृष्टि तथा द्रव्य दृष्टि का यथायोग्य उपयोग करे। द्रव्यदृष्टि से ठण्डा जल और उबलता हुआ पानी समान हैं। यदि एक बालक को दोनों प्रकार के पानी को समान समझाकर भेद न बताया जाय, तो बेचारा उबलते हुए पानी को भी शीतल जल सदृश समझने के कारण दाहजनित व्यथा से पीड़ित हुए बिना न रहेगा। इस कारण यद्यपि पुण्य और पाप एक दृष्टि से समान हैं, किन्तु दूसरी दृष्टि से वे भिन्न भी हैं। गृहस्थों को यह भिन्न दृष्टि भी स्मरण रखना चाहिए।

अमृतचन्द्र सूरि की दृष्टि

अनेकान्त तत्त्वज्ञान के समर्थ प्रतिपादक अमृतचन्द्र स्वामी ने उसी तत्त्वार्थसार में लिखा है-

हेतू-कार्य-विशेषाभ्यां विशेषः पुण्य-पापयोः।

– पुण्य और पाप में हेतु और कार्य की दृष्टि से भिन्नता है, अर्थात् दोनों समान नहीं हैं।

हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे ॥१०३॥

– पुण्य का हेतु शुभभाव है, पाप का कारण अशुभ भाव है। इस प्रकार हेतु की दृष्टि से दोनों पृथक् हैं। कार्य की दृष्टि से भी दोनों में भिन्नता है; पुण्य का फल आनन्द है और पाप का फल दुःख है। तपस्वी साधु के मुख से पुण्य-पाप की समानता की बात कुछ अर्थपूर्ण दिखती है, किन्तु कनक, कामिनी के पाश में फँसा हुआ गृहस्थ, साधु की वाणी की नकल करता हुआ अद्भुत सा लगता है। सातवें नरक के नारकी और सर्वार्थसिद्धि के दिव्य सुखों का अनुभव करने वालों को समान गिनने वाला गृहस्थ अद्भुत दिमाग वाला दिखेगा।

द्रव्यदृष्टि का एकान्त

प्रश्न – द्रव्यदृष्टि तथा पर्यायदृष्टि का समुचितभेद भुलाने पर बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न होगी। मांसाहार के पोषक कहते हैं-"अन्न और मांस समान हैं, क्योंकि जैसे प्राणी का अंग मांस है, उसी प्रकार अन्न भी वनस्पति कायिक जीव का अंग है; इस प्रकार प्राणी के अंग दोनों हैं; अत: मांसभक्षी की दृष्टि से दोनों में समानता है।"

उत्तर – इसका उत्तर देते हुए जैन कहते हैं; कि उपरोक्त साम्य होते हुए भी दोनों में भोज्यपना, अभोज्यपना की अपेक्षा अन्तर है। वृक्षपना आम तथा नीम के वृक्षों में पाया जाता है, फिर भी भक्ष्यपना की दृष्टि से आम का फल मनुष्य के लिए ग्राह्य है, नीम की निबोरी नहीं; हाँ! कौआ को वह निबोरी भले ही अच्छी लगे। अथवा स्त्रीपना माता तथा पत्नी में समान रूप से विद्यमान है, किन्तु उन दोनों की भिन्नता भी सब स्वीकार करते हैं। जंगली लोग भी दोनों की भिन्नता को मानते हैं, उच्च समाज तो भिन्नता को स्वीकार करती ही है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक दृष्टि से दो पदार्थ समान हो जाते हैं, दूसरी अपेक्षा से उनमें भिन्नता पाई जाती है। महाराज दशरथ की संतान होने से राम, लक्ष्मण भाई हैं, किन्तु राम की जननी कौशल्या तथा लक्ष्मण की जननी सुमित्रा है, अत: माता की अपेक्षा राम-लक्ष्मण में भिन्नता है। यही न्याय पुण्य, पाप के विषय में लगाना चाहिए। आचार्य कुंदकुंद की परम्परा वाले अमृतचन्द्रसूरि तथा अकलंकदेव की भी दृष्टि धार्मिक पुरुष को शिरोधार्य होनी चाहिए। इस आर्ष दृष्टि को अस्वीकार करनेवाला भी यदि सम्यक्त्वी हो सकता है, तो फिर मिथ्यात्वी का क्या स्वरूप होगा? यह स्मरण रखना चाहिए कि एकान्त पक्ष ही मिथ्यात्व है, वही कथन सापेक्षरूपता धारण करके अनेकान्तरूप बनकर सम्यक् हो जाता है।

पुण्य तथा धर्म

इस प्रसंग में अध्यात्मवाद के आभासियों की एक भ्रान्त धारणा पर भी विचार करना आवश्यक है। वे कहते हैं, भगवान की पूजा आदि धर्म नहीं हैं। वे कार्य पुण्य हैं। पुण्य-पाप के समान है, अत: मुमुक्षु को पूजा आदि के प्रपंच में नहीं फँसना चाहिए। एक और अद्भुत बात है, ये लोग पूजा भी करते हैं और उसे बुरा भी बताते हैं। ऐसे लोगों को यह समझना चाहिए कि भगवान की पूजा आदि से पुण्य होता है, सुख मिलता है तथा अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। कुंदकुंद स्वामी ने श्रावक धर्म में दान पूजादि का

समावेश किया है। श्रावकाचरण को 'सावद्य धर्म' कहा है। अध्यात्मवादियों के अत्यन्त आदर प्राप्त महाकवि बनारसीदास जी जिनेन्द्रदेव की पूजा के फलरूप इंद्रियजनित सुखों के साथ मोक्षसुख का भी वर्णन करते हैं। उनका कथन है-

देवलोक ताके घर आंगन राज रिद्धि सेवें तसु पाय।
ताके तन सौभाग्य आदि गुन केलि निवास करैं नित आय॥
सो नर तुरत तिरै भव सागर निर्मल होय मोक्ष पद पाय।
द्रव्य-भाव, विधि सहित बनारसि जो जिनवर पूजै मन लाय।।

धर्म का स्वरूप

धर्म की परिभाषा है- "यतोभ्युदय-नि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:" -जिससे अभ्युदय अर्थात् संसार का वैभव तथा मोक्ष प्राप्त होते हैं, उसे धर्म कहते हैं। भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में लिखा है-

धर्मादिष्टार्थसंपत्तिस्तत: कामसुखोदय:।
स च संप्रीतये पुंसां धर्मात् सैषा परंपरा ॥१५, पर्व ५॥

राज्यं च संपदो भोगा: कुले जन्म सुरूपता।
पांडित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत्फलं विदु: ॥१६॥

धर्म से इष्ट पदार्थ, संपत्ति का लाभ होता है। उससे कामरूप सुख उत्पन्न होता है। उससे आनन्द प्राप्त होता है। यह परंपरा धर्म से प्राप्त होती है। धर्म के फल राज्य, संपत्ति, सुकुल में उत्पत्ति, सुरूप की प्राप्ति, विद्वत्ता, दीर्घजीवन तथा नीरोगता कहे गए हैं।

धर्म का क्या स्वरूप है? इस पर महापुराणकार इस प्रकार प्रकाश डालते हैं-

दया-मूलो भवेद्धर्मो दया प्राण्यनुकंपनम्।
दयाया: परिरक्षार्थं गुणा: शेषा: प्रकीर्तिता: ॥२१॥

धर्म का मूल दयाभाव है। प्राणियों के प्रति अनुकम्पा करना दया है। इस दया भाव के रक्षणहेतु शेष गुण कहे गए हैं। कुंदकुंद स्वामी ने बोध पाहुड़ में "धम्मो दया विसुद्धो (२५)-दया से विशुद्ध भाव धर्म है, कहा है। मोक्षपाहुड़ में उन्होंने अहिंसा भाव को धर्म कहा है। "हिंसारहिए धम्मे" (९०) अत: गृहस्थ को जीवदया रूप में धर्म का पालन करना चाहिए। मुनिराज जीव रक्षा करते हैं।

जिन सत्कार्यों को लोग पुण्य कह दिया करते हैं, यथार्थ में उनके भीतर दया भाव का पोषण पाया जाता है। दया शब्द व्यापक है। उसके दो भेद स्वदया, परदया कहे गए हैं। दया या अहिंसा भाव को धर्म जानना चाहिए।

धर्म की विभिन्न परिभाषाएँ

> **धम्मो वत्थुसहावो खमादि भावो य दहविहो धम्मो।**
> **रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो।।**

वस्तु का निज स्वभाव धर्म है। उत्तम क्षमादि भावरूप दशविध धर्म है। रत्नत्रय धर्म है। जीवदया भी धर्म है (कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

सनातन धर्म के चिह्न

महापुराण में लिखा है-

> **धर्मस्य तस्य लिंगानि दमः शांतिरहिंस्रता।**
> **तपो दानं च शीलं च योगो वैराग्यमेव च॥२२॥**

> **अहिंसा-सत्यवादित्व-मचौर्यं त्यक्तकामता।**
> **निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः सनातनः ॥२३॥**

उस धर्म के ये चिह्न हैं; इंद्रियों का दमन, क्षमा, अहिंसा, तप, दान, शील, योग (ध्यान) वैराग्य। अहिंसा, सत्यवादिता, अचौर्य, कामभाव का त्याग, परिग्रह रूप धर्म सनातन हैं। आचार्य कहते हैं:-

> **तस्माद्धर्मफलं ज्ञात्वा सर्वं राज्यादिलक्षणम्।**
> **तदर्थिना महाभाग! धर्मे कार्या मतिः स्थिरा ॥२४॥**

अतः हे महाभाग महाबल नरेन्द्र! यह राज्यादिकी प्राप्ति उस धर्म का फल जानकर तुम्हें धर्म के कार्य में अपनी बुद्धि को दृढ़ करना चाहिए।

अतएव इस आर्षवाणी के प्रकाश में जो राज्यादि संपत्ति को धर्म का फल कहे जाने का विरोध करते हैं, उनको अपने विचारों का संशोधन करना चाहिए, क्योंकि उनका कल्याण स्याद्वाद दृष्टि में है।

जिनसेनाचार्य के विचारों का समर्थन करने वाले उत्कृष्ट आचार्यों द्वारा रचित बहुत से प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं; किन्तु स्थानाभाव होने से धर्मात्मा पुरुषों को पूर्वोक्त आगम से ही आत्महित में प्रवृत्त होना चाहिए।

प्रशमो रागादीनां विगमोऽनन्तानुबंधिनां संवेगः।
भव-भयमनुकम्पाखिल सत्त्वकृपास्तिक्यमखिलतत्त्वमतिः ॥२-५२॥

अनंतानुबंधी रागादि अर्थात् क्रोध, मान, माया तथा लोभ का अभाव प्रशम भाव है। इससे आत्मा में प्रशान्त भाव उत्पन्न होता है। संसार से भयभीत होने को संवेग कहते हैं[१]। त्रस-स्थावररूप संपूर्ण जीवों पर दयाभाव रखना अनुकम्पा है। संपूर्ण तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के निश्चय को आस्तिक्य भाव कहा है। जिनेन्द्र प्रणीत आगम के कथन पर पूर्ण विश्वास धारण करने को भी आस्तिक्य कहा गया है।[२]

आचार्यश्री का जीवन

हमने इस आध्यात्मिक ज्योति में विविध व्यक्तियों के विचारों को उनके शब्दों में निबद्ध किया है; उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शान्तिसागर महाराज प्रशममूर्ति थे। उनका जीवन वैराग्य भाव से परिपूर्ण रहा है, अतः संवेगभाव भी उनमें था। त्रस-स्थावर जीवों के प्रति कारुण्य-भाव धारणकर महाव्रत को अंगीकार करने के कारण उनके उच्च अनुकम्पा भाव स्वयंसिद्ध होता है। जिनेन्द्र की वाणी पर उनकी श्रद्धा लोकोत्तर थी। उस आगम पर श्रद्धा रहने के कारण ही ईर्या आदि समितियों की रक्षार्थ उन्होंने शरीर के सशक्त रहते हुए भी समाधिमरण रूपी दुर्धर तपःसाधना को स्वीकार कर परम शान्तिपूर्वक प्राणों का परित्याग किया।

धर्मध्यान

आर्तध्यान, रौद्रध्यान का त्याग कर उन्होंने धर्मध्यान को स्वीकार किया था। इस समय शुक्लध्यान भरतक्षेत्र में नहीं होता है। कुंदकुंदस्वामी ने लिखा है-

---

१. पंचाध्यायी में संवेग का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है-
संवेगः परमोत्साहः धर्मे धर्मफले चितः।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिसु ॥
आत्मा का धर्म तथा धर्म के फल में परम उत्साह रखना, साधर्मियों में अनुराग अथवा परमेष्ठियों में प्रीति करना संवेग भाव है।

२. राजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने प्रशमादि का स्वरूप पूर्ववत् ही कहा है-
रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः। संसाराद्भीरुता संवेगः। सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकंपा। जीवादयोऽर्था यथा स्वभावैः संतीति मतिरास्तिक्यं। एतैरभिव्यक्तलक्षणं प्रथमं सरागसम्यक्त्वमित्युच्यते। पृ. १६; अध्याय १, सूत्र २।

धरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णई सोवि अण्णाणी ॥७६॥ मोक्षपाहुड़

इस भरतक्षेत्र में इस पंचमकाल में मुनि के धर्मध्यान होता है। यह ध्यान आत्म-स्वभाव में स्थित मुनि के होता है। इस बात को जो नहीं मानता है वह व्यक्ति भी अज्ञानी है।

शुभोपयोग मीमांसा

आचार्य महाराज की प्रवृत्ति निसर्गतः शुभोपयोग रूप होती थी। चारित्रशून्य कोई-कोई गृहस्थ आजकल अपने को शुद्धोपयोगी सोचते हैं। यह धारणा आगमबाधित है। परिग्रही गृहस्थ के शुद्धोपयोग नहीं होता। वह दिगम्बर साधु के ही पाया जाता है। अप्रमत्त गुणस्थान से आगे शुद्धोपयोग कहा है। बृहद्द्रव्यसंग्रह में गाथा ३४ की टीका में (पृ. ९४) लिखा है-"ततोप्यसंयतसम्यग्दृष्टि-श्रावक-प्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते तदनन्तरमप्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेश-शुद्धनयरूप-शुद्धोपयोगो वर्तते"-असंयत-सम्यग्दृष्टि, श्रावक, प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में परम्परा से शुद्ध उपयोग का साधक ऊपर-ऊपर तारतम्य से शुभ उपयोग रहता है। तदनन्तर अप्रमत्तादि क्षीणकषाय पर्यन्त जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एक देश शुद्धनय रूप शुद्ध उपयोग वर्तता है।

जो गृहस्थ अपने पद के योग्य सामान्य सदाचार को भूलकर अशुभोपयोग में लीन रहते हुए शुद्धोपयोग की बातें बनाते हैं, तथा शुभोपयोग को त्याज्य कहते हैं, वे पापपंक में डूबते हैं। जब आगम कहता है, गृहस्थावस्था में शुद्धोपयोग नहीं होता है, तब उस आगम की आज्ञा को शिरोधार्य करना हितकारी है। अपनी झूठी कल्पना द्वारा आगम की अवहेलना मिथ्यात्वी का कार्य है।

पुण्य बंध

इस शुभोपयोग का फल पुण्यबंध है। पुण्यबंध रहित अवस्था शुक्लध्यान द्वारा साध्य है। आज वह ध्यान नहीं होता, अतः धर्मध्यान द्वारा पुण्यबंध मानना होगा।

कुंदकुंद स्वामी ने संसार अनुप्रेक्षा में लिखा है:-

असुहेणणिरयतिरियं सुहजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥४२॥

निमित्त की उपयोगिता

एक बात और है, उस पर भी संक्षेप में प्रकाश डालना उपयोगी प्रतीत होता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए अन्तरंग भाव ही चाहिए। बाह्य निमित्त कारण कुछ नहीं करता है। वह मात्र उपस्थित रहता है। इस प्रकार निमित्त को 'पंचम अन्यथासिद्ध' रूपता प्रदान करना विचित्र सूझ है। घट पर्याय की उत्पत्ति में उपादान कारण मृत्तिका है। यदि उस समय कुंभकार उपस्थित मात्र रहता है और इससे उसे निमित्त कारण माना जाय, तो कुंभकार का गधा भी उस समय उपस्थित रहता है, अत: वह भी कुंभकार के समान निमित्त कहा जायगा। गर्दभ को निमित्त कारण कहेंगे तो गर्दभ के अभाव में घट की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसा नहीं है, अत: कार्य की उत्पत्ति में निमित्त-उपादान कारण युगल का सद्भाव मानना चाहिए।

आचार्य गुणभद्र का कथन

उत्तर पुराण में लिखा है कि जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा अचेतन होते हुए भी पुण्य बंध में कारणारूप परिणामों की उत्पत्ति में कारणा है। इस विषय में प्रकाश डालते हुए गुणभद्राचार्य लिखते हैं –

कारणद्वयसान्निध्यात्सर्वकार्यसमुद्भव:।
तस्मात् साधु विज्ञेयं पुण्यकारणकारणम् ॥ ५३-पर्व ७३॥

कारण युगल अर्थात् बाह्य अन्तरंग अथवा निमित्त उपादान कारणों के द्वारा कार्य की उत्पत्ति होती है। जिनेन्द्रप्रतिमा पुण्य बंध के कारण का कारण है, अर्थात् परंपरा-कारण है। पुण्य बंध का कारण जीव का भाव है और जीव के शुभ परिणामों में कारण प्रतिमा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कारण द्वय के द्वारा कार्य होता है, केवल उपादान द्वारा नहीं।

जो सवस्त्र मुक्ति मानते हैं, वे यह कह सकते हैं, कि केवल भाव ही मोक्ष का कारण है, वस्त्र त्याग रूप निमित्त की जरूरत नहीं है। जो दिगम्बर संप्रदाय वाले उपादान को ही सब कुछ मानकर निमित्त का तिरस्कार करते हैं, वे दिगम्बर जैन आगम के विपरीत मत का प्रचार करते हैं।

पद्मपुराण की महत्त्वपूर्ण उक्ति

अपकारे समासक्ता परस्य स्वस्य चानिशम्।
ज्ञास्यंति सिद्धमात्मानं नरा दुर्गति-गामिन: ॥९९ सर्ग ३०॥

इस पंचमकाल में अपना अहित करने में तथा दूसरे का अहित करने में निरन्तर तत्पर रहने वाले व्यक्ति पैदा होंगे अपने को सिद्ध समान मानने वाले दुर्गतिगामी पुरुष पैदा होंगे। एकान्तवादियों द्वारा पूजित चरण वाले संयमशून्य व्यक्ति का समाधिशून्य मरण देख आर्षवाणी की सत्यता स्पष्ट होती है।

जिनेन्द्र की ऐसी भविष्य वाणी के प्रकाश में लोगों को एकान्त अध्यात्मवाद का आश्रय छोड़कर आचार्य शान्तिसागर महाराज द्वारा उपदिष्ट तथा उनके जीवन द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त पथ पर चलकर अपना कल्याण करना चाहिए। महाराज कहते थे, आगम के अनुसार विचार बनाना चाहिए। अपनी धारणा के अनुसार आगम को नहीं बदलना चाहिए।

आगम-प्राण

आचार्य महाराज की श्रद्धा मेरु की तरह अविचलित थी। सागर के समान वह अथाह थी। उनके आदेशानुसार जब धवला, जयधवला महाबंध (महाधवल) सिद्धान्त ग्रंथ ताम्रपत्र में उत्कीर्ण हो गए, तब महाराज ने शास्त्र भण्डार के व्यवस्थापकों से कहा था "ये शास्त्र हमारे प्राण हैं। हमारा प्राण इस शरीर में नहीं है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी ही हमारा प्राण है।" यथार्थ में आचार्य महाराज आगम-प्राण थे।

सम्यक्त्व के विषय में

अनगारधर्मामृत में एक महत्त्व की बात आई है-

तैः स्वसंविदितैः सूक्ष्मलोभान्ताः स्वां दृशं विदुः।
प्रमत्तान्तान्यगां तज्जवाक्चेष्टानुमितैः पुनः ॥२-५३॥

स्वयं के ज्ञान द्वारा उक्त प्रशमादिकों के द्वारा असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय दशम गुणस्थान पर्यन्त जीव स्वगत सम्यक्त्व के सद्भाव को जान सकते हैं। प्रशमादिकों के निमित्त से उत्पन्न होने वाले वचन तथा चेष्टा यानी शरीरक्रिया को देखकर छठे प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त के अन्य जीवों के सम्यग्दर्शन को भी जान सकते हैं।

आत्मानुभवी महर्षि

इस प्रसंग में एक उपयोगी संस्मरण लिखना उचित प्रतीत होता है। सन् १९५४ के पर्युषण पर्व में आचार्य महाराज फलटण में विराजमान थे। पर्व के पर्यवसान के समीप काल में आचार्य महाराज बड़ी तन्मयता पूर्वक आत्मध्यान, आत्मचिंतन तथा आत्मस्वरूप

निमित्त की उपयोगिता

एक बात और है, उस पर भी संक्षेप में प्रकाश डालना उपयोगी प्रतीत होता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए अन्तरंग भाव ही चाहिए। बाह्य निमित्त कारण कुछ नहीं करता है। वह मात्र उपस्थित रहता है। इस प्रकार निमित्त को 'पंचम अन्यथासिद्ध' रूपता प्रदान करना विचित्र सूझ है। घट पर्याय की उत्पत्ति में उपादान कारण मृत्तिका है। यदि उस समय कुंभकार उपस्थित मात्र रहता है और इससे उसे निमित्त कारण माना जाय, तो कुंभकार का गधा भी उस समय उपस्थित रहता है, अत: वह भी कुंभकार के समान निमित्त कहा जायगा। गर्दभ को निमित्त कारण कहेंगे तो गर्दभ के अभाव में घट की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसा नहीं है, अतः कार्य की उत्पत्ति में निमित्त-उपादान कारण युगल का सद्भाव मानना चाहिए।

आचार्य गुणभद्र का कथन

उत्तर पुराण में लिखा है कि जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा अचेतन होते हुए भी पुण्य बंध में कारणारूप परिणामों की उत्पत्ति में कारणा है। इस विषय में प्रकाश डालते हुए गुणभद्राचार्य लिखते हैं –

> **कारणद्वयसान्निध्यात्सर्वकार्यसमुद्भवः।**
> **तस्मात् साधु विज्ञेयं पुण्यकारणकारणम् ॥ ५३-पर्व ७३ ॥**

कारण युगल अर्थात् बाह्य अन्तरंग अथवा निमित्त उपादान कारणों के द्वारा कार्य की उत्पत्ति होती है। जिनेन्द्रप्रतिमा पुण्य बंध के कारण का कारण है, अर्थात् परंपरा-कारण है। पुण्य बंध का कारण जीव का भाव है और जीव के शुभ परिणामों में कारण प्रतिमा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कारण द्वय के द्वारा कार्य होता है, केवल उपादान द्वारा नहीं।

जो सवस्त्र मुक्ति मानते हैं, वे यह कह सकते हैं, कि केवल भाव ही मोक्ष का कारण है, वस्त्र त्याग रूप निमित्त की जरूरत नहीं है। जो दिगम्बर संप्रदाय वाले उपादान को ही सब कुछ मानकर निमित्त का तिरस्कार करते हैं, वे दिगम्बर जैन आगम के विपरीत मत का प्रचार करते हैं।

पद्मपुराण की महत्त्वपूर्ण उक्ति

> **अपकारे समासक्ता परस्य स्वस्य चानिशम्।**
> **ज्ञास्यंति सिद्धमात्मानं नरा दुर्गीति-गामिनः ॥९१ सर्ग ३० ॥**

इस पंचमकाल में अपना अहित करने में तथा दूसरे का अहित करने में निरन्तर तत्पर रहने वाले व्यक्ति पैदा होंगे अपने को सिद्ध समान मानने वाले दुर्गतिगामी पुरुष पैदा होंगे। एकान्तवादियों द्वारा पूजित चरण वाले संयमशून्य व्यक्ति का समाधिशून्य मरण देख आर्षवाणी की सत्यता स्पष्ट होती है।

जिनेन्द्र की ऐसी भविष्य वाणी के प्रकाश में लोगों को एकान्त अध्यात्मवाद का आश्रय छोड़कर आचार्य शान्तिसागर महाराज द्वारा उपदिष्ट तथा उनके जीवन द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त पथ पर चलकर अपना कल्याण करना चाहिए। महाराज कहते थे, आगम के अनुसार विचार बनाना चाहिए। अपनी धारणा के अनुसार आगम को नहीं बदलना चाहिए।

आगम-प्राण

आचार्य महाराज की श्रद्धा मेरु की तरह अविचलित थी। सागर के समान वह अथाह थी। उनके आदेशानुसार जब धवला, जयधवला महाबंध (महाधवल) सिद्धान्त ग्रंथ ताम्रपत्र में उत्कीर्ण हो गए, तब महाराज ने शास्त्र भण्डार के व्यवस्थापकों से कहा था "ये शास्त्र हमारे प्राण हैं। हमारा प्राण इस शरीर में नहीं है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी ही हमारा प्राण है।" यथार्थ में आचार्य महाराज आगम-प्राण थे।

सम्यक्त्व के विषय में

अनगारधर्मामृत में एक महत्त्व की बात आई है-

तैः स्वसंविदितैः सूक्ष्मलोभान्ताः स्वां दृशं विदुः।
प्रमत्तान्तान्यगां तज्जवाक्चेष्टानुमितैः पुनः ॥२-५३॥

स्वयं के ज्ञान द्वारा उक्त प्रशमादिकों के द्वारा असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय दशम गुणस्थान पर्यन्त जीव स्वगत सम्यक्त्व के सद्भाव को जान सकते हैं। प्रशमादिकों के निमित्त से उत्पन्न होने वाले वचन तथा चेष्टा यानी शरीरक्रिया को देखकर छठे प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त के अन्य जीवों के सम्यग्दर्शन को भी जान सकते हैं।

आत्मानुभवी महर्षि

इस प्रसंग में एक उपयोगी संस्मरण लिखना उचित प्रतीत होता है। सन् १९५४ के पर्युषण पर्व में आचार्य महाराज फलटण में विराजमान थे। पर्व के पर्यवसान के समीप काल में आचार्य महाराज बड़ी तन्मयता पूर्वक आत्मध्यान, आत्मचिंतन तथा आत्मस्वरूप

की चर्चा कर रहे थे। उस समय मैंने पूछा था- "महाराज! आप जो कुछ कथन कर रहे हैं, वह आगम, अनुमान या अनुभव के आधार से कह रहे हैं?"

मेरे प्रश्न के उत्तर में उनके मुख से सहसा ये मार्मिक शब्द निकल पड़े- "हम अपने अनुभव से यह कथन कर रहे हैं।" इसके पश्चात् वे योगिराज गम्भीर होकर चुप हो गये थे। उस समय हृदय में अवर्णनीय आनन्द आया, कि हमें सच्चे आत्मानुभवी साधुराज के चरणों के समीप रहने का अपूर्व सौभाग्य प्राप्त हुआ। अनगार-धर्मामृत रूप उपरोक्त शास्त्राधार से यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थगुणस्थान से दशम गुणस्थान पर्यन्त स्वयं के सम्यक्त्व का निश्चय हो जाता है। अतः आचार्य महाराज का उपरोक्त कथन शास्त्राज्ञा द्वारा समर्थित स्पष्ट ज्ञात होता है।

विवेक दृष्टि

संसार में जहाँ असली रत्न रहता है, वहाँ नकली रत्नों का ढेर भी पाया जाता है। जौहरी व्यक्ति अपनी कुशलता के द्वारा असली, नकली का भेद जान लेता है। इसी प्रकार आज बहुत से अपने को सम्यक्त्वी कहने वालों तथा समझने वालों की संख्या को देखकर आगम ज्ञाता समझ सकता है कि इनमें कौन किस प्रकार है? जो प्रशम भाव के स्थान में अहंकार, माया आदि कषायों की मूर्ति हों, जो संसार से डरने के बदले में सत्कार्यों से डरकर दूर भागते हों, क्रूर स्वभाव, क्रूर आचार, क्रूर विचारादि के कारण जिनके जीवन में अनुकम्पा का लेश भी न हो तथा जो आगम की आज्ञा का तिरस्कार कर स्वयं नवीन शास्त्र बनाने की प्रवृत्ति में संलग्न हों, ऐसी आस्तिक्यशून्य आत्मा में सम्यक्त्व का सद्भाव सोचना बकराज को हंस मानने सदृश अविवेकपूर्ण बात होगी। कहाँ हंस और कहाँ बकराज ! दोनों का वर्ण धवल है, किन्तु दोनों की परणति भिन्न-भिन्न है। उसी प्रकार कहाँ आचार्य शान्तिसागर महाराज में पाए जाने वाले सम्यक्त्व के सद्भावसूचक प्रशम, संवेगादि भाव तथा कहाँ अहंकार मूर्ति और प्रतारणा पण्डित प्रशमादि शून्य व्यक्ति के परिणाम! "कहाँ काग वाणी, कहाँ कोयल की टेर है।"

सम्यक्त्व के अष्ट अंग कहे गए हैं- निःशंकित निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य तथा प्रभावना। इन गुणों की दृष्टि से भी आचार्य महाराज का जीवन महत्त्वपूर्ण था। सिंधु में जैसे लहरें दृष्टिगोचर होती थीं। आचार्य महाराज सदृश आत्मा ही सम्यक्त्व तथा संयम के प्रसाद से स्वर्ग के सुखों को भोगकर वहाँ से चलकर मोक्ष प्राप्त करती है। मोक्ष-पाहुड में कुंदकुंद स्वामी ने लिखा है-

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतिय-देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

इस पंचमकाल में भी रत्नत्रयधारी मुनीश्वर अपनी आत्मा का ध्यान करके इंद्र पद अथवा लौकान्तिक देव का पद प्राप्त करके वहाँ से चयकर मोक्ष पाते हैं।

अपूर्व जीवन

विचारक व्यक्ति आचार्य महाराज के जीवन पर प्रकाश डालने वाले ८१० पृष्ठों वाले 'चारित्रचक्रवर्ती' ग्रन्थ और इस 'आध्यात्मिक ज्योति' के माध्यम से उनके लोकोत्तर जीवन की एक सुमधुर झांकी प्राप्त कर करता है। यद्यपि वे गुरुदेव चले गए। अब उनका पुनर्दर्शन स्वप्न में भी दुर्लभ हो गया, फिर भी उनके जीवन की घटनाओं पर गंभीरता पूर्वक दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जायगा, कि आचार्य शांतिसागर महाराज कितने महान् थे, कितने तेजस्वी थे, कितने पवित्र थे, कितने जितेन्द्रिय थे, कितने बड़े परीषह-विजेता थे, कितने बड़े सद्धर्म-प्रभावक विभूतिमान पुरुषसिंह थे? उनकी छत्तीस दिन पर्यन्त सल्लेखना ने पापी, पतित, हीनाचरणी खलराजों के अन्तःकरण पर भी उनकी पवित्रता तथा श्रेष्ठता की मुद्रा अंकित कर दी। छत्तीस गुणवाले आचार्य परमेष्ठी की छत्तीस दिवसीय समाधि अलौकिकता पूर्ण थी।

सप्राण समयसार

उनकी सल्लेखना के पैंतीसवें उपवास के दिन मैं उनके चरणों के समीप तीन घण्टे बैठा था। उस समय का दृश्य आज भी अन्तःकरण में स्पष्ट रूप से अंकित है। ऐसा लगता था कि मैं जीवित रत्नत्रय के समीप बैठा हूँ। सचेतन समयसार के दर्शन कर रहा हूँ। अचेतन, पौद्गलिक के नहीं। अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय में हिंसादि का पूर्ण त्याग करने वाले मुनीश्वर को समयसार स्वरूप लिखा है। उनके शब्द हैं-

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौभवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।
यात्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

हिंसा, असत्यवचन, चोरी, कुशील तथा परिग्रह का परिपूर्ण तथा आंशिक त्याग से चारित्र दो प्रकार का होता है। पूर्णरीति से हिंसा आदि का त्याग करने वाला दिगम्बर साधु समयसार स्वरूप है। जो हिंसादि का एकदेश रूप त्याग करता है, उसे उपासक कहते हैं।

साध्य तत्त्व वीतरागता

जो लोग व्यवहार-निश्चय के द्वन्द्व में उलझे रहते हैं; उनको अमृतचन्द्र सूरि के ये शब्द प्रकाश प्रदान करेंगे, कि व्यवहार तथा निश्चय नाम की दो दृष्टियाँ पदार्थ के स्वरूप को ग्रहण करने के लिए हैं। वे साधन-रूप हैं, वे स्वयं साध्य नहीं हैं। उनका सम्यक् अवबोध प्राप्त कर रागद्वेष की विषमता का त्याग कर आंतरीक साम्यभाव अथवा मध्यस्थ वृत्ति की उपलब्धि जिनेन्द्र की तत्त्वदेशना का सार है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है-

व्यवहार-निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥८॥

व्यवहारनय तथा निश्चयनय इन दो पक्षों से परे समयसार है। इस विषय में कुंदकुंद स्वामी के समयसार के ये शब्द बड़े मार्मिक हैं-

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

जीव में कर्म बँधे हैं अथवा नहीं बँधे हैं? इस प्रकार की दो दृष्टियों को नय पक्ष जानो। जो दोनों पक्षों के परे कहा गया है, वह समयसार है।

धर्म के सूर्य

मैंने आचार्य महाराज के चरणों के समीप अनेक वर्ष बैठकर उनका जीवन निकट से देखा है; उसका गहरा अध्ययन किया है। मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, कि वे सचमुच रत्नत्रय धर्म के सूर्य थे। सूर्योदय के समक्ष नक्षत्र मालिका का अस्तित्व रहते हुए भी दर्शन नहीं होता, ऐसी ही स्थिति उन गुरुदेव के समक्ष अनेक आध्यात्मिक विभूति कहे जाने वालों की होती थी। वह ज्योति लोकोत्तर थी।

बाह्यार्थ परित्याग का हेतु

कुछ लोग गृहस्थावस्था में रहते हुए और इन्द्रियों की दासता करते हुए मोह-विजेता बनने को तथा रागद्वेष रूप शत्रुओं को पछाड़ने का मधुर स्वर आलापते हैं, उनको गुणभद्रस्वामी के आत्मानुशासन में प्रतिपादित ये शब्द ध्यान में रखने चाहिये-

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च बाह्यार्थ-संबद्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत् ॥२३७॥

राग तथा द्वेष को 'प्रवृत्ति' शब्द से संकीर्तित करते हैं; उनके त्याग को 'निवृत्ति' कहते हैं। वे राग-द्वेष बाह्य पदार्थों से सम्बन्धित हैं। इससे बाह्य पदार्थों का परित्याग करें।

इस आचार्य वाणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि धन, धान्यादि बाह्य पदार्थों का बिना परित्याग किए जो राग-द्वेष के क्षय का स्वप्न देखते हैं; वे वास्तविक वीतरागता को साक्षात् नहीं, स्वप्न में भी नहीं प्राप्त कर सकते। इस प्रकाश में सर्व परिग्रह त्यागी, महायोगी, बालब्रह्मचारी, साधुराज, आचार्य शान्तिसागर महाराज की विशिष्टता प्रत्येक विचारक मुमुक्षु के हृदय में अंकित हो जाती है।

मार्दव-मूर्ति

आचार्य महाराज के चरणों के समीप बैठने पर ऐसा लगता था, कि हम जीवित धर्म के समीप बैठे हैं। वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की साक्षात् प्रतिमा लगते थे। जो धर्म की व्याख्या 'उत्तम खमादि-दहविहो-धम्मो' करते हैं वे आचार्यश्री को उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य रूप दशविध धर्म की मूर्ति रूप में पाते थे। इतने महान् होते हुए भी वे अपने को सबसे छोटा साधु मानते थे। जब मैं सन् १९५२ में उनका चरित्र लिखने के उद्देश्य से उनसे कुछ प्रश्न पूछने गया था, तब उन्होंने कहा था, "मैं सबसे छोटा साधु हूँ, मेरा चरित्र लिखने में अपना समय व्यय क्यों करते हो?" उनकी दृष्टि उन ऋद्धिधारी मुनीश्वरों पर रहा करती थी, जिनकी वे सर्वदा अभिवंदना किया करते थे। ऐसी दृष्टि रहने से उनमें 'अहंकार' का रोग नहीं पाया जाता था। आज जहाँ तत्त्व की वास्तव में उपलब्धि से शून्य होते हुए भी अनेक व्यक्ति अपने को आत्मज्ञों का चूड़ामणि समझ अहंकार-मूर्ति बनकर अविवेकी वर्ग द्वारा स्तुति,पादार्चना आदि को प्राप्तकर अपने को कृतकृत्य अनुभव करते हैं, वहाँ गुणराशि होते हुए भी आचार्य महाराज मार्दव मूर्ति थे।

आध्यात्मिक प्रहरी

वे इस परम सत्य को भली प्रकार जानते थे, कि मोक्षमार्ग का मूल भेद-विज्ञान है। इस महान् विद्या की प्राप्ति हेतु वे आत्मचिंतन के लिए प्रेरणा देते थे; तथा आध्यात्मिक, करुणामूर्ति-प्रहरी के रूप में जीव के संयम-रत्न को चुराने वाले विषय-कषायों से सावधान रहने के लिए सदा सदाचार की ओर भी वे लोगों का ध्यान आकर्षित करते थे। उनका अनुभव महान् था, वे नरभव की दुर्लभता, अपूर्वता तथा महत्ता को पूर्णतया जानते थे;

साथ ही जीवन की क्षणिकता से भी वे अपरिचित नहीं थे। कवि ने ठीक ही कहा है:-

आयु घटत है रातदिन ज्यों करौंत तें काठ।
हित अपना जल्दी करो पड़ा रहे सब ठाट॥

इसलिए वे गुरुदेव अपने पास आने वालों को व्रतादि दान द्वारा उपकृत करते थे। उनका आत्मतेज तथा तपस्या का प्रभाव इतना अधिक था, कि उनके पास आने वाला भव्य जीव स्वयमेव उनसे कुछ-न-कुछ व्रत नियम लेता था।

व्रतों के उपदेश का हेतु

वे कभी-कभी कहते थे; "यह निकृष्ट काल है। महान् ज्ञानियों का अभाव है, जो वस्तु का मार्मिक स्वरूप समझाकर अनादि अविद्या को दूर करने में मार्ग दर्शन करते। यदि तुमने व्रतों को धारण कर लिया, तो उससे देवरूप में जन्म लेकर विदेह में तीर्थंकर सीमंधर भगवान के समवसरण में पहुँचकर उनकी दिव्यध्वनि सुनकर आत्म-अनात्म का रहस्य समझ सकोगे। यदि असंयमी की अवस्था में मरण कर तुमने हीन पर्याय प्राप्त कर ली, तो तुम्हें कष्ट भोगना पड़ेगा।"

आश्चर्यप्रद व्यक्तित्व

आचार्य महाराज की वाणी में जादू था। जहाँ छोटा सा भी नियम लेना असंभव दिखता है, वहाँ उनके प्रभाव से संपूर्ण परिग्रह का त्याग करने वाले अनेक महामुनि दिखने लगे। श्रेष्ठ संयम की ओर लोगों का मन आकर्षित करने का अत्यन्त कठिन काम सरल हो गया। उन्होंने उच्च मुनि परंपरा की पुनः प्राणप्रतिष्ठा की। उनके ही व्यक्तित्व का प्रभाव है, जो उनके स्वर्गवासी बनने के पश्चात् भी अनेक स्त्री-पुरुष उच्च संयम को स्वीकार कर मनुष्य जन्म को सफल करते हुए सर्व-साधारण का जीवन सुवास-संपन्न कर रहे हैं। चारित्र रूपी चक्र को संचालित करते हुए वे ऋषिराज धर्म के चक्रवर्ती होते हुए भी चारित्र चक्रवर्ती रूप में दृष्टिगोचर होते थे।

प्रतिकूल वातावरण

वासनाओं पर विजय प्राप्त करना बड़ा कठिन काम है। महापुराण में बताया है कि भरत चक्रवर्ती ने स्वप्न में शुष्क वृक्ष देखा था। उसका फल भगवान ऋषभदेव ने यह कहा था:-

"पुंसां स्त्रीणां च चारित्रच्युतिः शुष्कद्रुमेक्षणात्।"(७९, पर्व ४१) हे

भरत! तुमने जो स्वप्न में सूखा वृक्ष देखा है, उससे यह सूचित होता है, कि पंचमकाल में भरतक्षेत्र के पुरुषों तथा स्त्रियों के चारित्र में पतन होगा।

युग-निर्माता

वर्षा ऋतु में यत्र तत्र जल का प्रवाह ही नयनगोचर हुआ करता है, इसी प्रकार आज जहाँ देखो वहाँ भ्रष्टाचार तथा असंयम पूर्ण प्रवृत्ति दिखती है, ऐसे वातावरण में संयम का भाव लोगों के अन्तःकरण में अंकित करना आचार्य महाराज की अपूर्व सामर्थ्य को सूचित करता है। उन्होंने एक नवीन युग का निर्माण किया था। यह बात प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि आचार्य महाराज ने भद्र परिणामी जीवों को आचार-विचार शुद्धि के क्षेत्र में अद्भुत जागृति कराई। सैकड़ों वर्षों से गृहस्थ लोग मुनि जीवन को वर्तमान काल में असंभव मान बैठे थे। विद्वान् तथा कवि लोग अपनी रचनाओं में हीन संहनन आदि का विचार किए बिना वज्रवृषभ संहननधारी चतुर्थकालीन मुनियों को दृष्टि-पथ में रखकर मुनिजीवन को असंभव सोचा करते थे। प्रतिमाधारी श्रावक का पद प्राप्त करना अत्यन्त कठिन बताया जाता था। गृहस्थों को यह पता नहीं था, कि कौन क्रियाएँ मुनिजीवन से संबंध रखती हैं और किन क्रियाओं का पालन श्रावकाचार का अंग है। दक्षिण प्रान्त में कहीं-कहीं दिगम्बर मुनि थे, तो वे मूलगुणों का पालन भी नहीं जानते थे।

अभयवाणी

संयम के क्षेत्र की अद्भुत स्थिति थी। सदाचार के मार्ग में ऐसी कंटकाकीर्ण परिस्थिति में आचार्य महाराज ने अपने जीवन तथा वाणी द्वारा भव्यों का अवर्णनीय कल्याण किया। उन्होंने कहा, "घबड़ाते क्यों हो, यह पंचमकाल का बालकाल है। अभी पंचमकाल के केवल अढाई हजार वर्ष व्यतीत हुए हैं। शेष साढ़े अठारह हजार वर्ष पर्यन्त धर्म रहेगा। तब तक मुनिजीवन रहेगा। पंचमकाल इक्कीस हजार वर्ष का भगवान ने कहा है। इस काल के अंत तक मुनि पाए जायेंगे, अंतिम मुनि के अवधिज्ञान भी पाया जायेगा। ऐसा आगम का आदेश है। जो जीव दर्शन मोह के तीव्र उदय से आक्रान्त हैं, वे इन बातों में श्रद्धा नहीं करते।"

आचार्य महाराज ने उपलब्ध विपुल ग्रंथ राशि का खूब मनन-चिंतन किया था। बड़े-बड़े अभिमानी शास्त्री लोग उनके समीप आकर उनसे प्रकाश प्राप्त किया करते थे। आचार्य महाराज कहते थे "आगम कहता है पंचमकाल के अंततक मुनिधर्म रहेगा, इसके विपरीत जो श्रद्धान करता हुआ यह कहता फिरता है, कि इस काल में मुनि नहीं हो

सकते, वह वास्तव में मिथ्यात्वी है, क्योंकि वह शास्त्र की आज्ञा के विपरीत कथन करता है।"

स्मरण योग्य कथन

आचार्य महाराज ने कहा था कि-"चतुर्थकाल में हजार वर्ष तप करने पर जितनी निर्जरा होती है, उतनी निर्जरा इस हुण्डावसर्पिणी पंचम काल में एक वर्ष तपस्या द्वारा सम्पन्न होती है।" क्योंकि आज तप करने में महान् आत्मबल चाहिए।

इस सम्बन्ध में जब मैंने गुरुदेव से शास्त्राधार पूछा, तब उन्होंने आचार्य देवसेन रचित भावसंग्रह की यह गाथा बताई थी-

> **वरिस-सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण।**
> **तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणे ॥१३१॥**

पहले मुनि लोग हजार वर्ष तप द्वारा जो कर्मों की निर्जरा करते थे, वह आज इस हीन संहननयुक्त शरीर द्वारा एक वर्ष में सम्पन्न करते हैं।

उक्त ग्रन्थ के ये शब्द भी आगम-प्रेमियों के स्मरणयोग्य हैं -

> **संहणणं अइणिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।**
> **तहवि हु धीरा पुरिसा महव्वयभरधरण-उच्छहिया ॥१३०॥**

यह दुःषम काल है। इसमें संहनन अत्यन्त हीन होता है। मन की चंचलता का ठिकाना नहीं है, फिर भी धैर्य सम्पन्न पुरुष महाव्रतों के भार को धारण करने में उत्साहित होते हैं, यह आश्चर्य की बात है।

आचार्य महाराज ने इस सम्बन्ध में 'पर-उपदेश-कुशल' पंडित का काम न कर स्वयं घोर तपस्या द्वारा यह बता दिया कि साहसी तथा श्रद्धालु आत्मा आज भी विश्व को चकित करने वाले श्रेष्ठ संयम की समाराधना कर सकता है। जिस युग में पाप, असंयम, भ्रष्ट आचार-विचार की वैतरणी बह रही हो, उसमें संयम तथा उज्ज्वल आचरण की गंगा को प्रवाहित करना इन्हीं साधुराज के भगीरथ-प्रयत्न का सुफल है। यथार्थ में उन्होंने पंचमकाल में चतुर्थकाल की झाँकी उपस्थित कर दी।

महान् उपकारी

आचार्य वीरसागर महाराज ने मुझसे कहा था - "आचार्य महाराज ने संयम के क्षेत्र में अवर्णनीय कार्य किया। उन्होंने जीवों का जितना उपकार किया उसका कथन

करना हमारी शक्ति के परे है।" बहुतों ने उनके दर्शन मात्र से प्रेरित हो श्रेष्ठ संयम लिया था। सकल संयमी महाप्रभावक साधु आचार्य पायसागर महाराज के जीवन की दिशा उनके दर्शनमात्र से बदली थी।

स्तवनिधि अतिशय क्षेत्र (कोल्हापुर) में पायसागर महाराज ने कहा था- "मैं तो पापसागर था, व्यसनों में लीन था। पाप से छुड़ाकर मेरे गुरु ने मुझे पायसागर (क्षीरसागर) बना दिया।" सप्त व्यसन के साथ श्रेष्ठ नाटककार के व्यसन वाले विलासमूर्ति व्यक्ति का दिगम्बर तपस्वी साधु बनकर रत्नत्रयधर्म की प्रभावना करना तथा स्व-परहित करते हुए अपने गुरु के पदचिह्नों पर चलकर पायसागर महाराज का समाधि-मरण करना इसी आध्यात्मिक ज्योति का अद्भुत प्रभाव था। आज अध्यात्मवादी बनकर प्रमादी जीवन की प्रेरणा दे स्वच्छन्द प्रवृत्ति का पोषण करने वाले भी जीव दिखाई पड़ते हैं, किन्तु उन लोगों के समक्ष जब भी आचार्य शान्तिसागर महाराज के सुश्रद्धा समन्वित तपः पुनीत पुण्य जीवन की चर्चा की जाय, तो उनकी वही अवस्था हुए बिना न रहे, जो शृगाल की सिंह की ध्वनि सुनकर होती है।

आचार्य महाराज अध्यात्म के सूर्य थे। वे संयम के सिंह थे। उन्होंने अनेकान्तमयी धर्म की देशना द्वारा कितना कल्याण नहीं किया? युद्धभूमि में जाने वाले सैनिक के लिए वीर-गाथा अत्यन्त उत्साह प्रदान करती है, इसी प्रकार मोह के अखण्ड शासन के विरुद्ध, काम-क्रोध-तृष्णा रोग से जर्जरित जगत् के मोह के कुशासन को उच्छेद कर सम्यक् चारित्र की महिमा का प्रसार करने वाले चारित्र चक्रवर्ती साधुराज के उपकारों को स्मरण करता हुआ मुमुक्षु मानव महान् साहस, धैर्य, उत्साह तथा प्रेरणा को प्राप्त करता रहेगा।

इस युग में विज्ञापन का आश्रय पा तथा धनिकों की कृपा के बल पर अध्यात्म विद्या से अपरिचित असंयमी लोग भी महान् योगी, संत-शिरोमणि बनाए जाते हैं, उनके समक्ष आचार्य महाराज के जीवन की विविध प्रवृत्तियाँ लाई जाती हैं, तब उनकी वही स्थिति होती है, जो सूर्योदय होने पर अंधकार की होती है।

आचार्य महाराज का जीवन युग-युग तक जगत् को आध्यात्मिक प्रकाश तथा उज्ज्वल आचार के लिए प्रबल प्रेरणा प्रदान करता रहेगा। वास्तव में, वे मोहान्धकार संकुल संसार के मध्य आध्यात्मिक ज्योति-स्वरूप अनुपम विभूति रहे। उनकी पावन स्मृति तथा उनकी दयामयी धर्मदेशना मुमुक्षुवर्ग को सदा कल्याणभाजन बनावेगी। उनका

अन्तः बाह्य जीवन रत्नत्रय धर्म से परिपुष्ट था। बहिरात्मा की बात ही दूसरी, बड़े योगीजन भी जिनके जीवन की श्रेष्ठता की गुण-गाथा गाते थे, वे साधुराज, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर महाराज स्वर्गीय निधि बन गए, फिर भी उनके समान उनकी पावन स्मृति भी अमर रहेगी, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

नियमसार में कुंदकुंद स्वामी ने कहा है, "सम्मत्तस्सणिमित्तं जिणसुत्तं" (गाथा ५३) जिनागम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में निमित्त कारण है। शास्त्र को साधु का नेत्र कहा है, "आगमचक्खू साहू" (प्रवचनसार)

राग, द्वेष, मोह, माया, मद, मत्सर, काम, क्रोधादि शत्रु जब साधक की आत्मा में विकार उत्पन्न करने को तत्पर होंगे, तब आचार्य शांतिसागर जी के नाम तथा आदर्श का स्मरण आत्मा को अपार साहस, धैर्य तथा सामर्थ्य प्रदान करेंगे।

शिखर जी पर उपदेश

श्रेष्ठ तीर्थ सम्मेदशिखर पर कहे गए उन निर्ग्रन्थ सद्गुरुदेव के ये मार्मिक शब्द चिरस्मरणीय रहेंगे-"संयम पालन करने में भय नहीं करना चाहिए। आत्मा कभी नहीं मरती। चारित्र को उज्ज्वल रखकर कभी भी मरना अच्छा है। चारित्र को मलिन बनाकर दीर्घजीवी बनना ठीक नहीं है।" उन्होंने इस उपदेश के अनुसार आचरण करके यह स्पष्ट कर दिया, कि जीवन निधि की अपेक्षा संयम रत्न विशेष महत्त्वपूर्ण है। उन ऋषिराज का दिव्यजीवन **आचार्य पूज्यपाद** के इन शब्दों की ओर समस्त विश्व का ध्यान आकर्षित करता हुआ प्रतीत होता है -

अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्म-संग्रहः॥

—शरीर विनाशशील है, वैभव अल्पकाल स्थायी है, मृत्यु सदा समीप है; अतः धर्म का संग्रह करना चाहिए।

शिक्षितों को उपदेश

उन्होंने जहाँ सदाचार को प्रेरणा दी, वहाँ सद्विचार के लिए भी उनकी महान् देन रही है। शिक्षा के विषय में उनका कथन था, जो धोबी की तरह दूसरों के वस्त्र धोता फिरे और मलिनता का परित्याग न करे, ऐसा ज्ञानी बनना ठीक नहीं है। ज्ञानी का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति अपने जीवन को सदाचार समलंकृत भी बनावे।

शास्त्रदान

वे शास्त्र-दान हेतु बहुत प्रेरणा देते थे। उन साधुराज का कथन था "जिनागम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है। गरीब व्यक्ति तथा साधु संन्यासी पैसा खर्चकर शास्त्र को खरीद नहीं सकते। इससे समर्थ श्रीमानों को उपयोगी शास्त्रों को प्रकाशित कर मंदिरों, त्यागियों आदि को बाँटना चाहिए"। इसी सद्भावना से प्रेरित होकर गुरुदेव के उपदेश से स्थापित संस्था ने सिद्धान्त शास्त्रों का उद्धार कराने के सिवाय अनगार धर्मामृत, समयसार, उत्तरपुराण, मूलाचार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि बड़े-बड़े ग्रंथों को छपाकर एवं बिना मूल्य देकर अपूर्व ज्ञान-प्रसार का कार्य किया।

आचार्य महाराज सदा अनेकान्त दृष्टि का पोषण करते रहे हैं। वे स्याद्वाद रूपी उपवन की रक्षा करने वाले श्रुतभक्त सत्पुरुष थे। उनकी महिमा का जितना वर्णन किया जाय, उतना थोड़ा है। यथार्थ में वे गुरुदेव संसार सिंधु में डूबते हुए जीवों की रक्षा करने वाले नाविक थे। वे यद्यपि स्वर्गीय निधि बन गए, फिर भी उनकी पवित्र स्मृति मुमुक्षु वर्ग का अपार कल्याण करती रहेगी। उच्च समाधिमरण द्वारा अपने दुर्लभ नर-जन्म को कृतार्थ करने वाले परम गुरु क्षपकराज शान्तिसागर महाराज के पुण्य चरणों को शतशः प्रणाम हैं। जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है:-

गुरुमूले यतिनिचिते चैत्यसिद्धांतवार्धिसद्घोषे।
मम भवतु जन्मजन्मनि संन्यसनसमन्वितं मरणम् ॥

-हे देव! जहाँ अनेक साधुओं का समुदाय विद्यमान हो, ऐसे आचार्य के समीप अथवा जिन प्रतिमा के समीप अथवा जहाँ सिद्धान्त रूपी समुद्र की पुण्य घोषणा श्रवणगोचर होती हो, ऐसे स्थानों में जन्म-जन्म में मेरे समाधि सहित मरण हों।

कामना

समाहिमरणं होहु मज्झं।
मुझ को समाधिमरण प्राप्त हो।

आचार्य महाराज का अंतिम अमर संदेश

परम पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर महाराज ने कुंथलगिरि में आमरण अनशन के २६ वें दिन तारीख ८ सितम्बर को शाम के ५ बजे मराठी में मानव कल्याण के लिए जो उपदेश किया, वह रिकार्ड किया जा चुका है। उसमें उन्होंने कहा था—

मानव कल्याण का आधार : सत्य और अहिंसा

"ॐ नमः सिद्धेभ्यः। पंच भरत, पंच ऐरावत के भूत भविष्यत् काल सम्बन्धी भगवानों को नमस्कार हो। तीस चौबीसी भगवानों को, श्री सीमन्धर आदि तीर्थंकर भगवानों को नमस्कार हो। ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त तीर्थंकरों के १४५२ गणधर देवों को नमस्कार, चारण ऋद्धिधारी मुनियों को नमस्कार, चौंसठ ऋद्धिधारी मुनीश्वरों को नमस्कार। अन्तकृतकेवलिभ्यो नमोनमः। प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में होने वाले १०-१० घोरोपसर्ग विजेता मुनीश्वरों को नमस्कार हो।

ग्यारह अंग चौदह पूर्व प्रमाण शास्त्र महासमुद्र है। उसका वर्णन करने वाले श्रुतकेवली नहीं है, उसके ज्ञाता केवली श्रुतकेवली भी अब नहीं है। उसका वर्णन हमारे सदृश क्षुद्र मनुष्य क्या कर सकते हैं? जिनवाणी, सरस्वती 'श्रुत देवी' अनन्त समुद्र तुल्य है। उसमें कहे गये जिन-धर्म को जो धारण करता है, उसका कल्याण होता है। उसको अनन्त सुख मिलता है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा नियम है। एक अक्षर ॐ है। उस एक ॐ अक्षर को धारण करके जीवों का कल्याण हुआ है। वो बन्दर लड़ते-लड़ते सम्मेदशिखर से स्वर्ग गये। सेठ सुदर्शन ने उच्च पद पाया। सप्त व्यसनधारी अंजन चोर स्वर्ग गया है। कुत्ता महा नीच जाति का जीव जीवन्धरकुमार के णमोकार मन्त्र के उपदेश से देव हुआ। इतनी महिमा जैनधर्म की है; किन्तु (श्वास लेते हुए) जैनियों की अपने धर्म में श्रद्धा नहीं है।

जीव और पुद्गल पृथक् हैं

अनन्त काल से जीव पुद्गल से भिन्न है, यह सब लोग जानते हैं पर विश्वास नहीं करते। पुद्गल भिन्न है, जीव अलग है। तुम जीव हो, पुद्गल जड़ है, इसमें ज्ञान नहीं है, ज्ञान-दर्शन-चैतन्य जीव में है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, पुद्गल में हैं, दोनों के गुणों, धर्म अलग-अलग हैं। पुद्गल के पीछे पड़ने से जीव को हानि होती है। तुम जीव हो, मोहनीय कर्म जीव का घात करता है। जीव के पक्ष से पुद्गल का अहित है। पुद्गल से जीव का घात होता है। अनन्त सुख स्वरूप मोक्ष जीव को ही होता है, पुद्गल को नहीं, सब जग इसको भूला है। जीव पंच पापों में पड़ा है। दर्शनमोहनीय के उदय ने सम्यक्त्व का घात किया है। क्या करना चाहिए? सुख-प्राप्ति की इच्छा है, तो दर्शनमोहनीय का घात करो। सम्यक्त्व धारण करो। चारित्रमोह का नाश करो। संयम धारण करो। दोनों मोहनीय का नाश करो। आत्मा का कल्याण करो। यह हमारा आदेश व उपदेश है। मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव संसार में फिरता है। मिथ्यात्व का नाश करो। सम्यक्त्व को प्राप्त करो। सम्यक्त्व क्या है? सम्यक्त्व का वर्णन समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़, गोम्मटसार आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों में है, पर इन पर श्रद्धा कौन करता है? आत्म-कल्याण वाला ही श्रद्धा करता है। मिथ्यात्व को धारण मत करो, यह हमारा आदेश व उपदेश है। ॐ सिद्धाय नमः।

कर्म-निर्जरा का साधन

तुम्हें क्या करना चाहिए? दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय करो, आत्मचिन्तन से दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय होता है, कर्मों की निर्जरा भी आत्म-चिन्तन से होती है।

दान से, पूजा से, तीर्थयात्रा से पुण्यबन्ध होता है। हर धर्म कार्य से पुण्य का बन्ध होता है; किन्तु कर्मनिर्जरा का साधन आत्मचिंतन है। केवलज्ञान का साधन आत्मचिंतन है। अनंत कर्मों की निर्जरा का साधन आत्मचिंतन है। आत्मचिंतन के सिवाय कर्म-

आचार्यश्री अन्तिम अमर सन्देश देते हुए

निर्जरा नहीं होती है। कर्मनिर्जरा बिना केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञान बिना मोक्ष नहीं होता। क्या करें? शास्त्रों में आत्मा का ध्यान उत्कृष्ट ६ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और जघन्य दो घड़ी कहा है। कम-से-कम १०-१५ मिनट ध्यान करना चाहिए। हमारा कहना यह है कि कम-से-कम ५ मिनट तो आत्मचिंतन करो। इसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता। सम्यक्त्व के बिना संसार-भ्रमण नहीं छूटता, जन्म-जरा-मरण नहीं छूटते। सम्यक्त्व तथा संयम धारण करो। सम्यक्त्व होने पर ६६ सागर यहाँ रहोगे। चारित्रमोहनीय का क्षय करने के लिए संयम धारण करना चाहिए, इसके बिना चारित्र मोहनीय का क्षय नहीं होता। संयम धारण करने से डरो मत, संयम धारण किये बिना सातवाँ गुणस्थान नहीं होता और सातवें गुणस्थान के बिना उच्च आत्म अनुभव नहीं होता। वस्त्र-धारण में सातवाँ गुणस्थान नहीं होता है।

सम्यक्त्व और संयम धारण के बिना समाधि संभव नहीं

ॐ सिद्धाय नमः। समाधि दो प्रकार की है, एक निर्विकल्प समाधि और दूसरी सविकल्प समाधि। गृहस्थ सविकल्प समाधि धारण करता है। मुनि हुए बिना निर्विकल्प समाधि नहीं होगी, अतएव निर्विकल्प समाधि पाने के लिए मुनिपद पहले धारण करो। इसके बिना निर्विकल्प समाधि कभी नहीं होगी। निर्विकल्प समाधि हो, तो शुद्ध सम्यक्त्व होता है, ऐसा कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है। आत्म-अनुभव के सिवाय सम्यक्त्व नहीं है। व्यवहार सम्यक्त्व खरा (परमार्थ) नहीं है, फूल जैसे फल का कारण है, व्यवहार सम्यक्त्व आत्म-अनुभव का कारण है। आत्म-अनुभव होने पर खरा (परमार्थ) सम्यक्त्व होता है। निर्विकल्पसमाधि मुनिपद धारण करने पर होती है। सातवें गुणस्थान से बारहवें पर्यन्त निर्विकल्प समाधि होती है। तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होता है ऐसा शास्त्र में कहा है। यह विचार कर डरो मत कि क्या करें? संयम धारण करो। सम्यक्त्व धारण करो। इसके सिवाय कल्याण नहीं है, संयम और सम्यक्त्व के बिना कल्याण नहीं है। पुद्गल

और आत्मा भिन्न हैं, यह ठीक-ठीक समझो। तुम सामान्य रूप से जानते हो, भाई-बन्धु, माता-पिता पुद्गल से सम्बन्धित हैं, उनका जीव से कोई सम्बन्ध नहीं है। जीव अकेला है, बाबा (भाइयो)। जीव का कोई नहीं है। जीव भव-भव में अकेला जावेगा। देवपूजन, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये धर्मकार्य हैं। असि, मसि, कृषि, शिल्प, विद्या, वाणिज्य ये ६ कर्म कहे गये हैं। इनसे होने वाले पापों को क्षय करने को उक्त धर्मक्रिया कही हैं, इनसे मोक्ष नहीं है। मोक्ष किससे मिलेगा? केवल आत्म-चिंतन से मोक्ष मिलेगा और किसी क्रिया से मोक्ष नहीं होता।

जिनवाणी का माहात्म्य

भगवान की वाणी पर पूर्ण विश्वास करो। इसके एक-एक शब्द से मोक्ष पा सकोगे। इस पर विश्वास करो। सत्यवाणी यही है; एक आत्मचिंतन से सब साध्य है और कुछ नहीं है। बाबा! (भाई) राज्य, सुख, सम्पत्ति, संतति सब मिलते हैं, मोक्ष नहीं मिलता है। मोक्ष का कारण एक आत्म-चिंतन है। इसके बिना सद्गति नहीं होती है।

सारांश — 'धर्मस्य मूलं दया' प्राणी का रक्षण दया है। जिनधर्म का मूल क्या है? 'सत्य और अहिंसा।' मुख से सब सत्य अहिंसा बोलते हैं; मुख से भोजन, भोजन कहने से क्या पेट भरता है? भोजन किये बिना पेट नहीं भरता है, क्रिया करनी चाहिए। बाकी सब काम होंगे। सत्य-अहिंसा पालो। सत्य में सम्यक्त्व है। अहिंसा में दया है। किसी को कष्ट नहीं दो। यह व्यवहार की बात है। सम्यक्त्व धारण करो, संयम धारण करो। इसके बिना कल्याण नहीं होता।' (दिनांक ८-९-५५ समय ५-१० से ५.३२ शाम।)

卐 卐 卐